प्रकाशक :
गुलाबचंद हिराचंद दोशी,
जैन संस्कृति संरक्षक संघ,
सोलापूर

मुद्रक :
ग. वि. केतकर, M. A , B. T.
नवीन समर्थ विद्यालयाचा
समर्थ भारत छापखाना,
४१ बुधवार, पुणें २.

JĪVARĀJA JAINA GRANTHAMĀLĀ No. 16

GENERAL EDITORS :

Dr. A. N. UPADHYE & Dr. H. L. JAIN

Bhāvasena's

VIŚVATATTVA-PRAKĀŚA

(A Treatise on Logical Polemics)

Edited Authentically for the First time with an Introduction, Notes etc.

By

Dr. V. P. JOHRAPURKAR, M. A., Ph. D.

Asst. Professor of Sanskrit, Govt. Degree College,

Jaora. (M. P.)

Published by

GULABCHAND HIRACHAND DOSHI

Jaina Saṁskṛti Saṁrakṣaka Sangha

Sholapur

1964

Price Rs. Twelve Only

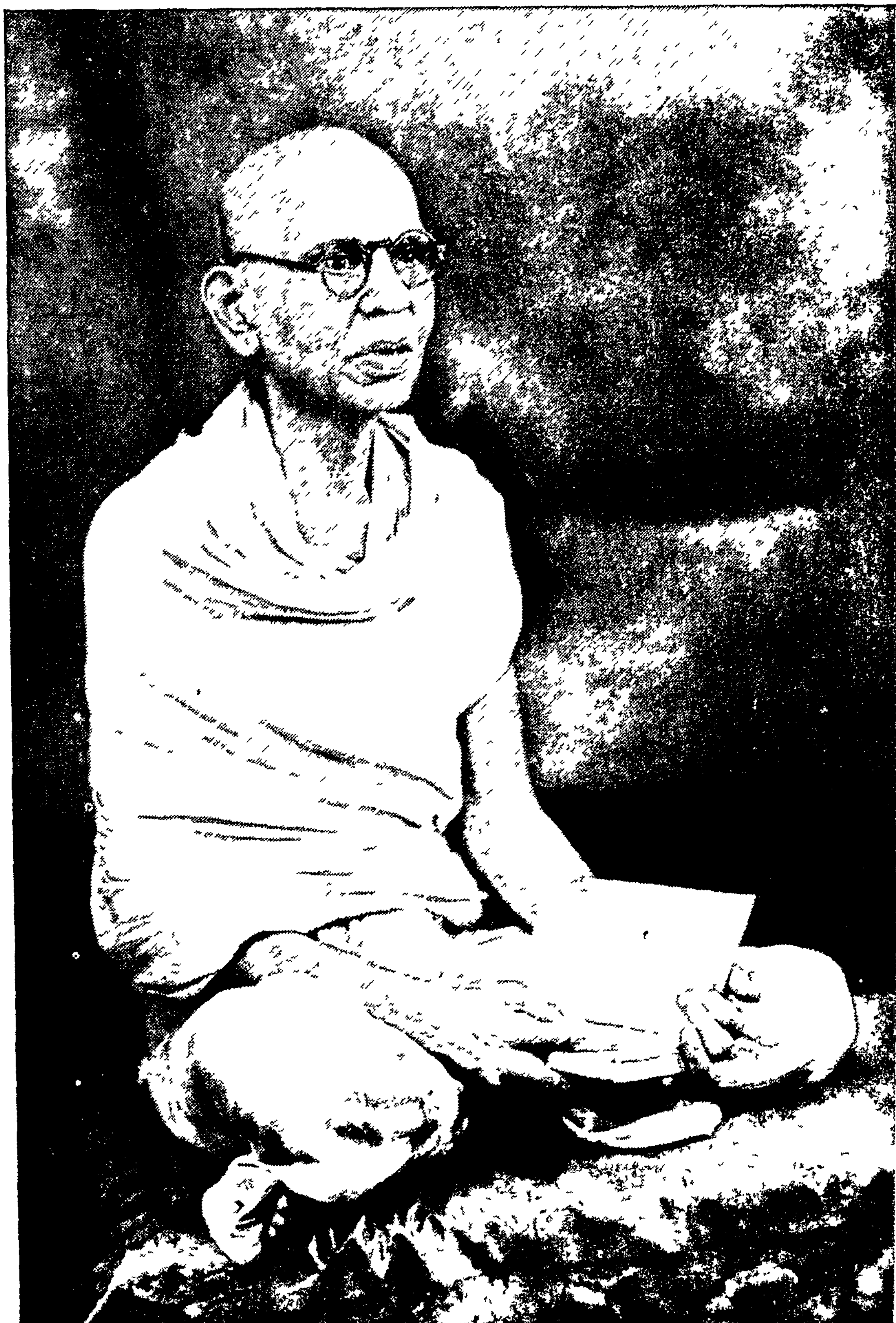
First Edition : 750 Copies

Copies of this book can be had direct from Jaina Saṁskṛti Saṁrakshaka Sangha, Santosha Bhavana, Phaltan Galli, Sholapur (India)

Price Rs. 12 /- Per copy, exclusive of Postage

जीवराज जैन ग्रंथमालाका परिचय

सोलापूर निवासी ब्रह्मचारी जीवराज गौतमचंदजी दोशी कई वर्षोंसे संसारसे उदासीन होकर धर्मकार्यमे अपनी वृत्ति लगा रहे थे। सन १९४० मे उनकी यह प्रबल इच्छा हो उठी कि अपनी न्यायोपार्जित संपत्तिका उपयोग विशेष रूपसे धर्म और समाजकी उन्नतिके कार्यमें करे। तदनुसार उन्होंने समस्त देशका परिभ्रमण कर जैन विद्वानोंसे साक्षात् और लिखित सम्मतिया इस बातकी संग्रह कीं कि कौनसे कार्यमें संपत्तिका उपयोग किया जाय। स्फुट मतसंचय कर लेनेके पश्चात् सन् १९४१ के ग्रीष्म कालमें ब्रह्मचारीजीने तीर्थक्षेत्र गजपंथा (नासिक) के शीतल वातावरणमें विद्वानोंकी समाज एकत्र की और ऊहापोह पूर्वक निर्णयके लिए उक्त विषय प्रस्तुत किया। विद्वत्सम्मेलनके फलस्वरूप ब्रह्मचारीजीने जैन संस्कृति तथा साहित्यके समस्त अंगोंके सरक्षण, उद्धार और प्रचारके हेतुसे 'जैन संस्कृति संरक्षक संघ' की स्थापना की और उसके लिए ३००००, तीस हजारके दानकी घोषणा कर दी। उनकी परिग्रहनिवृत्ति बढ़ती गई और सन् १९४४ मे उन्होंने लगभग २,००,०००, दो लाखकी अपनी संपूर्ण संपत्ति संघको ट्रस्ट रूपसे अर्पण कर दी। इस तरह आपने अपने सर्वस्वका त्याग कर दि. १६-१-५७ को अत्यन्त सावधानी और समाधानसे समाधिमरणकी आराधना की। इसी संघके अंतर्गत 'जीवराज जैन ग्रंथमाला' का संचालन हो रहा है। प्रस्तुत ग्रंथ इसी ग्रंथमालाका सोलहवाँ पुष्प है।



स्व. ब्रह्मचारी जीवराज गौतमचंदजी दोशी,

संस्थापक, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर

विषयानुक्रमणिका

ग्रन्थमाला–संपादकीय (अंग्रेजी) ११

अंग्रेजी प्रस्तावना १४

आचार्य भावसेन का समाधिलेखचित्र

प्रस्तावना १-११२

ग्रन्थकार तथा ग्रन्थ १-२१

१. लेखकका परिचय; २. लेखकके अन्य ग्रन्थ; ३. समय-विचार; ४. ग्रन्थ का नाम; ५. ग्रन्थशैली, ६. सम्पादन-सामग्री; ७. अनुवादशैली; ८. प्रमुख विषय; ९. लेखक द्वारा उपयुक्त सामग्री; १०. ऐतिहासिक मूल्यांकन,

जैन तार्किक साहित्य २२-११२

१. प्रास्ताविक; २. तार्किक परम्परा का उद्गम; ३. महावीर तथा उनका समय; ४. द्वादशाग श्रुत में तार्किक भाग; ५. आगम की परम्परा; ६. वर्तमान आगम मे तार्किक भाग; ७. भद्रबाहु; ८. कुन्दकुन्द; ९. उमास्वाति; १०. समन्तभद्र; ११. सिद्धसेन; १२. श्रीदत्त; १३. पूज्यपाद देवनंदि; १४. वज्रनन्दि; १५. मल्लवादी; १६. अजितयशस् ; १७. पात्रकेसरी; १८. शिवार्य; १९. सिंहसूरि; २०. अकलंक; २१. हरिभद्र; २२. मल्लवादी (द्वितीय); २३. सन्मति (सुमति);

२४. वादीभसिंह; २५. प्रभाचन्द्र; २६. कुमारनन्दि; २७. शाकटायन; २८. वसुनन्दि; २९. विद्यानन्द; ३०. माणिक्यनन्दि; ३१. सिद्धर्षि; ३२. अनन्तकीर्ति; ३३. सोमदेव; ३४. अनन्तवीर्य; ३५. अभयदेव; ३६. वादिराज, ३७ प्रभाचन्द्र; ३८. देवसेन; ३९. माइल्लधवल, ४०. जिनेश्वर; ४१. शान्तिसूरि; ४२. अनन्तवीर्य (द्वितीय); ४३. चन्द्रप्रभ; ४४. मुनिचन्द्र; ४५. श्रीचन्द्र; ४६. देवसूरि; ४७. हेमचन्द्र; ४८. देवभद्र; ४९. यशोदेव; ५०. चन्द्रसेन; ५१. रामचन्द्र; ५२. रत्नप्रभ; ५३. देवभद्र (द्वितीय), ५४. परमानन्द; ५५. महासेन; ५६. अजितसेन; ५७. चारुकीर्ति; ५८. अभयचन्द्र; ५९. आशाधर; ६०. समन्तभद्र (द्वितीय); ६१. भावसेन; ६२. नरचन्द्र; ६३. अभयतिलक; ६४. मल्लिषेण; ६५. सोमतिलक; ६६. राजशेखर; ६७. ज्ञानचन्द्र; ६८. जयसिंह; ६९. धर्मभूषण; ७०. मेरुतुंग; ७१. गुणरत्न; ७२. भुवनसुंदर; ७३. रत्नमण्डन; ७४. जिनसूर; ७५. साधुविजय; ७६. सिद्धान्तसार; ७७. शुभचन्द्र; ७८. विनयविजय; ७९. पद्मसुन्दर; ८० विजयविमल, ८१. राजमल्ल; ८२. पद्मसागर; ८३. शुभविजय; ८४. भावविजय; ८५. यशोविजय; ८६. भावप्रभ; ८७. यशस्वत्–सागर; ८८. नरेंद्रसेन; ८९. विमलदास; ९०. भोजसागर; ९१. क्षमाकल्याण; ९२. अन्य लेखक; ९३. अन्य विषयों के ग्रंथो में तार्किक अंश; ९४. खण्डनमण्डनात्मक साहित्य; ९५. देशी भाषाओ में तार्किक साहित्य; ९६. आधुनिक प्रवृत्तिया; ९७. तार्किक साहित्य के इतिहास के प्रयत्न; ९८. तार्किक साहित्य का युगविभाग; ९९. उपसंहार; १०० ऋणनिर्देश.

मूलग्रन्थ और सारानुवाद ... १-३०६
१ चार्वाक पूर्वपक्ष-जीव की नित्यतामें अनुमानों का अभाव ... १
२ जीवकी नित्यतामें आगमका अभाव ... ४
३ चार्वाकसंमत जीवस्वरूप ७
४ जीव की अनित्यता का खंडन ९
५ जीव की नित्यता का समर्थन १३
६ जीव देहात्मक नही १५
७ जीव देह का कार्य नही १७
८ जीव देह का गुण नही १८
९ पुनर्जन्म का समर्थन १९
१० अदृष्ट का स्वरूप २०
११ अदृष्ट का समर्थन २२
१२ जीव के अस्तित्व के प्रमाण २३
१३ सर्वज्ञ का अस्तित्व २४
१४ सर्वज्ञ के खंडन का विचार २५
१५ सर्वज्ञ के अस्तित्व के प्रमाण ३०
१६ केवलान्वयी अनुमान ३३
१७ सर्वज्ञसाधक अनुमान ३५
१८ अदृष्ट प्रत्यक्षद्वारा ज्ञात होता है ३८
१९ सर्वज्ञसाधक अनुमान की निर्दोषता ... ३९
२० जगत कार्य नही ४२
२१ ईश्वरविषयक अनुमानों के दोष ४८
२२ ईश्वर के शरीर का विचार ५०
२३ अदृष्ट ईश्वराधीन नही ५६
२४ सृष्टि-संहार का खंडन ५९
२५ सृष्टि नित्य है ६१
२६ ईश्वर खंडन का उपसंहार ६७
२७ सर्वज्ञसिद्धिका उपसंहार ६८

२८ वेद अपौरुषेय नही ७२
२९ वेदकर्ता के सूचक वैदिक वाक्य ७७
३० वेद बहुसंमत नही ८०
३१ वेद सदोष है ८४
३२ वेद पौरुषेय है ८६
३३ शब्द नित्य नही ९१
३४ वेदों के विषय बाधित हैं ९४
३५ वेद हिंसा के उपदेशक है ९८
३६ वेद स्वतः प्रमाण नही १०१
३७ प्रामाण्य के ज्ञान का विचार १०५
३८ ज्ञान स्वसंवेद्य है १०८
३९ माध्यमिक शून्यवाद का खंडन ११४
४० योगाचार विज्ञानाद्वैत का खंडन... ... १२०
४१ भ्रमविषयक प्राभाकर मतका खंडन ... १२४
४२ भ्रमविषयक अन्य मतों का खंडन ... १३४
४३ भ्रमविषयक वेदान्त मत का खंडन ... १३७
४४ प्रपंच सत्य है १४५
४५ प्रपंच मिथ्या नही १४९
४६ ब्रह्म साक्षात्कार का विचार १५४
४७ अद्वैतवाद का खंडन १५८
४८ क्षेत्रज्ञों के भेद का समर्थन १६२
४९ प्रतिबिंबवाद का खंडन १६६
५० आत्मा अनेक हैं १६९
५१ प्रत्येक शरीर मे पृथक् जीव है १७४
५२ आत्मा एकही नही १७८
५३ भेद अविद्याजनित नही १८१
५४ प्रमाण प्रमेय भेदका समर्थन १८४
५५ वेदान्त मत में प्रमाता का स्वरूप... ... १८७
५६ आत्मा सर्वगत नही १९२
५७ सर्वगत आत्मा संसारी नही होगा ... १९६
५८ मन व्यापक नही २००

५९ आत्मा असर्वगत है २०२
६० आत्मा अणु आकारका नही २०४
६१ सामान्य सर्वगत नही २०८
६२ सामान्य व समवाय नित्य नही २१२
६३ प्राभाकरसंमत समवाय २१४
६४ समवाय का खंडन २१५
६५ संख्यादि गुणों का खंडन २२१
६६ पौद्गलिकत्व २२२
६७ इंद्रियों का स्वरूप २२४
६८ चक्षु प्राप्यकारी नही २२६
६९ संनिकर्ष का खंडन २३०
७० दिशा द्रव्य नही... ... ... २३२
७१ वैशेषिक मत के खंडन का उपसहार ... २३४
७२ वैशेषिक मत मे मुक्ति २३५
७३ प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण २३९
७४ अन्य प्रमाणों का विचार २४३
७५ न्यायमत की पदार्थ गणना २४५
७६ तीन योगों का विचार २४९
७७ अंधकार द्रव्य है २५२
७८ शक्ति का अस्तित्व २५४
७९ वैदिक कर्म का निषेध २५७
८० साख्य मत की सृष्टि प्रक्रिया २६१
८१ महत् आदि का खडन २६३
८२ प्रकृतिके अस्तित्व का खंडन २६७
८३ सत्कार्यवाद का खंडन २७१
८४ शक्ति और व्यक्ति २७६
८५ साख्य मत मे मुक्ति २८०
८६ क्षणिकवाद का खंडन २८५
८७ प्रत्यभिज्ञा प्रमाण २९०
८८ पांच स्कंधों का विचार २९३
८९ निर्विकल्प प्रत्यक्षका खंडन २९८

९० बौद्ध मत मे निर्वाण मार्ग २०१
९१ बौद्ध निर्वाण मार्ग का खंडन २०४
९२ उपसंहार २०६
ग्रन्थकार की प्रशस्ति २०७
प्रतिलेखक की प्रशस्ति २०८
टिप्पण २०९–२४३
टिप्पण परिशिष्ट –हुम्मच प्रति के पाठान्तर ... २४४–२६१
लिपिकृत प्रशस्ति २६२
परिशिष्ट २६३–२७१
ग्रन्थकारकृत पद्य तथा उद्धरणसूची २६३
मूलग्रन्थगत विशेष नामसूची २६९
मूलग्रन्थगत वादिनामसूची २७०
प्रस्तावना संदर्भसूची २७१
शुद्धिपत्र.

GENERAL EDITORS' PREFACE

Bhāvasena-Traividya belongs to Mūlasaṁgha & Senagaṇa. He is well-known as a triumphant disputant. He bears the title Traividya which indicates his proficiency in Vyākaraṇa, Nyāya and Siddhānta. He is to be assigned to the latter half of the thirteenth century A. D. Of his nine or ten works, so far known to us, seven or eight deal with logic-cum-nyāya and two with grammar. It appears that he planned to write an exhaustive treatise, the *Viśvatattva-prakāśa-mokṣaśāstra* obviously an elaborate exposition of the problems and topics connected with the Mokṣaśāstra which is another name of the *Tattvārtha-Sūtra* of Umāsvāti. The present work styled in this edition as *Viśvatattva-Prakāśaḥ* is only the first Pariccheda of it. Whether the work was completed by the author or not is not known. This Pariccheda is called *aśeṣa-paramata-tattva-vicāra*; and it presents a critical and polemic review of the Cārvāka system with respect to the nature of Jīva, of the Mīmāṁsā school with regard to the Sarvajña doctrine, of the Nyāya system with reference to the theory of creation, of the Vedic systems which accept Veda as a self-evident authority, of the Sāṁkhya system in the context of the nature of Puruṣa and Prakṛti, and of Buddhism with regard to its Kṣaṇikavāda. It is evident that Bhāvasena, well-read as he is in various branches of learning, launches an attack against the various schools, both Vedic and non-Vedic, criticising their views mainly from the Jaina points of view. His exposition is helpful to a critical student of Indian philosophy while studying in what respects Jainism and other systems differ in some of these doctrines. If at all Bhāvasena wrote the subsequent sections of this work, it is quite possible that he might have devoted

them to a substantial exposition of various doctrines of Jainism in the manner of Hemacandra in his *Anyayoga-vyavacchedikā*, on which the exhaustive commentary, the *Syādvādamañjarī* of Malliṣena, is well-known. Dr. V. P. Johrapurkar has neatly edited this work; he has discussed all about the author and his works in his Introduction; and he has explained the contents of the text in his Hindī Sārānuvāda and Tippana.

During the last twenty-five years, through the studious efforts of a band of scholars, many of the Jaina Nyāya works have come to light. We have now reached a stage in our studies when S. C. VIDYABHUSHANA's resumé of Jaina Nyāya works in his *History of Indian Logic* can be fruitfully revised. It is nearly possible for us now to estimate how eminent authors like Siddhasena, Akalaṅka, Haribhadra, Vidyānanda, Prabhācandra, Vādideva and others have enriched the heritage of Indian Nyāya literature. In this context we would like to draw the attention of scholars to Dr. JOHRAPURKAR's Hindi Introduction to this edition, especially the second section, Jaina Tārkika Sāhitya, pp. 22 ff. Here is a concise and well-documented review of the wide range of Jaina Nyāya literature from the Āgama period to the present day. He has enumerated the various authors and given short details about their works with special attention to chronological problems and bibliographic references In fact, this section should serve as a basic, brief history of Jaina Nyāya literature.

It is quite possible that one differs from the Editor's views here and there. For instance, it is difficult to accept the editor's suggestion that all the dates given in the *Daraśana-sāra* of Devasena (p. 49) are those of the Śaka era contrary to the view of the author himself. It is hoped that scholars interested in Jaina Nyāya literature would discuss these

minor details so that in the long run most of the facts will emerge in a clearer perspective.

Our sincere thanks are due to Dr. V. P. JOHRAPURKAR who placed this valuable edition of the *Viśvatattva-Prakāśa* at our disposal for publication. It is hoped that he would bring to light other unpublished works of Bhāvasena, of the Mss. (now in Germany) of which we have been able to secure the microfilm copies.

The General Editors record their sense of gratitude to the members of the Trust Committee and Prabandhasamiti of the Sangha for their active interest in the progress of the Jīvarāja Jaina Granthamālā. The president of the Trust Committee, Shriman GULABCHAND HIRACHANDAJI, evinces a keen interest in all the publications. Shriman MANIKCHAND VIRCHANDAJI readily comes to our rescue in solving our difficulties of paper-supply and printing arrangements. Shriman WALCHAND DEVCHANDJI ever stands by us in all our reasonable plans and pursuits. The publications of the Jīvarāja Jaina Granthamālā have won approbation in the learned world; and naturally, we feel like recording our sincere thanks to the willing and accommodative cooperation of the editors and authors and to the enlightened generosity of the authorities of the Granthamālā.

Sholapur
23-6-1963

A. N. UPADHYE
H. L. JAIN



INTRODUCTION

[*Summary of the first part of Hindi Prastāvanā*]

Bhāvasena Traividya is one of the little known scholars of medieaval period. According to the 'nisidhi' stone-inscription found at Amarāpuram (Dist. Anantapur, Āndhra), he was a pontiff of Senagana, a branch of Mūlasaṁgha. His epithet 'Traividya ' denotes proficiency in three branches of classical studies, Logic, Grammar and Jain Canon. He styles himself as ' Vādigirivajra '–a thunderbolt for the mountain-like disputants.

Ten works of Bhāvasena are known to us : (1) *Viśvatattva-prakāśa Moksaśāstra* (the present work is the first chapter of this book), (2) *Pramāprameya* (this is the first chapter of *Siddhāntasāra Mokṣaśāstra*), (3) *Siddhāntasāra* (probably a continuation of No. 2), (4) *Nyāyasūryāvali* (consisting of five chapters of *Mōksaśāstra*), (5) *Bhuktimuktivichāra*, (6) *Nyāya-Dīpikā*, (7) *Kathāvichāra*, (8) *Saptapadārthītīkā*, (9) *Kātantra Rūpamālā*, (10) *Śākaṭāyana Vyākaraṇa Tīkā*. Out of these only one (No. 9) has been published upto this time and the present work is the second to see the light of the day.

Bhāvasena flourished in the latter half of the thirteenth century. He compares Turuṣkaśāstra with the Vedas and says that both of them are ' honoured by many.' This is possible after circa 1250 A. D. when about half of India was conquered by ' Turuṣkas', i. e., Muslims. Manuscripts of one of his works the *Kātantra Rūpamāla*, are dated in 1383 and 1367 A. D.

As noted above, the present work is the first chapter of *Viśvatattvaprakāśa-Mokṣaśāstra*. In this, the author discusses the tenets of eight philosophical systems: Chārvāka, Vedānta, Nyāya, Vaiśeṣika, Mīmāṁsā of Bhaṭṭa (Kumārila) and Prabhākara, Sāṁkhya and Bauddha. Main topics of discussion include the following:-(1) Eternal nature of soul and its separate existence from the body, (2) Existence of an omniscient person and authenticity of his teaching, (3) Existence of a God-creater

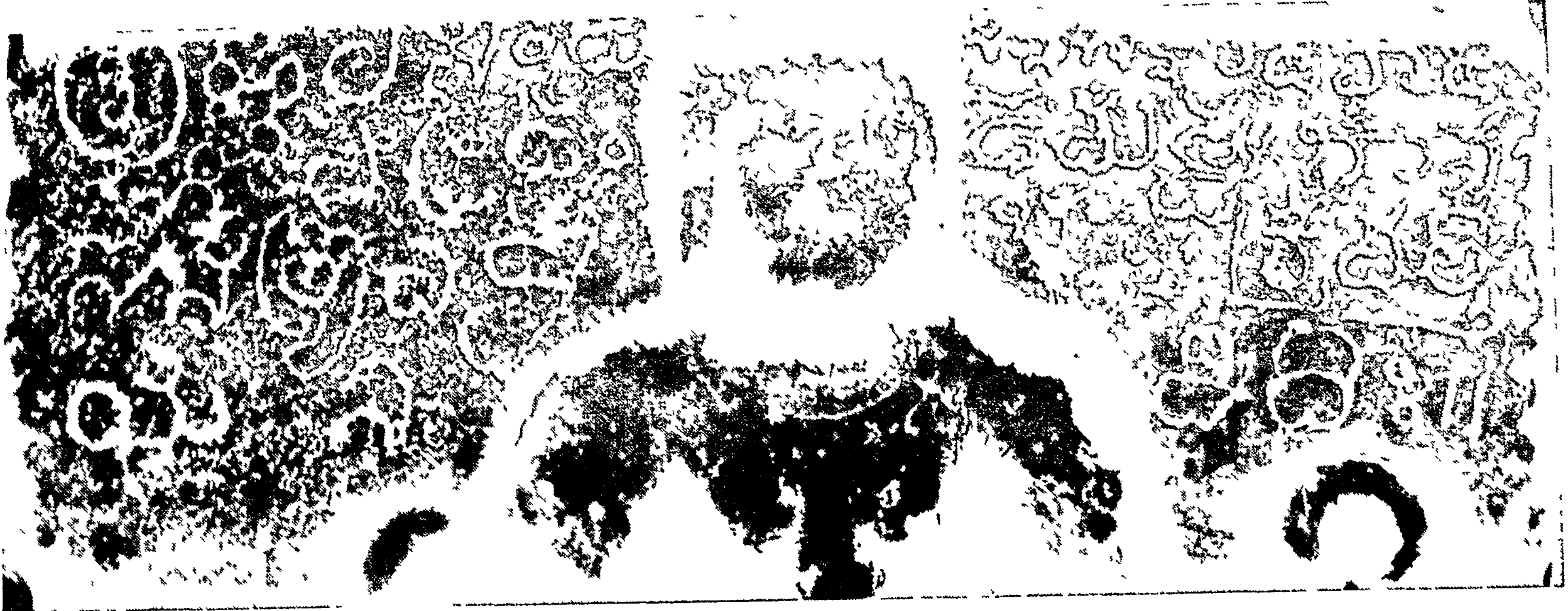
of the world, (4) Eternal nature of the Vedas and their authenticity,(5) Validity of true knowledge, (6) Nature of error, (7) Theory of monism, existence of Brahman and nature of Māyā (8) Enumeration of substances according to Vaiśeṣika system and Nyāya system, (9) Nature of darkness and Śakti, (10) Nature of Prakṛti and Puruṣa; and (11) Bauddha doctrines of momentary existence, five Skandhas and the eight-fold path of salvation.

Bhāvasena quotes from numerous Jain and non-Jain works. Prominent among these are the following-*Tattvārtha Sūtra* of Umāsvāti, *Āptamīmāṁsā* of Samantabhadra, *Samādhitantra* of Pūjyapāda, *Siddhiviniśchaya* of Akalaṅka, *Syādvādasiddhi* of Vādībhasiṁha, *Parīkṣāmukha* of Mānikyanandin, *Gommaṭasāra* of Nemichandra and *Svarūpasambodhana* of Mahāsena. The non-Jain works quoted include the following: *Ṛgveda*, various Upaniṣads, *Āpastamba Śrautasūtra*, *Yājñavalkya Smṛti*, *Mahābhārata*, *Matsyapurāṇa* *Sāṁkhyakārikā*, *Nyāyasūtra*, *Nyāyasāra*, *Praśastapādabhāṣya*, Vyomaśiva's commentary on it, *Ślokavārtika* of Kumārila, *Prakaraṇapañchikā* of Śālikanātha, *Brahmasiddhi* of Maṇḍanamiśra, *Iṣṭasiddhi* of Vimuktātman, *Mādhyamikakārikā* of Nāgārjuna, *Vijñaptimātratāsiddhi* of Vasubandhu, *Pramāṇavārtika* of Dharmakīrti, and *Tattvasaṁgraha* of Śāntarakṣita. Special mention may be made here of a reference to three Cārvāka scholars-Purandara, Udbhaṭa and Aviddhakarṇa. Detailed references to all these works and authors can be found in the Appendix.

The present edition is based on a paper MS of Kāranja Bhāndāra dated in 1615 A. D. Variant readings of another MS of Humchā Bhāndāra are given in an Appendix. This MS is dated in 1445 A. D.

This is the first philosophical work of Bhāvasena coming to light. We hope to edit some more works from his pen in the near future.

———✱———



आचार्य भावसेनका समाधिलेख चित्र

प्रस्तावना

ग्रन्थकार तथा ग्रन्थ

१. लेखक का परिचय

"श्रीमूलसंघसेनगणद वादिगिरिवज्रदंडमप्प
भावसेनत्रैविद्यचक्रवर्तिय निषिधिः ॥"

आन्ध्र प्रदेश के अनन्तपुर जिले में अमरापुरम् ग्राम के निकट एक समाधिलेख में उपर्युक्त वाक्य अंकित है[1]। इस की सूचना पुरातत्त्व-विभाग को सन १९१७ में मिली थी। किन्तु अन्य विवरण के अभाव से इस में उल्लिखित आचार्य भावसेन का नाम उपेक्षित ही रहा।

सन १९५४ में जयपुर के वीर पुस्तक भंडार ने भावसेनकृत कातन्त्ररूपमाला यह ग्रन्थ प्रकाशित किया। किन्तु इस में ग्रन्थ का सिर्फ मूल पाठ है, प्रस्तावना अथवा ग्रन्थ या ग्रन्थकार के बारे में कोई विवरण नही दिया है।

अतः प्रस्तुत ग्रन्थ के सम्पादन के समय भावसेन के विषय में जो जानकारी हमें प्राप्त हुई उसे यहा कुछ विस्तार से प्रस्तुत करते हैं।

उपर्युक्त लेख के अनुसार भावसेन मूलसंघ-सेनगण के आचार्य थे। सेनगण की एक पट्टावली में उन का उल्लेख मिलता है, यथा—
परमशब्दब्रह्मस्वरूपत्रिविद्याधिपपरवादिपर्वतवज्रदंडश्रीभावसेनभट्टारकाणाम् ॥
(जैन सिद्धान्त भास्कर वर्ष १ पृ. ३८)[2] इस के वादिपर्वत-वज्र तथा शब्दब्रह्मस्वरूप इन विशेषणों से स्पष्ट है कि यह प्रस्तुत लेखक का ही वर्णन है। दुर्भाग्य से इस पट्टावली में आचार्यों का क्रम अव्यवस्थित है। इस में भावसेन के पहले महावीर

---

1) इस लेख का चित्र प्राचीनलिपिविद्कार्यालय, उटकमंड से प्राप्त हुआ है। लेख का वाचन इसी कार्यालय के सहायक लिपिविद् श्री. रित्ती के सहयोग से प्राप्त हुआ है। २) सेनगण की एक शाखा कारंजा नगर में १५ वी सदी में स्थापित हुई थी। वही के भट्टारक छत्रसेन के समय १७ वी सदी के अन्त मे यह पट्टावली लिखी गई थी।

तथा बाद में अरिष्टनेमि आचार्य का वर्णन है तथा अंगज्ञानी आचार्यों के बाद दसवे क्रमांक पर इन का वर्णन है। इस क्रम से देखा जाय तो इन का समय पाचवीं सदी होगा जो स्पष्टतः अविश्वसनीय है। यह पट्टावली १७ वीं सदी के अन्तिम भाग मे लिखी गई है अतः उस के लेखक को आचार्यों के समयक्रम के बारे मे सही जानकारी न हो तो आश्चर्य नही। किन्तु उस समय भी सेनगण के पुरातन आचार्यों में भावसेन का अन्तर्भाव होता था यह इस से स्पष्ट होता है।

उपर्युक्त समाधिलेख में भावसेन को वादिगिरिवज्रदंड–वादीरूपी पर्वतों के लिए वज्र के समान–यह विशेषण दिया है। इस से मिलते जुलते विशेषण – वादिपर्वतवज्रिन् तथा परवादिगिरिसुरेश्वर कातन्त्र रूपमाला, प्रमाप्रमेय तथा प्रस्तुत ग्रन्थ की पुष्पिकाओं मे भी पाये जाते हैं। दार्शनिक वादों मे लेखक की निपुणता प्रस्तुत ग्रन्थ से ही स्पष्ट है। वाद के विभिन्न अंगों के विषय में कथाविचार नामक स्वतन्त्र ग्रन्थ भी उन्हों ने लिखा था।[१] अतः वादियों मे श्रेष्ठ यह उन का विशेषण सार्थकही है।

उपर्युक्त लेख तथा ग्रन्थपुष्पिकाओं में भावसेन को त्रैविद्य (त्रिविद्य, त्रैविद्यदेव अथवा त्रैविद्यचक्रवर्ती) यह विशेषण भी दिया है। जैन आचार्यों में शब्दागम (व्याकरण), तर्कागम (दर्शन) तथा परमागम (सिद्धान्त) इन तीन विद्याओं मे निपुण व्यक्तियों को त्रैविद्य यह उपाधि दी जाती थी।[२] इस के उदाहरण दसवीं सदी से तेरहवीं सदी तक प्राप्त हुए हैं (जैन शिलालेख संग्रह भा. २ पृ. १८८, २९४, ३३७ तथा भा. ३ पृ. ६२, ९८, २०७, २४५, ३५०)[३]। तर्क और व्याकरण

१) इस का विवरण आगे दिया है। २) श्रवणबेलगोल के सन १११५ के लेख में मेघचन्द्र त्रैविद्य का वर्णन इस प्रकार है–सिद्धान्ते जिनवीरसेनसदृशः शास्याब्जभाभास्करः, षट्तर्केष्वकलंकदेवविबुधः साक्षादयं भूतले। सर्वव्याकरणे विपश्चिदधिपः श्रीपूज्यपादः स्वयं, त्रैविद्योत्तममेघचन्द्रमुनिपो वादीभपंचाननः॥ (जैन शि. सं. भा. १ पृ. ६२.) यल्लदहल्लि के सन ११५४ के लेख में त्रैविद्य नरेन्द्रकीर्ति का वर्णन इस प्रकार है–तर्कव्याकरण-सिद्धान्ताम्बुरुहवनदिनकररुमेनिसिद श्रीमन्नरेन्द्रकीर्तित्रैविद्यदेवर्। (जैन शि. सं. भा. ३, पृ. ६२). ३) वैदिक परम्परा में तीन वेदों के ज्ञाता ब्राह्मण त्रैविद्य कहलाते थे।

में भावसेन की निपुणता उन के ग्रन्थों से ही स्पष्ट है। आगम में भी वे प्रवीण रहे होंगे। अतः उन की त्रैविद्य उपाधि सार्थक ही है।

इस ग्रन्थ के अन्तमें दस पद्यों की प्रशस्ति है जो सम्भवतः लेखक के किसी शिष्य ने लिखी है। इस के पाचवें पद्य में वैद्यक, कवित्व, संगीत तथा नाटक मे भी भावसेन की निपुणता का उल्लेख है। अन्य पद्यों में अभिनवविधि, व्रतीन्द्र, मुनिप, वादीभकेसरी इन विशेषणों द्वारा उन की प्रशंसा की है। इस प्रशस्ति के तीन पद्य कन्नड भाषा में है। उपर्युक्त समाधिलेख भी कन्नड में ही है। अतः भावसेन का निवास-स्थान कर्णाटक प्रदेश था यह स्पष्ट है।[१]

उपसंहार के एक पद्य में लेखक ने कहा है कि वे दुर्बल के प्रति अनुकम्पा, समान के प्रति सौजन्य एवं श्रेष्ठ के प्रति सन्मान की भावना रखते हैं। अपनी बुद्धि के गर्व से उद्धत हो कर जो स्पर्धा करते हैं उन के गर्व को दूर करने के लिए ही उन्होंने यह ग्रन्थरचना की है।

जैन आचार्यपरम्परा मे भावसेन नाम के दो अन्य विद्वान भी हुए हैं, इन का प्रस्तुत ग्रन्थकर्ता से भ्रम नही करना चाहिए। इन मे पहले भावसेन काष्ठासंघ–लाडबागड गच्छ के आचार्य थे। ये गोपसेन के शिष्य तथा जयसेन के गुरु थे। जयसेन ने सन ९९९ में सकलीकरहाटक नगर में (वर्तमान कऱ्हाड, महाराष्ट्र) धर्मरत्नाकर नामक संस्कृत ग्रन्थ लिखा था। अतः इन भावसेन का समय दसवी सदी का उत्तरार्ध है। दूसरे भावसेन काष्टासघ–माथुरगच्छ के आचार्य थे। ये धर्मसेन के शिष्य तथा सहस्रकीर्ति के गुरु थे। सहस्रकीर्ति के शिष्य गुणकीर्ति के उल्लेख ग्वालियर प्रदेश में सन १४१२ से १४१७ तक प्राप्त हुए हैं। अतः इन भावसेन का समय चौदहवी सदी का उत्तरार्ध है।[२] प्रस्तुत ग्रन्थकर्ता की परम्परा, समय[३] तथा प्रदेश इन दोनों आचार्यों से भिन्न हैं यह उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है।

१) समाधि लेख का स्थान अमरापुरम् इस समय आन्ध्र में है। किन्तु वहां के अधिकाश शिलालेख कन्नड मे है। पुरातन समय में यह कन्नड प्रदेश मे ही था। कर्णाटक में सेनगण के दो मठ होसूर तथा नरसिंहराजपुर में अब भी विद्यमान हैं। २) इन दोनो आचार्यों की गुरुशिष्यपरम्परा का विवरण हम ने 'भट्टारक सम्प्रदाय' में दिया है (देखिए पृ. २३९ तथा २५८)। ३) प्रस्तुत ग्रन्थकर्ता के समय का विवरण आगे दिया है।

२. लेखक के अन्य ग्रन्थ

प्रस्तुत विश्वतत्त्वप्रकाश के अतिरिक्त भावसेन के नौ ग्रन्थ ज्ञात हैं। इन मे सात तर्कविषयक तथा दो व्याकरणविषयक हैं। इन का परिचय इस प्रकार है–

प्रमाप्रमेय—इस ग्रन्थ की हस्तलिखित प्रति हुम्मच के श्रीदेवेन्द्रकीर्ति ग्रन्थभाडार में है। इस का आरम्भ तथा अन्त इस प्रकार है –

(आ.) श्रीवर्धमानं सुरराज्यपूज्यं साक्षात्कृताशेषपदार्थतत्त्वम्। सौख्याकरं मुक्तिपतिं प्रणम्य प्रमाप्रमेयं प्रकटं प्रवक्ष्ये ॥

(अ.) इति परवादिगिरिसुरेश्वरश्रीमद्भावसेनत्रैविद्यदेवविरचिते सिद्धान्तसारे मोक्षशास्त्रे प्रमाणनिरूपणः प्रथमः परिच्छेदः[१] ॥

इस से ज्ञात होता है कि यह सिद्धान्तसार– मोक्षशास्त्र का पहला प्रकरण है। सम्भवतः अगले प्रकरण मे प्रमेय विषय की चर्चा करने का लेखक का विचार रहा होगा। हम आगे बतलायेंगे कि प्रस्तुत ग्रन्थ विश्वतत्त्वप्रकाश भी इसी तरह एक बडे ग्रन्थ का पहला प्रकरण मात्र है। लेखक ने इन दोनों ग्रन्थों को अधूरा नही छोडा होगा। अतः इन के उत्तरार्धों की खोज आवश्यक है।

कथाविचार—प्रस्तुत ग्रन्थ में लेखक ने तीन स्थानों पर इस ग्रन्थ का उल्लेख किया है (पृ ९३, २४३ तथा २४८)। इस में दार्शनिक वादों से सम्बन्धित सभी विषयों का–वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति, निग्रहस्थान आदि का – विस्तृत विचार किया है ऐसा इन उल्लेखों से प्रतीत होता है। इस की हस्तलिखित प्रतियों का कोई विवरण प्राप्त नही हुआ।

शाकटायनव्याकरणटीका—इस ग्रन्थ का उल्लेख मध्यप्रान्त–हस्तलिखित–ग्रन्थसूची की प्रस्तावना में डा. हीरालाल जैन ने किया है (पृ. २५)। सम्भवतः इसी के आधारपर जैन साहित्य और इतिहास

१) श्रीमान् के. भुजबलि शास्त्री से यह प्रतिपरिचय प्राप्त हुआ है। प्रति में ७ पत्र, प्रतिपत्र १२ पंक्ति एवं प्रतिपक्ति १४६ अक्षर हैं।

(पृ. १५५) में पं. नाथूराम प्रेमी ने तथा जिनरत्नकोश (पृ. ३७७) में श्रीं. वेलणकर ने भी इस का उल्लेख किया है। किन्तु इस की हस्तलिखित या मुद्रित प्रतियों का कोई संकेत नही मिला।

कातन्त्ररूपमाला—कातन्त्रव्याकरण के सूत्रों के अनुसार शब्दरूपों की सिद्धि का इस ग्रन्थ में वर्णन है। इस के प्रथम सन्दर्भ में ५७४ सूत्रोंद्वारा सन्धि, नाम, समास तथा तद्धित का वर्णन है एवं दूसरे सन्दर्भ में ८०९ सूत्रों द्वारा तिङन्त व कृदन्त का वर्णन है। सन्दर्भो के अन्त में लेखक ने अपना नामोल्लेख 'भावसेनत्रिविद्येन वादिपर्वतवज्रिणा। कृतायां रूपमालायां कृदन्तः पर्यपूर्यत ॥' इस प्रकार किया है। मूल व्याकरण का नाम कौमार व्याकरण भी है। लेखक का कथन है कि भगवान ऋषभदेव ने ब्राह्मी कुमारी के लिए इस की रचना की अतः यह नाम पडा। किन्तु लेखक ने ही इस व्याकरण को शार्ववर्मिक (शर्ववर्माकृत) यह विशेषण भी दिया है। शब्दरूपों के उदाहरणों में अकलंक स्वामी (पृ. ११) तथा व्याघ्रभूति आचार्य (पृ. ६६) का उल्लेख है। यह ग्रन्थ श्री. भंवरलाल न्यायतीर्थ ने मुद्रित किया है तथा वीरपुस्तकभंडार, जयपुर ने १९५४ में इसे प्रकाशित किया है। इस की हस्तलिखित प्रतिया सन १३६७ से प्राप्त होती हैं यह आगे बताया ही है।

न्यायसूर्यावली—इस की प्रति स्ट्रासबर्ग (जर्मनी) के संग्रहालय में है। इस के वर्णन से पता चलता है कि इस में मोक्षशास्त्र के पांच परिच्छेद हैं। (विएन्ना ओरिएन्टल जर्नल १८९७ पृ. ३०५)

भुक्तिमुक्तिविचार—इस की प्रति भी उपर्युक्त संग्रहालय में ही है। (उपर्युक्त पत्रिका पृ. ३०८) नाम से अनुमान होता है कि इस में स्त्रीमुक्ति तथा केवलिभुक्ति की चर्चा होगी[1]।

सिद्धान्तसार—जिनरत्नकोश के वर्णनानुसार यह ग्रन्थ मूडबिद्री के मठ में है तथा इस का विस्तर ७०० श्लोकों जितना है। किन्तु

---

१) सूचित करते हुए हर्ष होता है कि इन दो ग्रन्थों की प्रतियों के सूक्ष्मचित्र (माइक्रो फिल्म) प्रो. आल्स्डोर्फ की कृपासे, डॉ. उपाध्ये को प्राप्त हो गये है। इन के यथासंभव उपयोग का प्रयत्न शीघ्र ही किया जायगा।

श्री भुजबलि शास्त्री के पत्र से ज्ञात होता है कि इस समय मूडबिद्री मठ में उक्त ग्रन्थ नही है। पहले प्रमाप्रमेय के परिचय में बताया है कि वह सिद्धान्तसार मोक्षशास्त्र का पहला भाग है। मूडबिद्री की यह प्रति प्रमाप्रमेय की ही है या अगले भाग की है यह जानना सम्भव नही हुआ।

न्यायदीपिका—इस का उल्लेख लुई राइस द्वारा संपादित मैसूर व कुर्ग की हस्तलिखितसूची (पृ. ३०६) मे है। यह प्रति हम देख नही सके अतः यह धर्मभूषणकृत न्यायदीपिका की ही प्रति है या उसी नाम का स्वतन्त्र ग्रन्थ है यह कहना सम्भव नही है।

सप्तपदार्थीटीका—इस का उल्लेख पाटन के हस्तलिखितों की सूची की प्रस्तावना (पृ. ४४) में मिला। इस का अन्यविवरण प्राप्त नही हो सका। वैशेषिक दर्शन के विद्वान शिवादित्य का सप्तपदार्थी नामक ग्रन्थ प्रसिद्ध हो चुका है। हो सकता है कि भावसेन की यह कृति उसी की टीका हो। शिवादित्य का समय भी भावसेन से पहले का था यह सुनिश्चित है।

३. समय-विचार

भावसेन ने अपने किसी ग्रन्थ मे समयनिर्देश नही किया है। अतः इस विषय में कुछ विचार अपेक्षित है। प्रस्तुत ग्रन्थ की एक हस्तलिखित प्रति शक १३६७ = सन १४४५ की है[१]। इन के दूसरे ग्रन्थ कातन्त्ररूपमाला की एक प्रति शक १३०५ = सन १३८३ तथा दूसरी एक प्रति शक १२८९ = सन १३६७ की है[२]। अतः उन का समय सन १३६७ से पहले सुनिश्चित है। लेखक ने न्यायदर्शन की चर्चा में पूर्व पक्ष के तौर पर भासर्वज्ञकृत न्यायसार के कई वाक्य उद्धृत किये है[३]– यह ग्रन्थ दसवीं सदी का है। वेदान्त दर्शन के विचार में लेखकने विमुक्तात्म की इष्टसिद्धि का उल्लेख किया है[४] तथा आत्मा के अणु–आकार की चर्चा में रामानुज के विचार उपस्थित किये हैं[५] – इन दोनों-

१) देखिए-आगे सम्पादन सामग्री में हुम्मच प्रति का विवरण. २) कन्नडप्रान्तीय ताडपत्रीय ग्रन्थसूची पृ. १०४. ३) देखिए-मूलग्रन्थ पृ. २३९-४० तथा तत्संबधी टिप्पण. ४) मूल पृ. १३८. ५) मूल. पृ. २०४.

का समय १२ वीं सदी है। वेद प्रामाण्य की चर्चा में लेखक ने तुरुष्कशास्त्र को बहुजनसम्मत कहा है[1] तथा वेदों के हिंसाउपदेश की तुलना तुरुष्कशास्त्र से की है[2]। तुरुष्कशास्त्र से यहां मुस्लिमशास्त्र से तात्पर्य है यह स्पष्ट ही है। उत्तर भारत मे मुस्लिम सत्ता का व्यापक प्रसार सन ११९२ से १२१० तक हुआ तथा सुलतान इल्तुतमश के समय सन १२१०से१२३६ तक यह सत्ता दृढमूल हुई (दक्षिण भारत में मुस्लिम सत्ता का विस्तार इस से एक सदी बाद अलाउद्दीन खलजी के समय हुआ)। अतः तुरुष्कशास्त्र को बहुसम्मत कहना तेरहवीं सदी के मध्य के पहले सम्भव प्रतीत नही होता। इस तरह भावसेन के समय की पूर्वावधि स्थूलतः सन १२५० कही जा सकती है। सन १२५० से १३६७ तक की इन मर्यादाओं को और अधिक संकुचित करने के दो साधन हैं। एक तो यह कि लेखक ने तेरहवीं सदी के अन्तिम चरण के नैयायिक विद्वान केशवमिश्र की तर्कभाषा का कोई उपयोग नही किया है[3]। अतः वे केशवमिश्र के किंचित पूर्व के अथवा समकालीन होने चाहिए। दूसरा साधन यह है कि लेखक के समाधिलेख की लिपि चौदहवीं सदी की अपेक्षा तेरहवीं सदी के अधिक अनुकूल है[4]। अतः भावसेन का समय प्रायः निर्बाध रूप से तेरहवीं सदी का उत्तरार्ध (स्थूलतः १२५० से १३००) निश्चित होता है।

४. ग्रन्थ का नाम

इस ग्रन्थ की पुष्पिका में इस का नाम 'विश्वतत्त्वप्रकाश मोक्षशास्त्र' इस प्रकार दिया है तथा यह 'अशेषपरमततत्त्वविचार' उस का पहला परिच्छेद है ऐसी सूचना दी है। शायद अगले परिच्छेद मे स्वमत का समर्थन करने की लेखक की इच्छा थी किन्तु वह भाग लिखा गया या नही यह निश्चित नही है। मोक्षशास्त्र यह नाम

---

१) मूल पृ. ८०; २) मूल पृ.९८. ३) इस के स्थान में उन्हों ने दसवी सदी के न्यायसार का उपयोग किया है यह ऊपर बताया ही है। केशवमिश्र ने प्रमाण का 'प्रमाकरणं प्रमाणम्' यह लक्षण दिया है इस का खण्डन प्रथमतः धर्मभूपण की न्यायदीपिका में प्राप्त होता है। ४) यह मत हमे उटकमंडस्थित प्राचीन लिपिविद् कार्यालय के सहायक लिपिविद श्री. रित्ती से प्राप्त हुआ। वहां के उपप्रमुख डॉ. गै ने भी इस की पुष्टि की है।

उमास्वाति आचार्यके तत्त्वार्थसूत्र को भी दिया गया है इस में भ्रम न हो इसलिए सूचीपत्रों तथा हस्तलिखितों में प्रस्तुत ग्रन्थ को सिर्फ 'विश्वतत्त्वप्रकाश' कहा गया है (हमारे मुख्य हस्तलिखित के समासों में 'विश्वतत्त्वप्रकाशिका' यह नाम अंकित है)। हम ने भी यही नाम उचित समझा है। पूज्यपाद आचार्य ने, सर्वार्थसिद्धि वृत्ति के मंगलाचरण में मोक्षमार्ग के उपदेशक तीर्थंकर को विश्वतत्त्वों का ज्ञाता कहा है (ज्ञातारं विश्वतत्त्वाना वन्दे तद्गुणलब्धये।) इसी के अनुकरण पर सम्भवतः ग्रन्थ नाम का पहला अंश आधारित है। ग्रन्थनामों में प्रकाश शब्द का प्रयोग विशद स्पष्टीकरण के अर्थ में करने की पद्धति भी पुरातन है। जैन साहित्य में योगींन्दुदेव का परमात्मप्रकाश प्रसिद्ध है। जैनेतर साहित्य मे महाराज भोजदेव का शृंगारप्रकाश, क्षेमेन्द्र का लोकप्रकाश तथा मम्मट का काव्यप्रकाश भी प्रख्यात है।

५. ग्रन्थशैली

प्रतिपक्षी दर्शनों का क्रमशः विचार करने की शैली इस ग्रन्थ में अपनाई है। इस प्रकार का पहला व्यवस्थित ग्रन्थ हरिभद्रसूरि का षड्दर्शनसमुच्चय है। किन्तु इस में विभिन्न दर्शनों के मूलतत्त्वों का संग्रह ही है — उन का समर्थन या खण्डन नही है। इसी लिए उस का विस्तार भी सिर्फ ८७ श्लोकों जितना कम है। दूसरा ग्रन्थ विद्यानन्दकृत सत्यशासन परीक्षा है। इस में पुरुषाद्वैत, शब्दाद्वैत, विज्ञानाद्वैत, चित्राद्वैत, चार्वाक, बौद्ध, साख्य, न्यायवैशेषिक, मीमासा, तत्त्वोपप्लव तथा अनेकान्त (जैन) दर्शनों का क्रमशः विचार किया है[१]। यह ग्रन्थ अभी अप्रकाशित है अतः उस की प्रस्तुत ग्रन्थ से तुलना सम्भव नही। तथापि भावसेन ने इसे ही आदर्श रूप में सन्मुख रखा होगा यह अनुमान किया जा सकता है[२]। इस तरह का सुविख्यात ग्रन्थ माधवाचार्य का सर्वदर्शनसंग्रह है जिस में वेदान्त की दृष्टि से चार्वाकादि सोलह दर्शनों का क्रमशः विचार है। किन्तु यह ग्रन्थ भावसेन से कोई

१) अनेकान्त वर्ष ३ पृ. ६६० में पं. महेन्द्रकुमार का लेख. २) प्राभाकरमीमांसादर्शन के विचार में प्रस्तुत ग्रन्थ में जो पहला श्लोक हैं वह सत्यशासनपरीक्षा में भी पाया गया है। (अनेकान्त ३, पृ. ६६४). डॉ. उपाध्ये से मालूम होता है कि सत्यशासनपरीक्षा भारतीय ज्ञानपीठसे प्रकाशित हो रही है।

एक सदी बाद का है – चौदहवीं सदी के उत्तरार्ध में लिखा गया है। चौदहवीं सदी में ही राजशेखर तथा मेरुतुंग ने भी षड्दर्शनसमुच्चय तथा षड्दर्शननिर्णय नामक ग्रन्थ लिखे हैं।

६. सम्पादन-सामग्री

प्रस्तुत ग्रन्थ के सम्पादन में प्रमुख आधारभूत हस्तलिखित प्रति श्री बलात्कारगण मन्दिर, कारंजा की (क्र. ६२९) है। इस में ५″×११″ आकार के १८६ पत्र हैं। प्रतिपत्र ९ पंक्तियां तथा प्रतिपंक्ति २८ अक्षर हैं। यह प्रति शक १५३६ (=सन १६१५) में लिखी गई थी। भट्टारक कुमुदचन्द्र के उपदेश से उन के शिष्य ब्र. वीरदास के लिए[1] जयपुर नगर (वर्तमान जिन्तूर, जि. परभणी) के सं. हीरासा चवरे ने यह प्रति अर्पित की थी। इस का लेखन प्रायः शुद्ध और सुवाच्य है। इस के समासों में विवरणात्मक टिप्पण हैं जो सम्भवतः ब्र. वीरदास ने अध्ययन के समय लिखे थे। ये टिप्पण हम ने प्रायः अविकल रूप से प्रत्येक पृष्ठ पर सारानुवाद के नीचे दिये हैं। कारंजा से यह प्रति हमें श्री. माणिकचन्द्रजी चवरे द्वारा प्राप्त हुई थी।

इस के अतिरिक्त हम ने दो और प्रतियों का अवलोकन किया। इन में एक श्री चन्द्रप्रभ मन्दिर, भुलेश्वर, बम्बई की (क्र. १६२) है। इस में ६″×१३″ आकार के ८७ पत्र हैं। प्रतिपत्र १४ पंक्ति तथा प्रतिपंक्ति ४६ अक्षर हैं। इस का लेखनसमय ज्ञात नही है, कागज तथा लिपि से यह १५० वर्षों से अधिक पुरानी प्रतीत नही होती। लेखन सुवाच्य किन्तु पाठ बहुत अशुद्ध है। दूसरी प्रति श्री. माणिकचंद हीराचद ग्रन्थभाडार, चौपाटी, बम्बई की (क्र. १३१) है। इस में ६″×१३″ आकार के ८७ पत्र हैं। प्रतिपत्र १२ पंक्ति तथा प्रतिपंक्ति

---

१ भट्टारक कुमुदचन्द्र बलात्कारगण के कारंजा पीठ के आचार्य थे उन के ज्ञात उल्लेख शक १५२२ से १५३५ तक के हैं। उन्हों ने ब्र. वीरदास को दी हुई पंचस्तवनावचूरि की प्रति उपलब्ध है। ब्र. वीरदास का बाद का नाम पार्श्वकीर्ति था। उन्हा ने शक १५४९ में मराठी सुदर्शनचरित लिखा। उन के उल्लेख शक १५६९ तक मिलते है (भट्टारक सम्प्रदाय पृ. ७२)।

५२ अक्षर हैं। अन्तिम पत्र प्राप्त न होने से इस के लेखनसमय का पता नही चलता। कागज तथा लिपि से यह प्रति भी १९ वीं सदी की ही प्रतीत होती है। यह भुलेश्वर मन्दिर की प्रति की ही प्रतिलिपि होगी क्यों कि दोनों मे अशुद्धिया प्रायः समान हैं। ये दोनों प्रतिया बम्बई से डॉ. विद्याचन्द्रजी शाह द्वारा प्राप्त हुई थीं। इन की अशुद्धता के कारण पाठभेद की दृष्टि से इन का कोई उपयोग नही हो सका।

इस ग्रन्थ की एक प्रति श्रीदेवेन्द्रकीर्ति ग्रन्थ भाडार, हुम्मच में है (क्र. १३९-१८४) इस में ४३ पत्र, प्रतिपत्र १० पंक्ति तथा प्रतिपंक्ति १०३ अक्षर है। यह प्रति विजयनगर के राजा देवराय के समय शक १३६७=सन १४४५ में मूडबिद्रे के पार्श्वनाथ चैत्यालय में समन्तभद्रदेव के सन्मुख वहा के श्रावकों ने लिखवाई थी। इस के पाठभेदों की सूचना श्रीमान् पं. के. भुजबलि शास्त्री के सहयोग से हमें मिल सकी तथा परिशिष्ट में हम ये पाठभेद दे रहे हैं।

इन के अतिरिक्त इस ग्रन्थ की छह और प्रतियों का उल्लेख प्राप्त हुआ (जिनरत्नकोश पृ. ३६०)। इन मे दो प्रतिया चन्द्रप्रभ मन्दिर, भुलेश्वर, बम्बई की (क्र. १७६ तथा १८४) है। दो भट्टारकीय ग्रन्थ-भाडार, ईडर की (क्र. २३ तथा ५२) है। एक प्रति मूडबिद्रे के चारुकीर्तिमठ की (क्र. ६६६) है तथा एक ऐ० पन्नालाल सरस्वतीभवन, झालरापाटन की (क्र. ९६३) हैं। अन्तिम दो प्रतिया अपूर्ण हैं। पहली चार प्रतिया इस समय उक्त भाडारों में नही हैं ऐसा हमें पत्रव्यवहार से ज्ञात हुआ।

७. अनुवादशैली

सस्कृत न्यायग्रन्थो के अनुवाद शब्दशः किये जाये तो बहुत क्लिष्ट होते है और पूर्ण अर्थ व्यक्त करनेके लिये विस्तार भी बहुत करना पडता है। अतः मूल पाठ के नीचे हम ने शब्दशः अनुवाद न दे कर सारानुवाद दिया है। लेखक की व्युक्तियों का समावेश इस अनुवाद मे प्रायः पूर्ण रूप से मिलेगा। किन्तु जो भाग वादविवाद के तन्त्र पर आधारित है – जिस में हेतु अथवा हेत्वाभास का

तान्त्रिक विवरण, प्रसंगसाधन, अनुमान में उपाधि का विवरण आदि है — उस का समावेश अनुवाद में नही किया है। ऐसे भाग का यथा-संभव पूर्ण विवरण टिप्पणों में दिया है। मूल में जहां एक ही युक्ति को दुहराया है वहां अनुवाद में प्रायः यह पुनरुक्ति छोड दी है। पूर्वपक्ष का वर्णन भी जहा मूल में विस्तारसे दुहराया है वहा अनुवाद में उसके पहले स्थल का संक्षिप्त निर्देश किया है। इन सब परिवर्तनो का उद्देश इतना ही है कि साधारण पाठक प्रत्येक विषय के युक्तिवाद को सरलता से समझे। विशेष अध्ययन की सामग्री टिप्पणों में उपलब्ध होगी।

८. प्रमुख विषय

जीवस्वरूप—ग्रन्थ के प्रारंभ में चार्वाक दर्शन का पूर्व-पक्ष है (पृ० १–९)। चार्वाकों का आक्षेप है कि जीव नामक कोअी अनादि-अनन्त स्वतन्त्र तत्व है यह किसी प्रमाण से ज्ञात नही होता। जीव अथवा चैतन्य शरीररूप में परिणत चार महाभूतों से ही उत्पन्न होता है, वह शरीरात्मक अथवा शरीर का ही गुण या कार्य है। इस के उत्तर में लेखक का कथन है (पृ० ९-२३) कि जीव और शरीर भिन्न हैं क्यों कि जीव चेतन, निरवयव, बाह्य इन्द्रियों से अग्राह्य, स्पर्शादि-रहित है; इस के प्रतिकूल शरीर जड, सावयव, बाह्य इन्द्रियों से ग्राह्य एवं स्पर्शादिसहित है। चैतन्य चैतन्य से ही उत्पन्न हो सकता है, जड महाभूतों से नही। शरीर जीवरहित अवस्था में पाया जाता है तथा जीव भी अशरीर अवस्था में पाया जाता है अतः संसारी अवस्था में जीव और शरीर एकत्र होने पर भी उन का स्वरूप भिन्न भिन्न है। जीव के अनादि-अनन्त होने का ज्ञान सर्वज्ञ को प्रत्यक्ष होता है तथा हम अनुमान और आगम से उसे जानते हैं।

सर्वज्ञवाद्—आगम के उपदेशक सर्वज्ञ का अस्तित्व चार्वाक तथा मीमांसकों को मान्य नही है, उन के आक्षेपों का विचार लेखक ने किया है (पृ० २४-४२)। सर्वज्ञ के अस्तित्व का ज्ञान आगम से तथा अनु-मानों से होता है। सर्वज्ञ नही हो सकते यह सिद्ध करना सम्भव नही है। जैसे अनेक पदार्थों के ज्ञाता हमारे जैसे व्यक्ति होते है वैसे ही समस्त

पदार्थों का ज्ञान किसी पुरुष को होता है। ज्ञान के सब आवरण नष्ट होने पर स्वभावतः सब पदार्थों का ज्ञान होता है। ज्ञान और वैराग्य का परम प्रकर्ष ही सर्वज्ञत्व है। पुरुष होना अथवा वक्ता होना सर्वज्ञत्व में बाधक नही है। आजकल इस प्रदेश में सर्वज्ञ नही है अतः कभी भी किसी प्रदेश में सर्वज्ञ नही होते यह कहना साहसोक्ति है – ऐसे तर्क से इतिहास की वे सभी बाते मिथ्या सिद्ध होंगीं जो इस समय विद्यमान नही हैं। अतः सर्वज्ञ का अस्तित्व तथा उनके द्वारा उपदिष्ट आगम का प्रमाणत्व मान्य करना चाहिए।

ईश्वरवाद—न्यायदर्शन में सर्वज्ञ का अस्तित्व तो माना है किन्तु वे जगत के कर्ता ईश्वर को सर्वज्ञ मानते हैं, इस का विचार भी लेखक ने विस्तार से किया है (पृ. ४३–६८)। इस विषय में चार्वाको के विचार से वे सहमत हैं। ईश्वर जगत्कर्ता है यह कहने का आधार है जगत को कार्य सिद्ध करना। कार्य वह होता है जो पहले विद्यमान न हो तथा बाद में उत्पन्न हो। किन्तु जगत अमुक समय में विद्यमान नही था यह कहने का कोई साधन नही है अतः जगत को कार्य कहना ही गलत है। जगत मूर्त है, रूपादि गुणों से सहित है, अवयवसहित है, बाह्य इन्द्रियों से ज्ञात होता है, अचेतन है, विशिष्ट आकार का है, ये सब बातें ठीक है किन्तु इन से जगत कार्य है यह सिद्ध नही होता—जगत को नित्य माननेपर भी ये सब बातें हो सकतीं हैं। जगत किसी ने निर्माण किया यह कल्पना ही ठीक से स्पष्ट नही हो सकती – निर्माणकार्य शरीररहित ईश्वर द्वारा नही हो सकता क्यों कि कार्य करने के लिए शरीर होना आवश्यक है; यदि ईश्वर को सशरीर मानें तो प्रश्न होता है कि ईश्वर के शरीर को किस ने निर्माण किया। ईश्वर या उस के शरीर को स्वयंभू मानते हैं तो प्रश्न होता है कि जगत को भी स्वयंभू मानने में क्या हानि है। मनुष्यों को शुभाशुभ कर्मों का फल देता है वह ईश्वर है यह मानने पर प्रश्न होता है कि यदि ईश्वर कर्मों के अनुसार ही फल देता है तो उस की ईश्वरता क्या है –कर्म ही शुभाशुभ फल देते हैं यह मानने में क्या हानि है। इस के

अतिरिक्त एक आक्षेप यह भी है कि नैयायिक मत में मान्य ईश्वर-ब्रह्मा विष्णु अथवा शिव – राग, द्वेष आदि दोषों से युक्त हैं तथा संसारी हैं अतः वे सर्वज्ञ या मुक्त नही हो सकते।

वेदप्रामाण्य—मीमासक सर्वज्ञप्रणीत आगम तो नही मानते किन्तु अनादि–अपौरुषेय वेद को प्रमाणभूत आगम मानते हैं। इन का चार्वाकों ने खण्डन किया है उस से भी लेखक सहमत हैं (पृ.७२–१०१) वेद के कर्ता अष्टक आदि ऋषि हैं ऐसा बौद्धादि दर्शनों के अनुयायी मानते हैं अतः वेदों को अपौरुषेय कहना अथवा वेदों के कर्ता किसी को ज्ञात नहीं हैं अतः वेद अकर्तृक हैं यह कहना गलत है। बौद्ध धर्मग्रन्थ–त्रिपिटक–का कोई एक कर्ता ज्ञात नही है किन्तु इस से वे अकर्तृक नही हो जाते। वेद की अध्ययनपरम्परा अनादि है यह कथन भी ठीक नही क्यों कि काण्व, याज्ञवल्क्य आदि शाखाओं के नामों से उन परम्पराओं का प्रारम्भ उन ऋषियों ने किया था यह स्पष्ट होता है। वेदकर्ता के सूचक वाक्य वैदिक ग्रन्थों में ही उपलब्ध होते हैं। वेद बहुजनसम्मत हैं अतः प्रमाण है यह कथन भी ठीक नही। यद्यपि बहुतसे लोग वेद को प्रमाण मानते हैं तथापि वेद के अर्थ के बारे में उन में बहुत मतभेद है अतः वेद के किस अर्थ को प्रमाण मानें इस का निर्णय नही होता। दूसरे, वेद के समान तुरुष्कों के शास्त्र भी बहुसम्मत है किन्तु इस से वे प्रमाण नही हो जाते। वेद सदोष हैं, वाक्यबद्ध हैं, उन में राजा तथा ऋषियों के उल्लेख हैं, तथा उन का वर्णन भी प्रमाण बाधित, व हिंसा जैसे पापकार्यों का समर्थक है अतः वेद पुरुषकृत एवं अप्रमाण सिद्ध होते हैं।

प्रामाण्यवाद—वेद स्वतः प्रमाण हैं इस मीमासक मत के सिलसिले में ज्ञान स्वतः प्रमाण होते हैं या परतः प्रमाण होते हैं इस का विचार लेखक ने किया है (पृ. १०१-११३)। ज्ञान यदि वस्तुतत्त्व (सत्य स्वरूप) के अनुसार है तो वह प्रमाण होता है तथा वस्तु के स्वरूप के विरुद्ध है तो अप्रमाण होता है अतः ज्ञान का प्रामाण्य वस्तुस्वरूप पर आधारित है – परतः निश्चित होता है, स्वतः नही।

इस प्रामाण्य का ज्ञान परिचित वस्तु के विषय में स्वतः होता है तथा अपरिचित वस्तु के विषय में अन्य साधनों से – परतः होता है। इसी सन्दर्भ मे ज्ञान अपने आप को जान सकता है – स्वसंवेद्य है यह भी स्पष्ट किया है।

भ्रान्तिस्वरूप—प्रामाण्य के सम्बन्ध में अप्रमाण ज्ञान का – भ्रान्ति का स्वरूप क्या है यह विस्तार से बतलाया है(पृ. ११४–१३६)। माध्यमिक बौद्ध सभी पदार्थों के ज्ञान को भ्रम कहते हैं – संसार मे कोई पदार्थ नही हैं, सब शून्य है यह उन का मत है। किन्तु सर्वजनप्रसिद्ध प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द आदि प्रमाणों का इस प्रकार अभाव बतलाना उचित नही। यदि प्रमाण विद्यमान है तो उन के प्रमेय – बाह्य पदार्थों काभी अस्तित्व अवश्य मानना होगा। इसी प्रकार से योगाचार बौद्धोंका विज्ञानवाद – जगत मे केवल ज्ञान विद्यमान है, बाकी सब पदार्थ ज्ञान के ही आकार है – भी गलत है क्यों कि इस में भी प्रमाण तथा प्रमेय के भेद को भुला दिया गया है। प्राभाकर मीमांसक भ्रम का अस्तित्व ही स्वीकार नही करते – उन के मत में सभी ज्ञान प्रमाण ही होते है। यह मत भी प्रमाणविरुद्ध है क्यों कि भ्रम का अस्तित्व प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध है। यदि भ्रम का अस्तित्व नही होता तो जगत के रूप से विषय में परस्पर विरोधी मत प्रचलित ही नही होते।

मायावाद्—जगत के स्वरूप को भ्रमजन्य माननेवाले प्रमुख मत –वेदान्त दर्शनका विचार लेखक ने विस्तार से किया है (पृ. १३७ – १९२)। वेदान्तियों का कथन है कि प्रपंच - संसारकी उत्पत्ति अज्ञान से होती है तथा ज्ञान से उस की निवृत्ति होती है। किन्तु अज्ञान जैसे निषेधात्मक–अभावरूप तत्त्व से जगत जैसा भावरूप तत्त्व उत्पन्न नही हो सकता। इसी प्रकार ज्ञान वस्तु (जगत) को जान सकता है, उस का नाश नही कर सकता। वैदिक वाक्यो में अनेक जगह प्रपंच को ब्रह्म-स्वरूप कहा है अतः ब्रह्म यदि सत्य हो तो प्रपंच भी सत्य होगा। प्रपंच की सत्यता में बाधक कोई प्रमाण नही है। ब्रह्मसाक्षात्कार से प्रपंच बाधित नही होता क्यो कि व्यास, पराशर आदि ऋषियों को साक्षात्कार

हो गया फिर भी प्रपंच अब तक बना हुआ है यह हम प्रत्यक्ष देखते हैं। प्रत्येक जीव के सुख, दुःख, जन्म, मरण अलग अलग हैं अतः उन सब को एक ही ब्रह्म के अंश बतलाना योग्य नही। सुख-दुःखादि गुण चैतन्यमय जीव के ही हो सकते हैं, जड अन्तःकरण के नही; अतः ब्रह्म एक है और अनेक अन्तःकरणों में उस के प्रतिबिम्ब मात्र हैं यह कथन भी उचित नही। यदि जीव ब्रह्म से भिन्न न हो तो जीव संसारी है तथा उसे मुक्ति के लिए प्रयास करना चाहिए यह कथन व्यर्थ सिद्ध होगा।

वैशेषिक तत्त्वव्यवस्था—इन सात विषयों के विस्तृत विचार के बाद लेखक ने अपनी शैली में कुछ परिवर्तन किया है। अब वे मोक्षमार्ग की दृष्टि से एक एक दर्शन की तत्त्वव्यवस्था का विचार करते हैं। इस प्रकार वैशेषिक दर्शन की तत्त्वव्यवस्था का विचार प्रथम आता है (पृ.१९२–२३८)। वैशेषिक और नैयायिक आत्मा अनेक तो मानते है किन्तु सभी आत्मा सर्वगत मानते हैं। जैन दृष्टि से यह ठीक नही क्यों कि आत्मा यदि सर्वगत हो तो वह एक शरीर से दूसरे शरीर में कैसे जायगा–जन्ममरण का क्या अर्थ रहेगा? इसी प्रकार सर्वगत आत्मा को एक ही शरीर के सुखदुःख का अनुभव क्यो होता है– अन्य शरीरों से उस का संबन्ध क्यो नही होता? इन्हीं कारणों से जैन मत में मन, सामान्य अथवा समवाय को भी सर्वगत नही माना है। द्रव्यों से भिन्न सामान्य और समवाय नामक पदार्थों का अस्तित्व मानना भी जैन दृष्टि से व्यर्थ है। वैशेषिक मत में इन्द्रियों को पृथ्वी आदि भूतों से उत्पन्न माना है तथा इन्द्रियो और पदार्थों के संनिकर्ष (प्रत्यक्ष सम्पर्क) के बिना प्रत्यक्ष ज्ञान सम्भव नही माना है– इन मतों की यथोचित आलोचना लेखक ने की है। अन्त में प्रत्येक कर्म का फल भोगे बिना मुक्ति नही होती इस मत का निराकरण किया है तथा ध्यानबल से कर्मक्षय का समर्थन किया है।

न्यायदर्शन की तत्त्वव्यवस्था— न्यायदर्शन की तत्त्वव्यवस्था में प्रमाण, प्रमेय आदि सोलह पदार्थों की गणना में बहुत दोष हैं। वे

अनुमान को तो प्रमाण पदार्थ में सम्मिलित करते हैं किन्तु अनुमान के अवयव, दृष्टान्त, दोष आदि को पृथक पदार्थ मानते हैं। उन्हों ने ज्ञानयोग, भक्तियोग तथा क्रियायोग का प्रतिपादन किया है किन्तु इन का आधारभूत तत्त्व ईश्वर है और ईश्वर का अस्तित्व मानना उचित नहीं यह पहले बतलाया है (पृ.२३९-२५१)।

मीमांसादर्शन विचार— भाट्ट मीमांसक अन्धकार को द्रव्य मानते हैं, नैयायिक आदि उसे प्रकाश का अभाव मात्र कहते हैं। यहां मीमांसकों का मत जैन दृष्टि के अनुकूल है। इसी तरह प्राभाकर मीमांसक किसी द्रव्य की शक्ति को अनुमेय मानते हैं, नैयायिक शक्ति को भी प्रत्यक्ष का ही विषय मानते हैं। यहां भी मीमांसकों का मत जैन दृष्टि के अनुकूल है। वैसे मीमांसकों का मुख्य मत वैदिक यज्ञों आदि के महत्त्व पर जोर देता है-उस का पहले खण्डन हो चुका है (पृ. २५२-२६०)।

सांख्यदर्शनविचार—सांख्यों के मत से जगत का मूल कारण प्रकृति नामक जड तत्त्व है तथा वह सत्त्व, रजस् और तमस् इन तीन गुणों से बना है। बुद्धि, अहंकार, इन्द्रिय तथा पंच महाभूत इन्हीं से बने है। किन्तु जैन दृष्टि से बुद्धि, अहंकार ये चैतन्यमय जीव के कार्य हैं—जड प्रकृति के नहीं। सांख्यों का दूसरा प्रमुख मत है सत्कार्यवाद—कार्य नया उत्पन्न नहीं होता, कारण में विद्यमान ही होता है यह उन का कथन है। किन्तु यह प्रत्यक्ष व्यवहार से विरुद्ध है। सांख्य पुरुष को अकर्ता मानते हैं—बन्ध और मोक्ष पुरुष के नहीं होते, प्रकृति के ही होते हैं यह उन का कथन है। जैन दृष्टि से यह उचित नहीं क्यों कि जो भोक्ता है वह कर्ता अवश्य होता है। यदि बन्ध—मोक्ष पुरुष के नहीं होते तो मोक्ष के लिए प्रयास व्यर्थ ही सिद्ध होगा। इसी तरह केवल ज्ञान से मुक्ति मिलती है यह सांख्य मत भी अयोग्य है, ज्ञान और चरित्र के संयुक्त होने पर ही मुक्ति प्राप्त होती है ऐसा मानना चाहिए (पृ. २६१-२८६)।

बौद्ध-दर्शन-विचार—इस दर्शन के विचार में प्रमुख विषय क्षणिकवाद है। बौद्ध आत्मा जैसा कोई शाश्वत तत्त्व नहीं मानते। रूप, संज्ञा, वेदना, विज्ञान, संस्कार इन पाच स्कन्धों से ही सब कार्य होते हैं

ऐसा उन का मत है। किन्तु नित्य आत्मा का अस्तित्व प्रत्यभिज्ञान प्रमाण से तथा प्रतिदिन के व्यवहार से भी प्रतीत होता है। आत्मा न हो तो मुक्ति का प्रयास व्यर्थ होगा तथा पुनर्जन्म को कोई अर्थ नही रहेगा। बौद्धो ने निर्वाण मार्ग के रूप में चार आर्यसत्य और सम्यक् दृष्टि आदि आठ अंग बतलाये हैं। किन्तु यदि मुक्ति जिसे प्राप्त होती है उस आत्मा को ही वे नही मानते तो मुक्ति के मार्ग का कोई अर्थ नही रहता। क्षणिकवाद के ही कारण बौद्ध प्रत्यक्ष ज्ञान को निर्विकल्पक मानते हैं। किन्तु नाम, जाति, संख्या आदि कल्पनाओं से सहित सविकल्पक प्रत्यक्ष का अस्तित्व तथा प्रामाण्य भी अवश्य मानना चाहिए (पृ. २८७-३०५)।

इस प्रकार प्रस्तुत ग्रन्थ में वैदिक तथा अवैदिक दोनों प्रकार के प्रमुख दर्शनों से जैन दर्शन के मतभेद तथा समानताओं का संक्षिप्त किन्तु स्पष्ट चित्रण प्रस्तुत किया गया है।

९. लेखक द्वारा उपयुक्त सामग्री

जैसा कि स्वाभाविक ही है– भावसेन ने विभिन्न दर्शनों के पूर्वपक्ष तथा उत्तरपक्ष लिखते समय पूर्ववर्ती आचार्यों की कृतियों का पर्याप्त उपयोग किया है। हम यहा समयक्रम से उन प्रमुख कृतियो का निर्देश करेंगे जो स्पष्टतः लेखक के सन्मुख रही है।

जैन कृतियां[1] — लेखक ने पुद्गल का लक्षण बतलाते समय उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र का एक सूत्र उद्धृत किया है (पृ. २२२)। सर्वज्ञ का अस्तित्व सिद्ध करनेवाला अनुमान तथा बाह्य पदार्थों के अस्तित्व का विधान समन्तभद्र की आप्तमीमासा से उद्धृत किये हैं (पृ. ३६ व ११३)। वेद पुरुषकृत हैं क्यों कि उन में ऋषियों आदि के नामोल्लेख हैं यह तर्क पात्रकेसरिस्तोत्र से प्रभावित है (पृ. ८९)। पूज्यपाद के समाधितन्त्र से दो श्लोक उद्धृत किये हैं (पृ.६५ व २३८), पहले में शरीर में परमाणुओ के आवागमन का वर्णन है तथा दूसरे में शरीर के कार्यों में इच्छा और द्वेष की अवश्यम्भाविता बतलाई है। अकलंक के

1 इन के समयादि के बारे मे विवरण प्रस्तावना के अगले भाग 'जैन तार्किक साहित्य' मे दिया है।

ग्रन्थों से उद्धृत या प्रभावित अनुमानों में सर्वज्ञ के अस्तित्व में वाधक प्रमाणो का अभाव प्रमुख है (पृ. २५)। वेदप्रामाण्य की तुलना में त्रिपिटक का उदाहरण वादीभसिंह की स्याद्वादसिद्धि से उद्धृत किया है (पृ. ७५)। ईश्वर सशरीर या अशरीर दोनों अवस्थाओं में जगत का कर्ता नही हो सकता इस अनुमान का विवरण विद्यानन्द की आप्तपरीक्षा पर आधारित है (पृ. ५०-५४)। आकिंचित्कर हेत्वाभास का लक्षण माणिक्यनन्दि के परीक्षामुख से उद्धृत किया है (पृ. ३)। अशरीर अवस्था में जीव के अस्तित्व का समर्थन देवसेन के एक गाथाश से किया है जो तत्त्वसार में है (पृ. १५)। नेमिचन्द्र के गोम्मटसार से द्रव्यमन का लक्षणवर्णन उद्धृत किया है (पृ.२०५)। अनन्तवीर्य की सिद्धिविनिश्चय-टीका से सर्वज्ञसमर्थक अनुमान उद्धृत किया है। (पृ. ३१)। प्रभाचन्द्र के ग्रन्थों से अनेक अनुमान लिए हैं जिन में सर्वज्ञ का समर्थन (पृ.३५),अदृष्ट का समर्थन (पृ. २२), इन्द्रियों का स्वरूपविचार (पृ.२२४) आदि प्रमुख हैं। महासेन के स्वरूपसम्बोधन से एक श्लोकार्ध उद्धृत किया है जिस में जो कर्ता है वही फल का भोक्ता होता है यह सनातन सिद्धान्त बतलाया है (पृ. ९)। इस के अतिरिक्त अन्य सादृश्यों का विवरण टिप्पणो में प्रस्तुत किया है।

जैनेतर कृतियां—वेदप्रामाण्य की चर्चा मे लेखक ने ऋग्वेद की चार ऋचाएं उद्धृत की हैं (पृ. ८१ तथा ८३)। इसी प्रकरण में अश्वमेध का फलसूचक वाक्य तथा वेदनिर्मिति का सूचक वाक्य किसी ब्राह्मण ग्रन्थ से उद्धृत किये हैं (पृ. ९७ व ७७)। निरर्थक वाक्यों के उदाहरण तैत्तिरीय आरण्यक तथा आपस्तम्ब श्रौतसूत्र से दिये हैं (पृ. ८५)। वेद की शाखाओं के प्रवर्तक के रूपमें आपस्तम्ब, बौधायन, आश्वलायन, कण्व तथा याज्ञवल्क्य का नामोल्लेख किया है (पृ. ७५-७६)। वेद का अर्थ जानने का महत्व निरुक्त के एक पद्य से बतलाया है (पृ. ९७)। सर्वज्ञ के अस्तित्व के विषय में मुण्डक तथा कठ उपनिषत् के वाक्य उद्धृत किये हैं (पृ. २८)। वेदानुयायी दार्शनिकों में परस्पर मतभेद बतलाते समय तैत्तिरीय, छान्दोग्य तथा श्वेताश्वतर उपनिषत् के वाक्य दिये

हैं (पृ. ८२, ८३)। अद्वैतवाद की चर्चा में अमृतबिन्दु तथा शुकरहस्य उपनिषत् के वाक्य आये हैं (पृ. १६६ व १८२)। ईश्वर के अस्तित्व के विषय में महाभारत का एक श्लोक तथा वेदों की उत्पत्ति के विषय में मत्स्यपुराण का एक श्लोक दिया है (पृ.१९७ व ९५)। याज्ञवल्क्य स्मृति से दो श्लोक उद्धृत किये हैं जिन में से एक वैदिक विद्याओं की गणना के लिए है, तथा दूसरे में गोदान का महत्व बतलाया है (पृ. १०१ व ५८)। इस तरह लेखक ने वैदिक साहित्य का विस्तृत परिचय व्यक्त किया है।

वैदिक दर्शनों के जिन मुख्य ग्रन्थों से उद्धरण लिये हैं उन में ईश्वरकृष्ण की साख्यकारिका प्रधान है – इस से बारह पद्य लिये हैं (पृ० २६१ आदि) न्यायदर्शन के कुच्छ सूत्र शब्दशः उद्धृत किये हैं (पृ० २३९ आदि) किन्तु इस दर्शन का विवरण मुख्यतः भासर्वज्ञ के न्यायसार पर आधारित है (पृ० २३९–४०)। वैशेषिक दर्शन मे प्रशस्तपादभाष्य के कई वाक्य उद्धृत किये हैं (पृ० १७७,२१६आदि)। प्रशस्तपादभाष्य के टीकाकार व्योमशिव का उल्लेख दिशा द्रव्य के विषय में किया है (पृ० २३२)। मीमांसा दर्शन की चर्चा में कुमारिल के श्लोकवार्तिक के कई पद्य तथा तत्वसंग्रह में लिये हुए कुछ पद्य उद्धृत किये हैं (पृ० २९, ३०, ३८, ३९ आदि)। स्मृतिप्रमोषवाद की चर्चा प्रभाकर की बृहती टीका पर आधारित है तथा प्रभाकर के शिष्य शालिकनाथ की प्रकरणपंचिका से एक पद्य लिया है (पृ० १२४–५, तथा ८०)। वेदान्त दर्शन के अद्वैतवाद तथा भेदाभेदवाद के समर्थक शंकर तथा भास्कर के सम्प्रदायों का उल्लेख कई बार किया है (पृ० ८१, ८२ आदि)। इस दर्शन के अन्य प्रमुख लेखकों में मण्डनमिश्र की ब्रह्मसिद्धि तथा विमुक्तात्मन् की इष्टसिद्धि का उल्लेख किया है (पृ. १५९ व १३८)।

चार्वाक दर्शन के तीन आचार्यों का एकत्रित उल्लेख इस ग्रन्थ की विशेषता है – पुरन्दर, उद्भट तथा अविद्धकर्ण ये वे तीन आचार्य हैं (पृ. ८)। पुरन्दर ने चार्वाक दर्शन का सूत्र ग्रन्थ लिखा था तथा उद्भट

ने उन सूत्रों पर वृत्ति लिखी थी यह स्याद्वादरत्नाकर आदि ग्रन्थों के उल्लेखो से ज्ञात था[1]। अविद्धकर्ण के भी उल्लेख कुछ बौद्ध ग्रन्थों में मिलते है। इन तीनों का समय सातवीं सदी या उस से पहले का है।

बौद्ध दर्शन में नागार्जुन की माध्यमिक कारिका से एक पद्य लिया है (पृ. ३०३)। अश्वघोप के सौन्दरनन्द काव्य के दो प्रसिद्ध श्लोक भावसेन ने भी उद्धृत किये हैं (पृ.३०३)। धर्मकीर्ति के प्रमाणवार्तिक के तीन पद्य विविध सन्दर्भो में आये हैं (पृ २३१, २३३ तथा ३००)। वसुबन्धु की विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि से एक पद्य उद्धृत किया है (पृ.२९५)। शान्तरक्षित के तत्त्वसंग्रह से मीमासको के कुछ पद्य लिए हैं (पृ. ३८, ३९)।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट होगा कि विविध दर्शनों के साहित्य का व्यापक अध्ययन भावसेन ने किया था। भावसेन के अन्य तर्कविपयक ग्रन्थो का सम्पादन होने पर उन के सन्मुख विद्यमान साहित्य का विवरण और अधिक विस्तृत तथा प्रामाणिक रूप से प्रस्तुत किया जा सकेगा।

१०. ऐतिहासिक मूल्यांकन

भावसेन ने प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना तेरहवी सदी के उत्तरार्ध मे की है। यह समय जैन तार्किक साहित्य मे विकासयुग की समाप्ति तथा संरक्षणयुग के प्रारंभ का है। हम अकलंक, विद्यानन्द अथवा प्रभाचन्द्र, देवसूरि से भावसेन की तुलना करे तो यह उचित नही होगा। अकलंकादि विद्वानों के सन्मुख दार्शनिक विचारों का सजीव विकास प्रस्तुत था – उन से प्रतिपक्षी नये सिद्धान्त तथा नये आक्षेप प्रस्तुत कर रहे ये तथा अकलंकादि आचार्यों को उन्हें नये उत्तर दे कर नई परिभापाएं स्थिर करनी थीं। तेरहवी सदी मे इस स्थिति में बहुत परिवर्तन हुआ। जैन तथा जैनेतर दोनों दर्शनों में अब नये विचारों के विकास की सम्भावना कम हुई। पुराने आचार्यों के मतो का स्पष्टीकरण, संक्षिप्त वर्णन तथा पठनपाठन यह प्रमुख उद्देश बना। ऐसे युग की प्रारम्भिक कृतियो मे भावसेन के ग्रन्थो का समावेश होगा। अतः

१) प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थ पृ. ४३१.

पूर्ववर्ती आचार्यों के विचारही यदि उन्हों ने व्यवस्थित रूप से संक्षेप में प्रस्तुत किये हैं तो इस में आश्चर्य की बात नही है। इस दृष्टि से हमें उन के ग्रन्थों की तुलना उन के बाद के साहित्य से करनी चाहिए। इस तुलना में दो बातें विशेप प्रतीत होती हैं। एक तो यह कि जहां बाद के साहित्य में टीका टिप्पणों की बहुलता है वहा भावसेन के ग्रन्थ स्वतंत्र प्रकरणों के रूप में लिखे गये हैं। दूसरी बात यह है कि जहा बाद के लेखकों ने प्रमाण विषय पर अधिक लिखा है वहा भावसेन ने प्रमेय विषय की ओर अधिक ध्यान दिया है। उन के ग्रन्थ संक्षिप्त तो हैं किन्तु एक विशिष्ट स्तर के वाचकों के लिए हैं। इन के समुचित अध्ययन के लिए वादविवाद की पद्धति का – अनुमान, उस के अवयव तथा उन के गुणदोष इन सब का साधारण अच्छा ज्ञान होना जरूरी है। इस दृष्टि से यदि कहें कि परीक्षामुख का अध्ययन कर के इन ग्रन्थों को पढना चाहिए तो कोई अत्युक्ति न होगी।

जैसे की पहले बताया है, लेखक के तर्क विपयक आठ ग्रन्थो में यह पहला प्रकाशित होनेवाला ग्रन्थ है। हमें आशा है कि लेखक के अन्य ग्रन्थ सम्पादित-प्रकाशित होनेपर उन के विपय में हमारा ज्ञान अधिक व्यवस्थित तथा निश्चित हो सकेगा। जैन तार्किक साहित्य के क्रमबद्ध अध्ययन में भी ये ग्रन्थ सहायक होंगे इस में सन्देह नही है।

जैन तार्किक साहित्य

१. प्रास्ताविक— पुरातन ग्रन्थों में जैन साहित्य का वर्गीकरण चार अनुयोगों में किया है[१] – प्रथमानुयोग (पुराणकथाएं), चरणानुयोग (आचारधर्म), करणानुयोग (भूगोल - गणित) तथा द्रव्यानुयोग (जीवाजीवादि तत्त्ववर्णन) । इन में द्रव्यानुयोग के विषय को साधारणतः दर्शन या दार्शनिक साहित्य कहा जाता है । इस के दो उपभेद होते हैं – अहेतुवाद तथा हेतुवाद[२] । जिस में सिर्फ आगमिक परम्परा के आधारपर तत्त्वो का वर्णन हो वह अहेतुवाद शास्त्र हैं । जिस में अनुमानयुक्ति अथवा तर्क का आश्रय ले कर तत्त्वों की चर्चा की हो वह हेतुवाद शास्त्र है । इसे ही हम तार्किक साहित्य कहते हैं । जैन प्रमाणशास्त्र में व्याप्ति के ज्ञान को तर्क कहा है–अनुमान का मूलाधार तर्क है अतः अनुमानाश्रित विवेचन को तार्किक कहा जाता है । जैन तार्किक साहित्य के विषय के बारे में–अन्तरंग के बारे में–अब तक विद्वानों ने पर्याप्त लेखन किया है । किन्तु इस के बहिरंग के बारे मे–तर्कवादी आचार्य, उन का समय, कार्य और ग्रन्थरचना के विषय में–एकत्रित प्रमाणाधारित वृत्तान्त संकलित नही हुआ है[३] । इसी कमी को दूर करने के उद्देश से प्रस्तुत निबन्ध की रचना की जा रही है ।

जैन साहित्य में विशुद्ध रूप से तार्किक ग्रन्थ स्वामी समन्तभद्र से पहले प्राप्त नही होते[४]। अतः उन के पूर्ववर्ती समय का विवेचन प्रस्तुत विषय के पार्श्वभूमि के तौर पर समझना चाहिए ।

---

१) रत्नकरण्ड-द्वितीय अधिकार. २) सन्मतिसूत्र ३-४३–दुविहो धम्मावाओ अहेउवाओ य हेउवाओ य । ३) इस विषय का संक्षिप्त दिग्दर्शन पं. दलसुख मालवणिय के 'जैन दार्शनिक साहित्य का सिंहावलोकन' में मिल सकता है (बनारस हिन्दु युनिवर्सिटी १९४९)। ४) पं. सुखलालजी आदि ने सिद्धसेन दिवाकर को आद्य जैन तार्किक माना है किन्तु आगे हम ने इस का विस्तृत विचार किया है ।

२. तार्किक परम्परा का उद्‌गम—जैन पुराणकथाओं के अनुसार प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव के समय से ही विविध दार्शनिक सम्प्रदायों का उद्‌भव हुआ है—ऋषभदेव के साथ दीक्षित हुए मुनियो में से जो तपोभ्रष्ट हुए थे उन्हों ने विविध दर्शनों की स्थापना की थी[1]। ऐसे 'मिथ्यादृष्टि' मतों की संख्या ३६३ कही गई है[2]। इन दर्शनों के पुरस्कर्ताओं के आक्षेप दूर करनेवाले वादकुशल मुनियों की संख्या प्रत्येक तीर्थंकर के परिवार में बताई है[3]।

तेईसवे तीर्थंकर पार्श्वनाथ के समय से हमें पुराणकथाओं के अनिश्चित वातावरण के स्थानपर इतिहास की निश्चित जानकारी प्राप्त होने लगती है। आगमों में पार्श्वनाथ और महावीर के मतों में समानता और भिन्नता के निश्चित उल्लेख मिलते हैं। उन्हें देखते हुए अब प्रायः सभी विद्वानों ने पार्श्वनाथ का ऐतिहासिक अस्तित्व स्वीकार किया है[4]। पार्श्वनाथ का निर्वाण महावीर के निर्वाण से २५० वर्ष पहले हुआ था और पार्श्वनाथ ने कोई ७० वर्ष तक धर्मोपदेश दिया था। अतः सनपूर्व ८४७ से सनपूर्व ७७७ यह पार्श्वनाथ का कार्यकाल ज्ञात होता है। वे काशी के राजा अश्वसेन के पुत्र थे तथा सम्मेदशिखर पर उन का निर्वाण हुआ था।

भगवतीसूत्र में प्राप्त दो संवादों से स्पष्ट होता है कि जगत के आकार के बारे में पार्श्वनाथ और महावीर के विचार समान थे[5] तथा तप

---

१) महापुराणपर्व १८ श्लो. ५९-६२ : मरीचिश्च गुरोर्नप्ता परिव्राड्भूयमास्थितः। तदुपज्ञमभूद् योगशास्त्रं तन्त्रं च कापिलम् ॥ इत्यादि. २) तत्त्वार्थवार्तिक १-२०. ३) पार्श्वनाथ के संघ में ६०० तथा महावीर के संघ में ४०० वादी मुनि थे (महापुराण पर्व ७३ श्लो. १५२ तथा पर्व ७४ श्लो. ३७८.) ४) इस विषय में स्व. धर्मानन्द कोसंबी की पुस्तक 'पार्श्वनाथ का चातुर्याम धर्म' उल्लेखनीय है। ५) भगवतीसूत्र ५-९-२२६ से नूणं भंते अज्जो पासेणं अरहया पुरिसादाणीएणं सासए लोए वुइए अणादीए अणवदग्गे परित्ते परिवुडे हेट्ठा विरिथण्णे मज्झे संखित्ते उप्पिं विसाले अहे पलियंकसंठिए मज्झे वरवइरविग्गहिए उप्पिं उद्धमुइंगाकारसंठिए।

और संयम के फल के बारे में भी उन का कथन एकरूप था[1]। किन्तु पार्श्वनाथ के समय इन विषयों की तार्किक चर्चा होती थी या नही यह स्पष्ट नही होता। पार्श्वनाथ की परम्परा के एक आचार्य केशी कुमार श्रमण महावीर के समकालीन थे। उन का प्रदेशी राजा के साथ जो संवाद हुआ उस का विवरण राजप्रश्नीय-सूत्र नामक उपाग में है। इस में जीव के मरणोत्तर अस्तित्व के बारे में विविध दृष्टान्त और युक्तियों का अच्छा निरूपण है।

पार्श्वनाथ तथा महावीर के मध्य का यह समय भारतीय दर्शनो के इतिहास मे बहुत महत्त्वपूर्ण है। आर्यावर्त की यज्ञप्रधान वैदिक संस्कृति तथा पूर्व भारत की तपस्याप्रधान श्रमण संस्कृति का संघर्ष इस समय शुरू था। इस के फलस्वरूप वैदिक परम्परा में ही आत्मवाद को प्रधानता देनेवाले उपनिषद् ग्रन्थों की रचना हुई। दूसरी ओर वेदो की प्रमाणता न माननेवाले सांख्य आदि दर्शन विकसित होने लगे। इन नये-नये सम्प्रदायों में सामाजिक तथा वैचारिक दोनों प्रकारका संघर्ष चलता रहा और इस से तर्कवाद का महत्त्व बढता गया। धीरे धीरे त्रयी (तीन वेद) के साथ आन्वीक्षिकी (तर्कशास्त्र) को भी शास्त्र का रूप प्राप्त हुआ।

३. महावीर तथा उन का समय—अन्तिम तीर्थंकर महावीर क्षत्रिय कुण्डग्राम के राजा सिद्धार्थ के पुत्र थे। आयु के तीसवें वर्ष उन्हों ने दीक्षा ग्रहण की, बारह वर्ष तपस्या की, तथा ४२ वे वर्ष में सर्वज्ञ होने पर तीस वर्ष तक धर्मोपदेश दिया। उन का निर्वाण सनपूर्व ५२७ में हुआ[2]। अतः सनपूर्व ५५७ से ५२७ यह उन का उपदेश काल था। उन का निर्वाण पावापुर के समीप हुआ था।

---

१) भगवतीसूत्र २-५-१०९ तुंगियाए नयरीए वहिया पुप्फवतीए चेइए पासावच्चिज्जा थेरा भगवतो समणोवासएहिं इमाइं एयारूवाइं वागरणाइं पुच्छिया। सजमे ण भंते किंफले तवे णं भते किंफले। तए णं ते थेरा भगवतो समणोवासए एवं वदासी संजमे णं अज्जो अणण्हयफले तवे वोदाणफलेसच्चे णं एसमट्ठे णो चेव णं आयभाववत्तव्वयाए।
२) यह तिथि प्रचलित परम्परा के अनुसार है। कुछ विद्वान सनपूर्व ४६७ यह निर्वाणवर्ष मानते हैं।

महावीर तथा उन के समकालीन कुछ अन्य दार्शनिकों के मतों का विवरण बौद्ध तथा जैन ग्रन्थों में मिलता है। उस समय यज्ञों से सब ईप्सित फल मिलते हैं यह माननेवाले वैदिक थे, जगत् का मूलतत्त्व ब्रह्म है और उस का साक्षात्कार ही अन्तिम ध्येय है यह माननेवाले उपनिषद्वादी भी थे। श्रमणों में भी पूरण कश्यप जैसे अक्रियावादी थे– किसी क्रिया से पुण्य होता है या किसी क्रिया से पाप होता है यह उन्हें मान्य नही था। मस्करी गोशाल जैसे नियतिवादी थे–उन के मत से संसारचक्र के निश्चित परिभ्रमण से ही जीव शुद्ध होता है–उस भ्रमण में कोई परिवर्तन नही हो सकता। अजित केशकंबली जैसे उच्छेदवादी थे–वे जीव को चार महाभूतों से बना हुआ मानते थे तथा मरण के बाद जीव का अस्तित्व स्वीकार नही करते थे। संजय बेलट्ठिपुत्र जैसे विक्षेपवादी थे–वे प्रत्येक प्रश्न का उत्तर नकारात्मक देते थे–परलोक है ऐसा नही मानते, परलोक नही है ऐसा भी नही मानते। पकुध कात्यायन जैसे अन्योन्यवादी थे–वे जीव, सुख, दुःख, तथा चार महाभूत इन सात पदार्थों को सर्वथा नित्य मानते थे तथा इन्हीं के परस्पर सम्पर्क से सब कार्य होते हैं यह मानते थे। अन्त में इन सब विवादो को निरर्थक माननेवाला बुद्ध का मध्यम मार्ग था–बुद्ध के अनुसार लोक शाश्वत है या नही, मरणोत्तर बुद्ध का अस्तित्व होता है या नही आदि प्रश्न चर्चा के योग्य नही है–'अव्याकरणीय' हैं। केवल तृष्णा का निरोध ही इष्ट है तथा उसी के लिए सम्यक् दृष्टि आदि आठ अंगो का मार्ग आवश्यक है।

महावीर के उपदेशों का जो विवरण आगमों में मिलता है उस से स्पष्ट होता है कि इन विविध वादों के विषय मे उन के निश्चित विचार थे तथा वे उन विचारों का युक्तिपूर्वक प्रतिपादन करते थे[१]। वे किसी प्रश्न को अव्याकरणीय नही मानते थे –द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भाव के अनुसार प्रत्येक प्रश्न का उत्तर देते थे। उन के उत्तर नकारात्मक नही थे–विधिरूप थे। वे नियतिवादी अथवा अक्रियावादी नही थे–जीव

१ पं. दलसुख मालवणिया का निबन्ध 'आगमयुग का अनेकान्तवाद' इस दृष्टि से उपयुक्त है।

अपने ही कर्मों का फल भोगता है तथा वह अपने ही प्रयत्न द्वारा इन कर्मों से मुक्त हो सकता है यह उन का कथन था।

४. द्वादशांग श्रुत में तार्किक भाग—महावीर के उपदेशों का संकलन उन के प्रधान शिष्यों–गणधरों द्वारा बारह ग्रन्थों में किया[१]। ये ग्रन्थ अंगसंज्ञा से प्रसिद्ध हैं–सम्मिलित रूप से उन्हें द्वादशाग गणिपिटक कहा जाता है। ये ग्रन्थ मूल रूप में उपलब्ध नही हैं। तथापि उन का वर्णन प्राचीन ग्रन्थों में सुरक्षित है[२]। इस से ज्ञात होता है कि इन बारह अंगों में दूसरा सूत्रकृत, पाचवा व्याख्याप्रज्ञप्ति, दसवा प्रश्नव्याकरण तथा बारहवा दृष्टिवाद ये ग्रन्थ विशेषरूप से तर्काश्रित थे। सूत्रकृत में ज्ञानविनयादि विषयों के साथ स्वसमय (जैन सिद्धान्त) तथा परसमय (जैनेतर सिद्धान्त) का वर्णन था[३]। इस का विस्तार ३६००० पद था। व्याख्याप्रज्ञप्ति में २२८००० पद थे तथा जीव है अथवा नही है आदि ६०००० प्रश्नों का वर्णन था[४]। प्रश्नव्याकरण मे ९३१६००० पद थे तथा आक्षेपिणी, विक्षेपिणी, संवेदिनी और निर्वेदिनी इन चार प्रकार की कथाओं का वर्णन था[५]। दृष्टिवाद में ३६३ मतवादियोंका निराकरण था। इस के पाच उपभेद थे–सूत्र, परिकर्म, प्रथमानुयोग, पूर्वगत तथा चूलिका। सूत्र में त्रैराशिक, नियतिवाद, विज्ञानवाद, शब्दवाद, प्रधानवाद, द्रव्यवाद,

---

१) दिगम्बर परम्परा में गणधर गौतम तथा श्वेताम्बर परम्परा में गणधर सुधर्म स्वामी प्रमुख अंगग्रंथकर्ता माने गये हैं। २) वर्तमान समवायाग सू. १३६-५०; तत्त्वार्थवार्तिक १·२०, धवला टीका भा. १ पृ. ९९, हरिवंशपुराण सर्ग १० आदि। यहादिया हुआ वर्णन मुख्यतः धवला टीका के अनुसार है। ३) समवायाग सू. १३७ के अनुसार इसी अंग में ३६३ मतवादियों का निराकरण समाविष्ट था। ४) समवायाग सू. १४० में इन प्रश्नों की संख्या ३६००० कही है। ५) छह द्रव्य, नवपदार्थ आदि का स्वरूप पहले बतला कर फिर अन्य मतो का निराकरण करना आक्षेपिणी कथा है। पहले दूसरों द्वारा जैन मत पर लिये गये आक्षेप बतला कर फिर उन्हें दूर करना यह विक्षेपिणी कथा है। पुण्य का फल बतलानेवाली कथा संवेदिनी तथा पाप का फल बतलानेवाली कथा निर्वेदिनी है।

पुरुषवाद आदि का वर्णन था [1]। पूर्वगत के चौदह प्रकरण थे—इन में चौथा अस्तिनास्तिप्रवाद, पाचवां ज्ञानप्रवाद व सातवां आत्मप्रवाद, ये तीन पूर्व तार्किक विषयो से सम्बद्ध प्रतीत होते हैं।

५. आगम की परम्परा—गणधरों द्वारा संकलित अंग ग्रन्थ कोई एक सहस्र वर्षोंतक मौखिक परम्परा से ही प्रसृत होते रहे—उन्हें लिपिबद्ध रूप नही दिया गया। गुरुशिष्यपरम्परा से पठन पाठन होते समय इन ग्रन्थों के मूल रूप में कुछ परिवर्तन होना स्वाभाविक था। उन की भाषा पहले अर्धमागधी प्राकृत थी वह धीरे-धीरे महाराष्ट्री प्राकृत के निकट पहुंची। मूल ग्रन्थों के कुछ विषयों का वर्णन लुप्त हुआ और कुछ नये विषयों का उन में समावेश हुआ। इस परिवर्तन से मूल के अर्थ में विपर्यास न हो इसलिए समय समय पर साधुसंघ द्वारा उन के संकलन का प्रयास किया गया। महावीर के निर्वाण के बाद १७० वे वर्ष में पाटलिपुत्र (पटना) में स्थूलभद्र के नेतृत्व में ऐसा प्रयास प्रथमवार हुआ —इसे पाटलिपुत्र वाचना कहा जाता है। सन की दूसरी सदी मे स्कन्दिल तथा नागार्जुन ने ऐसेही प्रयास किए—इन्हें माथुरी वाचना कहा जाता है। अन्त में वीरनिर्वाण के ९८० वे वर्ष में देवर्धि गणी ने समस्त आगमों का संकलन कर उन्हें लिपिबद्ध किया। यह कार्य सौराष्ट्र की राजधानी वलभी नगर में सम्पन्न हुआ।

दुर्भाग्यवश इस दीर्घ काल में जैनसंघ का दो सम्प्रदायों में विभाजन हुआ। दिगम्बर सम्प्रदाय में वलभी वाचना के आगम स्वीकृत नही हो सके। उस सम्प्रदाय के आचार्यों ने मूल आगम के विषयों पर

1) गोशाल मस्करिपुत्र के अनुयायी आजीवकों को त्रैराशिक कहते थे क्यों कि वे प्रत्येक तत्त्व का विचार तीन राशियों में करते थे, उदा० जीव, अजीव, जीवाजीव, लोक, अलोक, लोकालोक। जगत की समस्त घटनाएं पूर्वनिश्चित—नियत हैं ऐसा मानते हैं। वे नियतिवादी है। जगत के सब तत्त्व ज्ञान के ही रूपान्तर हैं यह विज्ञानवाद का मत है। जगत का मूल कारण शब्द है यह शब्दवाद का मत है। जड जगत का मूलकारण प्रधान (प्रकृति) है यह (सांख्यों का) प्रधानवाद है। सब द्रव्य नित्य हैं यह द्रव्यवाद का मत है। जगत् का निर्माता एक महान सर्वव्यापी परमपुरुष है यह पुरुषवाद का मत है।

स्वतन्त्र ग्रन्थरचना करना ही उचित समझा। केवल बारहवें दृष्टिवाद अंग का कुछ अंश उन्हों ने षट्खण्डागम तथा कषायप्राभृत इन दो ग्रन्थों में लिपिबद्ध किया।

आगम के उपदेश की परम्परा महावीर के बाद जिन आचार्यों के नेतृत्व में चलती रही उनके नाम दिगम्बर परम्परा के अनुसार इस प्रकार है–गौतम, सुधर्म, जम्बू, विष्णुनन्दि, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्धन, भद्रबाहु, विशाख, प्रोष्ठिल, क्षत्रिय, जय, नागसेन, सिद्धार्थ, धृतिषेण, विजय, बुद्धिल, गंगदेव, धर्मसेन, नक्षत्र, जयपाल, पाण्डु, ध्रुवसेन, कंस, सुभद्र, यशोभद्र, भद्रबाहु (द्वितीय) तथा लोह। इन का सम्मिलित समय ६८३ वर्ष तक है। श्वेताम्बर परम्परा में यह नामावली इस प्रकार है–गौतम, सुधर्म, जम्बू, प्रभव, शय्यम्भव, यशोभद्र, सम्भूतिविजय, भद्रबाहु, स्थूलभद्र, सुहस्ती, सुस्थित, सुप्रतिबुद्ध, इन्द्रदिन्न, दिन्न, सिंहगिरि, वज्र, वज्रसेन तथा चन्द्र। श्वेताम्बर परम्परा में इन आचार्यों के शिष्य प्रशिष्यों के कुछ अन्य नाम भी मिलते हैं।

इन सब आचार्यों का आगम में क्या योगदान रहा यह अलग अलग बतलाना सम्भव नही उन सब का एकत्रित स्वरूप ही हमे देवर्धि द्वारा सम्पादित वर्तमान आगमों में प्राप्त होता है। उस समय तक अंग ग्रन्थों के अतिरिक्त प्राचीन आचार्यों द्वारा रचित कुछ अन्य ग्रन्थ भी आगम के तौर पर सम्मत हुए थे। ऐसे अंगबाह्य आगमों में दशवैकालिक आदि चार मूलसूत्र, बृहत्कल्प आदि छह छेदसूत्र, औपपातिक आदि बारह उपांग, चतुःशरण आदि दस प्रकीर्णक एवं नन्दीसूत्र तथा अनुयोगद्वारसूत्र इन चौंतीस ग्रन्थों का समावेश होता है।

६. वर्तमान आगम में तार्किक भाग—वर्तमान आगम में विशुद्ध रूप से तर्काश्रित ऐसा कोई ग्रन्थ नही है। तथापि कुछ ग्रन्थों में तर्क के लिए आधारभूत पूर्वपक्ष, प्रश्नोत्तर आदि का समावेश है। इन का विवरण इस प्रकार है।

सूत्रकृतांग—वर्तमान सूत्रकृतांग के दो श्रुतस्कन्धों में कुल २३ अध्ययन है। इन मे चार–पहला समय अध्ययन, बारहवा समवसरण

अध्ययन, सत्रहवां पुण्डरीक अध्ययन तथा इक्कीसवां अनाचार अध्ययन ये तर्क की दृष्टि से उपयुक्त हैं। इन में पहले तीन प्रकरणों में जैनेतर मतों का—पर समयों का संक्षिप्त वर्णन है। शरीर और आत्मा को एक माननेवाले (चार्वाक), ईश्वरवादी, पंचभूतों से आत्मा की उत्पत्ति माननेवाले (चार्वाक), क्षणभंगवादी (बौद्ध), ब्रह्मवादी आदि का संक्षिप्त वर्णन इन अध्ययनों मे है। अनाचार अध्ययन मे जैन श्रमण ने किन बातों का अस्तित्व मानना चाहिए और किन का नही मानना चाहिए इस का विवरण दिया है। यहा उल्लेखनीय है कि इन सब अध्ययनों में पूर्वपक्षों का वर्णन मात्र है—उन के खण्डन की युक्तिया नही हैं। साधु को कैसा भाषण करना चाहिए इस के दो निर्देश चौदहवें ग्रन्थ अध्ययन मे हैं वे—महत्त्वपूर्ण हैं—एक में अस्याद्वाद वचन नही कहना चाहिए यह आदेश है[1] तथा दूसरे में विभज्यवाद के आश्रय से उत्तर देने का आदेश है[2]।

स्थानांग तथा समवायांग—इन दो अंगों में संख्या के आधार पर विविध तत्त्वों का संक्षिप्त वर्णन है। इन में हेतु के चार प्रकार, उदाहरण के चार प्रकार, प्रश्न के छह प्रकार, विवाद के छह प्रकार, दोषों के दस प्रकार आदि का भी समावेश हुआ है।

व्याख्याप्रज्ञप्ति—इस की प्रसिद्धि भगवतीसूत्र इस नाम से अधिक है। इस मे महावीर तथा उन के शिष्यों के बहुविध प्रश्नोत्तरों का संग्रह है। इस के दूसरे तथा पाचवे शतक में पार्श्वनाथ की परम्परा के कुछ शिष्यों के संवाद महत्त्वपूर्ण हैं। पन्द्रहवें शतक मे आजीवक सम्प्रदाय के प्रमुख गोशाल मस्करिपुत्र का विस्तृत वृत्तान्त उल्लेखनीय है।

---

१) न चासियावाय वियागरेज्जा १।१४।१९ यहा असियावाय का अर्थ टीकाकारो ने आशीर्वाद यह किया है—प्रवचन के बीच किसी को आशीर्वाद नही देना चाहिए ऐसा अर्थ दिया है। असियावाय का अस्याद्वाद यह अनुवाद डॉ. उपाध्ये ने प्रस्तुत किया है।

२) विभज्जवाय च वियागरेज्जा १।१४।२२ यहा टीकाकारों ने विभज्यवाद का अर्थ स्याद्वाद किया है। विभज्यवाद का वस्तुतः तात्पर्य है प्रश्नो का विभागशः उत्तर देना, जैसे जीव अनन्त है या सान्त है इस प्रश्नका उत्तर है—जीव काल तथा भाव की दृष्टि से अनन्त है, क्षेत्र तथा द्रव्य की दृष्टि से सान्त है।

कई प्रश्नोत्तरों में नयवाद, अनेकान्तवाद तथा स्याद्वाद का उपयोग स्पष्ट है।[१]

उपासकदशांग—इस का मुख्य विषय उपासक गृहस्थों के आचारधर्म का वर्णन है। प्रसंगवश पोलासपुर नगर मे शब्दालपुत्र नामक उपासक के साथ महावीर का जो संवाद हुआ उस का विस्तृत वर्णन इस में आया है। आजीवकों के नियतिवाद का निराकरण एवं जैनदर्शन के क्रियावाद का समर्थन यह इस संवाद का विषय है।

प्रश्नव्याकरण—जैसा कि पहले बतलाया है–मूल प्रश्नव्याकरण अंग में तार्किक विवेचन की प्रमुखता थी। किन्तु वर्तमान प्रश्नव्याकरण में पाच संवरद्वार (व्रत) तथा पाच आस्रवद्वार (पाप) इन्हीं का विविध वर्णन है। प्रतीत होता है कि यह मूल ग्रन्थ पूर्णतः विस्मृत हो गया था अतः उस के स्थान मे अन्य विषयोंका संग्रह किया गया।

अंगबाह्य आगम—इन में राजप्रश्नीय सूत्र के केशीप्रदेशी संवाद का उल्लेख पहले किया है। प्रज्ञापनासूत्र, अनुयोगद्वारसूत्र तथा नन्दिसूत्र इन तीन ग्रन्थों में ज्ञान के प्रकारों का जो वर्णन–वर्गीकरण है वह भी उल्लेखनीय है।

७. भद्रबाहु—आगमों के स्पष्टीकरण के लिए जो साहित्य लिखा गया उस में निर्युक्तियोंका स्थान सर्वप्रथम है। आचार तथा सूत्रकृत ये दो अंग, आवश्यक, उत्तराध्ययन एवं दशवैकालिक ये तीन मूलसूत्र, बृहत्कल्प, व्यवहार एवं दशाश्रुतस्कन्ध ये तीन छेदसूत्र, सूर्यप्रज्ञप्ति यह उपाग और ऋषिभाषित तथा संसक्त ये स्फुट ग्रन्थ–ऐसे ग्यारह ग्रन्थोंपर निर्युक्तिया लिखी गई। प्राकृत गाथाओं में निबद्ध निर्युक्ति का उद्देश तीन प्रकार का है–विशिष्ट शब्दों की व्युत्पत्ति बतलाना, ग्रन्थ का पूर्वापर सम्बन्ध बतलाना तथा कुछ चुने हुए विषयों का विवेचन करना। निर्युक्तियों के कर्ता भद्रबाहु थे। टीकाकारों की परम्परा के अनुसार चंद्रगुप्त मौर्य के समकालीन भद्रबाहु (प्रथम) ने ही निर्युक्तियो की रचना की थी। किन्तु आवश्यक निर्युक्ति में वीरनिर्वाण के बाद सातवी सदी तक की

१) भगवतीसूत्र के तार्किक विषयों का विस्तृत अध्ययन पं. दलसुख मालवणिया ने न्यायावतारवार्तिकवृत्ति की प्रस्तावना में तथा 'आगमयुग का अनेकान्तवाद' इस पुस्तिका में प्रस्तुत किया है।

घटनाओं के उल्लेख हैं । अतः निर्युक्तिकर्ता का समय सन की दूसरी सदी के पहले नही हो सकता। कथाओं में भद्रबाहु को वराहमिहिर का बन्धु कहा गया है । अतः वराहमिहिर के समयानुसार इन भद्रबाहु (द्वितीय) का समय भी छठी सदी का पूर्वार्ध माना गया है ।[1] तथापि इस में सन्देह नही कि निर्युक्तियों में ग्रथित स्पष्टीकरणों की परम्परा काफी प्राचीन है।

तार्किक चर्चा के कई प्रसंग निर्युक्तियों में आये हैं। इस दृष्टि से दशवैकालिक निर्युक्ति विशेष रूप से उल्लेखनीय है। जीव का अस्तित्व, कर्तृत्व, नित्यत्व, शून्यत्व आदि की अच्छी चर्चा इस में मिलती है। इस की गाथा १३७ में अनुमान के दस अवयवों का वर्णन भी महत्त्वपूर्ण है। न्यायदर्शन के अनुमान वाक्य मे प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त, उपनय और निगमन ये पांच अवयव रहते हैं। इस निर्युक्तिगाथा में प्रतिज्ञा, प्रतिज्ञा-विभक्ति, हेतु, हेतुविभक्ति, विपक्ष, विपक्षप्रतिषेध, दृष्टान्त, आशंका, आशंकाप्रतिषेध एवं निगमन ये दस अवयव बताये हैं।

८. **कुन्दकुन्द**—आगम के विषयों पर स्वतन्त्र ग्रन्थरचना करनेवाले आचार्यों में कुन्दकुन्द का स्थान महत्त्वपूर्ण है। उन का मूल नाम पद्मनन्दि था—कोण्डकुन्द यह उन के निवासस्थान का नाम है[2] जो दक्षिणी परम्परा के अनुसार उन के नाम का भाग बन गया है। उन्हो ने पुष्पदन्त व भूतबलिकृत षट्खण्डागम के पहले तीन खण्डों पर परिकर्म नामक टीकाग्रन्थ लिखा था[3]। अतः उन का समय दूसरी सदी के बाद का है। दक्षिण के शिलालेखों की परम्परा के अनुसार वे समन्तभद्र तथा उमास्वाति से पहले हुए हैं[4]। अतः सन की तीसरी सदी में उन का कार्यकाल था ऐसा अनुमान होता है[5]।

---

१) इस प्रश्न की विस्तृत चर्चा मुनि चतुरविजय ने आत्मानन्द जन्मशताब्दी स्मारक ग्रन्थ के एक लेख में की है जिस का शीर्षक 'निर्युक्तिकार भद्रबाहुस्वामी' है। २) यह स्थान इस समय आन्ध्रप्रदेश के अनन्तपुर जिले में कोनूकोण्डल नामक छोटासा गांव है। ३) षट्खण्डागम खण्ड १ प्रस्तावना; श्रुतावतार, श्लो. १६०-६१। ४) जैनशिलालेखसंग्रह प्रथम भाग प्रस्तावना पृ. १२९-१४०. ५) कुन्दकुन्द के विषय में विस्तृत विवेचन प्रो. उपाध्ये ने प्रवचनसार की प्रस्तावना में प्रस्तुत किया है। कुन्दकुन्दप्राभृतसंग्रह की पं. कैलाशचंद्रशास्त्री की प्रस्तावना भी उपयुक्त है।

पंचास्तिकाय, प्रवचनसार, समयप्राभृत, अष्टप्राभृत, नियमसार, द्वादशानुप्रेक्षा तथा दशभक्ति ये कुन्दकुन्द के उपलब्ध ग्रन्थ हैं। इन सब की शैली आगमिक-अध्यात्मिक है। तथापि प्रसंगवश तार्किक शैली का भी आश्रय कुन्दकुन्द ने लिया है। इस दृष्टि से प्रवचन सार के प्रथम तथा द्वितीय अधिकार उल्लेखनीय हैं— इन में सर्वज्ञ के दिव्य अतीन्द्रिय ज्ञान का समर्थन तथा ज्ञान के विषयभूत द्रव्य-गुण-पर्याय का वर्णन महत्त्वपूर्ण है। समयप्राभृत में आत्मा को सर्वथा अकर्ता मानने के सांख्यमत का निषेध किया है (गा. १२२), साथ ही आत्माको परद्रव्यों का कर्ता माननेवाले वैष्णव मत का भी निषेध किया है (गा. ३२२)। यदि आत्मा परद्रव्यों का कर्ता हो तो वह परद्रव्यमय होगा यह साधारण नियम भी महत्त्वपूर्ण है (गा. ९९)। स्याद्वाद-सप्तभंगी का स्पष्ट वर्णन भी पंचास्तिकाय (गा. १४) तथा प्रवचनसार (२–२३) में प्राप्त होता है। निश्चय-नय और व्यवहारनय का विशद वर्णन तो कुन्दकुन्द की विशेषता है। आत्मा के ज्ञान और दर्शन दोनों स्वपरप्रकाशक हैं—दर्शन को स्वप्रकाशक और ज्ञान को परप्रकाशक मानना उचित नहीं है यह नियमसार का वर्णन (गा. १६०–१७०) भी तार्किक शैली में ही है।

९. **उमास्वाति**—उच्चैर्नागर शाखा के वाचक उमास्वाति का जन्म न्यग्रोधिका ग्राम में हुआ था। वे कौभीषणि गोत्र के स्वाति तथा उन की पत्नी वात्सी के पुत्र थे। उन के दीक्षागुरु ग्यारह अंगों के ज्ञाता घोषनन्दि क्षमण थे तथा विद्यागुरु वाचकाचार्य मूल थे। उन्हों ने कुसुमपुर (पाटलिपुत्र=वर्तमान पटना, बिहार की राजधानी) में रहते हुए भाष्यसहित तत्त्वार्थाधिगम सूत्र की रचना की[1]।

१ यह सब वर्णन तत्त्वार्थभाष्य की प्रशस्ति के अनुसार है। दिगम्बर परम्परा में वीरसेन तथा विद्यानन्द ने तत्त्वार्थकर्ता का नाम गृद्धपिच्छ दिया है तथा शिलालेखों में गृद्धपिच्छ यह उमास्वाति का विशेषण माना है। दिगम्बर परम्परा में तत्त्वार्थ का स्वोपज्ञ भाष्य मान्य नहीं है।

उपलब्ध जैन संस्कृत साहित्य में तत्त्वार्थसूत्र ही पहला ग्रन्थ है[१]। इस के दस अध्यायों में कुल ३४४ सूत्र हैं तथा इस में जैन आगमों में वर्णित प्रायः समस्त विषयों का सूत्रबद्ध वर्णन किया है[२]। इस के प्रथम अध्याय में ज्ञान के साधन के रूप में प्रमाण और नयों का संक्षिप्त वर्णन है। दूसरे अध्याय का जीवतत्त्व का वर्णन एवं पांचवें अध्याय का अजीव तत्त्व का तथा द्रव्य-गुण पर्याय का वर्णन आगमिक शैली में है और उत्तरवर्ती तार्किक साहित्य के लिए आधारभूत सिद्ध हुआ है।

तत्त्वार्थसूत्र के दार्शनिक महत्त्व के कारण ही यह दिगम्बर तथा श्वेताम्बर दोनों परम्पराओं में सन्मानित हुआ है तथा दोनों सम्प्रदायों के आचार्यों ने इस पर टीकाएं लिखी हैं, यद्यपि इस के कुछ मत दोनों के ही प्रतिकूल हैं[३]। दिगम्बर परम्परा में पूज्यपाद, अकलंक, विद्यानन्द, भास्करनन्दि तथा श्रुतसागर की टीकाएं प्रकाशित हो चुकी हैं। श्वेताम्बर परम्परा में हरिभद्र, सिद्धसेन, मलयगिरि और यशोविजय की टीकाएं उल्लेखनीय हैं। आधुनिक समय में पं. सुखलाल, पं. फूलचंद्र, पं. कैलासचद्र आदि ने भी तत्त्वार्थसूत्र के विवरण लिखे हैं।

उमास्वाति का समय निश्चित नही है। वे समन्तभद्र से पूर्व हुए हैं[४] अतः चौथी सदी में या उस से कुछ पहले उनका कार्यकाल होना चाहिए। दक्षिण के शिलालेखों में उन्हें कुन्दकुन्द के बाद हुए माना गया है[५]। इस के अनुसार भी उन का समय चौथी सदी में प्रतीत होता है[६]।

१) प्रथम अध्याय में उमास्वाति ने कुछ संस्कृत पद्य पूर्ववर्ती साहित्य से उद्धृत किये है किन्तु यह पूर्ववर्ती साहित्य इस समय प्राप्त नही है। २) दिगम्बर परम्परा के सूत्रपाठ में ३५७ सूत्र हैं। तत्त्वार्थसूत्र मे करणानुयोग (गणित–भूगोल), चरणानुयोग (आचारधर्म) तथा द्रव्यानुयोग (जीवाजीवादितत्त्व) का वर्णन है। सिर्फ प्रथमानुयोग (कथा) का समावेश नही है। ३) इस प्रश्न का विस्तृत विवेचन पं. नाथूराम प्रेमी ने 'जैन साहित्य और इतिहास' में किया है तथा उमास्वाति दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों से भिन्न यापनीय परम्परा के थे ऐसा स्पष्ट किया है (प. ५२१ और आगे)। ४) समन्तभद्र ने तत्त्वार्थसूत्र पर एक भाष्य लिखा था। इस का विवरण आगे दिया है। ५) जैन शिलालेख संग्रह भा.१ प्रस्तावना पृ. १२९–१४०. ६) पं. प्रेमी ने अपने उपर्युक्त लेख में यही समय दिया है तथापि उन्हों ने जो कारण दिये है वे कुछ अनिश्चितसे है।

उमास्वाति तथा देवर्धि के समय तक जैन दर्शन में परमतखण्डन की अपेक्षा स्वमतप्रतिपादन की प्रमुखता रही। ईस्वी सन की प्रारम्भिक सदियों में नागार्जुन आदि बौद्ध आचार्यों ने तर्क के प्रयोग को बढावा दिया तथा इस की प्रतिक्रिया के रूप में नैयायिक, वैशेपिक, साख्य तथा मीमासादि दर्शनों में तर्कबल से स्वमतसमर्थन की प्रवृत्ति प्रबल हुई। इन दर्शनों के सूत्रग्रन्थों का जो संकलन इस युग में हुआ उस से यह तथ्य स्पष्ट होता है। इस परस्पर विरोधी तर्कचर्चा में जैन दर्शन की दृष्टि से ग्रन्थरचना अपेक्षाकृत बाद में– पांचवी सदी से प्रारम्भ हुई। यह कुछ स्वाभाविक भी था। क्यों कि जैन दर्शन के मूलभूत सिद्धान्त स्याद्वाद का कार्य ही परस्पर विरोधी नयों में समन्वय स्थापित करना है। जैन तार्किकों के अग्रणी समन्तभद्र तथा सिद्धसेन ने इसी दृष्टि से अपने ग्रन्थ लिखे तथा भारतीय तार्किक साहित्य में जैन शाखा की प्रतिष्ठापना की।

१०. **समन्तभद्र—** जैन साहित्य में विशुद्ध रूप से तार्किक ग्रन्थों की रचना स्वामी समन्तभद्र ने शुरू की। स्याद्वाद तथा सप्तभंगी के प्रतिष्ठापक के रूप में उन का स्थान अद्वितीय है।

समन्तभद्र का जन्म क्षत्रिय कुल में हुआ था। आप्तमीमासा की एक प्रति की पुष्पिका के अनुसार वे फणिमण्डल के अलंकारभूत उरगपुर के राजकुमार थे[१]। जिनस्तुतिशतक के अन्तिम चक्रबद्ध श्लोक से ज्ञात होता है कि उन का मूल नाम शान्तिवर्मा था। कथाओं के अनुसार[२] मुनिजीवन में वे भस्मक रोग से पीडित थे तथा इस के उपचार के लिए अन्यान्य वेप धारण कर सर्वदूर घूमे थे। अन्त में वाराणसी मे उन का रोग शान्त हुआ और वहां के शिवमन्दिर में मन्त्रप्रभाव से चन्द्रप्रभ की मूर्ति प्रकट करने से वे विशेप प्रसिद्ध हुए। उन का स्वयम्भू स्तोत्र इसी अवसर की रचना कहा जाता है। तदनंतर वादी के रूप में भी उन्हों ने

१) अष्टसहस्री प्रस्तावना पृ. ७। २) प्रभाचन्द्र तथा नेमिदत्त के कथाकोशों में यह कथा है।

भारत के विभिन्न प्रान्तों में प्रवास किया तथा धूर्जटि जैसे वादियों को भी पराजित कर यश प्राप्त किया [1]।

समन्तभद्र के पांच ग्रन्थ उपलब्ध हैं तथा तीन अनुपलब्ध हैं। उन के दो ग्रन्थ—आप्तमीमांसा व युक्त्यनुशासन—पूर्णतः तर्काश्रित हैं, स्वयंभू स्तोत्र का भी काफी भाग तर्काश्रित है। शेष दो ग्रन्थ—जिनस्तुतिशतक व रत्नकरण्ड—अन्य विषयों के हैं [2]। अनुपलब्ध ग्रन्थों में दो षट्खण्डागम टीका तथा तत्त्वार्थभाष्य—आगमाश्रित प्रतीत होते हैं और एक—जीवसिद्धि--तर्काश्रित प्रतीत होता है। इन का क्रमशः परिचय इस प्रकार है।

आप्तमीमांसा—यह ११४ श्लोकों की रचना है [3]। इस के प्रारम्भ में देवागम शब्द है अतः यह देवागमस्तोत्र इस नाम से भी प्रसिद्ध है। प्रारम्भ में यह प्रश्न उठाया है कि तीर्थंकर महावीर की श्रेष्ठता किस बात पर आधारित है? उत्तर में कहा है कि देवों द्वारा सन्मान होना, शारीरिक अद्भुतता होना अथवा बडे संघ के आचार्य होना यह श्रेष्ठता का गमक नहीं है—वे सर्वज्ञ हैं, निर्दोष हैं तथा उन के वचन युक्तिशास्त्र के अनुकूल हैं यह श्रेष्ठता का गमक है। इस प्रस्तावना के विस्तार में महावीर का सर्वज्ञ होना तथा उन के वचनों का स्याद्वादरूप अतएव निर्दोष होना सिद्ध किया है। वस्तुतत्त्व के निरूपण में स्याद्वाद का प्रयोग कैसे किया जाता है यह समन्तभद्र ने बहुत विस्तार से स्पष्ट किया है। भाव और अभाव, नित्यता

१) श्रावण बेलगोल के मल्लिषेणप्रशस्ति नामक शिलालेख में जो शक १०५० क है—समन्तभद्र के भ्रमण का वर्णन उन के ही मुख से इस प्रकार दिया है [जैन शिलालेख संग्रह १. पृ. १०१] काञ्च्यां नग्नाटकोऽहं मलमलिनतनुर्लाम्बुशे पाण्डुपिण्डः पुण्ड्रोड्रे शाक्यभिक्षुर्दशपुरनगरे मिष्टभोजी परिव्राट्। वाराणस्यामभूवं शशधरधवलः पाण्डुरांगस्तपस्वी राजन् यस्यास्ति शक्तिः स वदतु पुरतो जैननिर्ग्रन्थवादी॥ पूर्वं पाटलिपुत्रमध्यनगरे भेरी मया ताडिता पश्चान्मालवसिन्धुठक्कविषये काञ्चीपुरे वैदिशे। प्राप्तोऽहं करहाटकं बहुभटं विद्योत्कटं संकटं वादार्थी विचराम्यहं नरपते शार्दूलविक्रीडितम्॥ अवटु तटमटति झटिति स्फुटचटुवाचाटधूर्जटेरपि जिव्हा। वादिनि समन्तभद्रे स्थितवति तव सदसि भूप कास्थान्येषाम्॥ २) रत्नकरण्ड के कर्तृत्व के विषय में कुछ विवाद है। ३) यह श्लोकसंख्या अकलंक की अष्टशती के अनुसार है। वसुनंदि की वृत्ति में अन्त में एक मंगल श्लोक अधिक है अतः वहां श्लोकसंख्या ११५ है।

और अनित्यता, भेद और अभेद, सामान्य और विशेष, द्वैत और अद्वैत, हेतुवाद और अहेतुवाद, दैववाद और पुरुषार्थवाद आदि युग्मों में किसी एक का आग्रह कर दूसरे का निषेध करना दोषपूर्ण होता है, आवश्यकता इस की है कि दोनों की मर्यादाएं समझ कर दोनों का उपयोग करें। यह मर्यादा समझाने का कार्य स्याद्वाद ही करता है। इस तरह सर्वज्ञ-संस्थिति के आधार के रूप में आचार्य ने स्याद्वादसंस्थिति का वर्णन किया है।

इस ग्रन्थ पर अकलंक की अष्टशती तथा वसुनन्दि की वृत्ति ये दो टीकाएं प्राप्त हैं। अष्टशती पर विद्यानन्दि की अष्टसहस्री टीका है तथा अष्टसहस्री पर यशोविजय का विषमपदतात्पर्यविवरण एवं समन्तभद्र (द्वितीय) के टिप्पण हैं[1]।

[प्रकाशन—१ मूलमात्र–सं. लालाराम शास्त्री, जैन ग्रन्थ रत्नाकर, १९०४, बम्बई; २ सनातन जैन ग्रन्थमाला का प्रथमगुच्छक, १९०५, काशी; ३ मूल, अष्टशती व वसुनंदिवृत्ति–सं. गजाधरलाल, सनातन जैन ग्रन्थमाला, १९१४, काशी; ४ मूल, वसुनंदिवृत्ति व मराठी अनुवाद–पं. कल्लाप्पा निटवे, प्र. हिराचंद नेमचंद दोशी, शोलापूर; ५ मूल व पं. जयचंद्रकृत हिंदी टीका (वसुनंदिवृत्तिपर आधारित)–अनन्तकीर्ति जैन ग्रन्थमाला, बम्बई; ६ मूल व हिन्दी अनुवाद–पं. जुगलकिशोर मुख्तार, वीरसेवामन्दिर, दिल्ली.]

युक्त्यनुशासन—यह ६४ पद्यों का स्तोत्र है। महावीर का अनुशासन–उपदेश–युक्ति पर आधारित है–अनुमान आदि से बाधित नहीं होता अतः महावीर स्तुत्य है–यह इस स्तोत्र का प्रमुख विषय है। आप्तमीमांसा में जहां परस्परविरोधी प्रतीत होनेवाले साधारण वादों का (general theories) समन्वय प्रमुख है वहां युक्त्यनुशासन में दार्शनिकों के विशिष्ट प्रश्नों का विचार है। ऐसे प्रश्नों में भूतोंसे चैतन्य की उत्पत्ति, बौद्धों का संवृत्ति (व्यावहारिक) सत्य, वैशेषिकों की समवाय सम्बन्ध

१) आप्तमीमांसा व गन्धहस्तिमहाभाष्य के सम्बन्ध में विवरण आगे देखिए।

की कल्पना, मीमांसकों का पशुबलि समर्थन आदि का समावेश होता है। इस के साथ ही जैन दर्शन का समन्वयप्रधान दृष्टिकोण भी आचार्य ने स्पष्ट किया है– वीर भगवान का तीर्थ 'सर्वोदय तीर्थ' है यह सिद्ध किया है।युक्त्यनुशासन पर विद्यानन्द ने विस्तृत संस्कृत टीका लिखी है।

[प्रकाशन—१ मूल–सनातन जैन ग्रन्थमाला का प्रथम गुच्छक १९०५, बनारस; २ विद्यानन्दकृत टीका सहित–सं. पं. इंद्रलाल व श्रीलाल, माणिकचन्द्र ग्रंथमाला, १९२०, बम्बई; ३ मूल व हिन्दी स्पष्टीकरण–पं. जुगलीकिशोर मुख्तार, वीरसेवामंदिर, दिल्ली।]

स्वयम्भूस्तोत्र—१४३ पद्यों में चौवीस तीर्थकरों के गुणों का इस में स्तवन किया है। इस का प्रारम्भ स्वयम्भू शब्द से होता है अतः इसे स्वयम्भूस्तोत्र कहा जाता है। इसी नाम के उत्तरवर्ती छोटे स्तोत्र से भिन्नता बतलाने के लिए इसे बृहत्स्वयम्भूस्तोत्र भी कहा जाता है। वैसे यह रचना ललित पदरचना, मधुर शब्दप्रयोग एवं उपमादि अलंकारों के मनोहर उपयोग के लिए प्रसिद्ध है–ललित काव्य का एक सुन्दर उदाहरण है–तथापि आचार्य की स्वाभाविक रुचि के कारण इस में कोई ३० श्लोकों में–मुख्यतः सुमति, पुष्पदन्त, विमल तथा अर तीर्थकरों की स्तुति–में विविध प्रकारों से अनेकान्तवाद का समर्थन भी प्रस्तुत किया है। इसीलिए उत्तरकालीन दार्शनिक स्तुतियों के आदर्श के रूप में यह स्तोत्र प्रसिद्ध हुआ है। इस पर प्रभाचन्द्र की संस्कृत टीका है।

[यह स्तोत्र कई स्तोत्रसंग्रहों आदि में प्रकाशित हुआ है। मुख्य प्रकाशन ये हैं–१ मूल–सनातन जैन ग्रन्थमाला का प्रथम गुच्छक, १९०५, बनारस; २ मूल व हिन्दी अनुवाद–ब्र. शीतलप्रसाद, जैनमित्र प्रकाशन, सूरत; ३ मूल, टीका व मराठी अनुवाद–पं जिनदासशास्त्री फडकुले, प्र. सखाराम नेमचन्द दोशी, सोलापूर, १९२०; ४ मूल व हिन्दी स्पष्टीकरण–पं. जुगलकिशोर मुख्तार, वीरसेवामंदिर, दिल्ली।]

जीवसिद्धि—इस ग्रन्थ का उल्लेख जिनसेन आचार्य ने हरिवंशपुराण में (१-२९) किया है, यथा—

जीवसिद्धिविधायीह कृतयुक्त्यनुशासनम् ।
वचः समन्तभद्रस्य वीरस्येव विजृम्भते ॥

यह ग्रन्थ अनुपलब्ध है। दसवीं सदी में अनन्तकीर्ति आचार्य ने जीवसिद्धिनिबन्धन लिखा था[1] वह सम्भवतः इसी का विवरण था।

तत्त्वार्थभाष्य—समन्तभद्र ने तत्त्वार्थसूत्र पर गन्धहस्ति महाभाष्य नामक टीका लिखी थी ऐसा कुछ लेखकों ने कहा है[2]। इस भाष्य का विस्तार ८४००० अथवा ९६००० श्लोकों जितना कहा गया है। आप्तमीमासा इस महाभाष्य के मंगलाचरण के रूप में लिखी गई थी ऐसा भी विधान मिलता है। यह महाभाष्य उपलब्ध नही है। आप्तमीमांसा की रचना एक स्वतन्त्र ग्रन्थ जैसी है – आचार्य ने उस में तत्त्वार्थ का कोई उल्लेख नही किया है। अतः आप्तमीमासा और गन्धहस्ति महाभाष्य का सम्बन्ध सन्देहास्पद है। इसी पर से पं. मुख्तार ने अनुमान किया था कि गन्धहस्ति महाभाष्य की रचना हुई थी या नही यही सन्दिग्ध है—यह केवल कल्पना ही हो सकती है। किन्तु भाष्य के सभी उल्लेख काल्पनिक होना कठिन है। अतः यही कहना उचित होगा कि समन्तभद्र की यह रचना इस समय उपलब्ध नही है।

षट्खण्डागमटीका—इन्द्रनन्दि ने श्रुतावतार (श्लो. १६७–६९) में जो वर्णन दिया है उस से पता चलता है कि समन्तभद्रने षट्खण्डागम के पहले पाच खण्डों पर अति सुन्दर व मृदु संस्कृत भाषा मे ४८००० श्लोकों जितने विस्तार की एक टीका लिखी थी। वे दूसरे सिद्धान्तग्रन्थ कषायप्राभृत पर भी टीका लिखना चाहते थे किन्तु साधनशुद्धि के अभाव में लिख नही सके। षट्खण्डागमटीका भी उपलब्ध नही है।

१) इसी निबन्ध का अनन्तकीर्ति विषयक परिच्छेद देखिए। २) चामुण्डराय (१० वी सदी), गुणवर्मा (१२ वी सदी), समन्तभद्र (द्वितीय), तथा धर्मभूषण (१४ वी सदी) ने ऐसे उल्लेख किये हैं। विस्तार के लिये देखिए—तत्त्वार्थसूत्र की भास्करनन्दिकृत वृत्ति की प्रस्तावना में. पं. शान्तिराजशास्त्री का समन्तभद्रविषयक विवरण (पृ. ३९ और आगे).

समयविचार—समन्तभद्र का समयनिर्णय बहुत विवादग्रस्त रहा है। विद्यानन्द ने आप्तपरीक्षा के अन्त में 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' आदि श्लोक को 'स्वामिमीमांसित' कहा है[१]—उसे समन्तभद्र की आप्तमीमांसा का आधार माना है। यह श्लोक पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि वृत्ति के प्रारम्भ में है किन्तु पूज्यपाद ने ही जैनेन्द्रव्याकरण में समन्तभद्र का नामोल्लेख किया है[२]। अतः पं. नाथूराम प्रेमी का मत है कि समन्तभद्र पूज्यपाद के समकालीन थे—समन्तभद्र ने पूज्यपाद के श्लोक पर व्याख्या लिखी और पूज्यपाद ने समन्तभद्र का व्याकरण विषयक मत उद्धृत किया[३]। पं. सुखलाल संघवी तो जैनेन्द्रव्याकरण में समन्तभद्र के उल्लेख को भी कोई महत्व नही देते। उन के मत से समन्तभद्र सातवीं सदी के अन्त के या आठवीं सदी के प्रारम्भ के विद्वान हैं क्यों कि समन्तभद्र ने सर्वज्ञ के अस्तित्व का समर्थन धर्मकीर्ति के प्रमाणवार्तिक के अनुकरणपर किया है, समन्तभद्र के ग्रन्थों के पहले टीकाकार अकलंक हैं अतः अकलंक के कुछ ही पहले समन्तभद्र का समय होना चाहिए, और तत्त्वसंग्रह में उल्लिखित पात्रस्वामी समन्तभद्र से अभिन्न हो सकते हैं[४]। किन्तु ये सब कल्पनाएं व्यवस्थित विचार पर आधारित नहीं हैं। विद्यानन्द ने आप्तमीमांसा को 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' आदि श्लोक पर आधारित बताया है किन्तु विद्यानन्द के ही मत से यह श्लोक मूल तत्त्वार्थसूत्र का मंगलाचरण है— पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का नही [४]। अतः विद्यानन्द के आधारपर समन्तभद्र को पूज्यपाद से बाद का सिद्ध नही किया जा सकना। स्वतन्त्र रूप से देखे तो समन्तभद्र ने आप्तमीमासा में इस श्लोक का कोई उल्लेख नही किया है, आप्तमीमासा का विषयक्रम इस श्लोक

---

१) आप्तपरीक्षा श्लो. १२३। २) जैनेन्द्र व्याकरण ५-४-१४०।
३) जैन साहित्य और इतिहास पृ. ४५। ४) अकलंक ग्रन्थत्रय-प्राक्कथन।
४) उन्हों ने इस श्लोक के कर्ता को शास्त्रकार (आप्तपरीक्षा श्लो. १२३), मुनीन्द्र (आप्तपरीक्षा श्लो. १२४) तथा सूत्रकार (आप्तपरीक्षा श्लो. २ की स्वकृत टीका) कहा है, इन में सूत्रकार यह विशेषण पूज्यपाद का नही हो सकता। विस्तृत विवरण के लिए देखिए-अनेकान्त ५ पृ. २२१ में प दरबारीलाल का लेख।

के अनुरूप नही है तथा अकलंक ने आप्तमीमासा की टीका में इस का निर्देश नही किया है अतः इस श्लोक से समन्तभद्र के समय का निर्णय करना उचित नही है। दूसरी ओर जैनेन्द्र व्याकरण में समन्तभद्र का उल्लेख होना स्पष्ट करता है कि वे पूज्यपाद से पूर्ववर्ती हैं। पूज्यपाद से पहले सिद्धसेन हुए हैं और सिद्धसेन ने अपनी पहली द्वात्रिंशिका में 'सर्वज्ञपरीक्षणक्षम' आचार्यों की 'प्रसन्नता' का उल्लेख इन शब्दों में किया है–

य एष षड्जीवनिकायविस्तरः परैरनालीढपथस्त्वयोदितः।
अनेन सर्वज्ञपरीक्षणक्षमाः त्वयि प्रसादोदयसोत्सवाः स्थिताः ॥१३॥

इस में समन्तभद्र के स्वयम्भूस्तोत्र के निम्न पद्यों का प्रतिबिम्ब स्पष्ट रूप से प्रतीत होता है—

बहिरन्तरप्युभयथा च करणमविघाति नार्थकृत्।
नाथ युगपदखिलं च सदा त्वमिदं तलामलकवद् विवेदिथ ॥१२९॥
अत एव ते बुधनुतस्य चरितगुणमद्भुतोदयम्।
न्यायविहितमवधार्य जिने त्वयि सुप्रसन्नमनसः स्थिता वयम् ॥१३०॥

इस को देखते हुए सिद्धसेन का सर्वज्ञपरीक्षणक्षम यह विशेषण समन्तभद्र का ही सूचक है यह मानना होगा। जैन साहित्य में सर्वज्ञ की परीक्षा का उपक्रम समन्तभद्र ने ही किया है यह तथ्य सुविदित है। ऐसी स्थिति मे समन्तभद्र पूज्यपाद और सिद्धसेन दोनों से पूर्ववर्ती सिद्ध होते हैं। पूज्यपाद का समय छठी सदी है यह आगे स्पष्ट किया जायगा। तदनुसार समन्तभद्र का समय पाचवी सदी के बाद का नही हो सकता।

दूसरी ओर पट्टावलियो के आधार पर[१] अथवा बहुत बाद के शिलालेखों में आचार्यों का क्रम देख कर[२] समन्तभद्र का समय पहली-

१) अनेकान्त व. ९ पृ. ४५४, समन्तभद्र का अन्तर्भाव दिगम्बर तथा श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायों की पट्टावलियों में किया गया है। २) अनेकान्त व. १४ पृ. ३. में पं. जुगलकिशोर मुख्तार। गंगराज्यस्थापक सिंहनंदि के पूर्व होने के कारण यहा समन्तभद्र को पहली सदी का माना गया है।

दूसरी सदी मानना भी ठीक नही होगा। षट्खण्डागम पर समन्तभद्र की टीका का उल्लेख ऊपर किया है। षट्खण्डागम को रचना दूसरी सदी में हुई थी तथा समन्तभद्र से पहले उस पर कुन्दकुन्द, श्यामकुण्ड तथा तुम्बुलूर आचार्यों की तीन टीकाएं लिखी जा चुकी थीं[1]। अतः इन के बाद के टीकाकार समन्तभद्र का समय पाचवीं सदी के बहुत पहले नही हो सकता। समन्तभद्र के ग्रन्थों में नागार्जुन के माध्यमिककारिकादि ग्रन्थों का प्रभाव स्पष्ट है[2] अतः वे नागार्जुन के समय से–दूसरी सदी से उत्तरवर्ती हैं यह प्रायः निश्चित है। समन्तभद्र के प्रमुख प्रतिपक्षी के रूप में धूर्जटि का उल्लेख पहले किया जा चुका है। हमारी समझ में बौद्ध पण्डित दिग्नाग के शिष्य शंकरस्वामी ही यही धूर्जटि शब्द से विवक्षित हैं जिन का समय पाचवी सदी का पूर्वार्ध है। अतः समन्तभद्र का समय भी पाचवी सदी ही मानना चाहिए। इस से दक्षिण के शिलालेखों में कुन्दकुन्द, उमास्वाति व बलाकपिच्छ के बाद समन्तभद्र उल्लेख होना[3] भी सुसंगत सिद्ध होता है।

११. सिद्धसेन— नयवाद के विस्तृत व्याख्याकार तथा आगमिक विषयों के स्वतन्त्र विचारक के रूप में सिद्धसेन का स्थान महत्त्वपूर्ण है।

कथाओं के अनुसार[4] सिद्धसेन का जन्म ब्राह्मण कुल में हुआ था। मुकुन्द ऋषि–जिन का उपनाम वृद्धवादी था–के प्रभाव से वे जैन संघ में दीक्षित हुए थे। उन्हों ने आगमों का संस्कृत रूपान्तर करने का प्रयास किया किन्तु साधुसंघ के निषेध के कारण वह कार्य पूरा नही हो सका। उज्जयिनी के महाकाल मन्दिर में शिवलिंग से पार्श्वनाथमूर्ति प्रकट करने का चमत्कार उन की जीवनकथा का प्रमुख भाग है[5]। इसी प्रसंग से

१)धवला भा. १ प्रस्तावना पृ. ४६–५३ में डॉ. हीरालाल जैन. २) अनेकान्त ७ पृ.१० में पं.दरबारीलाल जैन. ३) जैन शिलालेखसंग्रह भा.१ प्रस्तावना पृ.१२९–१४०. ४) कथावली, प्रबन्धकोष, प्रबन्धचिन्तामणि, प्रभावकचरित तथा विविधतीर्थकल्प में सिद्धसेन की कथाएं आती है। इन के साराश तथा चर्चा के लिए सन्मति के गुजराती अनुवाद की प्रस्तावना द्रष्टव्य है। ५) कल्याणमन्दिरस्तोत्र की रचनासे इस घटना का सम्बन्ध जोडा गया है किन्तु वह उचित नही क्यो कि कल्याणमन्दिर कुमुदचन्द्र की कृति है।

उन की द्वात्रिंशिकाओं की रचना शुरू हुई थी। उन के ग्रन्थों के टीकाकारों ने ' दुःषमाकाल रूपी रात्रि के लिए दिवाकर (सूर्य) सदृश ' ऐसी उन की प्रशंसा की है। इस से 'दिवाकर' यह उन का उपनाम रूढ हुआ है।

द्वात्रिंशिकाएं, सन्मति तथा न्यायावतार ये तीन ग्रन्थ सिद्धसेन के नाम पर प्रसिद्ध हैं किन्तु इन में परस्पर काफी मतभेद पाया जाता है अतः हम तीनों का परिचय अलग अलग देते हैं और इस प्रकार स्वतन्त्र रूप से ही उन का विचार करना चाहिए [1]।

सन्मति—इसे सन्मतिसूत्र अथवा सन्मतितर्क प्रकरण भी कहा जाता है[2]। यह प्राकृत गाथाओं में है तथा इस के काण्डों में क्रमशः ५४, ४३ तथा ७० गाथाएं हैं [3]। प्रथम काण्ड में तीर्थंकरों के वचन के ' मूलव्याकरणी ' के रूप में द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिक इन दो मूलनयों का वर्णन है। नैगम, सग्रह आदि सात नयों का तथा नाम, स्थापना आदि निक्षेपों का इन मूल नयों से सम्बन्ध भी स्पष्ट किया है। विभिन्न नय अलग अलग हों तो बिखरे रत्नों के समान शोभाहीन होते हैं—रत्नावली के समान समन्वित हों तो शोभायुक्त हैं यह स्पष्ट करते हुए आचार्य ने बौद्ध, सांख्य और वैशेषिक दर्शनों की एकागी विचारसरणी का उल्लेख किया है। इस काण्ड के अन्त में स्याद् अस्ति, स्यान्नास्ति आदि सात भंगों द्वारा जीव का वर्णन भी किया है। दूसरे काण्ड में जीव के प्रधान लक्षण – ज्ञान और दर्शन – का विस्तृत विवेचन है। विशेषतः केवलज्ञानी के ज्ञानदर्शन का वर्णन वैशिष्ट्यपूर्ण है। दिगम्बर परम्परा में केवली के ज्ञान व दर्शन प्रतिक्षण युगपद् उपयुक्त माने है तथा श्वेताम्बर परम्परा में इन का उपयोग क्रमशः माना है – एक क्षण में ज्ञान का व दूसरे क्षण में दर्शन का इस

१) इन तीन के अतिरिक्त विषोग्रग्रहशमनविधि तथा नीतिसार ये दो अनुपलब्ध ग्रन्थ भी है (अनेकान्त व. ९ पृ. ४२४) २) प्राकृत में ' सम्मइसुत्त' यह रूप होता है। इस का संस्कृत रूपान्तर ' सम्मति ' भी किया गया है जो उचित नही है। ३) उपान्त्य गाथा (जेण विणा भुवणस्स वि इत्यादि) पर अभयदेव की टीका नही है, अतः पं. सुखलालजी उसे मूल ग्रन्थ की नही मानते। ऐसी दशा में कुल गाथासंख्या १६६ होगी।

प्रकार क्रमशः उपयोग माना है। सिद्धसेन ने इन दोनों पक्षों को अनुचित बता कर यह प्रतिपादन किया है कि केवलज्ञानी के दर्शन व ज्ञान में कोई भेद ही नही है अतः उन के प्रतिक्षण या क्रमशः होने का प्रश्न ही नही उठता। वस्तु के अस्तित्वमात्र के आभास को दर्शन कहते हैं तथा विशिष्ट रूपसे आभास को ज्ञान कहते हैं। केवली के ज्ञान में ये दो अवस्थाएं नहीं होतीं अतः उन का ज्ञान व दर्शन अभिन्न है यह आचार्य का मन्तव्य है। यह उपयोग-अभेदवाद दोनों परम्पराओं में बिलकुल नया था अतः जिनभद्र आदि परम्पराभिमानी आचार्यों ने सिद्धसेन को काफी आलोचना की है। सन्मति के तीसरे काण्ड में द्रव्य, गुण तथा पर्याय का सम्बन्ध स्पष्ट किया है। द्रव्यार्थिक तथा पर्यायार्थिक के समान गुणार्थिक नय का उपदेश क्यों नही हैं इस के उत्तर मे आचार्य ने गुण और पर्याय का दृढ सम्बन्ध स्पष्ट किया है। द्रव्य में उत्पत्ति, विनाश व स्थिरता की प्रक्रिया भी बतलाई है। इस काण्ड के अन्त में आचार्य ने भावपूर्ण शब्दों में नयवाद का महत्त्व बतलाया है तथा केवल आगम कण्ठस्थ करना, तपश्चर्या में मग्न रहना, बहुतसे शिष्यों को दीक्षा देना या कीर्ति प्राप्त करना पर्याप्त नही है यह चेतावनी भी साधुसंघ को दी है। सन्मति पर मल्लवादी तथा सुमतिदेव की टीकाएं थीं वे अनुपलब्ध हैं। उपलब्ध टीका अभयदेव की है। इन तीनों का विवरण आगे यथा स्थान दिया है। जिनदास महत्तर की निशीथचूर्णि में दर्शन प्रभावक शास्त्र के रूप में सन्मति का उल्लेख है[1] तथा जिनभद्र गणी ने विशेषावश्यकभाष्य व विशेषणवती में सन्मति के उपयोग-अभेदवाद का खण्डन किया है[2] – इन दोनों का समय क्रमशः सन ६७६ तथा ६०९ है। अत एव सन्मति की रचना छठी सदी के मध्य में या उस से कुछ पहले मानी जा सकती है[3]।

१) दंसणणाणप्पभावगाणि सत्थाणि सिद्धिविणिच्छयसम्मतिमादि गेण्हंतो असंथरमाणे जं अकप्पियं पडिसेवति चयणाते तत्थ सो सुध्दो (उद्देशक १)। २) विशेषावश्यकभाष्य गा. ३०८९ से. विशेषणवती गा० १८४ से। ३) उपयोगक्रमवाद के पहले पुरस्कर्ता भद्रबाहु (द्वितीय) (निर्युक्तिकार) है तथा उन का समय छठी सदी का प्रारम्भ है यह मान कर पं. मुख्तार ने सन्मति की रचना उन के बाद मानी है (अनेकान्त व. ९ पृ. ४४३–५) किन्तु क्रमवाद के वे ही पहले पुरस्कर्ता थे यह कथन ठीक प्रतीत नही होता। सिद्धसेन विषयक कथाओं में सन्मति का कोई उल्लेख नही है।

[प्रकाशन— १ मूलमात्र – यशोविजय जैन ग्रंथमाला, बनारस १९०९; २ अभयदेवकृतटीकासहित– सं. पं. सुखलाल व बेचरदास, गुजरातपुरातत्त्वमंदिर, अहमदाबाद, १९२३–३०; ३ गुजराती अनुवाद व प्रस्तावनासहित–सं. पं. सुखलाल, पुंजाभाई जैन ग्रंथमाला १९३२; ४ इंग्लिश अनुवाद– श्वेताम्बर जैन एज्युकेशन बोर्ड, बम्बई १९३९]

द्वात्रिंशिकाएं—कथाओं के अनुसार सिद्धसेनकृत द्वात्रिंशिकाओं की संख्या ३२ थी। किन्तु उपलब्ध द्वात्रिंशिकाओं की संख्या २१ है[1]। नाम के अनुसार इन में प्रत्येक में ३२ पद्य होने चाहिए किन्तु उपलब्ध पद्यों की संख्या कम-अधिक है–१० वीं द्वात्रिंशिका में दो और २१वीं में एक पद्य अधिक है तथा ८ वी में छह, ११ वी में चार एवं १५ वी में एक पद्य कम है। पहली पाच द्वात्रिंशिकाएं वीर भगवान की स्तुतिया हैं तथा इन की शैली समन्तभद्र के स्वयम्भूस्तोत्र से प्रभावित है[2]। ११वी द्वात्रिंशिका में किसी राजा की प्रशंसा है। डॉ. उपाध्ये से मालूम हुआ कि डॉ. हीरालालजीने एक विद्वत्तापूर्ण निबंध लिखा है, और सिद्ध किया है कि यह राजा चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य है। छठी व आठवीं समीक्षात्मक हैं। तथा अन्य १२ द्वात्रिंशिकाएं विविध दार्शनिक विषयों पर हैं। स्वरूप तथा विषय के समान इन द्वात्रिंशिकाओं में वर्णित मतों में भी परस्पर भिन्नता है। वेदवादद्वात्रिंशिका में उपनिषदों जैसी भाषा में परमपुरुष–ब्रह्म का वर्णन है। निश्चयद्वात्रिंशिका में मतिज्ञान व श्रुतज्ञान को अभिन्न माना है, साथ ही अवधिज्ञान व मनःपर्ययज्ञानको भी अभिन्न माना है। इस द्वात्रिंशिका में धर्म, अधर्म व आकाश द्रव्य की मान्यता भी व्यर्थ ठहराई है– जीव व पुद्गल दो ही द्रव्य आवश्यक माने हैं[3]। पहली, दूसरी व पाचवी द्वात्रिंशिका में केवली के ज्ञान-दर्शन का उपयोग युगपत् माना

---

१) न्यायावतार को भी द्वात्रिंशिकाओं में सम्मिलित करने से यह संख्या २२ होगी।
२) पहली द्वात्रिंशिका मे 'सर्वज्ञपरीक्षणक्षम 'आचार्य का उल्लेख है यह पहले बताया ही है।
३) इस के कारण हस्तलिखितों में इस द्वात्रिंशिका को 'द्वेष्य' श्वेतपट सिद्धसेन की कृति कहा गया है। द्वात्रिंशिकाओं के मतभेद के विवरण के लिए देखिए–अनेकान्त वर्ष ९ पृ. ४३३–४४०।

है जो सन्मतिसूत्र में प्रतिपादित मत से भिन्न है[१]। इस तरह की मत-भिन्नता के कारण ये सब द्वात्रिंशिकाएं एक ही सिद्धसेन आचार्य द्वारा लिखी गई हों यह सम्भव प्रतीत नही होता[२]। तथापि तार्किक मतप्रतिपादन की दृष्टि से ये द्वात्रिंशिकाएं महत्त्वपूर्ण हैं इस में सन्देह नही। इन में से कुछ की रचना पूज्यपाद के पहले हो चुकी थी यह भी स्पष्ट है क्यों कि पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि (७–१३) में तीसरी द्वात्रिंशिका का एक पद्यांश उद्धृत किया है।

[प्रकाशन—जैनधर्मप्रसारक सभा, भावनगर १९०९, वेदवाद द्वात्रिंशिका-पं. सुखलालकृत हिंदी विवेचन–प्रेमीअभिनन्दन ग्रंथ पृ.३८४ प्रथम द्वात्रिंशिका– अनेकान्त वर्ष ९ पृ ४१५; दृष्टिप्रबोध द्वात्रिंशिका– अनेकान्त वर्ष १० पृ. २००]

न्यायावतार—यह बत्तीस श्लोकों की छोटीसी कृति है (और इसीलिए कभी कभी द्वात्रिंशिकाओं में इस की भी गणना की जाती है)। तथापि उपलब्ध प्रमाणशास्त्रविषयक रचनाओं में यह पहली है अतः बहुत महत्त्वपूर्ण है। इस में प्रमाण के दो भेद – प्रत्यक्ष और परोक्ष – मान कर परोक्ष में अनुमान और आगम इन दो का अन्तर्भाव किया है। प्रत्यक्ष और अनुमान इन के स्वार्थ (अपने लिए) और परार्थ (दूसरों के लिए) ऐसे दो दो भेद किये है। कुछ बौद्ध दार्शनिक प्रत्यक्ष को अभ्रान्त और अनुमान को भ्रान्त मानते थे तथा कुछ विद्वान प्रत्यक्ष और अनुमान दोनो को भ्रान्त मानते थे – आचार्य ने इन दोनो को अनुचित बतलाते हुए कहा है कि ज्ञान को प्रमाण भी मानना और भ्रान्त भी मानना परस्परविरुद्ध है, जो प्रमाण है वह भ्रान्त नही हो सकता। अनुमान का प्रमुख अंग हेतु है, उस के प्रकारों का वर्णन कर अन्यथानुपपन्नत्व (दूसरे किसी प्रकार से उपपत्ति न

१) हरिभद्र तथा मलयगिरि आचार्यों ने भी युगपत्वाद के पुरस्कर्ता एक सिद्धसेन का उल्लेख किया है, ये सिद्धसेन ही प्रस्तुत द्वात्रिंशिकाओं के कर्ता हो सक्ते है। (अनेकान्त ९ पृ. ४३४)। २) कथाओं मे सिद्धसेनकृत द्वात्रिंशिका के श्लोक दिये है (प्रशान्तं दर्शनं यस्य इत्यादि,अथवा प्रकाशितं त्वयैकेन इत्यादि) वे इन द्वात्रिंशिकाओं में नही पाये जाते।

होना) यह उस का लक्षण बतलाया है। अन्त में आगम का स्याद्वाद पर आश्रित स्वरूप स्पष्ट किया है।

न्यायावतार पर हरिभद्र ने टीका लिखी थी, उस का एक श्लोक (क्र. ४) उन्हों ने षड्दर्शनसमुच्चय में समाविष्ट किया है (क्र. ५६) अतः न्यायावतार की रचना आठवीं सदी से पहले की है। उस में आगम का लक्षण रत्नकरण्ड से उद्धृत किया है तथा हेतु का अन्यथानुपपन्नत्व लक्षण बतलाया है जो पात्रकेसरीकृत है अतः न्यायावतार की रचना सातवीं सदी से पहले की नही हो सकती[1]।

न्यायावतार पर हरिभद्र, सिद्धर्षि तथा देवभद्र की टीकाएं हैं तथा इस के प्रथम श्लोक को आधार मान कर जिनेश्वर व शान्तिसूरि ने वार्तिक ग्रन्थों की रचना की है। इन ग्रन्थों का विवरण आगे यथास्थान दिया है।

[प्रकाशन — १ मूल व इंग्लिश स्पष्टीकरण– सं. डॉ. सतीशचंद्र विद्याभूषण, कलकत्ता १९०४; २ मूल– जैनधर्म प्रसारक सभा, भावनगर, १९०९, ३ सिद्धर्षि व देवभद्र की टीकाएं– हेमचन्द्राचार्य सभा, पाटन १९१७; ४ टीकाएं व टिप्पण (इंग्लिश) सं. डॉ. वैद्य, श्वेताम्बर जैन कॉन्फरन्स, बम्बई १९२८; ५ अनुवाद पं. सुखलाल, – जैन साहित्य संशोधक खंड ३ भाग १; ६ न्यायावतारवार्तिकवृत्ति के परिशिष्ट में –सं. दलसुख मालवणिया, सिंघी ग्रंथमाला, बम्बई १९४९; ७ टीकाएं व हिन्दी अनुवाद– विजयमूर्ति शास्त्री, रायचंद्र शास्त्रमाला, बम्बई]

१) प्रत्यक्ष को अभ्रान्त और अनुमान को भ्रान्त मानने के जिस मत की न्यायावतार में आलोचना है वह बौद्ध विद्वान धर्मकीर्ति (सातवी सदी–मध्य) का है अतः न्यायावतार सातवी सदी के बाद का है यह तर्क पहले दिया गया है। किन्तु अब ज्ञात हुआ है कि यह मत धर्मकीर्ति से पहले भी बौद्ध विद्वानों में प्रचलित था–तीसरी-चौथी सदी में भी वह व्यक्त किया जा चुका था। अतः यह कारण अब समर्थनीय नही रहा [विवरण के लिए पं. दलसुख मालवणिया की न्यायावतारवार्तिकवृत्ति की प्रस्तावना देखिये]। किन्तु समन्तभद्र और पात्रकेसरी के बाद न्यायावतार की रचना हुई है इस तर्क का समुचित उत्तर नही दिया जा सकता।

१२. **श्रीदत्त**— पूज्यपाद ने जैनेन्द्र व्याकरण (१-४-३४) में श्रीदत्त का उल्लेख किया है। आदिपुराण (१-४५) के उल्लेख से ज्ञात होता है कि वे बडे वादी थे, यथा–

श्रीदत्ताय नमस्तस्मै तपःश्रीदीप्तमूर्तये ।
कण्ठीरवायितं येन प्रवादीभप्रभेदने ॥

विद्यानन्द ने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (पृ. २८०) में उन के जल्प-निर्णय नामक ग्रन्थ का उल्लेख करते हुए उन्हें ६३ वादियों के विजेता यह विशेषण दिया है–

द्विप्रकारं जगौ जल्पं तत्त्वप्रातिभगोचरम् ।
त्रिषष्टेर्वादिना जेता श्रीदत्तो जल्पनिर्णये ॥

जैन प्रमाणशास्त्र में जल्प और वाद में कोई अन्तर नही है। अतः प्रतीत होता है कि इस ग्रन्थ में वाद के नियम, जयपराजय की व्यवस्था आदि का विचार किया होगा। ग्रन्थ उपलब्ध नही है। श्रीदत्त पूज्यपाद से पहले हुए हैं अतः उन का समय छठी सदी का पूर्वार्ध या उस से कुछ पहले का है।

१३. **पूज्यपाद देवनन्दि**— दिगम्बर परम्परा में तत्त्वार्थसूत्र के प्रथम व्याख्याकार के रूप में पूज्यपाद का स्थान महत्त्वपूर्ण है। उन का मूल नाम देवनन्दि था तथा पूज्यपाद और जिनेन्द्रबुद्धि ये उन की उपाधियां थीं। तत्त्वार्थ की सर्वार्थसिद्धि वृत्ति, जैनेन्द्रव्याकरण, समाधितन्त्र, इष्टोपदेश तथा दशभक्ति (संस्कृत) ये उन के पांच ग्रन्थ उपलब्ध हैं तथा शब्दावतारन्यास, वैद्यकशास्त्र, छन्दःशास्त्र, जैनाभिषेकपाठ तथा सारसंग्रह ये पांच ग्रन्थ अनुपलब्ध हैं[1]। इन दस में से प्रस्तुत विषय की दृष्टि से दो — सर्वार्थसिद्धि तथा सारसंग्रह —का परिचय अपेक्षित है।

१) पूज्यपाद के विषय मे विवरण के लिए समाधितन्त्र की पं. मुख्तारकृत प्रस्तावना तथा 'जैन साहित्य और इतिहास' में पं. प्रेमी का लेख उपयुक्त है।

सर्वार्थसिद्धि वृत्ति—यह तत्त्वार्थसूत्र की प्रथम उपलब्ध व्याख्या है[1]। इस का विस्तार ५५०० श्लोकों जितना है। वैसे इस टीका की रचना आगमिक शैली की है – तार्किक वादविवाद इस में प्रायः नही हैं–तथापि उत्तरकालीन दार्शनिक चर्चा की बहुमूल्य सामग्री इस में मिलती है। दिशा यह स्वतन्त्र द्रव्य नही – आकाश द्रव्य में अन्तर्भूत है, चक्षु इन्द्रिय प्राप्यकारी नही – पदार्थ से साक्षात् सम्बन्ध के विना वह पदार्थ को जान सकता है, आदि कई विषयों का सूत्ररूप में निर्देश इस मे मिलता है। इसी लिये अकलक ने तत्त्वार्थवार्तिक में इस वृत्ति के बहुभाग को आधारभूत वार्तिक वाक्यों के रूप में संगृहीत कर लिया है।

[प्रकाशन— १ मूल – सं. कल्लाप्पा निटवे, कोल्हापूर १९०३ तथा १९१७; २ जयचन्द्रकृत हिन्दी वचनिका – सं. निटवे, कोल्हापूर १९११; ३ हिन्दी पदशः अनुवाद – जगरूप सहाय – जैन ग्रन्थ डिपो, मैनगंज १९२७; ४ प्रस्तावनादिसहित – सं. प. फूलचन्द्र – भारतीय ज्ञानपीठ, बनारस १९५५; ५ इंग्लिश अनुवाद – The Reality. कलकत्ता १९६०]

सारसंग्रह—इस ग्रन्थ से नय का एक लक्षण धवला टीका में उद्धृत किया है, यथा – 'तथा सारसंग्रहेऽप्युक्तं पूज्यपादैः अनन्तपर्यायात्मकस्य वस्तुनः अन्यतमपर्यायाधिगमे कर्तव्ये जात्यहेत्वपेक्षो निरवद्यप्रयोगो नय इति।' (धवला प्रथम भाग प्रस्तावना पृ. ६०) इस के अतिरिक्त इस का अन्य परिचय प्राप्त नही होता। ग्रन्थ अनुपलब्ध है।

समयविचार—पूज्यपाद का समय प्रायः सर्वत्र पाचवी सदी का उत्तरार्ध माना गया है। इस का मुख्य कारण है दर्शनसार का वह उल्लेख जिस में पूज्यपाद के शिष्य वज्रनन्दि द्वारा सं. ५२६ (= सन ४७०) में द्राविड संघ की स्थापना का वर्णन है[2]। हमारी दृष्टि में इस मे कुछ

---

१) अर्थात् उमास्वाति का स्वोपज्ञ भाष्य सर्वार्थसिद्धि के पहले का है।

२) सिरिपुज्जपादसीसो दाविडसंघस्स कारगो दुट्ठो। णामेण वज्जणंदी पाहुडवेदी महासत्तो ॥ २४॥ पंचसए छव्वीसे विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स। दक्खिणमहुराजादो दाविडसंघो महामोहो ॥ २८ ॥

संशोधन आवश्यक है। दर्शनसार में दी हुई सभी तिथियां विक्रमराज के मृत्युवर्ष के अनुसार दी है। किन्तु उन का सामंजस्य प्रचलित विक्रमसंवत की अपेक्षा शकसंवत से अधिक बैठता है। उदाहरणार्थ — कुमारसेन का समय दर्शनसार मे सं. ७५३ दिया है और कुमारसेन के गुरु विनयसेन के गुरुबंधु जिनसेन का ज्ञात समय शक सं. ७५९ (जयधवला की समाप्ति) है। यदि कुमारसेन का समय प्रचलित विक्रमसंवत के अनुसार स. ७५३ माने तो यह बात संभव नही होगी– उस अवस्था में जिनसेन से १४१ वर्ष पहले कुमारसेन का समय सिद्ध होगा। अतः दर्शनसारकी वर्षगणना शककाल की मानना आवश्यक होता है। तदनुसार पूज्यपाद के शिष्य वज्रनन्दि का समय शक सं ५२६=सन ४०६ और पूज्यपाद का समय छठी सदी का उत्तरार्ध मानना होगा[1]। पूज्यपाद गंगराजा दुर्विनीत के गुरु थे ऐसी मान्यता है[2]। दुर्विनीत का समय भी छठी सदी का उत्तरार्ध ही निश्चित हुआ है[3]। अतः पूज्यपाद का समय भी तदनुसार छठी सदी मानना चाहिए।

१४. वज्रनन्दि—पूज्यपाद के शिष्य तथा द्राविड संघ के स्थापक वज्रनन्दि का उल्लेख ऊपर किया है। दर्शनसार के उस उल्लेख में उन्हे प्राभृतवेदी तथा महासत्त्व कहा है। हरिवंशपुराण (१-३२) में

१) जैनेन्द्र महावृत्ति प्रस्तावना में पं. युधिष्ठिर ने देवनन्दि का समय पाचवीं सदी (मध्य) मानने के लिए यह तर्क दिया है कि देवनन्दि ने निकट भूतकाल के उदाहरण में 'अरुणत् महेन्द्रो मथुराम्' यह वाक्य दिया है तथा इस में उल्लिखित महेन्द्र गुप्त सम्राट कुमारगुप्त हैं। किन्तु यह तर्क ठीक नही है। उक्त उदाहरण देवनन्दि ने स्वयं दिया हुआ नही है–महावृत्तिकार अभयनन्दि का है तथा अभयनन्दि का समय नवी सदी सुनिश्चित हैं। अतः उक्त उदाहरण में उल्लिखित महेन्द्र अभयनन्दि के समकालीन कोई राजा होने चाहिए। २) पं. शान्तिराजशास्त्री के अनुसार यह मान्यता भ्रममूलक है दुर्विनीत शब्दावतार ग्रन्थ का कर्ता था तथा पूज्यपाद को भी शब्दावतारकर्ता कहा गया है, किन्तु इतने पर से उन मे गुरुशिष्यसम्बन्ध की कल्पना ठीक नही (तत्त्वार्थसूत्र–भास्करनन्दिकृत वृत्तिकी प्रस्तावना)। ३) दि क्लासिकल एज पृ. २६९. ४) पूज्यपाद विषयक कथाएं बिलकुलही अविश्वसनीय हैं –एक में पाणिनि को उन का मामा बतलाया है (समाधितंत्र प्रस्तावना पृ. १०, जैन साहित्य और इतिहास पृ. ५० ।)

जिनसेन ने उन की प्रशंसा करते हुए बन्ध, मोक्ष तथा उन के कारणों के विषय में विचार करनेवाली उन की उक्तियों का वर्णन किया है—

वज्रसूरेर्विचारिण्यः सहेत्वोर्बन्धमोक्षयोः ।
प्रमाणं धर्मशास्त्राणां प्रवक्तृणामिवोक्तयः ॥

धवल कवि के हरिवंश में भी वज्रसूरि के प्रमाणग्रन्थ की प्रशंसा मिलती है—

वज्जसूरि मुणिवरु सुपसिद्धउ । जेण पमाणगंथु किउ चंगउ ॥

नवस्तोत्र नामक रचना में वज्रनन्दि ने जैन सिद्धान्तों का विस्तृत समर्थन किया था ऐसा वर्णन मल्लिषेणप्रशस्ति (जैन शिलालेखसंग्रह भा. १ पृ. १०३) में मिलता है—

नवस्तोत्रं तत्र प्रसरति कवीन्द्राः कथमपि
प्रणामं वज्रादौ रचयत परं नन्दिनिमुनौ ।
नवस्तोत्रं येन व्यरचि सकलार्हत्प्रवचन-
प्रपंचान्तर्भावप्रवणवरसन्दर्भसुभगम् ॥

वज्रनन्दि का कोई ग्रन्थ इस समय उपलब्ध नही है । दर्शनसार के उपर्युक्त वर्णनानुसार उनका समय सातवीं सदी का प्रारम्भिक भाग है ।

१५. **मल्लवादी**—कथाओं के अनुसार[1] मल्लवादी की माता का नाम दुर्लभदेवी था तथा उन के मामा आचार्य जिनानन्द थे। वलभीनगर में उन का जन्म हुआ था । आचार्य अजितयशस तथा यक्षदेव उन के बन्धु थे । भृगुकच्छ (वर्तमान भडौच) में बुद्धानन्द नामक बौद्ध आचार्य द्वारा जिनानन्द वाद में पराजित हुए थे। इस के उत्तर में मल्लवादी ने बुद्धानन्द का पराजय कर के वादी यह उपाधि प्राप्त की थी ।

मल्लवादी का तार्किक ग्रन्थ द्वादशारनयचक्र मूलरूप में प्राप्त नही है – उस की सिंह क्षमाश्रमण कृत टीका प्राप्त है । कथा के अनुसार इस ग्रन्थ का प्रथम पद्य ज्ञानप्रवाद पूर्व से प्राप्त हुआ था । यह पद्य इस प्रकार है –

१) भद्रेश्वर की कथावली, प्रभाचन्द्र का प्रभावकचरित, मेरुतुंग का प्रबन्धचिंतामणि, राजशेखर का प्रबन्धकोष आदि में यह कथा मिलती है ।

विधिनियमभंगवृत्तिव्यतिरिक्तत्वादनर्थकवचोवत् ।
जैनादन्यच्छासनमनृतं भवतीति वैधर्म्यम् ॥

नयचक्र में विधि, नियम, आदि बारह प्रकारों से नयों का उपयोग कर वस्तुतत्त्व की चर्चा की गई है। नयों का चक्ररूप में वर्णन करने का तात्पर्य यह है कि कोई भी नय अपने आप में सर्वश्रेष्ठ नही होता। जैसे चक्र मे सभी विन्दु समान महत्त्व के होते हैं वैसे ही वस्तुतत्त्व के वर्णन में सभी नयों का समान महत्त्व होता है। इस ग्रन्थ का विस्तार १०००० श्लोकों जितना कहा गया है।

मल्लवादी ने सिद्धसेनकृत सन्मतिसूत्र की टीका लिखी थी वह भी अनुपलव्ध है। बृहट्टिप्पनिका (क्र. ३५८) के अनुसार इस टीका का विस्तार ७०० श्लोकों जितना था। उन का पद्मचरित (रामायण) भी प्राप्त नही है।

कथा में मल्लवादी द्वारा बुद्धानन्द के पराजय का समय वीरसंवत् ८८४ = सन ३५७ दिया है। किन्तु वे सिद्धसेन के बाद हुए हैं अतः यह समय विश्वसनीय नही है। उन के समय की उत्तरमर्यादा सन ७०० है क्यों कि हरिभद्र ने अपने ग्रन्थों में उन का कई बार उल्लेख किया है तथा उन्हें वादिमुख्य कहा है (अनेकान्तजयपताका भाग १ पृ. ५८ आदि)। इस तरह उन का समय सिद्धसेन के बाद तथा हरिभद्र के पूर्व – छठीं या सातवीं शताव्दी – प्रतीत होता है।

[प्रकाशन—१ द्वादशारनयचक्र (टीका) – सं. विजयलब्धिसूरि, लब्धिसूरीश्वर ग्रन्थमाला, १९४८-५७; २ सं. मुनि चतुरविजय तथा ला. भ. गांधी—गायकवाड ओरिएन्टल सीरीज, बडौदा १९५२.]

१६. अजितयशस्—आचार्य मल्लवादी के बन्धु के रूप में अजितयशस् का उल्लेख ऊपर किया है। कथा के अनुसार उन्हों ने प्रमाण विषयपर कोई ग्रन्थ लिखा था[1]। आचार्य हरिभद्र ने अनेकान्तजयपताका में (भा. २ पृ. ३३) पूर्वाचार्य के रूप में उन का उल्लेख किया है तथा

१) तथाजितयशोनामा प्रमाणग्रन्थमादधे। प्रभावकचरित–मल्लवादी प्रबन्ध श्लो. ३७

उत्पादव्ययध्रौव्य के सिद्धान्त का उन्हों ने समर्थन किया था ऐसा कहा है। इस समय अजितयशस् का कोई ग्रन्थ प्राप्त नहीं है। उन का समय मल्लवादी के समान – छठवीं-सातवीं सदी प्रतीत होता है।

१७. पात्रकेसरी—कथाओं के अनुसार[1] पात्रकेसरी ब्राह्मण कुल मे उत्पन्न हुए थे। समन्तभद्र कृत आप्तमीमांसा के पठन से वे जैन दर्शन के प्रति श्रद्धायुक्त हुए तथा राजसेवा छोडकर तपस्या में मग्न हुए। हुम्मच के शिलालेख में[2] उन की प्रशंसा इस प्रकार है—

भूभृत्पादानुवर्ती सन् राजसेवापराङ्मुखः।
संयतोऽपि च मोक्षार्थी (भात्यसौ) पात्रकेसरी॥

पात्रकेसरी की दो कृतियां ज्ञात हैं – त्रिलक्षणकदर्थन तथा जिनेन्द्रगुणसंस्तुति स्तोत्र। पहली रचना में बौद्ध आचार्यों के हेतु के लक्षण का खण्डन था। हेतु पक्ष में हो, सपक्ष में हो तथा विपक्ष में न हो ये तीन लक्षण बौद्धों ने माने थे। इन के स्थान मे अन्यथानुपपन्नत्व (दूसरे किसी प्रकार से उपपत्ति न होना) यह एक ही लक्षण आचार्य ने स्थिर किया। इस की मुख्य कारिका[3] उन्हे पद्मावती देवी ने दी थी ऐसी आख्यायिका है[4]। यह कारिका अकलंकदेव ने न्यायविनिश्चय (श्लो. ३२३) में समाविष्ट की है। बौद्ध आचार्य शान्तरक्षित ने तत्त्वसंग्रह (का. १३६४-७९) मे इस कारिका के साथ कुछ अन्य कारिकाएं पात्रस्वामी के नाम से उद्धृत की है। किन्तु इन का मूल ग्रन्थ त्रिलक्षणकदर्थन अनुलब्ध है।

जिनेन्द्रगुणसंस्तुति यह ५० श्लोकों की छोटीसी रचना है तथा पात्रकेसरिस्तोत्र इस नामसे भी प्रसिद्ध है। वेद का पुरुषकृत होना, जीव का पुनर्जन्म, सर्वज्ञ का अस्तित्व, जीव का कर्तृत्व, क्षणिकवाद का निरसन

---

१) प्रभाचन्द्र तथा नेमिदत्त के कथाकोषों में यह कथा है। २) जैन शिलालेख संग्रह, भा. ३, पृ. ५१९. ३) यह कारिका इस प्रकार है –

अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्।
नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्॥

४) जैन शिलालेख संग्रह, प्रथम भाग, पृ १०३.

ईश्वर का निरसन, मुक्ति का स्वरूप तथा मुनि का सम्पूर्ण अपरिग्रह व्रत ये इस के प्रमुख विषय हैं। इस स्तोत्र पर किसी अज्ञात लेखक की संस्कृत टीका है।

[प्रकाशन— १ मूल– सनातन जैन ग्रन्थमाला का प्रथम गुच्छक काशी १९०५ तथा १९२५; २ संस्कृतटीकासहित – तत्त्वानुशासनादि संग्रह में – सं. पं. मनोहरलाल, माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई १९१८; ३ मराठी स्पष्टीकरण के साथ – पं. जिनदासशास्त्री फडकुले, प्र. हिराचंद गौतमचंद गांधी, निमगांव १९२१; ४ हिन्दी अनुवाद के साथ – पं. श्रीलाल तथा लालाराम, चुन्नीलाल जैन ग्रन्थमाला]

उपर्युक्त विवरण के अनुसार पात्रकेसरी समन्तभद्र के बाद एवं अकलंक तथा शान्तरक्षित के पहले हुए है अतः उन का समय छठीं या सातवीं सदी में निश्चित है[1]।

१८. **शिवार्य**—जिनदासगणी महत्तर ने सन ६७६ में निशीथसूत्र की चूर्णि लिखी। इस में जैन दर्शन की महिमा बढानेवाले ग्रन्थों के रूप मे सिद्धिविनिश्चय तथा सन्मति इन दो ग्रन्थों का उल्लेख है। पहले इस सिद्धिविनिश्चय को अकलंककृत समझा गया। किन्तु बाद में पता चला कि यह अकलंक से पूर्ववर्ती शिवार्य अथवा शिवस्वामी नामक आचार्य का ग्रन्थ है। इस का उल्लेख शाकटायन ने अपने व्याकरण में इस प्रकार किया है (१।३।१६८) – 'शोभनः सिद्धेर्विनिश्चयः शिवार्यस्य शिवार्येण वा'। शाकटायन के स्त्रीमुक्तिप्रकरण की एक टीका में भी इस का उल्लेख इस प्रकार है 'अस्मिन्नर्थे भगवदाचार्य शिवस्वामिनः सिद्धिविनिश्चये युक्त्यभ्यधायि आर्याद्वयमाह – यत्संयमोपकाराय वर्तते'। इस उल्लेख से ज्ञात होता है कि इस ग्रन्थ में संस्कृत पद्यों में स्त्रीमुक्ति आदि विषयों की चर्चा थी। यह ग्रन्थ अनुपलब्ध है। भगवती आराधना के कर्ता

१) पात्रकेसरी तथा विद्यानन्द एक ही व्यक्ति थे ऐसा भ्रम कुछ वर्ष पहले रूढ हुआ था। इस का निराकरण पं. मुख्तार ने किया (अनेकान्त वर्ष १ पृ. ६७)। पात्रकेसरी का शल्यतन्त्र नामक ग्रन्थ भी था ऐसा उग्रादित्यकृत कल्याणकारक (२०-८५) से ज्ञात होता है।

शिवार्य इस के रचयिता से भिन्न हैं या अभिन्न यह प्रश्न विचारणीय है। उन का समय सन ६७६ से पहले का है यह निशीथचूर्णि के उक्त उल्लेख से स्पष्ट है[1]।

१९. सिंहसूरि—मल्लवादी के नयचक्रपर सिंहसूरि ने टीका लिखी है यह ऊपर बताया ही है। इस टीका का विस्तार १८००० श्लोकों जितना है तथा इसे न्यायागमानुसारिणी यह नाम दिया है। तत्त्वार्थसूत्रभाष्य के टीकाकार सिद्धसेन के गुरु भास्वामी भी सिंहसूरि नामक आचार्य के शिष्य थे। यदि वे ही नयचक्रटीका के कर्ता हों तो सातवीं सदी के अन्त में या आठवीं सदी के प्रारंभ में उन का समय माना जा सकता है क्यों कि सिद्धसेन आठवीं सदी के उत्तरार्ध में हुए हैं। विधि, नियम आदि मूल विषयों को स्पष्ट करते हुए सिंहसूरि ने ज्ञानवाद, क्रियावाद, पुरुषवाद, नियतिवाद, ईश्वरवाद आदि का विस्तृत विचार किया है।

[प्रकाशन—मल्लवादी के परिचय मे इस टीका के प्रकाशनों की सूचना दी है।]

२०. अकलंक—जैन प्रमाणशास्त्र के परिपक्व रूप का दर्शन भट्ट अकलंकदेव के ग्रन्थों में होता है। बौद्ध पण्डित धर्मकीर्ति तथा उन के शिष्यपरिवार के आक्रमणों से जैन दर्शन की रक्षा करने का महान कार्य उन्हों ने किया था।

कथाओं के अनुसार[2] मान्यखेट के राजा शुभतुंग के मन्त्री पुरुषोत्तम के दो पुत्र थे – अकलंक व निष्कलंक। दोनों ने बाल वय में ही ब्रह्मचर्य धारण किया तथा एक बौद्ध मठ में गुप्त रूप से अध्ययन किया। वहा पकडे जाने पर सैनिकों द्वारा निष्कलंक तो मारे गये – अकलंक किसी प्रकार बच सके। बाद में जैन संघ का नेतृत्व ग्रहण कर अकलंक ने स्थान स्थान पर बौद्धों से वाद किये तथा विजय प्राप्त किया। कलिंग के राजा हिमशीतल की सभा मे बौद्ध पण्डितों ने एक घडे में तारा देवीकी स्थापना की थी। अकलंक ने वहां वाद मे विजय पाकर वह

1) पं. महेन्द्रकुमार – सिद्धिविनिश्चय टीका प्रस्तावना पृ. ५३-५४. 2) प्रभाचन्द्र के गद्यकथाकोश तथा नेमिदत्त के आराधनाकथाकोश में यह कथा दी है।

घडा फोड डाला। कथाओं के इन वर्णनों में निष्कलंक की कथा का तो अन्यत्र से समर्थन नही होता। किन्तु हिमशीतल की सभा में वाद का वर्णन मल्लिषेण-प्रशस्ति में प्राप्त होता है – साहसतुंग (राष्ट्रकूट राजा दन्तिदुर्ग) की सभा में अकलंक ने निम्न श्लोक कहे थे ऐसा इस में वर्णन है[१] –

राजन् साहसतुंग सन्ति बहवः श्वेतातपत्रा नृपाः
किन्तु त्वत्सदृशा रणे विजयिनस्त्यागोन्नता दुर्लभाः।
तद्वत् सन्ति बुधा न सन्ति कवयो वादीश्वरा वाग्मिनो
नानाशास्त्रविचारचातुरधियः काले कलौ मद्विधाः॥
नाहंकारवशीकृतेन मनसा न द्वेषिणा केवलं
नैरात्म्यं प्रतिपद्य नश्यति जने कारुण्यबुद्ध्या मया।
राज्ञः श्रीहिमशीतलस्य सदसि प्रायो विदग्धात्मनो
बौद्धौघान् सकलान् विजित्य स घटः पादेन विस्फोटितः॥

राजा साहसतुंग तथा शुभतुंग (कृष्ण प्रथम) के समकालीन होने से अकलंक का समय आठवीं सदी का मध्य – उत्तरार्ध (अनुमानतः सन ७२०-७८०) निश्चित होता है। अकलंकचरित में बौद्धों के साथ उन के वाद का समय विक्रमार्कशकाब्द ७०० दिया है[२]; यह शक ७०० = सन ७७८ हो सकता है। पहले सन ६७६ मे लिखित निशीथचूर्णि में सिद्धिविनिश्चय का उल्लेख देखकर अकलंक का समय सातवीं सदी का मध्य माना गया था किन्तु यह सिद्धिविनिश्चय शिवार्य की रचना है – अकलंककृत सिद्धिविनिश्चय से भिन्न है यह स्पष्ट हो चुका है[३]। अतः उपर्युक्त शक ७०० को विक्रम संवत् ७०० = सन ६४३ मानने का कोई कारण नही है। हरिभद्र के ग्रन्थों में अकलंक-न्याय शब्द का प्रयोग देखकर[४] अकलंक को हरिभद्र से पूर्ववर्ती – ७ वीं

---

१) जैन शिलालेख संग्रह भा. १ पृ. १०१. २) विक्रमार्कशकाब्दीयशतसप्तप्रमाजुषि। कालेऽकलंकयतिनो बौद्धैर्वादो महानभूत्॥ (सिद्धिविनिश्चय टीका प्रस्तावना पृ. ४५) ३) पहले दिया हुआ शिवार्य का परिचय देखिए। ४) अनेकान्तजयपताका पृ. २७५

सदी में विद्यमान माना गया था। किन्तु हरिभद्र का अकलंकन्याय यह शब्द न्यायदर्शन के पूर्वपक्ष के लिए है अत: अकलंकदेव के समय से उस का सम्बन्ध नही है [१]।

अकलंक के छह ग्रन्थ प्राप्त हैं। इन में दो व्याख्यानात्मक तथा चार स्वतन्त्र है। इन का क्रमश: परिचय इस प्रकार है।

तत्त्वार्थवार्तिक—तत्त्वार्थसूत्र की इस टीका का परिमाण १६००० श्लोकों जितना है। इस में प्रत्येक सूत्र के विषय की साधक-बाधक चर्चा करनेवाले वाक्य – वार्तिक– हैं, तथा उन का लेखकने ही विशद विवरण दिया है। अत: इस ग्रन्थ को तत्त्वार्थवार्तिकव्याख्यानालंकार अथवा तत्त्वार्थभाष्य भी कहा गया है। विद्यानन्द के श्लोकवार्तिक से पृथकता बतलाने के लिए इसे राजवार्तिक यह नाम दिया गया है। पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि वृत्ति का बहुभाग अकलंक ने वार्तिक रूप में समाविष्ट कर लिया है, तथा श्वेताम्बर परम्परा में मान्य सूत्रपाठ की यथास्थान आलोचना की है। तत्त्वार्थ के विषयानुसार षट्खंडागमादि आगम ग्रन्थों का योग्य उपयोग इस में किया गया है। किन्तु इस की विशेषता यह है कि आगमिक विषयों के स्पष्टीकरण मे भी यथासम्भव सर्वत्र अनेकान्त की दार्शनिक पद्धति का अनुसरण किया है। दार्शनिक चर्चा की दृष्टि से इस का प्रारम्भिक भाग (जिस में मोक्षमार्ग का विवेचन है) तथा चतुर्थ अध्याय का अन्तिम भाग (जिस मे जीव के स्वरूप का विशद विवेचन है) विशेष महत्त्वपूर्ण है।

[प्रकाशन—१ मूलमात्र, सं. पं. गजाधरलाल, सनातन जैन ग्रन्थमाला १९१५, बनारस; २ हिन्दी अनुवाद, सं. पं. मक्खनलाल, हरीभाई देवकरण ग्रन्थमाला क्र. ८, कलकत्ता; ३ मूल तथा हिन्दी सार, सं. पं. महेन्द्रकुमार, भारतीय ज्ञानपीठ, बनारस.]

अष्टशती— यह समन्तभद्रकृत आप्तमीमासा की टीका है। ८०० श्लोकों जितने विस्तार की होने से इसे अष्टशती कहा जाता है। आप्तमीमासा में चर्चित विविध एकान्तवादों के पूर्वपक्ष तथा निराकरण का

१) विस्तृत चर्चा के लिए सिद्धिविनिश्चयटीका की प्रस्तावना देखिए।

इस में संक्षिप्त विवरण दिया है। इसी पर विद्यानन्द ने अष्टसहस्री नामक विस्तृत टीका लिखी है।

[प्रकाशन— सं. पं. गजाधरलाल, सनातन जैन ग्रन्थमाला, १९१४, बनारस]

लघीयस्त्रय— यह प्रमाणप्रवेश, नयप्रवेश तथा प्रवचनप्रवेश नामक तीन छोटे प्रकरणों का संग्रह है अतः इसे लघीयस्त्रय यह नाम दिया गया है। इन प्रकरणों में क्रमशः ३०, २० व २८ श्लोक हैं। मूल श्लोकों के अर्थ के पूरक स्पष्टीकरण के रूप में आचार्य ने स्वयं इन प्रकरणों पर गद्य विवृति लिखी है।

पहले प्रमाणप्रवेश के चार परिच्छेद हैं तथा इन मे क्रमशः प्रत्यक्ष प्रमाण, प्रमाण का विषय, परोक्ष प्रमाण, आगम तथा प्रमाणाभास की चर्चा है। नय प्रवेश में द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिक, शब्दनय व अर्थनय तथा नैगमादि सात नय इन का परस्पर सम्बध तथा विषयविस्तार स्पष्ट किया है। तीसरे प्रवचन प्रवेश मे प्रमाण, नय तथा निक्षेप का सम्बन्ध स्पष्ट कर मोक्षमार्ग में उन की उपयोगिता बतलाई है। इस ग्रन्थ पर प्रभाचन्द्र ने न्यायकुमुदचन्द्र नामक विस्तृत टीका लिखी है तथा इस के मूल श्लोकों पर अभयचन्द्र की स्याद्वादभूषण नामक टीका है।

[प्रकाशन—१ मूल तथा विवृति –अकलक ग्रन्थत्रय मे – सं. पं. महेन्द्रकुमार, सिंघी जैन ग्रन्थमाला, १९३९, बम्बई; २ मूल श्लोक तथा अभयचन्द्र की टीका – सं. पं. कल्लाप्पा निटवे, माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, १९१६, बम्बई; ३ मूल तथा विवृत्ति – न्यायकुमुदचन्द्र में – सं. पं. कैलाशचन्द्र तथा महेन्द्रकुमार; माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, १९३८, बम्बई.]

न्यायविनिश्चय—इस ग्रन्थ के तीन प्रस्ताव है तथा कुल श्लोक-संख्या ४८० है। इस पर भी स्वयं आचार्य की मूलविषय के पूरक के रूप में गद्य विवृति थी किन्तु वह उपलब्ध नही है। इस के प्रथम प्रस्ताव में प्रत्यक्ष प्रमाण तथा उस के उपभेद, प्रत्यक्ष ज्ञान के विषय में विविध दर्शनों के मन्तव्य, तथा प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा जाने गये विषयों का

स्वरूप आदि की विस्तृत चर्चा है। दूसरे प्रस्ताव में अनुमान प्रमाण तथा उस के उपांग – हेतु व हेत्वाभास, वादविवाद का स्वरूप तथा जयपराजय की व्यवस्था का विचार किया है। तीसरे प्रस्ताव में जिनप्रवचन का स्वरूप, बौद्ध तथा मीमासकों के शास्त्रों का अप्रमाणत्व, सत्शास्त्र के प्रवर्तक सर्वज्ञ आदि आगमविषयक चर्चा और प्रमाणविषयक शेष विचार हैं। इस ग्रन्थ पर वादिराज ने विवरण नामक विस्तृत टीका लिखी है।

[प्रकाशन— १ मूल – अकलंक ग्रन्थत्रय मे – सं. पं. महेन्द्रकुमार, सिंघी जैन ग्रन्थमाला, बम्बई १९३९; २ न्यायविनिश्चय विवरण में – सं. पं. महेन्द्रकुमार, भारतीय ज्ञानपीठ, बनारस, १९४९]

सिद्धिविनिश्चय— इस ग्रन्थ में १२ प्रकरण तथा कुल ३८० श्लोक हैं। इस पर आचार्य की ही पूरक गद्य वृत्ति ५०० श्लोकों जितने विस्तार की है। इन १२ प्रकरणों में क्रमशः प्रत्यक्ष प्रमाण, सविकल्प प्रत्यक्ष, अन्य प्रमाण, जीव, जल्प, हेतु का लक्षण, शास्त्र का स्वरूप, सर्वज्ञ का अस्तित्व, शब्द का स्वरूप, अर्थनय, शब्दनय तथा निक्षेप इन विषयों का विस्तृत विचार है। विशेषतः बौद्ध और मीमासको के एतद्विषयक मतों का आचार्यने विस्तार से निरसन किया है तथा अनेकान्तवाद का समर्थन किया है। इस ग्रन्थ पर अनन्तवीर्य की टीका विस्तृत है– उसी से मूल ग्रन्थ का पाठ उद्धृत किया गया है – मूल ग्रन्थ की प्रतियां प्राप्त नही होतीं।

[प्रकाशन—सिद्धिविनिश्चय टीका – सं. पं. महेन्द्रकुमार, भारतीय ज्ञानपीठ, बनारस, १९५९.]

प्रमाणसंग्रह—इस ग्रन्थ में ९ प्रस्ताव तथा कुल ८७ कारिकाएं हैं। इन में क्रमशः प्रत्यक्ष प्रमाण, स्मृति आदि परोक्ष प्रमाण, अनुमान प्रमाण, हेतु का लक्षण तथा भेदोपभेद, हेत्वाभास का स्वरूप, वाद में जयपराजय की व्यवस्था, प्रवचन तथा उस के प्रवर्तक सर्वज्ञ का समर्थन, सप्तभंगी तथा नैगमादि नय एवं प्रमाण–नय–निक्षेप का सम्बन्ध इन विषयों का विवेचन है। इस पर भी आचार्य ने एक पूरक वृत्ति गद्य में ७०० श्लोकों जितने विस्तार की लिखी है। दक्षिण के जैन शिलालेखों में बहुधा पाया जानेवाला श्लोक

'श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलांछनम्।
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम्॥'

इसी ग्रन्थ का मंगलाचरण है। इस पर अनन्तवीर्य ने प्रमाणसंग्रहभाष्य अथवा प्रमाणसंग्रहालंकार नामक टीका लिखी थी जो अनुपलब्ध है।

[प्रकाशन-- अकलंकग्रन्थत्रय में -- सं. पं. महेन्द्रकुमार, सिन्धी जैन ग्रन्थमाला, १९३९, बम्बई]

अकलंक के ग्रन्थों में प्रमेय विषयों की चर्चा तो महत्त्वपूर्ण है ही -- सर्वज्ञ, ईश्वर, क्षणिकवाद, जीवस्वरूप आदि की चर्चा उन्हों ने पर्याप्त रूप से की है। किन्तु प्रमाणों के वर्णन -- वर्गीकरण का उन का कार्य अधिक मौलिक और महत्त्व का है। प्रत्यक्ष प्रमाण में इन्द्रियप्रत्यक्ष का व्यवहारतः समावेश करने की कुछ आगम ग्रन्थों की पद्धति उन्हों ने अपनाई। तथा परोक्ष प्रमाण के स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान एवं आगम ये पांच भेद स्थिर किये। बाद के जैन तार्किकों ने उन की इस व्यवस्था का सर्वसम्मति से (न्यायावतार की टीकाएं छोड कर) समर्थन किया है। तथा जैन न्याय को अकलंकन्याय यह विशेषण दिया है।

२१. हरिभद्र--आगम, योग, न्याय, अध्यात्म, स्तोत्र, मुनिचर्या, उपासकाचार, कथा आदि विविध विषयों पर विपुल तथा श्रेष्ठ साहित्य की रचना हरिभद्र ने की है। कथाओं के अनुसार[1] वे ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए थे तथा याकिनी महत्तरा नामक साध्वी के उपदेश से जैन-संघ मे दीक्षित हुए थे। उन के दीक्षागुरु जिनभट थे तथा विद्यागुरु जिनदत्त थे। उन के हंस तथा परमहंस[2] नामक शिष्यों को बौद्धों ने मार डाला था -- इस से क्षुब्ध होकर पहले तो हरिभद्र ने बौद्ध प्रतिपक्षियों का वध कराने का निश्चय किया किन्तु शान्त होने पर उन्हें अपनी भूल ज्ञात हुई तथा ग्रन्थरचना द्वारा प्रतिपक्षियों पर विजय पाना उन्होंने उचित समझा। उन के बहुत से ग्रन्थों के अन्त में विरह यह

१) कथावली, प्रबन्धचिन्तामणि, प्रभावकचरित, प्रबन्धकोप आदि मे हरिभद्र की कथा आती है। २) कुछ कथाओ में ये नाम जिनभद्र तथा वीरभद्र ऐसे है।

शब्द पाया जाता है – इस का सम्बन्ध इन शिष्यों के विरह से जोडा गया है। इसी से उन्हें विरहाक अथवा भवविरहसूरि ये उपपद मिले हैं।

हरिभद्र के समय के बारे में किसी समय बहुत विवाद था। परम्परागत गाथाओं आदि में उन की मृत्यु का वर्ष संवत् ५८५ = सन ५२८ बताया गया था। दूसरी ओर उपमितिभवप्रपंचा कथा के कर्ता सिद्धर्षि ने (जिन का ज्ञात समय संवत् ९६२ है) उन्हें गुरु माना है। इस विवाद का अन्तिम समाधान मुनि जिनविजय के संशोधन से हुआ[1]। हरिभद्र ने अपने ग्रन्थों में सातवीं सदी के बौद्ध विद्वान धर्मकीर्ति के मतों की आलोचना की है तथा सन ६७६ में समाप्त हुई नन्दीसूत्र की चूर्णि का अपनी नन्दीसूत्रटीका में उपयोग किया है अतः सन ७०० यह उन के समय की पूर्वसीमा है। दूसरी ओर सन ७७८ में समाप्त हुई कुवलयमाला कथा के कर्ता उद्योतन सूरि उन के शिष्य थे अतः यही उन के समय की उत्तरसीमा है – सन ७०० से ७८० यह उन का कार्यकाल निश्चित होता है। सिद्धर्षिने परम्परा से उन्हें गुरु माना है – साक्षात् गुरु नही माना है।

हरिभद्र के ग्रन्थों की संख्या बहुत अधिक है[2]। उन के तर्क-प्रधान ग्रन्थ १३ हैं – इन मे दस स्वतंत्र तथा तीन टीकात्मक हैं। इन का क्रमशः परिचय इस प्रकार है।

अनेकान्तजयपताका— इस मे ६ अधिकार हैं तथा इस का विस्तार ३७५० श्लोकों जितना है। वस्तुतत्त्व मे नित्यत्व, अनित्यत्व, सत्त्व, असत्त्व, अनेकत्व आदि परस्पर विरुद्ध गुणधर्म कैसे रहते हैं यह आचार्य ने इस ग्रन्थ मे सिद्ध किया है। इस के पाचवे अध्याय में योगाचार बौद्धों के मत का विस्तार से खण्डन है तथा छठवें अध्याय मे मोक्ष के स्वरूप का विस्तृत विचार किया है। इस ग्रन्थ पर आचार्य ने स्वयं भावार्थमात्रावेदनी तथा उद्योतदीपिका नामक दो विवरण लिखे हैं जिन

१) जिनविजय का यह लेख जैन साहित्य संशोधक के प्रथम खण्ड में प्रकाशित हुआ है। २) सूचियों आदि से ८७ से अधिक नाम प्राप्त होते हैं। श्री. कापडिया ने अनेकान्तजयपताका का प्रस्तावना में ५५ ग्रन्थो का परिचय दिया है।

का विस्तार ८००० श्लोकों जितना है। इस के अतिरिक्त बारहवीं सदी के मुनिचन्द्र सूरि ने भी इस पर टिप्पण लिखे हैं।

[प्रकाशन—१ मूल तथा टीका–यशोविजय ग्रन्थमाला, काशी १९०९-१२; २ मूल, टीका तथा इंग्लिश टिप्पण व प्रस्तावना–स. ही. रा. कापडिया, गायकवाड ओरिएन्टल सीरीज १९४७-५२.]

अनेकान्तवादप्रवेश—यह अनेकान्तजयपताका के विषयों का संक्षिप्त रूपान्तर है। इस का विस्तार ७२० श्लोक है।

[प्रकाशन—गुजराती अनुवाद–मणिलाल द्विवेदी, बडौदा १८९९; मूल–हेमचन्द्राचार्य ग्रन्थावली, पाटन १९१९.]

शास्त्रवार्तासमुच्चय—यह ७०० श्लोकों का ग्रन्थ है। इस पर आचार्य ने स्वयं दो टीकाएं लिखी है – दिक्प्रदा टीका का विस्तार २२५० श्लोकों जितना तथा बृहत् टीका का विस्तार ७००० श्लोकों जितना है। जीव का स्वतंत्र अस्तित्व, कार्यकारणवाद, सर्वज्ञ का अस्तित्व, वेदोक्त हिंसा का निषेध, सांख्य तथा बौद्धों के एकान्तवादों का निषेध, ब्रह्मवाद का निषेध, मुक्ति का स्वरूप तथा द्रव्य का लक्षण – सत् ये इस के प्रमुख विषय हैं। इस पर यशोविजय उपाध्याय ने सत्रहवीं सदी में स्याद्वादकल्पलता नामक विस्तृत टीका लिखी है।

[प्रकाशन— १ मूल – जैनधर्मप्रसारक सभा, भावनगर १९०७; २ टीकासहित – देवचन्द्र लालभाई पुस्तकोद्धार फंड, सूरत १९१४; ३ गोडीजी जैन उपाश्रय, बम्बई, १९२९]

षड्दर्शनसमुच्चय— यह ८७ श्लोकों का छोटासा ग्रन्थ है। बौद्ध, न्याय, सांख्य, जैन, वैशेषिक, मीमांसक तथा लोकायत (चार्वाक) इन सात दर्शनों के प्रमुख मतों का इस मे संग्रह किया है। न्याय तथा वैशेषिक को कुछ विद्वान समानतंत्र मानते हैं अतः नाम षड्दर्शनसमुच्चय रखा है। देवता, जीव, जगत् तथा प्रमाण इन चार विषयों के बारे में इन दर्शनों के क्या मत हैं इस का प्रामाणिक वर्णन ग्रन्थ में मिल जाता है। अतः भारतीय दर्शन के प्रारम्भिक विद्यार्थी के लिए पाठयपुस्तक के रूप में यह बहुमूल्य सिद्ध हुआ है। इस पर चौदहवीं सदी में सोम-

तिलक ने, पन्द्रहवीं सदी में गुणरत्न ने तथा इन के बाद मणिभद्र ने टीका लिखी है।

[प्रकाशन— १ गुणरत्नकृत टीका सहित – सं. एल्. सुआली, बिब्लॉथिका इन्डिका, कलकत्ता १९०५-७; २ मणिभद्रटीकासहित – सं. दामोदरलाल गोस्वामी, चौखम्बा संस्कृत सीरीज १९०५; ३ गुणरत्नटीकासहित – आत्मानन्द सभा, भावनगर १९०७; ४ मूल – जैन धर्मप्रसारक सभा, भावनगर, १९१८]

सर्वज्ञसिद्धि—सर्वज्ञ के अस्तित्व को सिद्ध करनेवाले इस ग्रन्थ का विस्तार ३०० श्लोकों जितना है। इस पर आचार्य ने स्वयं टीका लिखी है।

[प्रकाशन—ऋषभदेव केसरीमल प्रकाशनसंस्था, रतलाम १९२४]

अनेकान्तसिद्धि, आत्मसिद्धि, स्याद्वादकुचोद्यपरिहार—इन तीन ग्रंथों का उल्लेख आचार्य ने अनेकान्तजयपताका मे किया है। ये उपलब्ध नही हैं।

भावनासिद्धि—इस का उल्लेख आचार्य ने सर्वज्ञसिद्धि मे किया है। यह भी उपलब्ध नही है।

परलोकसिद्धि—इस का उल्लेख सुमति गणी ने किया है। यह भी अनुपलब्ध है।

न्यायप्रवेशटीका—पाचवीं सदी के बौद्ध आचार्य दिग्नाग के न्यायप्रवेश की यह टीका है। जैनेतर ग्रन्थो पर जैन आचार्यों ने कई टीकाएं लिखीं हैं। इस परम्परा का प्रारम्भ हरिभद्र की प्रस्तुत टीका से होता है। इस का विस्तार ६०० श्लोको जितना है। इस पर श्रीचन्द्र सूरि ने टिप्पण लिखे है।

[प्रकाशन—सं. आ. बा. ध्रुव, गायकवाड ओरिएन्टल सीरीज, बडौदा १९२७-३०.]

तत्त्वार्थाधिगमटीका— उमास्वाति के भाष्यसहित तत्त्वार्थ की श्वेतावर परम्परा मे यह पहली टीका है। इस का विस्तार ११००० श्लोकों जितना है। हरिभद्र इसे पूरी नही कर सके थे – इस का उत्तरार्ध यशोभद्र द्वारा लिखा गया है।

[प्रकाशन—आत्मानन्द सभा, भावनगर]

न्यायावतारटीका—सिद्धसेन के न्यायावतार की यह टीका अनुपलब्ध है। बृहट्टिपनिका के अनुसार इस का विस्तार २०७३ श्लोकों जितना था (क्र. ३६५, जैन साहित्य संशोधक खण्ड १, भाग २)।

हरिभद्र के अन्य ग्रन्थों के नाम इस प्रकार है—धर्मबिन्दु, धर्मसंग्रहणी, योगबिन्दु, योगदृष्टिसमुच्चय, श्रावकप्रज्ञप्ति, समरादित्यकथा, धूर्ताख्यान, पंचवस्तु, अष्टकप्रकरण, विंशतिविंशिका, षोडशक, पंचाशक, दर्शनसप्तति, लग्नशुद्धि, लोकतत्त्वनिर्णय, उपदेशपद, सम्यक्त्वसप्तति, सम्बोधप्रकरण, धर्मलाभसिद्धि, संसारदावानलस्तुति, बोटिकप्रतिषेध, अर्हच्छ्रीचूडामणि, बृहत्मिथ्यात्वमथन, ज्ञानपंचकव्याख्यान आदि। उन्हों ने जिन आगमग्रन्थों पर टीकाएं लिखी हैं वे इस प्रकार हैं—आवश्यक, दशवैकालिक, पिंडनिर्युक्ति, जीवाभिगम, प्रज्ञापना, अनुयोगद्वार, नन्दी, चैत्यवन्दन, पंचसुत्त, वर्गकेवली, क्षेत्रसमास, संग्रहणी, ओघनिर्युक्ति।

२२. मल्लवादी (द्वितीय)—बौद्ध आचार्य धर्मकीर्ति के न्यायबिन्दु नामक ग्रन्थ पर धर्मोत्तर ने प्रदीप नामक टीका लिखी है। इस टीका पर मल्लवादी ने टिप्पन लिखे हैं। ये मल्लवादी नयचक्र के कर्ता से भिन्न हैं। धर्मोत्तर से उत्तरवर्ती होने के कारण इन का समय आठवीं सदी में या उस के कुछ बाद का है। सूरत ताम्र पत्र में[1] सेनसंघ के आचार्य मल्लवादी का उल्लेख है—उन के प्रशिष्य अपराजित को सन ८२१ में कुछ दान दिया गया था। अतः वे आठवीं सदी के उत्तरार्ध में हुए हैं। सम्भव है कि उन्हों ने ही धर्मोत्तरटिप्पन लिखे हों। इस टिप्पन की एक प्रति सं. १२०६ = सन ११५० की लिखी हुई है। अतः उस के पूर्व ये मल्लवादी हुए हैं यह स्पष्ट है[2]।

---

१) एपिग्राफिका इन्डिया २१ पृ. १३३। २) प्रभावकचरित के अभयदेव प्रबन्ध मे ग्यारहवी सदी के उत्तरार्ध के एक मल्लवादी आचार्य का वर्णन मिलता है। अभयदेव ने जब स्तम्भतीर्थ (खम्भात) मे पार्श्वनाथमन्दिर की प्रतिष्ठापना कराई तब इन मल्लवादी के शिष्य आम्रेश्वर वहा 'कर्मान्तकर' थे।

[प्रकाशन— सं. शेर्बाट्स्की, विब्लाथिका बुद्धिका, सेंट पीटर्सबर्ग, १९०९]

२३. सन्मति (सुमति)—वादिराज ने पार्श्वचरित मे (१-२२) सन्मतिसूत्र के टीकाकार सन्मति का उल्लेख इन शब्दों मे किया है—

नमः सन्मतये तस्मै भवकूपनिपातिनाम् ।
सन्मतिर्विवृता येन सुखधामप्रवेशिनी ॥

दिगम्बर परम्परा के सुमति नामक विद्वान के कुछ मतों का खण्डन बौद्ध आचार्य शान्तरक्षित ने तत्त्वसंग्रह (का. १२६४) में किया है। ये सुमति उपर्युक्त सन्मति से अभिन्न प्रतीत होते हैं। सुमतिसप्तक नामक रचना के कर्ता सुमतिदेव का वर्णन मल्लिषेणप्रशस्ति मे इन शब्दों में है (जैन शिलालेख संग्रह भा. १ पृ. १०३)—

सुमतिदेवममुं स्तुत येन वः सुमतिसप्तकमाप्ततया कृतम् ।
परिहृतापथतत्त्वपथार्थिना सुमतिकोटिविवर्ति भवार्तिहृत् ॥

सूरत ताम्रपत्र मे सन ८२१ में सुमति पूज्यपाद के शिष्य अपराजित गुरु को कुछ दान दिये जाने का वर्णन है। इस से सुमति का समय आठवीं सदी के उत्तरार्ध मे प्रतीत होता है। इस दान पत्र में उन्हें सेनसंघ के आचार्य तथा मल्लवादी के शिष्य कहा है (एपिग्राफिया इण्डिका २१ पृ. १३३)। सुमति का कोई ग्रन्थ इस समय उपलब्ध नही है।

२४. वादीभसिंह—स्याद्वादसिद्धि यह वादीभसिंह की महत्त्वपूर्ण रचना है। इस का उपलब्ध संस्करण अपूर्ण है तथा इस में १६ प्रकरण एवं कुल ६७० कारिकाएं हैं। जीव का स्वतन्त्र अस्तित्व, क्षणिकवाद-निरसन, सहानेकान्त, क्रमानेकान्त, नित्यवाद-खण्डन, ईश्वर का सर्वज्ञत्व, जगत का कर्तृत्व, सर्वज्ञ का अस्तित्व, अर्थापत्ति प्रमाण, वेद का पुरुषकृतत्व, प्रामाण्य की उत्पत्ति, अभाव प्रमाण, तर्कप्रमाण, गुण तथा गुणी का अभेद, ब्रह्मवादनिरसन तथा अपोहवादनिरसन ये विषय इस में चर्चित हैं।

[प्रकाशन—सं. पं. दरबारीलाल, माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई, १९५०.]

वादीभसिंह यह उपाधि शिलालेखों में कई आचार्यों को दी गई है अतः प्रस्तुत ग्रन्थकर्ता का समय और व्यक्तित्व निश्चित करना कठिन है। इस के दार्शनिक उल्लेखों आदि को देख कर संपादक पं. दरबारीलाल ने आठवीं सदी के अन्त या नौवीं सदी के प्रारम्भ में उन का समय माना है। गद्यचिन्तामणि तथा क्षत्रचूडामणि ये दो काव्यग्रन्थ वादीभसिंह नामक आचार्य के है तथा गद्यचिन्तामणि के प्रारम्भ में उन्हों ने पुष्पसेन को गुरु माना है। श्रवणबेलगोल के एक लेख के अनुसार पुष्पसेन अकलंक के गुरुबन्धु थे[1] अतः उन का समय भी आठवीं सदी के अन्त में या नौवीं सदी के प्रारम्भ में प्रतीत होता है। यदि यही आचार्य स्याद्वादसिद्धि के कर्ता हों तो वादिराज तथा जिनसेन द्वार प्रशंसित वादिसिंह से वे अभिन्न हो सकते हैं। वादिराज ने 'दिग्नाग तथा धर्मकीर्ति के मान को भग्न करनेवाले' ऐसा वादिसिंह का वर्णन किया है (पार्श्वचरित सर्ग १)—

स्याद्वादगिरमाश्रित्य वादिसिंहस्य गर्जिते।
दिग्नागस्य मदध्वंसे कीर्तिभंगो न दुर्घटः॥

जिनसेन ने वादिसिंहको कवि, वाग्मी तथा गमकों में श्रेष्ठ माना है – (आदिपुराण १–५४) –

कवित्वस्य परा सीमा वाग्मित्वस्य परं पदम्।
गमकत्वस्य पर्यन्तो वादिसिंहोऽर्च्यते न कैः॥

जिनसेन से पूर्व होने के कारण वादिसिंह का समय नौवीं सदी के प्रारम्भ में या उस से कुछ पहले है।

दूसरी ओर गद्यचिन्तामणि के कर्ता को ओडयदेव यह विशेषण दिया मिलता है और यही विशेषण-नाम बारहवीं सदी के आचार्य अजितसेन का भी था तथा उन्हें वादीभसिंह यह उपाधि भी दी जाती थी[2]। अतः यदि वे स्याद्वादसिद्धि के कर्ता हों तो उन का समय

१) जैन शिलालेखसंग्रह भा. १ पृ. १०५ २) जैन शिलालेख संग्रह भा. १ पृ. १११.

बारहवीं सदी सुनिश्चित होगा। इन दो पक्षों में कौनसा अधिक योग्य है यह प्रश्न अनुसन्धानयोग्य है[1]।

२५. **प्रभाचन्द्र**—वीरसेन ने षट्खण्डागमटीका धवला में प्रभाचन्द्र के किसी ग्रन्थ से नय का लक्षण उद्धृत किया है[2]। वीरसेन से पूर्व होने से इन प्रभाचन्द्र का समय आठवीं सदी के अन्त में या उस से कुछ पहले का है। इसी समय के आसपास हरिवंशपुराण में कुमारसेन के शिष्य प्रभाचन्द्र का वर्णन इन शब्दों में मिलता है –

आकूपारं यशो लोके प्रभाचन्द्रोदयोज्ज्वलम्।
गुरोः कुमारसेनस्य विचरत्यजितात्मकम्॥

महापुराण के प्रारंभ मे (१–४७) चन्द्रोदय के कर्ता प्रभाचन्द्र का वर्णन इस प्रकार है –

चन्द्रांशुशुभ्रयशसं प्रभाचन्द्रकविं स्तुवे।
कृत्वा चन्द्रोदयं येन शश्वदाल्हादितं जगत्॥

इन प्रभाचन्द्र का कोई ग्रन्थ उपलब्ध नही है। न्यायकुमुदचन्द्र आदि के कर्ता प्रभाचन्द्र इन से कोई तीनसौ वर्ष बाद हुए हैं। चन्द्रोदय तथा न्यायकुमुदचन्द्र में नामसाम्य के कारण इन दोनों में एकता का भ्रम कुछ वर्ष पहले रूढ हुआ था[3]।

२६. **कुमारनन्दि**—इन के वादन्याय नामक ग्रन्थ का उल्लेख विद्यानन्द ने तीन ग्रन्थों में किया है। श्लोकवार्तिक (पृ. २८०) में राजप्राश्निक – वादसभा के निर्णायक सदस्यों का स्वरूप कुमारनन्दि के अनुसार बताया है[4]। प्रमाणपरीक्षा में (पृ. ७२) हेतु के एकमात्र लक्षण का अनुमान के प्रयोग के साथ सामंजस्य बतलाते हुए कुमारनन्दि का मत

१) अष्टसहस्रीटिप्पण में समन्तभद्र (द्वितीय) ने वादीभसिंह की आप्तमीमांसा टीका का उल्लेख किया है ऐसा कुछ विद्वानोंका मत है। किन्तु टिप्पण का वह अंश ध्यान से पढने पर स्पष्ट होगा कि वहां टिप्पणकर्ताने अकलंकदेव को ही वादीभसिंह यह विशेषण दिया है। २) धवला भाग १ प्रस्तावना पृ ६१. ३) इस भ्रम का निवारण न्यायकुमुदचन्द्र की प्रस्तावना में विस्तार से किया गया है। ४) कुमारनन्दिनश्चाहुर्वादन्यायविचक्षणाः। राजप्राश्निकसामर्थ्यमेवम्भूतमसंशयम्॥

उद्धृत किया है[1]। पत्रपरीक्षा में यही प्रसंग कुछ विस्तारसे दिया है[2](पृ.३)। बौद्ध साहित्य में धर्मकीर्तिकृत वादन्याय प्रसिद्ध है उसी विषय का जैनदर्शन के अनुकूल स्वरूप प्रस्तुत ग्रन्थ में दिया होगा ऐसा उपर्युक्त उद्धरणों से प्रतीत होता है। ग्रन्थ उपलब्ध नही है।

गंग राजा पृथ्वीकोंगणि के शक ६९८ (= सन ७७६) के एक दानपत्र में यापनीय संघ के आचार्य चंद्रनन्दि व उन के शिष्य कुमारनन्दि का उल्लेख है[3]। ऐसी स्थिति में ८वीं सदी का उत्तरार्ध यह उन का समय निश्चित होगा। इसी समय के लगभग एक और कुमारनन्दि का उल्लेख भी प्राप्त होता है– ये कोण्डकुन्देय अन्वय के सिर्मलगेगूरु गण के आचार्य थे तथा इन के प्रशिष्य वर्धमानगुरु को राष्ट्रकूट राजा कम्भदेव ने सन ८०८ में कुछ दान दिया था[4]। इन दोनों मे वादन्याय के कर्ता कौनसे हैं यह विषय विचारणीय है।

हेतुबिन्दुटीकालोक नामक बौद्ध ग्रन्थ में स्याद्वादकेशरी के वादन्याय ग्रन्थ का तथा उस की कुलभूषणकृत टीका का उल्लेख है[5]। यहां स्याद्वादकेशरी यह किसी विद्वान की उपाधि प्रतीत होती है। यदि वादन्याय नाम का कोई दूसरा ग्रन्थ न हो तो यह उपाधि कुमारनन्दि की भी मानी जा सकती है।

पंचास्तिकायतात्पर्यटीका के प्रारम्भ में जयसेन ने कुन्दकुन्द के गुरु के रूप में कुमारनन्दि सिद्धान्तदेव का उल्लेख किया है, किन्तु इस का प्रस्तुत लेखक से कोई सम्बन्ध प्रतीत नही होता।

२७. शाकटायन—यापनीय संघ के आचार्य पाल्यकीर्ति का दूसरा नाम शाकटायन था। इन्हों ने स्त्रीमुक्ति प्रकरण तथा केवलिभुक्ति प्रकरण

---

१) तथा चाभ्यधायि कुमारनन्दिभट्टारकैः अन्यथानुपपत्त्येकलक्षणं लिंगमंग्यते। प्रयोगपरिपाटी तु प्रतिपाद्यानुरोधतः॥ २) कुमारनन्दिभट्टारकैरपि स्ववादन्याये निगदितत्वात् प्रतिपाद्यानुरोधेन प्रयोगेषु पुनर्यथा। प्रतिज्ञा प्रोच्यते तज्ज्ञैः तथोदाहरणादिकम्॥ इत्यादि ३) जैन साहित्य और इतिहास पृ. ७९. ४) जैन शिलालेख संग्रह भा. ४ (मुद्रणाधीन)। ५) तथा चाबादीत् वादन्याये स्याद्वादकेशरी अखिलस्य वस्तुनः अनैकान्तिकत्वं सत्त्वात् अन्यथार्थक्रिया कुतः इति। एतच्च व्याचक्षाणेन कुलभूषणेन टीकाकृता एवं व्याख्यातमुपपादितं च। (पृ. २७३)

की रचना की। इन मे क्रमशः ७५ और ३४ पद्य है। दिगम्बर सम्प्रदाय के विद्वान मानते थे कि स्त्रियों को मुक्ति नही मिल सकती तथा केवल ज्ञान प्राप्त करने पर पुरुष भोजन नही करते—इन मतों का तार्किक शैलीमें खण्डन इन प्रकरणों में किया है। इस विषय मे बाद में विद्वानों में जो वाद चलता रहा उस का मूलाधार प्राय. ये प्रकरण ही हैं।

[प्रकाशन—जैन साहित्य संशोधक खंड २ अंक ३-४ (मूलमात्र)]

शाकटायन सम्राट अमोघवर्ष (सन ८१४-८७८) के समकालीन थे। तदनुसार ९ वीं सदी का मध्य यह उन का समय है। शाकटायन शब्दानुशासन (व्याकरण) तथा उसकी अमोघवृत्ति ये उन के अन्य ग्रन्थ हैं।

२८. वसुनन्दि— इन्हों ने समन्तभद्र की आप्तमीमांसापर वृत्ति लिखी है। इन के सस्करण मे आप्तमीमासा के अन्त में एक मंगलश्लोक अधिक है – अकलक के सस्करण में ११४ तथा वसुनन्दि के संस्करण में ११५ श्लोक है। विद्यानन्द ने इस भेद का उल्लेख किया है। यदि यह संस्करणभेद वसुनन्दि के पहले का नही हो तो वसुनन्दि का समय विद्यानन्द के पहले – नौवीं सदी के पूर्वार्ध में मानना होगा। उन की वृत्ति में इस का विरोधक कोई उल्लेख नही है। किन्तु ऐसी स्थिति में मूलाचारवृत्ति तथा उपासकाध्ययन ये रचनाएं किसी अन्य वसुनन्दि की माननी होगीं। इन दोनो का समय बारहवीं सदी में निश्चित हुआ है[1]। अतः देवागमवृत्ति के कर्ता इन से भिन्न है या अभिन्न यह प्रश्न अनुसन्धान योग्य है।

[प्रकाशनों की सूचना समन्तभद्र के परिचय में दी गई है।]

२९. विद्यानन्द— बौद्ध पडितों के आक्रमणों से जैन दर्शन की रक्षा अकलंक ने की थी। उसी प्रकार नैयायिक तथा वेदान्ती पन्डितों के आक्षेपों का उत्तर देने का कार्य विद्यानन्द ने सफलतापूर्वक पूरा किया।

---

१) जैन साहित्य और इतिहास पृ. ३०० में पं. नाथूराम प्रेमी। वसुनन्दिश्रावकाचार की प्रस्तावना में पं. हीरालाल।

विद्यानन्द के नौ ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। इन में तीन व्याख्यानात्मक तथा छह स्वतन्त्र हैं। इन का क्रमशः परिचय इस प्रकार है।

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक— यह तत्त्वार्थसूत्र की विशद व्याख्या १८००० श्लोकों जितने विस्तार की है। मूल सूत्रों के विषय में साधक-बाधक चर्चा के लिए श्लोकबद्ध वार्तिक तथा उन का लेखक द्वारा ही गद्य में स्पष्टीकरण ऐसी इस की रचना है अतः इसे श्लोकवार्तिकालंकार यह नाम भी दिया गया है। ग्रन्थ का आधे से अधिक भाग पहले अध्याय के स्पष्टीकरण में लिखा गया है। इस के प्रारम्भ में मोक्षमार्ग के उपदेशक सर्वज्ञ की सिद्धता, मोक्ष प्राप्त करनेवाले जीव की सिद्धता तथा अद्वैत-वादादि का निरसन प्रस्तुत किया है। ज्ञान के प्रकार, प्रमाण, नय तथा निक्षेपों की भी विस्तृत चर्चा की है। शेष अध्यायों का विवेचन मुख्यतः आगमाश्रित है।

[प्रकाशन – १ मूल – सं. पं. मनोहरलाल, प्र. रामचन्द्र नाथा रंगजी, १९१८, बम्बई; २ मूल व हिन्दी अनुवाद – पं. माणिकचन्द कौन्देय, आ. कुन्थुसागर ग्रन्थमाला, १९४९, सोलापूर]

अष्टसहस्री—समन्तभद्र की आप्तमीमांसा तथा उस की अकलंककृत अष्टशती टीका पर यह विस्तृत व्याख्या है। नाम के अनुसार ८००० श्लोकों जितना इस का विस्तार है। लेखक के ही कथनानुसार यह टीका बहुत परिश्रम से लिखी गई है–'कष्टसहस्रीसिद्धा' है। इसकी रचना में कुमारसेन के वचन साहाय्यक हुए थे–इसे लेखक ने 'कुमारसेनोक्ति-वर्धमानार्था' कहा है। आप्तमीमांसा की टीका होने से इसे देवागमालंकार भी कहा गया है। मूल ग्रन्थानुसार विविध एकान्तवादों का विस्तृत निरसन इस में है। साथ ही प्रारम्भ में शब्द और अर्थ के सम्बन्ध में विधि, नियोग, भावना आदि वादों का विस्तृत समालोचन प्रस्तुत किया है– यह प्रायः स्वतन्त्र विषय भी चर्चित है। इस ग्रन्थ पर लघुसमन्तभद्र ने टिप्पण लिखे हैं तथा यशोविजय ने विषमपदतात्पर्यविवरण लिखा है।

[प्रकाशन—मूल तथा टिप्पण—सं. प. वंशीधर, प्र. रामचंद्र-नाथारंगजी गांधी, १९१५, अकलूज (जि. शोलापुर)]

युक्त्यनुशासनालंकार—यह समन्तभद्र के युक्त्यनुशासन की टीका है, इस का विस्तार ३००० श्लोकों जितना है। मूल में उल्लिखित चार्वाकादि दर्शनों के पूर्वपक्ष तथा उत्तरपक्षों का इस में विस्तार से स्पष्टीकरण किया है।

[प्रकाशन-मूल—सं. श्रीलाल व इन्द्रलाल, माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला १९२०, बम्बई]

विद्यानन्दमहोदय—यह लेखक की प्रथम रचना थी जो अनुपलब्ध है। लेखक के अन्यग्रन्थों में इस के जो उल्लेख हैं[1] उन से पता चलता है कि इस में अनुमान का स्वरूप, द्रव्य के एकत्व का निषेध, सर्वज्ञ विषयक आक्षेपो का समाधान आदि विषयों की चर्चा थी। १२ वीं सदी में देवसूरि ने इस ग्रन्थ का उल्लेख किया है[2] अतः तब तक यह ग्रन्थ विद्यमान था यह स्पष्ट है। किन्तु बाद में उस का पता नही चलता।

श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र—यह ३० पद्यों का छोटासा स्तोत्र है। है। श्रीपुर के पार्श्वनाथजिन[3] की प्रशंसा करते हुए इस में पहले स्याद्वाद का समर्थन किया है तथा बाद मे मीमासक, नैयायिक, साख्य तथा बौद्धों के प्रमुख मतों का संक्षेप मे खण्डन किया है। अन्तिम श्लोक में विद्यानन्द महोदय का श्लेष उल्लेख है अतः यह प्रस्तुत ग्रन्थकर्ता की ही कृति प्रतीत होती है। पुष्पिका में कर्ता के गुरु का नाम अमरकीर्ति दिया है—इस का अन्य साधनो से समर्थन नही होता।

[प्रकाशन—मूल व मराठी टीका--पं. जिनदास शास्त्री, प्र. हिराचंद गौतमचंद गाधी, निमगाव, १९२१]

१) अष्टसहस्री पृ. २९०, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ. २७२, आप्तपरीक्षा पृ. ६४ आदि. २) स्याद्वादरत्नाकर पृ. ३४९. ३) पं. जिनदासशास्त्री ने इसे सिरपुर के अन्तरिक्षपार्श्वनाथ का उल्लेख माना है (प्रस्तावना पृ. ३) किन्तु यह सन्दिग्ध है।

आप्तपरीक्षा—तत्त्वार्थसूत्र के प्रारम्भ के 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' आदि श्लोक को[1] आधारभूत मानकर इस प्रकरण की रचना हुई है। इस के मूल श्लोक १२४ हैं तथा उन पर लेखक की ही गद्य टीका-आप्तपरीक्षालंकृति है जिस का विस्तार ३००० श्लोकों जितना है। इस प्रकरण में मुख्यतः चार मतों का निरसन है- नैयायिकसंमत ईश्वर, सांख्यसंमत प्रकृति, बौद्धसम्मत अद्वैतादिवाद तथा मीमांसकसंमत वेदप्रामाण्य इन का विचार किया है-तथा इन की तुलनामें मोक्षमार्ग के उपदेशक तीर्थंकर सर्वज्ञ की श्रेष्ठता स्पष्ट की है।

[प्रकाशन-१ मूल श्लोक—सनातन जैन ग्रंथमाला का प्रथम गुच्छक, १९०५, काशी; २ मूल तथा टीका-सं. पं. गजाधरलाल, सनातन जैन ग्रंथमाला, १९१३ काशी, ३ मूल श्लोक व हिंदी अनुवाद-पं. उमरावसिंह, काशी, १९१४; ४ मूल व टीका—जैनसाहित्यप्रसारक कार्यालय, १९३०, बम्बई; ५ मूल व टीका का हिंदी अनुवाद—सं. पं. दरबारीलाल, वीरसेवामन्दिर १९४९, दिल्ली]

प्रमाणपरीक्षा—इस प्रकरण का विस्तार १४०० श्लोकों जितना है। जैनमतानुसार प्रमाण का लक्षण सम्यग्ज्ञान ही हो सकता है, नैयायिकों का इन्द्रिय संनिकर्षादि को प्रमाण मानना अथवा बौद्धों का विकल्परहित ज्ञान को ही प्रत्यक्ष मानना अयोग्य है यह इस में स्पष्ट किया है। तदनंतर प्रमाण का विषय अंतरंग तथा बहिरंग दोनों प्रकार का होता है यह स्पष्ट किया है। अन्त में प्रमाणों की संख्या और उपभेदों का—विशेषतः अनुमान के अंगों का—वर्णन किया है।

[प्रकाशन-मूल-सं. पं. गजाधरलाल, सनातन जैन ग्रन्थमाला, १९१४, काशी]

पत्रपरीक्षा—यह प्रकरण गद्यपद्यमिश्रित है तथा इस का विस्तार ५०० श्लोकों जितना है। वादसभा मे वादी गूढ शब्दों से ग्रथित तथा अनुमानप्रयोगसहित श्लोक को प्रतिवादी के सन्मुख रखता था-उसे पत्र

१) विद्यानन्द की दृष्टि में यह श्लोक तत्त्वार्थसूत्रकर्ता का ही है तथा समन्तभद्र ने इसी पर आप्तमीमांसा की रचना की है। इस मत के परीक्षण का सारांश ऊपर समन्तभद्र के समयनिर्णय में दिया है।

यह पारिभाषिक संज्ञा थी। इस पत्रश्लोक का स्पष्टीकरण यदि प्रतिवादी न कर सके तो उस का पराजय होता था। प्रस्तुत प्रकरण में आचार्य ने पत्रश्लोक का अर्थ अनेकान्तात्मक ही होना चाहिए यह स्पष्ट किया है तथा एकान्तवादी पत्रों की सदोषता स्पष्ट की है।

[प्रकाशन–मूल—सं. पं. गजाधरलाल, सनातन जैन ग्रन्थमाला, १९१३, काशी]

सत्यशासनपरीक्षा—यह प्रकरण खण्डित रूप में प्राप्त हुआ है तथा अभी अप्रकाशित है। प्राप्त परिचय के अनुसार[१] इस का विस्तार १००० श्लोकों जितना है। इस में पुरुषाद्वैत, शब्दाद्वैत, विज्ञानाद्वैत, चित्राद्वैत, चार्वाक, बौद्ध, सांख्य, न्यायवैशेषिक, मीमांसा, तत्त्वोपप्लव तथा अनेकान्त (जैन) दर्शनों के सिद्धान्तों का क्रमशः विचार किया है। उपलब्ध प्रति में शब्दाद्वैत, तत्त्वोपप्लव तथा अनेकान्तदर्शन का परिचयपर अंश प्राप्त नहीं है। सम्भव है कि यह आचार्य की अन्तिम कृति हो तथा उन के स्वर्गवास के कारण अपूर्ण रही हो।

समय तथा परम्परा—विद्यानन्द ने अष्टसहस्री (पृ० १६१) में सुरेश्वर के बृहदारण्यकवार्तिक का तथा श्लोकवार्तिक में (पृ० २०६) वाचस्पति का न्यायवार्तिक टीका का उल्लेख किया है। इन दोनों की ज्ञात तिथियां क्रमशः सन ८२० तथा ८४१ हैं। अतः नौवीं सदी के उत्तरार्ध में विद्यानन्द का कार्यकाल प्रतीत होता है। उन्हों ने अपने तीन ग्रन्थों में सत्यवाक्य नामक राजा का श्लिष्ट शब्दों से उल्लेख किया है[२]। मैसूर प्रदेश के गंग राजवंश में सत्यवाक्य उपाधि चार राजाओं ने धारण की थी। इन में पहले राजा राजमल्ल (प्रथम) का राज्यकाल सन ८१६ से ८५३ तक था[३]। यह उपाधि धारण करनेवाले दूसरे राजा राजमल्ल

१) प. महेन्द्रकुमार — अनेकान्त व. ३ पृ. ६६०–६५। भारतीय ज्ञानपीठ बनारस की ओर से इस ग्रन्थ का सम्पादन हो रहा है। २) आप्तपरीक्षा श्लो. १२३: विद्यानन्दैः स्वशक्त्या कथमपि कथितं सत्यवाक्यार्थसिद्ध्यै॥ प्रमाणपरीक्षा श्लो. १: सत्यवाक्याधिपाः शश्वद् विद्यानन्दा जिनेश्वराः॥ युक्त्यनुशासन टीका प्रशस्ति. विद्यानन्द-बुधैरलङ्कृतमिदं श्रीसत्यवाक्याधिपैः॥ ३) बाबू कामताप्रसाद ने विद्यानन्द को इस राजा का ही समकालीन माना है (जैन सिद्धान्त भास्कर वर्ष ३, भा. ३, पृ ८७)। पं. दरबारीलाल आप्तपरीक्षाप्रस्तावना में इसी मत को स्वीकार करते हैं।

(द्वितीय) का राज्यकाल सन ८७० से ९०७ तक था[1]। अण्णिगेरे तथा गावरवाड के दो शिलालेखों मे गंगराजगुरु वर्धमान के शिष्य महावादी विद्यानन्द का उल्लेख है। उन की शिष्यपरम्परा के सातवे आचार्य त्रिभुवनचन्द्र को सन १०७२ को कुछ दान मिला था उस का इन लेखों में वर्णन है। अत: इन विद्यानन्द का समय सन ९०० के आसपास होना चाहिए —वे राजमल्ल (द्वितीय) के समकालीन थे। हमारा अनुमान है कि ये विद्यानन्द ही श्लोकवार्तिक आदि के कर्ता थे। प्रस्तुत लेखों में उन्हें मूलसंघ-नंदिसंघ-बळगारगण के आचार्य कहा है तथा माणिक्यनन्दि का उन के गुरुबन्धु के रूप में वर्णन है[2]।

३०. **माणिक्यनन्दि**—अकलंक द्वारा स्थापित प्रमाणशास्त्र को सूत्ररूप मे सरल भाषा मे निबद्ध करने का कार्य माणिक्यनन्दी ने किया। उन का एकमात्र ग्रन्थ परीक्षामुख जैन तार्किकों के लिए आदर्श सिद्ध हुआ है तथा जैन तर्कशास्त्र के प्रारम्भिक विद्यार्थी के लिए उस का अध्ययन अपरिहार्य है। इस ग्रन्थ में ६ उद्देश हैं तथा सब मिला कर २१२ सूत्र हैं। उद्देशों में क्रमश: प्रमाण का लक्षण, प्रत्यक्ष, परोक्ष, प्रमाण का विषय, फल तथा प्रमाणाभास इन विषयों का विवरण है।

विद्यानन्द के गुरुबन्धु तार्किकार्क माणिक्यनन्दी का उल्लेख ऊपर किया है। हमारे मत से वे ही परीक्षामुख के कर्ता हैं। अत: दसवीं सदी का प्रारम्भ यह उन का समय होगा। प्रचलित मान्यता इस से कुछ भिन्न है। नयनन्दी के सुदर्शनचरित मे माणिक्यनन्दी का गुरुरूप

१) राजमल्ल प्रथम तथा द्वितीय के राज्यकाल के लिए देखिए–दि एज ऑफ इम्पीरियल कनौज पृ. १६०, २) इस लेखमे प्रस्तुत विषय से सम्बद्ध पद्य इस प्रकार हैं–परमश्रीजिनशासनक्के मोदलादी मूलसंघं निरन्तरमोप्पुत्तिरे नंदिसंघवेसरिंदादन्वयं पेंपुवेत्तिरे सन्दर बळगारमुख्यगणदोळ् गंगान्वयक्किर्कंतिवरर् गुरुगळ तामेने वर्धमानमुनिनाथर् धरिणीचक्रदोळ ॥ श्रीनाथर् जैनमार्गोत्तमरेनिसि तपःख्यातियं ताळ्दिदर् सज्ज्ञानात्मर् वर्धमानप्रवरर शिष्यर् महावादि विद्यानन्दस्वामिगळ तम्मुनिपतिगनुजर् तार्किकार्काभिधानाधीनर् माणिक्यनंदिव्रतिपतिगळवर् शासनोदात्तहस्तरु ॥ (एपिग्राफिया इण्डिका, भा. १५, पृ. ३४७)

में उल्लेख है। इस का रचनाकाल सं. ११०० = सन १०४३ है। इस के अनुसार माणिक्यनन्दि ग्यारहवी सदी के पूर्वार्ध में धारा नगरी में निवास करते थे तथा प्रभाचन्द्र के साक्षात गुरु थे[1]। इन दो मान्यताओं में कौनसी अधिक उचित है यह प्रश्न अनुसन्धान योग्य है[2]।

प्रभाचन्द्र का प्रमेयकमलमार्तण्ड, अनन्तवीर्य की प्रमेयरत्नमाला, चारुकीर्ति का प्रमेयरत्नालंकार व शान्ति वर्णी को प्रमेयकण्ठिका ये चार टीकाएं परीक्षामुखपर लिखी गई हैं। इन का परिचय आगे यथास्थान दिया है।

[प्रकाशन .— (मूल) १ सनातन ग्रन्थमाला का प्रथम गुच्छक १९०५ व १९२५, काशी; २ हिन्दी व बंगला अनुवाद सहित — पं. गजाधरलाल तथा सुरेंद्रकुमार, सनातन ग्रन्थमाला, १९१६, कलकत्ता; ३ इंग्लिश अनुवाद सहित — शरच्चन्द्र घोषाल, सेक्रेड बुक्स ऑफ दि जैनज्, लखनऊ १९४०; टीकाओं के प्रकाशनों की सूचना आगे यथास्थान दी है।]

३१. **सिद्धर्षि**— सिद्धसेन के न्यायावतार की पहली उपलब्ध टीका सिद्धर्षि की है। न्यायावतार के बाद अकलंक ने परोक्ष प्रमाण के स्मृति आदि पाच भेद स्थिर किये थे। उस के स्थान मे न्यायावतार-प्रणीत अनुमान तथा आगम इन दो भेदों का सिद्धर्षि ने समर्थन किया है। चन्द्रकेवलीचरित्र, उपदेशमालाविवरण तथा उपमितिभवप्रपंचा कथा ये सिद्धर्षि के अन्य ग्रन्थ हैं। उपमितिभवप्रपंचा कथा की रचना सं. ९६२ = सन ९०६ में हुई थी। अतः दसवीं सदी का पूर्वार्ध यह सिद्धर्षि का समय है। वे दुर्गस्वामी के शिष्य थे[3]।

१) आप्तपरीक्षा प्रस्तावना पृ. ~७ में पं. दरबारीलाल। २) प्रभाचन्द्र का समय पहले ९ वीं सदी का पूर्वार्ध माना जाता था अतः माणिक्यनंदि भी उसी समय में माने गये थे। यह मान्यता स्पष्टतः गलत सिद्ध हो चुकी है। ३) प्रभावकचरित में सिद्धर्षि तथा माघ (शिशुपालवध के कर्ता) चचेरे भाई थे ऐसा वर्णन है किन्तु यह स्पष्टतः गलत है। माघ का समय सातवी सदी का उत्तरार्ध सुनिश्चित है अतः वे सिद्धर्षि से दोसौ वर्ष पहले हुए थे।

[न्यायावतारटीका के प्रकाशनों की सूचना पहले सिद्धसेन के परिचय में दी है।]

३२. **अनन्तकीर्ति**— अनन्तकीर्ति के चार ग्रन्थ ज्ञात हैं। इन में दो – लघुसर्वज्ञसिद्धि तथा बृहत्सर्वज्ञसिद्धि प्रकाशित हुए हैं। इन का विस्तार क्रमशः ३०० तथा १००० श्लोकों जितना है तथा दूसरा प्रकरण पहले का ही कुछ विस्तृत स्पष्टीकरण है। इन प्रकरणों में सर्वज्ञ की सिद्धता का यह आधार माना है कि ज्योतिष, निमित्त आदि शास्त्रों का – जो अनुमान से जाने नही जा सकते – किसी ने साक्षात् प्रवर्तन किया है - वही सर्वज्ञ तीर्थंकर हैं। इस के प्रतिपक्ष में कुमारिलभट्ट तथा उन के अनुयायी मीमांसकों ने जो आक्षेप प्रस्तुत किये हैं उन का निरसन लेखक ने किया है तथा वेद की अपौरुषेयता का भी खण्डन किया है।

[प्रकाशन— लघीयस्त्रयादिसंग्रह में – सं. पं. कल्लाप्पा निटवे, माणिकचंद्र ग्रन्थमाला, १९१५, बम्बई]

अनन्तकीर्ति के दो ग्रन्थों के उल्लेख मिलते हैं जो अनुपलब्ध हैं। इन में स्वतःप्रामाण्यभंग का उल्लेख अनन्तवीर्य ने सिद्धिविनिश्चयटीका में किया है[1]। नाम से प्रतीत होता है कि इस में वेद स्वतः प्रमाण हैं इस मीमांसक-मत का खण्डन रहा होगा। दूसरा ग्रन्थ जीवसिद्धि-निबंध है। इस का उल्लेख वादिराज ने किया है[2]। समंतभद्र के जीवसिद्धि नामक ग्रन्थ का पहले उल्लेख किया है। सम्भव है कि अनंतकीर्ति का प्रस्तुत ग्रन्थ उसी की टीका हो[3]। वादिराज तथा अनंतवीर्य द्वारा उल्लेख होने से अनंतकीर्ति का समय दसवीं सदी के उत्तरार्ध से पहले सिद्ध होता है। उन्हों ने विद्यानंद के ग्रन्थों का उपयोग किया है[4]। अतः दसवीं सदी का पूर्वार्ध यह उन का समय निश्चित होता है।

---

१) शेषमुक्तवत् अनन्तकीर्तिकृतेः स्वतःप्रामाण्यभंगादवसेयम् (पृ. २३४)। २) आत्मनैवाद्वितीयेन जीवसिद्धिं निबध्नता। अनन्तकीर्तिना मुक्तिरत्रिमार्गेव लक्ष्यते ॥ पार्श्वचरित १-२४। ३) जैन साहित्य और इतिहास पृ. ४०४ में पं. नाथूराम प्रेमी। ४) सिद्धिविनिश्चयटीका प्रस्तावना पृ. ८५ में पं. महेन्द्रकुमार।

३३ सोमदेव—गौडसंघ के आचार्य नेमिदेव के शिष्य सोमदेव अपने समय के प्रथितयश लेखक थे। कनौज के राजा महेंद्रपाल (द्वितीय) तथा वेमुलवाड के चालुक्य राजा अरिकेसरी द्वारा वे सन्मानित हुए थे। शक ८८१ = सन ९५९ में उन का यशस्तिलकचम्पू पूर्ण हुआ था तथा शक ८८८ = ९६७ में अरिकेसरी ने उन्हें एक दानपत्र दिया था[1]। अतः दसवीं सदी का मध्य यह उन का कार्यकाल था। उन के यशस्तिलक तथा नीतिवाक्यामृत ये दो ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। नीतिवाक्यामृत की प्रशस्ति में उन्हों ने अपने तीन ग्रन्थों का उल्लेख किया है — महेंद्रमातलिसंजल्प, षण्णवतिप्रकरण तथा युक्तिचिन्तामणिस्तव। इन में अंतिम ग्रन्थ के नाम से प्रतीत होता है कि वह तार्किक विषयों से सम्बन्ध होगा। अरिकेसरी ने सोमदेव को जो दानपत्र दिया था उस में उन के एक और ग्रन्थ स्याद्वादोपनिषद् का उल्लेख है। यह ग्रन्थ भी नाम से तर्कविषयक प्रतीत होता है। ये ग्रन्थ अनुपलब्ध होने से उन के विषय में अधिक वर्णन सम्भव नही है।

३४. अनन्तवीर्य—अकलंकदेव के सिद्धिविनिश्चय पर अनन्तवीर्य ने विस्तृत टीका लिखी है। इस का विस्तार १८००० श्लोकों जितना है। अनन्तवीर्य रविभद्र के शिष्य थे तथा द्राविड संघान्तर्गत—नन्दिसघ—अरुंगळ अन्वय के आचार्य थे[2]। उन्होने प्रस्तुत टीका में सोमदेव के यशस्तिलकचम्पू से एक श्लोक उद्धृत किया है अतः उन का समय सन ९५९ के बाद का है। वादिराज ने[3] तथा प्रभाचन्द्र ने अनन्तवीर्य की प्रशंसा की है अतः वे सन १०२५ के पहले हुए हैं। इस तरह उन का समय दसवीं सदी का उत्तरार्ध निश्चित होता है। प्रस्तुत टीका में उन्हों ने मूल ग्रन्थ का विशद स्पष्टीकरण करते हुए

---

१) जैन साहित्य और इतिहास (पृ. १७७)। २) इन के पहले एक और अनन्तवीर्य हुए थे तथा उन्हों ने भी सिद्धिविनिश्चयपर टीका लिखी थी जो प्राप्त नही है। प्रमेयरत्नमाला के कर्ता अनन्तवीर्य इन के कोई एक सदी बाद हुए है। विस्तृत विवरण के लिए देखिए—सिद्धिविनिश्चय टीका की प्रस्तावना पृ. ७५–८९। ३) वन्देयानन्तवीर्याब्दं यद्वागमृतवृष्टिभिः। जगत् जिघत्सन् निर्वाणः शून्यवादहुताशनः॥ पार्श्वचरित १–२३।

विशेष कर बौद्ध पण्डितों के पूर्वपक्ष उद्धृत कर उन का विस्तृत खण्डन किया है। अनन्तवीर्य ने अकलंकदेव के प्रमाणसंग्रह पर भी टीका लिखी थी। किन्तु वह उपलब्ध नही है।

[प्रकाशन–सिद्धिविनिश्चयटीका–सं–पं. महेन्द्रकुमार, भारतीय ज्ञानपीठ, १९५९, बनारस]

३५. अभयदेव—सिद्धसेन के सन्मतिसूत्र की एकमात्र उपलब्ध टीका अभयदेव ने लिखी है। वे चन्द्र कुल के प्रद्युम्नसूरि के शिष्य थे। उन के शिष्य धनेश्वरसूरि परमार राजा मुंज की सभा में सन्मानित हुए थे अतः उन की परम्परा राजगच्छ नाम से प्रसिद्ध हुई। तदनुसार अभयदेव का समय दसवीं सदी का उत्तरार्ध है। वादविवादों में कुशलता के कारण उन्हें तर्कपंचानन यह बिरुद दिया गया था। सन्मति की मूल १६७ गाथाओ पर अभयदेव ने २५००० श्लोकों जितनी टीका लिखी। इस से स्पष्ट ही है कि मूल विषय के अतिरिक्त दार्शनिक वादों से सम्बद्ध सभी विषयो के पूर्वपक्ष तथा उत्तरपक्षों का उन्हों ने विस्तार से संग्रह किया है। उदाहरणार्थ, सन्मति की मंगलाचरणरूप पहली गाथा की टीका में ही प्रामाण्यवाद, वेद की पौरुषेयता, सर्वज्ञ का अस्तित्व, ईश्वर का निरास, आत्मा का आकार तथा मुक्ति का स्वरूप इन विषयों की विस्तृत चर्चा आगई है। इसी प्रकार दूसरी गाथा की टीका में शब्द और अर्थ के सम्बन्ध के विविध वाद संगृहीत हुए हैं। दूसरे काण्ड की पहली गाथा के विवरण में प्रमाण का स्वरूप तथा उस के भेदप्रभेदो की चर्चा मिलती है। अभयदेव ने अपने समय के साम्प्रदायिक विषयों का भी टीका में समावेश किया है। ऐसे स्थल हैं २–१५ की टीका में केवली के कवलाहार का समर्थन, ३–४९ की टीका में ब्राह्मणत्व जाति का विचार तथा ३–६५ की टीका में मुनियों के वस्त्रधारण तथा तीर्थंकरप्रतिमाओ के आभूषणादि का समर्थन। ग्रन्थ के विषयों की इस विविधता के कारण तत्त्वबोधविधायिनी नाम की इस टीका को वादमहार्णव यह नाम भी प्राप्त हुआ है।

[प्रकाशन—सं. पं. सुखलाल तथा बेचरदास, गुजरात पुरातत्त्व मन्दिर, अहमदाबाद, सन १९२३–३० । इस संस्करण में विविध ग्रंथों से दिये हुए तुलनात्मक टिप्पण उल्लेखनीय हैं ।]

३६. **वादिराज**—आचार्य वादिराज द्रविडसंघान्तर्गत नन्दिसंघ अरुंगल अन्वय के प्रमुख आचार्य थे । वे श्रीपालदेव के प्रशिष्य, मतिसागर के शिष्य तथा रूपसिद्धिकर्ता दयापाल के गुरुबन्धु थे । कल्याण के चालुक्य राजा जयसिंह जगदेकमल्ल की सभा में वे सन्मानित हुए थे तथा सिंहपुर नामक ग्राम उन की जागीर में समाविष्ट था । दक्षिण के शिलालेखों में उन की प्रशंसा के अनेक पद्य प्राप्त होते हैं ।

वादिराज के पांच ग्रन्थ प्राप्त हैं तथा एक अनुपलब्ध है । उन का पार्श्वनाथ चरित शक सं. ९४७=सन १०२५ में पूर्ण हुआ था । यशोधर चरित, एकीभावस्तोत्र, न्यायविनिश्चयविवरण व प्रमाणनिर्णय ये उन के अन्य प्रकाशित ग्रन्थ हैं । उन के 'त्रैलोक्यदीपिका' ग्रन्थ का उल्लेख मल्लिषेण प्रशस्ति में मिलता है[1] । इन छह ग्रन्थों में प्रस्तुत विषय की दृष्टि से दो का परिचय आवश्यक है ।

न्यायविनिश्चयविवरण—यह अकलंकदेव के न्यायविनिश्चय की टीका है । लेखक ने इसे 'तात्पर्यविद्योतिनी व्याख्यानरत्नमाला' यह नाम भी दिया है । इस का विस्तार २०००० श्लोकों जितना है तथा यह गद्यपद्य मिश्रित है—पद्यों की संख्या २५०० के आसपास है । मूलग्रन्थ के अनुसार इस टीका के भी तीन भाग हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान तथा प्रवचन । इन विषयों के बारे में विशेषकर प्रज्ञाकर आदि बौद्ध आचार्यों के आक्षेपों का वादिराज ने विस्तार से खण्डन किया है ।

[प्रकाशन—सं. पं. महेन्द्रकुमार, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी १९४९]

प्रमाणनिर्णय—इस ग्रन्थ में प्रमाण, प्रत्यक्ष, परोक्ष व आगम इन चार अध्यायों में प्रमाणस्वरूप का विशद किन्तु संक्षिप्त वर्णन किया है ।

१) जैन शिलालेखसंग्रह भा. १ पृ. १०८–त्रैलोक्यदीपिका वाणी द्वाभ्यामेवोदगादिह । जिनराजत एकस्मादेकस्माद् वादिराजतः ॥

[प्रकाशन–सं. पं. इन्द्रलाल व खूबचन्द्र, माणिकचंद्र ग्रंथमाला, बम्बई, १९१७][1]

३७. प्रभाचन्द्र—श्रवणबेलगोल के दो लेखों में[2] मूलसंघ–देशी गण के आचार्य रूप में प्रभाचन्द्र का वर्णन मिलता है। एक लेख में उन्हें पद्मनन्दि का शिष्य तथा कुलभूषण आदि का गुरुबन्धु कहा गया है तथा दूसरे में उन के गुरु का नाम वृषभनन्दि चतुर्मुखदेव एवं गुरुबन्धुओं के नाम गोपनन्दि आदि दिये हैं। बाद में प्रभाचन्द्र धारा नगरी में निवास करने लगे। वहा उन के गुरु माणिक्यनन्दि तथा गुरुबन्धु नयनन्दि थे। उन के दो ग्रन्थों—प्रमेयकमलमार्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्र की रचना धारा के परमार राजा भोज तथा उन के पुत्र जयसिंह के राज्यकाल में हुई थी। अतः ग्यारहवीं सदी का मध्य यह उन का कार्यकाल है। उन के अन्य ग्रन्थों में गद्य कथाकोष, सर्वार्थसिद्धिटिप्पन, महापुराणटिप्पन तथा शब्दाम्भोजभास्कर (जैनेन्द्रव्याकरण-न्यास) प्रमुख हैं[3]।

प्रभाचन्द्र का प्रमेयकमलमार्तण्ड १२००० श्लोकों जितना विस्तृत है। यह माणिक्यनन्दि के परीक्षामुख की टीका है। मूल ग्रन्थ के छह उद्देशों के विषयविवेचन के बाद प्रभाचन्द्र ने नय तथा वाद इन दो विषयों के विस्तृत परिशिष्ट लिखे हैं और इस प्रकार माणिक्यनन्दि के अन्तिम सूत्र–सम्भवदन्यद् विचारणीयम्–का हेतु पूर्ण किया है। इस के अतिरिक्त मूल ग्रन्थ के विवेचन में यथास्थान सर्वज्ञवाद, ईश्वरवाद, जीवास्तित्ववाद, वेदप्रामाण्यवाद आदि का भी उन्हों ने विस्तृत पर्यालोचन किया है।

---

१) वादिराज के विषय में पं. प्रेमी ने ' जैन साहित्य और इतिहास' में विस्तृत निबन्ध लिखा है (पृ. २९१)। २) जैन शिलालेख संग्रह भा. १ पृ. २६ तथा ११८। ३) चन्द्रोदय के कर्ता प्रभाचन्द्र इन से कोई तीनसौ वर्ष पहले हुए हैं यह पहले बताया है। रत्नकरण्ड, समाधितन्त्र तथा आत्मानुशासन की टीकाएं जिन्हों ने लिखी हैं वे प्रभाचन्द्र तेरहवीं सदी के प्रारम्भ में हुए हैं। (विस्तार के लिए देखिए–पं. कैलाशचंद्र लिखित न्यायकुमुदचन्द्र की प्रस्तावना तथा जीवराजग्रन्थमाला में प्रकाशित आत्मानुशासन की प्रस्तावना।)

[प्रकाशन--१ स. पं. वंशीधर, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई १९१२; २ सं. प. महेन्द्रकुमार, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९४१]

न्यायकुमुदचन्द्र अकलंकदेव के लघीयस्त्रय की टीका है तथा इस का विस्तार १६००० श्लोकों जितना है। मूल ग्रन्थ परीक्षामुख के समान ही प्रमाण विषयक है किन्तु टीका में प्रभाचन्द्र ने प्रमेय विषयों का भी विस्तृत विचार किया है। सन्मतिटीका में अभयदेव ने स्त्रीमुक्ति के विषय में श्वेताम्बर पक्ष प्रस्तुत किया था उस का उत्तर प्रभाचंद्र ने इस ग्रन्थ में दिया है। साथ ही ब्राह्मणत्व जाति आदि के खण्डन में वे अभयदेव के विचारों का समर्थन भी करते हैं। प्रभाचन्द्र के दोनों ग्रंथों की विशेषता यह है कि उन में उच्चतम वादविषयों की चर्चा में भी भाषा की क्लिष्टता नहीं है। अपनी प्रसन्न- गम्भीर भाषाशैली के कारण ये ग्रन्थ जैनन्याय के अत्युत्तम ग्रन्थों में गिने जाते हैं।

[प्रकाशन-सं. पं. कैलाशचंद्र तथा महेंद्रकुमार, माणिकचंद्र ग्रंथ-माला, बम्बई, १९३८-४१]

३८. देवसेन— देवसेन धारा नगरी के निवासी थे तथा विमल-सेन आचार्य के शिष्य थे। उन का समय दर्शनसार के अनुसार सं. ९९० के आसपास का है। पहले हमने बताया है कि देवसेन के संवत्-उल्लेख शकवर्ष के होना अधिक सम्भव है[1]। अतः उन का समय शक ९९० = सन १०६८ के आसपास – ग्यारहवीं सदी का मध्य समझना चाहिए। उन के छह ग्रन्थों मे दो नयविषयक हैं। इन में एक नयचक्र ८७ गाथाओं का प्राकृत प्रकरण है। इस में द्रव्यार्थिक तथा पर्यायार्थिक इन दो मूलनयों के सद्भूत, असद्भूत, उपचरित, अनुपचरित आदि उपनयों का उदाहरणसहित वर्णन किया है।

[प्रकाशन— नयचक्रादिसंग्रह – सं. पं. वंशीधर, माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई, १९२०]

---

१) देवनन्दि पूज्यपाद के विषय मे ऊपर दिया हुआ विवरण देखिए।

दूसरा ग्रन्थ आलापपद्धति संस्कृत गद्य में है तथा इस का विस्तार २५० श्लोकों जितना है। यह नयचक्र का ही प्रश्नोत्तररूप स्पष्टीकरण है। द्रव्यों के गुणों तथा पर्यायों का विवरण इस में अधिक है।

[प्रकाशन— १ दि. जैन ग्रंथभंडार काशी का प्रथम गुच्छक — पन्नालाल चौधरी, बनारस १९२५; २ नयचक्रादिसंग्रह में — सं. पं. वंशीधर, माणिकचन्द्र ग्रंथमाला, बम्बई १९२०]

दर्शनसार, आराधनासार, तत्त्वसार तथा भावसंग्रह ये देवसेन के अन्य ग्रंथ हैं।

३९. माइल्ल धवल— देवसेन के नयचक्र को कुछ विस्तृत रूप दे कर माइल्ल धवल — जो सम्भवतः देवसेन के शिष्य थे[1] — ने 'द्रव्य-स्वभाव प्रकाश नयचक्र' की रचना की। इसे बृहत्‌नयचक्र भी कहा जाता है। यह ग्रन्थ पहले दोहा छंद में लिखा गया था, फिर शुभंकर नामक सज्जन के इस अभिप्राय पर कि यह विषय दोहों में अच्छा नही लगता — इस की ४५३ गाथाओं में रचना की गई[2]।

[प्रकाशन— नयचक्रादिसंग्रह — सं. पं. वंशीधर, माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई, १९२०]

४०. जिनेश्वर— ये चन्द्रकुल की वज्रशाखा के आचार्य वर्धमान के शिष्य थे। ये मध्यदेश के निवासी कृष्ण ब्राह्मण के पुत्र थे तथा इन का मूल नाम श्रीधर था। इन के बन्धु श्रीपति भी मुनिदीक्षा लेकर बुद्धिसागर आचार्य के नाम से विख्यात हुए थे। अणहिलपुर में दुर्लभराज की सभा में चैत्यवासी मुनियों से शास्त्रार्थ कर के जिनेश्वर ने विधिमार्ग का प्रसार किया। यही परम्परा बाद में खरतर गच्छ के नाम से प्रसिद्ध हुई। जिनचन्द्र तथा अभयदेव ये जिनेश्वर के प्रधान शिष्य थे।

---

१) दुसमीरपोयमिवायपताण (?) सिरिदेवसेणजोईण। तेसिं पायपसाए उवलद्धं समणतच्चेण ॥ इस की प्रतियों में 'माइल्लधवलेण' शब्द पर 'देवसेनशिष्येण' यह टिप्पणी मिली है (जैन साहित्य और इतिहास पृ. १७३)। २) सुणिऊण दोहरत्थं सिग्घं हसिऊण सुहंकरो भणइ। एत्थ ण सोहइ अत्थो गाहाबंधेण तं भणउ ॥ दव्वसहावपयासं दोहयबंधेण आसि जं दिट्ठं। तं गाहाबंधेण य रइय माइल्लधवलेण ॥

उस समय श्वेताम्बर सम्प्रदाय के किसी आचार्य का प्रमाणशास्त्र-विषयक वार्तिक ग्रन्थ प्राप्त नही था – इस आक्षेप को दूर करने लिये जिनेश्वर ने प्रमालक्ष्म नामक ग्रंथ लिखा। इस में न्यायावतार के प्रथम श्लोक को आधार मानकर वार्तिक रूप में ४०५ श्लोक लिखे हैं और उन की गद्य वृत्ति कोई ४००० श्लोकों जितनी है। प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द इन प्रमाणों का स्वरूप वर्णन कर उपमानादि अन्य प्रमाणो का इन्हीं में अन्तर्भाव होना है यह ग्रंथकर्ता ने स्पष्ट किया है।

[प्रकाशन— तत्त्वविवेचक सभा, अहमदाबाद]

जिनेश्वर के अन्य ग्रंथ ये हैं –अष्टकप्रकरणवृत्ति (सं. १०८०), चैत्यवन्दनविवरण (सं. १०९६), षट्स्थानक प्रकरण, पंचलिंगी प्रकरण, निर्वाणलीलावती कथा तथा कथानककोश (कथाकोश प्रकरण) (सं. ११०८)। इन से उन की ज्ञात तिथिया सन १०२४ से १०५२ तक निश्चित होती हैं।

४१. **शान्तिसूरि**—पूर्णतलगच्छ के आचार्य वर्धमान के शिष्य शान्तिसूरि ने भी न्यायावतार पर वार्तिक तथा वृत्ति की रचना की है। वार्तिक की पद्यसंख्या ५७ है। उस की वृत्ति गद्य में है तथा उस का परिमाण २८७३ श्लोकों जितना है। वृत्ति को विचारकलिका यह नाम दिया है। ग्रन्थ के चार परिच्छेद हैं तथा उन में क्रमशः प्रमाण का लक्षण, प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आगम इन विषयों का विचार किया गया है। शान्तिसूरि ने अनन्तकीर्ति, अनन्तवीर्य तथा अभयदेव की कृतियो का उपयोग किया है और उन का ग्रन्थ देवसूरि, देवभद्र तथा चन्द्रसेन के सन्मुख था। अतः उन का समय ११ वीं सदी का मध्य निश्चित होता है– वे प्रायः जिनेश्वर के समकालीन थे। सर्वज्ञवादटीका यह उन की दूसरी तार्किक कृति अनुपलब्ध है। उन की अन्य कृतियों मे वृन्दावन, घटकर्पर, मेघाभ्युदय, शिवभद्र तथा चन्द्रदूत इन पाच काव्यो की टीकाएं तथा तिलकमंजरी का टिप्पण इन का समावेश होता है।

[प्रकाशन–१ जैनतर्कवार्तिक, पंडित पत्र, काशी १९१७, (मूलमात्र); २ न्यायावतारवार्तिकवृत्ति, सं. पं. दलसुख मालवणिया, टिप्पणादि सहित, सिंधी ग्रंथमाला, बम्बई, १९४९]

४२. **अनन्तवीर्य** (द्वितीय)— इन्हों ने माणिक्यनन्दि के परीक्षामुख पर प्रमेयरत्नमाला नामक टीका लिखी है। वैजेय के पुत्र हीरप के अनुरोध पर शांतिषेण के लिए इस टीका का निर्माण हुआ। अनन्तवीर्य ने प्रभाचन्द्र का स्मरण किया है[1]। तथा उन की कृति का उपयोग हेमचन्द्र ने किया है। अतः ग्यारहवीं सदी का अन्तिम चरण उन का कार्यकाल निश्चित होता है। प्रमेयरत्नमाला पर अजितसेन की न्यायमणिदीपिका तथा चारुकीर्ति की अर्थप्रकाशिका ये दो टीकाएं उपलब्ध हैं। इन का परिचय आगे दिया है।

[प्रकाशन—१ सं. सतीशचंद्र विद्याभूषण, बिब्लॉथिका इण्डिका, १९०९, कलकत्ता; २ सं. पं. फूलचन्द्र, विद्याविलास प्रेस, १९२८, काशी; ३ आधारित मराठी अनुवाद – पं. जिनदासशास्त्री फडकुले, लक्ष्मीसेन ग्रन्थमाला, १९३७, कोल्हापूर; ४ पं. जयचन्द्रकृत हिंदी वचनिका, अनंतकीर्ति ग्रन्थमाला, बम्बई]

४३. **चन्द्रप्रभ**— इन्हों ने श्वेतांबर परम्परा के पौर्णमिक गच्छ की स्थापना सं. ११४९ = सन १०९२ में की थी। अतः ग्यारहवीं सदी का अन्तिम चरण यह उन का कार्यकाल निश्चित है। दर्शनबुद्धि तथा प्रमेयरत्नकोष ये इन के दो ग्रन्थ हैं। प्रमेयरत्नकोष का विस्तार १६८० श्लोकों जितना है। इस में २३ प्रकरण हैं तथा सर्वज्ञसिद्धि आदि विविध वादविषयों की चर्चा उन में की है।

[प्रकाशन— सं. एल्. सुआली, जैनधर्मप्रसारकसभा, भावनगर, १९१२]

४४. **मुनिचन्द्र**—बृहद्गच्छ के आचार्य मुनिचंद्र ने हरिभद्रकृत अनेकान्तजयपताका पर उद्योत नामक टिप्पन लिखे हैं। इस रचना का विस्तार २००० श्लोकों जितना है। इस की रचना में उन के शिष्य रामचन्द्र गणी ने उन की सहायता की थी[2]। मुनिचन्द्र की ज्ञात तिथियां सन १११२–१११८ तक हैं। वे देवसूरि के गुरु थे। उन की अन्य

१) प्रभेन्दुवचनोदारचन्द्रिकाप्रसरे सति। मादृशाः क्व नु गण्यन्ते ज्योतिरिंगणसंनिभाः॥ २) प्रकाशनो की सूचना हरिभद्र के परिचय मे दी है।

कृतियां इस प्रकार हैं – अंगुलसप्तति, वनस्पतिसप्तति, गाथाकोष, अनुशासनाकुश, उपदेशामृत, प्राभातिकस्तुति, मोक्षोपदेशपंचाशिका, रत्नत्रयकुलक, शोकहर उपदेश, सम्यक्त्वोत्पादविधि, सामान्यगुणोपदेश, हितोपदेश, कालशतक, मडलविचार, द्वादशवर्ग। उन्हो ने निम्नलिखित ग्रन्थों पर टिप्पण लिखे हैं – सूक्ष्मार्थसार्धशतक, सूक्ष्मार्थविचारसार, आवश्यकसप्तति, कर्मप्रकृति, नैषधकाव्य, देवेन्द्रनरेन्द्रप्रकरण, उपदेशपद, ललितविस्तरा, धर्मबिंदु।

४५. **श्रीचन्द्र**—इन का दीक्षासमय का नाम पार्श्वदेव गणी था। आचार्य होनेपर वे श्रीचन्द्र नाम से सम्बोधित होने लगे। वे धनेश्वर के शिष्य थे। उन की ज्ञात तिथिया सन १११३ से ११७२ तक हैं। दिङ्नाग के न्यायप्रवेश पर हरिभद्र ने जो टीका लिखी थी उस पर श्रीचन्द्र ने स. ११६९ = सन १११३ में टिप्पण लिखे हैं[1]। श्रीचन्द्र ने दूसरे जिन ग्रन्थों पर टीका या टिप्पन लिखे हैं उन के नाम इस प्रकार हैं – निशीथचूर्णि, श्रावकप्रतिक्रमण, नन्दीटीका, सुखबोधासामाचारी, जीतकल्पचूर्णि, निरयावली, चैत्यवंदन, सर्वसिद्धान्त, उपसर्गहरस्तोत्र।

४६. **देवसूरि**—ये बृहद्गच्छ के मुनिचन्द्रसूरि के पट्टशिष्य थे। इन का जन्म सन १०८७ में, मुनिदीक्षा सन १०९६ में, आचार्यपदप्राप्ति सन १११८ में तथा मृत्यु सन ११७० में हुई थी। गुजरात के राजा सिद्धराज तथा कुमारपाल की सभा में इन का अच्छा सम्मान था। दक्षिण के दिगम्बर विद्वान कुमुदचन्द्र से इन के वाद की कहानी प्रसिद्ध है। वाद में कुशलता के कारण वादी देव यह उन का नाम रूढ हुआ था।

प्रमाणनयतत्त्वालोक तथा उस की स्वकृत स्याद्वादरत्नाकर नामक टीका यह देवसूरि की प्रसिद्ध कृति है। इस का विस्तार ३६००० श्लोकों जितना था किन्तु वर्तमान समय में इस का २०००० श्लोकों जितना भाग उपलब्ध हुआ है। माणिक्यनन्दि के परीक्षामुख के छह

१) प्रकाशन की सूचना हरिभद्र के परिचय में दी है।

उद्देश तथा उसकी टीका में प्रभाचन्द्र ने लिखे हुए नय और वाद प्रकरण-इन को परिवर्धित कर वादी देव ने अपना ग्रन्थ लिखा है। साथ ही प्रभाचन्द्र की कृति में न आए हुए अन्य दर्शनों के मन्तव्यों का खण्डन भी उन्हों ने प्रस्तुत किया है।

[प्रकाशन — १ मूल तथा रत्नाकरावतारिका – यशोविजय ग्रन्थमाला, काशी, १९०४; २ स्याद्वादरत्नाकर – आर्हत प्रभाकर कार्यालय, पूना १९२६-३०]

४७. **हेमचन्द्र**—पूर्णतलगच्छ के देवचन्द्रसूरि के शिष्य हेमचंद्र प्राय: वादीदेव के समकालीन थे – उन का जन्म सन १०८९ में, दीक्षा १०९८ में, आचार्यपद १११० में तथा मृत्यु ११७३ में हुई थी। सिद्धराज तथा कुमारपाल की सभा के वे प्रमुख विद्वान थे। उन्हों ने विविध विषयो पर विपुल ग्रन्थरचना की है।

हेमचन्द्र का तर्कविषयक ग्रन्थ प्रमाणमीमांसा अपूर्ण है। इस के उपलब्ध भाग में दो अध्याय तथा कुल १०० सूत्र हैं। इस पर आचार्य की स्वकृत टीका भी है। जैन प्रमाणशास्त्र का संक्षिप्त और विशद संकलन इस में प्राप्त होता है।

[प्रकाशन– १ आर्हतप्रभाकर कार्यालय, पूना, १९२५; २ सं. पं. सुखलाल, सिंघी ग्रंथमाला, बम्बई, १९३९; ३ इंग्लिश अनुवाद-सत्कारि मुकर्जी, भारती जैन परिषद, कलकत्ता, १९४६]

अयोगव्यवच्छेदिका तथा अन्ययोगव्यवच्छेदिका ये दो स्तुतियां हेमचंद्र ने लिखी हैं। पहली में महावीर के सर्वज्ञ होने का समर्थन है तथा दूसरी में अन्य कोई सम्प्रदायप्रवर्तक सर्वज्ञ नही हो सकते यह बतलाया है। दोनों में ३२ श्लोक हैं। दूसरी स्तुति पर मल्लिषेण ने स्याद्वादमंजरी नामक टीका लिखी है। इस का परिचय आगे दिया है।

हेमचन्द्र की अन्य रचनाएं इस प्रकार हैं– सिद्धहेमशब्दानुशासन, अभिधानचिंतामणि, अनेकार्थसंग्रह, निघण्टुशेष, देशीनाममाला, काव्यानुशासन, छन्दोनुशासन, द्व्याश्रयकाव्य, त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, योगशास्त्र, वीतरागस्तोत्र, महादेवस्तोत्र तथा कुछ अन्य स्तुतियां। इन में कई ग्रंथों पर उन्हों ने स्वयं टीकाएं लिखी हैं।

४८. **देवभद्र**— ये मलधारी श्रीचन्द्रसूरि के शिष्य थे। इन्हों ने न्यायावतार की सिद्धर्षिकृत टीका पर २९५३ श्लोकों जितने विस्तार के टिप्पण लिखे हैं[1]। श्रीचन्द्रकृत संग्रहर्णीरत्न की वृत्ति यह इन की दूसरी रचना है। श्रीचन्द्र की ज्ञात तिथि सं. ११९३ = ११३७ (मुनिसुव्रतचरित्र का रचनाकाल) है। अतः उन के शिष्य देवभद्र का समय बारहवीं सदी का पूर्वार्ध निश्चित है।

४९. **यशोदेव**— ये देवभद्र के समकालीन तथा सहकारी लेखक थे। प्रमाणान्तर्भाव अथवा प्रत्यक्षानुमानाधिकप्रमाणनिराकरण यह इन दोनों की कृति है। मीमांसक और बौद्धों के प्रमाण संबंधी मतों का इस में परीक्षण है। इस का एक हस्तलिखित सं. ११९४ = ११३८ में लिखा हुआ है। इस का एक अंश अपौरुषेयवेदनिराकरण स्वतंत्र रूप से भी मिलता है।

५०. **चन्द्रसेन**— ये प्रद्युम्नसूरि तथा हेमचन्द्र के शिष्य थे। इन का ग्रन्थ उत्पादादिसिद्धि सं. १२०७ = ११५० में पूर्ण हुआ था। प्रत्येक द्रव्य में उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्य ये तीनों प्रक्रियाएं कसे होती हैं इस का चन्द्रसेन ने विस्तार से समर्थन किया है। इस पर उन ने स्वयं टीका भी लिखी है।

[प्रकाशन—ऋषभदेव केसरीमल प्रकाशन संस्था, रतलाम]

५१. **रामचन्द्र**—हेमचन्द्र के शिष्यवर्ग में रामचन्द्र का विशिष्ट स्थान था। राजा कुमारपाल के देहावसान के बाद गुजरात में धार्मिक द्वेष के फलस्वरूप जैनों की बहुत हानि हुई– रामचन्द्र की मृत्यु भी उसी द्वेष के कारण हुई थी। उन का तर्क विषयक ग्रन्थ द्रव्यालकार ४०० श्लोकों जितने विस्तार का है तथा अभी अप्रकाशित है। द्रव्यों के स्वरूप के विषय में इस में चर्चा होगी ऐसा नाम से प्रतीत होता है। रामचन्द्र के अन्य ग्रन्थ ये हैं– सिद्धहेमव्याकरणन्यास, नाटयदर्पण, सत्यहरिश्चन्द्र, निर्भयमीमव्यायोग, राघवाभ्युदय, यदुविलास, नलविलास,

१) प्रकाशन की सूचना सिद्धसेन के परिचय में देखिए।

मल्लिकामकरन्द, कौमुदीमित्रानन्द, रोहिणीमृगांक, वनमाला, सुधाकलशकोश, कुमारविहारशतक, प्रासादद्वात्रिंशिका, युगादिदेवद्वात्रिंशिका, मुनिसुव्रतद्वात्रिंशिका, और कुछ अन्य स्तुतिया।

५२. रत्नप्रभ—ये वादी देव के शिष्य थे। गुरु के विशाल ग्रन्थ स्याद्वादरत्नाकर का अध्ययन सुलभ हो इस हेतु से इन्हों ने रत्नाकरावतारिका नामक ग्रन्थ लिखा। इस का विस्तार ५००० श्लोकों जितना है। इस पर राजशेखर की पंजिका तथा ज्ञानचन्द्र के टिप्पण ये दो विवरण लिखे गये हैं। इन का परिचय आगे दिया है। नेमिनाथचरित्र (सं. १२२३ = सन ११६७) तथा उपदेशमालावृत्ति ये रत्नप्रभ के अन्य ग्रंथ हैं।

[प्रकाशन— प्रमाणनयतत्त्वालोक के साथ-यशोविजय ग्रन्थमाला, काशी, १९०४]

५३. देवभद्र (द्वितीय)— ये अजितसिंह के शिष्य थे। इन के शिष्य सिद्धसेन की ज्ञात तिथि (प्रवचनसारोद्धारटीका का रचनाकाल) सं. १२४८ = सन ११९२ है। अतः इन का समय बारहवीं सदी का उत्तरार्ध प्रतीत होता है। इन के दो ग्रन्थ ज्ञात है – श्रेयांसचरित्र तथा प्रमाणप्रकाश। इन में से दूसरा ग्रन्थ प्रमाणविषयक होगा ऐसा नाम से प्रतीत होता है। इस का प्रकाशन नही हुआ है।

५४. परमानन्द—ये वादी देव के प्रशिष्य तथा भद्रसूरि के शिष्य थे। इन्हों ने कई विषयों पर द्वात्रिंशिकाए– ३२ श्लोकों के प्रकरण लिखे हैं। इन में वाद, ईशानुग्रहविचार, कुतर्कग्रहनिवृत्ति आदि प्रकरण तर्कविषयक प्रतीत होते है। खंडन मंडन टिप्पण यह इन का ग्रन्थ ८५० श्लोकों जितने विस्तार का है। इस का भी प्रकाशन नही हुआ है। वादी देव के प्रशिष्य होने के कारण परमानन्द का समय बारहवीं सदी का उत्तरार्ध प्रतीत होता है।

५५. महासेन—इन की दो कृतिया ज्ञात हैं – प्रमाणनिर्णय तथा स्वरूपसंबोधन। प्रमाणनिर्णय अप्रकाशित है। स्वरूपसंबोधन २५ श्लोकों की छोटीसी रचना है तथा इस में आत्मा के स्वरूप का संक्षेप में

विचार किया है। इस का एक श्लोक विमलदास ने अकलंकदेव के नाम से उद्धृत किया है इस लिए इस ग्रन्थ को पहले अकलंककृत समझा गया था। इस पर केशवाचार्य तथा शुभचन्द्र ने वृत्तियां लिखी हैं जो अभी अप्रकाशित हैं। महासेन का उल्लेख ९६ वादियों के विजेता के रूप में पद्मप्रभ की नियमसार टीका मे मिलता है। पद्मप्रभ का मृत्युवर्ष सन ११८६ सुनिश्चित है। अत: महासेन का समय बारहवीं का सदी मध्य या उस से कुछ पहले प्रतीत होता है[1]।

[प्रकाशन---१ लघीयस्त्रयादिसंग्रह में-सं. पं. कल्लाप्पा निटवे, माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, १९१६, बम्बई; २ शान्तिसोपान नामक संग्रह में-अनुवादक ज्ञानानन्द, अहिंसा ग्रंथमाला, १९२१ काशी]

५६. **अजितसेन**---इन्हो ने परीक्षामुख की टीका प्रमेयरत्नमाला पर न्यायमणिदीपिका नामक टीका लिखी है[2]। दक्षिण के शिलालेखों में बारहवीं सदी के प्रारम्भ के अजितसेन नामक आचार्य का कई बार उल्लेख मिलता है[3]। प्रस्तुत ग्रन्थ के कर्ता वे ही हैं या उन के बाद के कोई अन्य आचार्य हैं यह विषय विचारणीय है।

५७. **चारुकीर्ति**---इन के दो ग्रन्थों का परिचय मिलता है। एक परीक्षामुख को प्रमेयरत्नालंकार नामक टीका[4] तथा दूसरी प्रमेयरत्नमाला की अर्थप्रकाशिका टीका। पहली टीका के प्रारम्भ तथा अन्त में उन्हों ने अपने लिए पण्डिताचार्य उपाधि का प्रयोग किया है तथा वे श्रवण-बेळगोळ के देशी गण के मठाधीश थे यह भी बतलाया है। इस मठ में बारहवीं सदी से जो मठाधीश हुए हैं उब सब को चारुकीर्ति यह

१) एनल्स ऑफ दि भांडारकर ओरिएन्टल रिसर्च इन्स्टिट्यूट भा. १३, पृ. ८८ में डॉ. उपाध्ये का लेख इस विषय में द्रष्टव्य है। २) जैन सिद्धान्त भवन, आरा का प्रशस्तिसंग्रह पृष्ठ १-३। ३) जैन शिलालेख संग्रह भा. ३ लेख क्रमांक ३०५, ३१९, ३२६, ३४७ आदि। ४) जैन सिद्धान्त भवन, आरा, प्रशस्तिसंग्रह (पृ. ६८-७१) में इस टीका का नाम प्रमेयरत्नमालालंकार बताया है किन्तु इसी प्रशस्ति में स्पष्ट रूप से पद्य ५ मे ग्रन्थ का नाम प्रमेयरत्नालंकार बताया है-यह अनन्तवीर्य की प्रमेयरत्नमाला की टीका नही-परीक्षामुख की ही टीका है।

नाम दिया जाता है। अतः किस ग्रन्थ के कर्ता कौन से चारुकीर्ति हैं तथा उन का समय क्या है यह निश्चित करना कठिन है। प्रस्तुत दोनों टीकाएं अप्रकाशित हैं।

५८. अभयचन्द्र—अकलंकदेव के लघीयस्त्रय के मूल श्लोकों पर अभयचन्द्र का स्याद्वादभूषण नामक टीका प्रकाशित हो चुकी है[1]। अभयचन्द्र ने अपना विशेष परिचय नही दिया है। केवल इतना निश्चित है कि वे प्रभाचन्द्र के बाद हुए हैं। तेरहवीं सदी में विद्यमान आचार्य बालचन्द्र (समयसार आदि के कन्नड टीकाकार) के गुरु का नाम अभयचन्द्र था तथा उन के एक शिष्य भी इसी नाम के थे[2]। स्याद्वाद-भूषण के कर्ता इन मे से कोई थे अथवा इन के बाद के कोई आचार्य थे यह निश्चित करना कठिन है।

५९. आशाधर—तेरहवीं सदी के पूर्वार्ध में आशाधर ने विविध विषयों पर ग्रन्थरचना की। बघेरवाल जाति के श्रेष्ठी सल्लक्षण उन के पिता थे। उन का जन्म मांडलगढ में तथा विद्याध्ययन धारा में हुआ था। नलकच्छपुर(नालछा) में उन्हों ने लेखनकार्य किया। मालवा के अर्जुनवर्मा आदि राजाओं तथा बिल्हण, मदनकीर्ति आदि पण्डितों द्वारा वे सन्मानित हुए थे। उन की ज्ञात तिथिया सन १२२८ से १२४३ तक हैं।

आशाधर ने अनगारधर्मामृत की प्रशस्ति में अपने प्रमेयरत्नाकर नामक ग्रन्थ का वर्णन इस प्रकार किया है (श्लोक १०) —

स्याद्वादविद्याविशदप्रसादः प्रमेयरत्नाकरनामधेयः।
तर्कप्रबन्धो निरवद्यपद्यपीयूषपूरो वहति स्म यस्मात् ॥

इस में इस ग्रन्थ को स्याद्वाद विद्या का विशद प्रसाद तथा निर्दोष पद्यों का अमृततुल्य प्रवाहरूप तर्कप्रबन्ध कहा है। दुर्भाग्य से यह ग्रन्थ अभी उपलब्ध नही हुआ है।

---

१) प्रकाशसूचना अकलंक के परिचय मे दी है। २) जैन शिलालेख संग्रह भा. ३ लेखांक ५२४ ।

आशाधर के अन्य ग्रन्थ इस प्रकार हैं- जिनयज्ञकल्प (सं. १२८५), त्रिषष्टिस्मृतिशास्त्र (सं. १२९२), सागारधर्मामृत तथा उस की टीका (सं, १२९६), अनगारधर्मामृत तथा उस की टीका (सं. १३००), अध्यात्मरहस्य, सहस्रनामस्तोत्र, आराधनाटीका, इष्टोपदेशटीका, क्रियाकलापटीका, अष्टांगहृदयटीका, रुद्रटालंकारटीका, भूपालस्तोत्रटीका, अमरकोशटीका, नित्यमहोद्योत, राजीमतीविप्रलम्भ तथा भरतेश्वराभ्युदय[1]।

६०. **समन्तभद्र** (द्वितीय)- विद्यानन्द की अष्टसहस्री के कठिन शब्दों पर समन्तभद्र ने टिप्पण लिखे हैं। अष्टसहस्री की एकमात्र मुद्रित आवृति में ये टिप्पण अंशतः प्रकाशित हुए हैं। सम्पादक के कथनानुसार ये टिप्पण अशुद्ध, पुनरुक्तिपूर्ण तथा कहीं कहीं अनुपयोगी थे। अतः उन में से कुछ को छोडकर सम्पादक ने स्वयं कुछ नये टिप्पण लिखे हैं। इसलिए टिप्पणकर्ता के समय आदि का निर्णय करना कठिन है। पं. महेन्द्रकुमार ने इन का समय तेरहवीं सदी अनुमान किया है[2]।

६१. **भावसेन**—मूलसघ-सेनगण के आचार्य भावसेन त्रैविद्य का विस्तृत परिचय पहले दिया ही है। तेरहवीं सदी के उत्तरार्ध में उन्हों ने कई ग्रन्थ लिखे। कातन्त्ररूपमाला तथा शाकटायनव्याकरण टीका इन दो व्याकरण ग्रन्थों के अतिरिक्त उन्हों ने आठ तर्कविषयक ग्रन्थ भी लिखे। इन के नाम इस प्रकार हैं–प्रस्तुत ग्रन्थ विश्वतत्त्वप्रकाश, प्रमाप्रमेय, सिद्धान्तसार, कथाविचार, न्यायदीपिका, न्यायसूर्यावली, भुक्तिमुक्तिविचार तथा सप्तपदार्थीटीका। इन का परिचय भी पहले दिया है।

६२. **नरचन्द्र**—ये देवप्रभ के शिष्य थे। वैशेषिक दर्शन के विद्वान् श्रीधर की प्रसिद्ध रचना न्यायकन्दली पर इन्हों ने २५०० श्लोकों

---

१) आशाधर के विषय मे प. नाथूराम प्रेमी ने 'जैन साहित्य और इतिहास' मे विस्तृत निबन्ध लिखा है (पृ ३४२-७८)। २) चन्दाबाइ अभिनन्दन ग्रन्थ में 'जैन दार्शनिक साहित्य की पृष्ठभूमि' यह लेख (पृ. १७७) द्रष्टव्य है। मूडबिदुरे के एक आचार्य समन्तभद्र सन १४४५ में विद्यमान थे (पहले प्रस्तुत ग्रन्थ की हस्तलिखित प्रति का विवरण दिया है वह देखिए)। कारजा के सेनगण के एक भट्टारक समन्तभद्र सत्रहवीं सदी में हुए थे (भट्टारक सम्प्रदाय पृ. ३३)।

जितने विस्तार की टीका लिखी है। उन के अन्य ग्रन्थ ये हैं – कथारत्नसागर, प्राकृतदीपिकाप्रबोध, अनर्घराघवटिप्पन, ज्योतिःसार, तथा चतुर्विंशतिजिनस्तुति। देवप्रभ के समयानुसार नरचन्द्र का समय भी तेरहवीं सदी में निश्चित है।

६३. **अभयतिलक**—ये जिनेश्वर के शिष्य थे। न्याय दर्शन के पांच प्रमाणभूत ग्रन्थों–न्यायसूत्र पर वात्स्यायन का भाष्य, उद्योतकर का वार्तिक, वाचस्पति की तात्पर्य टीका, उदयन की तात्पर्यपरिशुद्धि टीका तथा श्रीकण्ठ का न्यायालंकार– पर इन्हों ने ५३००० श्लोकों जितने विस्तार की 'पंचप्रस्थन्यायतर्कव्याख्या' लिखी है। हेमचन्द्र के द्व्याश्रय का वृति यह उन की दूसरी कृति है। जिनेश्वर के समयानुसार अभयतिलक का समय भी तेरहवीं सदी का उत्तरार्ध सुनिश्चित है।

६४. **मल्लिषेण**—नागेन्द्रगच्छ के आचार्य उदयप्रभसूरि के शिष्य मल्लिषेण ने हेमचन्द्रकृत अन्ययोगव्यवच्छेद द्वात्रिंशिका पर स्याद्वादमंजरी नामक विस्तृत टीका लिखी है। यह टीका शक १२१४ (=सन १२९३) की दीपावली को पूर्ण हुई थी तथा इस में जिनप्रभसूरि ने लेखक की सहायता की थी। इस का विस्तार ३००० श्लोकों जितना है। मूल स्तुति का विषय भगवान् महावीर को यथार्थवादी तथा अन्य दार्शनिकों को अयार्थवादी सिद्ध करना है। तदनुसार मल्लिषेण ने भी अन्य दर्शनों के वस्तुस्थितिविरोध को अच्छी तरह स्पष्ट किया है। विशेषतः सर्वथा नित्य या अनित्य तत्त्व का अभाव, ईश्वर का अभाव, जीव के ज्ञानादि गुणों की स्वाभाविकता, वैदिक हिंसा का अनौचित्य, नित्य ब्रह्म व अकर्ता पुरुष का अभाव, शून्यवाद व क्षणिकवाद की अयुक्तता तथा स्याद्वाद एवं सप्तभंगी की आवश्यकता इन विषयों का विस्तार से वर्णन किया है। साथ ही प्राचीन आगम तथा समन्तभद्र व सिद्धसेनादि पूर्वाचार्यों के वचनों की संगति भी बतलाई है। सरल भाषा के कारण यह ग्रन्थ विद्यार्थियो के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ है।

[प्रकाशन—१ मूल – सं. दामोदरलाल गोस्वामी – चौखम्बा संस्कृत सीरीज १९००, बनारस; २ मूल व हिंदी अनुवाद—जवाहरलाल

तथा वंशीधर गुप्त—रायचन्द्र जैनशास्त्रमाला, १९१०, बम्बई; ३ मूल श्लोकों का हिंदी पद्यानुवाद—त्रिलोकचंद पाटनी—१९१८,केकडी अजमेर; ४ आर्हतप्रभाकर कार्यालय, पूना १९२५; ५ प्र. भैरवदास जेठमल, बीकानेर १९२६; गुजराती अनुवाद – प्र. हीरालाल हंसराज, जामनगर, १९३०; ७ मूल व इंग्लिश टिप्पण – आनन्दशंकर ध्रुव – बॉम्बे संस्कृत सीरीज, १९३३, बम्बई; ८ मूल व हिन्दी प्रस्तावना तथा टिप्पण जगदीशचन्द्र जैन– रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला, १९३५, बम्बई; संपूर्ण इंग्लिश अनुवाद, एफ्. डब्ल्यू. टोमस, बर्लिन १९६०]

स्याद्वादमंजरी पर विजयविमल (उपनाम वानरर्षि) ने टीका लिखी है।

६५. सोमतिलक—हरिभद्र के षड्दर्शनसमुच्चय पर सोमतिलक ने सं १३९२ (=सन १३३६) में टीका लिखी थी। कुमारपाल-प्रबन्ध, वीरकल्प (सं. १३८९), तथा लघुस्तव टीका (स. १३९७) तथा शीलोपदेशमालाटीका ये उन के अन्य ग्रन्थ हैं। वे रुद्रपल्लीय गच्छ के आचार्य संघतिलक के शिष्य थे।

६६. राजशेखर—ये हर्षपुरीय मलधारीगच्छ के श्रीतिलक के शिष्य थे। तर्कविषय पर इन के चार ग्रन्थ हैं जिन में दो स्वतंत्र तथा दो टीकात्मक हैं। उन की स्याद्वादकलिका में ४१ श्लोकों में स्याद्वाद का संक्षिप्त वर्णन है। षट्दर्शननसमुच्चय में १८० श्लोकों में छह दर्शनों का संक्षिप्त विचार है। श्रीधर को न्यायकन्दली पर उन्हों ने सं.१३८५में ४०००श्लोकों जितने विस्तार की टीका लिखी है। रत्नप्रभ की रत्नाकरावतारिका की पंजिका यह उन की चौथी कृति है। प्रबन्धकोष, कौतुककथा तथा द्व्याश्रयवृत्ति ये उन की अन्य रचनाएं हैं। राजशेखर की ज्ञात तिथियां सन १३२८ से १३४८ तक हैं।

[प्रकाशन—१ स्याद्वादकलिका-प्र. हीरालाल हंसराज, जामनगर; २ षड्दर्शनसमुच्चय—यशोविजय ग्रंथमाला, बनारस, १९०९ तथा आगमोदय समिति, सूरत, १९१८]

६७. **ज्ञानचन्द्र**—ये पूर्णिमागच्छ के आचार्य गुणचन्द्र के शिष्य थे। रत्नप्रभ की रत्नाकरावतारिका पर उन्हों ने टिप्पण लिखे हैं। गुणचन्द्र के समयानुसार ज्ञानचन्द्र का समय भी चौदहवीं सदी में निश्चित है। उन की अन्य कोई रचना ज्ञात नहीं है।

६८. **जयसिंह**—ये कृष्णर्षिगच्छ के आचार्य थे[1]। सारंग नामक वादी का इन्हों ने पराजय किया था। भासर्वज्ञ के प्रसिद्ध ग्रन्थ न्यायसार पर २९०० श्लोकों जितने विस्तार की न्यायतात्पर्यदीपिका नामक टीका उन्हों ने लिखी है। कुमारपालचरित की रचना उन्हों ने सं. १४२२ = सन १३६६ में की थी अतः चौदहवीं सदी का मध्य यह उन का समय निश्चित है। उन्हों ने एक व्याकरण ग्रन्थ लिखा था ऐसा वर्णन भी मिलता है।

[प्रकाशन— न्यायसारटीका— सं. सतीशचन्द्र विद्याभूषण, बिब्लॉथिका इन्डिका, कलकत्ता १९१०]

६९. **धर्मभूषण**—मूलसंघ-बलात्कारगण के आचार्य धर्मभूषण वर्धमान भट्टारक के शिष्य थे। चौदहवीं सदी के उत्तरार्ध मे विजयनगर के राज्य में उन का अच्छा प्रभाव था। राजा हरिहर के मंत्री इरुगप्प दण्डनायक उन के शिष्य थे तथा उन्होने सन १३८५ में एक कुंथुनाथमदिर बनवाया था। राजा देवराय (प्रथम) भी उनका सम्मान करते थे।

न्यायदीपिका यह धर्मभूषण की एकमात्र प्रकाशित कृति ८०० श्लोकों जितने विस्तार की है। इस के तीन प्रकाश हैं। प्रथम प्रकाश में प्रमाण का लक्षण, प्रामाण्य तथा इस विषय में अन्य मतों का निरसन ये विषय हैं। दूसरे प्रकाश में प्रत्यक्ष प्रमाण, उस के प्रकार तथा सर्वज्ञ की सिद्धि व निर्दोषता का वर्णन है। तीसरे प्रकाश में अनुमानादि परोक्षप्रमाण, नय और सप्तभंगी का वर्णन है। संक्षिप्त किन्तु सरल और विशद शैली के कारण जैन न्यायग्रंथों के प्रारम्भिक विद्यार्थी के लिए यह ग्रन्थ अति उपयोगी सिद्ध हुआ है।

---

१) हम्मीर महाकाव्य तथा रम्भामंजरी नाटिका के कर्ता नयचन्द्र जयसिंह के प्रशिष्य थे।

[प्रकाशन — १ सं. कलाप्पा निटवे, कोल्हापूर १८९९; २ हिन्दी अनुवादसहित– सं. खूबचन्द्र व वंशीधर, जैन ग्रन्थ रत्नाकर, १९१३, बम्बई; ३ सनातन ग्रंथमाला, १९१५ बनारस; ४ वंकुबाई पाठ्यपुस्तकमाला, महावीर ब्रह्मचर्याश्रम, १९३८ कारंजा; ५ सं. पं. दरबारीलाल, वीरसेवामंदिर, १९४५, दिल्ली]

न्यायदीपिका में धर्मभूषण ने कारुण्यकलिका नामक ग्रन्थ का उल्लेख किया है तथा उस में उपाधिनिराकरण की चर्चा देखने की प्रेरणा की है। हो सकता है कि यह उन्हीं की रचना हो। हस्तलिखित सूचियों में उन के प्रमाणविलास का भी उल्लेख मिलता है। इस का विस्तार २००० श्लोकों जितना कहा गया है।

७०. **मेरुतुंग**—ये अंचलगच्छ के महेंद्रसूरि के शिष्य थे। उन की ज्ञात तिथियां सन १३८८ से १३९३ तक हैं। षड्दर्शननिर्णय यह उन की तार्किक कृति है जिस में छह दर्शनों का संक्षिप्त विचार प्रस्तुत किया है। उन की अन्य कृतियां ये हैं– सप्ततिभाष्यटीका, शतकभाष्य, भावकर्मप्रक्रिया, कातन्त्रव्याकरणवृत्ति, धातुपारायण, मेघदूतटीका तथा नमोत्थुणस्तोत्रटीका[1]।

७१. **गुणरत्न**—ये तपागच्छ के देवसुन्दर सूरि के शिष्य थे। इन की ज्ञात तिथियां सन १४०० से १४१० तक हैं। हरिभद्र के षड्दर्शनसमुच्चय पर इन्हों ने तर्करहस्यदीपिका नामक विस्तृत टीका लिखी है। इस का विस्तार १२५० श्लोकों जितना है। प्रमाणनयतत्त्वरहस्य यह इन की दूसरी तर्कविषयक रचना है। इन की अन्य रचनाएं इस प्रकार हैं–क्रियारत्नसमुच्चय, कल्पान्तर्वाच्य, सप्ततिका-अवचूरि, पयन्ना-अवचूरि, क्षेत्रसमास-अवचूरि, नवतत्त्व-अवचूरि, देवेन्द्रकर्मग्रन्थ-अवचूरि, ओघनिर्युक्ति उद्धार।

---

१) प्रबन्धचिन्तामणि आदि ग्रंथों के कर्ता मेरुतुंग इन से भिन्न हैं तथा इन के कोई ५० वर्ष पहले हो चुके हैं।

[प्रकाशन — प्रमाणनयतत्त्वरहस्य-श्रुतज्ञान अमीधारा, बम्बई, १९३६; षड्दर्शनसमुच्चय टीका की प्रकाशनसूचना हरिभद्र के परिचय में दी है।]

७२. **भुवनसुन्दर**—ये तपागच्छ के सोमसुन्दर सूरि के शिष्य थे। तदनुसार पन्द्रहवी सदी के मध्य में उन का समय निश्चित है। वादीन्द्र नामक वैदिक विद्वान ने शब्द की नित्यता के विषय में महाविद्या नामक ग्रन्थ लिखा था। इस के खण्डन के लिए भुवनसुन्दर ने महाविद्याविवृत्ति तथा महाविद्याविडम्बन ये ग्रन्थ लिखे। परब्रह्मोत्थापन यह उन की तीसरी रचना है–इस में ब्रह्मवाद का खण्डन किया है।

[प्रकाशन—महाविद्याविडम्बन-गायकवाड ओरिएन्टल सीरीज, बडौदा, १९२०]

७३. **रत्नमण्डन**—ये भी तपागच्छ के सोमसुन्दरसूरि के शिष्य थे। अतः भुवनसुन्दर के समान इन का समय भी पन्द्रहवीं सदी का मध्य निश्चित है। इन्हों ने जल्पकल्पलता नामक ग्रंन्थ लिखा है। २३ पृष्ठों की इस रचना में शंकराचार्य तथा माणिक्यसूरि के वाद का संक्षिप्त वर्णन है[1]।

[प्रकाशन— देवचन्द्र लालभाई पुस्तकोद्धार फंड, सूरत, १९१२]

७४. **जिनसूर**—ये सोमसुन्दर के प्रशिष्य तथा सुधानन्दन गणी के शिष्य थे। इन का एकमात्र रचना जल्पमंजरी सं. १५२९ = सन १४७३ में पूर्ण हुई थी।

[प्रकाशन—जैनधर्म प्रसारक सभा, भावनगर]

७५. **साधुविजय**— ये तपागच्छ के जिनहर्षगणी के शिष्य थे। इन के दो ग्रंथ ज्ञात हैं। वादविजय प्रकरण का विस्तार ७४८ श्लोकों

१) यह वर्णन दे. ला. पुस्तकोद्धार फंड की सूची के अनुसार है। जिनरत्नकोष के अनुसार इस ग्रन्थ में वादिदेवसूरि तथा एक नैयायिक विद्वान के वाद का वर्णन है तथा इस में तर्क, व्याकरण तथा काव्य ये तीन स्तबक है। हम मूल ग्रन्थ देख नही सके अतः कौनसा वर्णन ठीक है यह निश्चय नहो हो सका।

जितना है तथा इस की रचना सं. १५४५ से ५१ (= १४८८ से ९४) तक हुई थी। इस पर लेखक की स्वकृत टीका भी है। हेतुखण्डन प्रकरण यह उन की दूसरी रचना है।

७६. **सिद्धान्तसार**—ये तपागच्छ के इन्द्रनंदि गणी के शिष्य थे। इन्हों ने सं. १५७० = सन १५१४ में दर्शनरत्नाकर नामक ग्रंथ लिखा था। इस का विस्तार कोई २०००० श्लोकों जितना है।

७७. **शुभचन्द्र**—ये मूलसंघ-बलात्कारगण के भट्टारक विजयकीर्ति के शिष्य थे। इन के विविध उल्लेख सन १५१६ से १५५६ तक प्राप्त हुए हैं[1]। इन के शिष्यवर्ग में त्रिभुवनकीर्ति, क्षेमचन्द्र, सुमतिकीर्ति, श्रीपाल आदि का समावेश होता था। शुभचन्द्र ने तार्किक विषयों पर तीन ग्रंथ लिखे हैं। इन का क्रमशः परिचय इस प्रकार है।

संशयिवदनविदारण—इस के तीन परिच्छेद हैं तथा इन में क्रमशः केवलियों का भोजन, स्त्रियों की मुक्ति तथा महावीर का गर्भान्तरण इन तीन श्वेताम्बर मान्यताओं का विस्तार से खण्डन है[2]।

[प्रकाशन— हिंदी अनुवाद मात्र– पं. लालाराम, हरीभाई देवकरण जैन ग्रन्थमाला, कलकत्ता, १९२२]

षड्दर्शनप्रमाणप्रमेयानुप्रवेश—इस ग्रन्थ की प्रति का परिचय जैनसिद्धान्तभवन, आरा, के प्रशस्तिसंग्रह से प्राप्त होता है[3]। नाम के अनुसार देखने से स्पष्ट होता है कि इस मे सांख्य, योग आदि छह दर्शनों के तत्त्वों का संक्षिप्त विचार होगा। पाण्डवपुराण की प्रशस्ति में शुभचन्द्र ने जिस षड्वाद ग्रंथ का उल्लेख किया है[4] वह यही हो सकता है[5]। ग्रंथ अभी अप्रकाशित है।

---

१) शुभचन्द्र की गुरुपरम्परा के वृत्तान्त के लिए देखिए भट्टारक सम्प्रदाय (पृ. १५३-१५७)। २) यह मूल ग्रन्थ प्रकाशित नही हुआ है। इस पर लेखक की स्वकृत टीका भी अप्रकाशित है। ३) (पृष्ठ २०–२२)। ४) श्लोक ७९: कृता येनांगप्रज्ञप्तिः सर्वांगार्थप्ररूपिका। स्तोत्राणि च पवित्राणि षड्वादाः श्रीजिनेशिनाम्॥ ५) पं. भुजबलि शास्त्री ने श्रवणबेलगोल के शक १०४५ के शिलालेख में वर्णित शुभचन्द्र की प्रस्तुत ग्रन्थ के कर्ता होने की सम्भावना व्यक्त की है।

स्वरूपसम्बोधनवृत्ति—यह ग्रंथ भी अप्रकाशित है। महासेन-कृत स्वरूपसम्बोधन की यह टीका है। इस का उल्लेख भी पाण्डवपुराण की प्रशस्ति में लेखक ने ही किया है[1]।

शुभचन्द्र की अन्य रचनाएं हैं—परमाध्यात्मतरंगिणी (सं. १५७३), करकण्डुचरित (सं. १६११), कार्तिकेयानुप्रेक्षाटीका (सं. १६१३), पाण्डवपुराण (सं. १६०८), अंगपण्णत्ती, नंदीश्वरकथा, चंद्रनाथचरित, पद्मनाथचरित, प्रद्युम्नचरित, जीवंधरचरित, चन्दनाकथा, धर्मामृतवृत्ति, तीस चौवीसी पूजा, चिंतामणि सर्वतोभद्र (प्राकृत) व्याकरण, पार्श्वनाथ-काव्यपंजिका, सिद्धपूजा, सरस्वतीपूजा, गणधरवलयपूजा, कर्मदहनविधान, पल्योपमविधान, चिंतामणिपूजा तथा चारित्रशुद्धि (१२३४ उपवास) विधान।

७८. **विनयविजय**—ये तपागच्छ के कीर्तिविजय उपाध्याय के शिष्य थे। तार्किक विषयों पर इन के दो ग्रन्थ हैं—षट्त्रिंशत्‌जल्पसारोद्धार तथा नयकर्णिका। नयकर्णिका पर गम्भीरविजय ने टीका लिखी है।

[प्रकाशन—गुजराती संस्करण—सं. मो. द. देसाई, १९१०, बम्बई; अंग्रेजी संस्करण—आरा १९१५]

विनयविजय की ज्ञात तिथियां सन १५५४ से १५६० तक हैं। उन की अन्य रचनाएं इस प्रकार हैं—लोकप्रकाश, कल्पसूत्रसुबोधिका, हैमलघुप्रक्रिया, इन्दुदूत, शांतिसुधारस, अर्हन्नमस्कारस्तोत्र व जिनसहस्रनाम।

७९. **पद्मसुन्दर**—नागौरी तपागच्छ के आनंदमेरु के प्रशिष्य एवं पद्ममेरु के शिष्य उपाध्याय पद्मसुन्दर ने कई विषयों पर ग्रंथ लिखे हैं। वे बादशाह अकबर के सभापण्डित थे तथा उन के गुरु एवं प्रगुरु हुमायूं एवं बाबर द्वारा सन्मानित हुए थे। जोधपुर के राजा मालदेव ने भी पद्म-सुंदर का सन्मान किया था। हस्तिनापुर के निकट चरस्थावर ग्राम के चौधरी रायमल्ल उन के प्रारम्भिक आश्रयदाता थे। उन की ज्ञात तिथियां सन १५५७ से १५७५ तक हैं।

---

१) श्लोकः सत्तत्त्वनिर्णयं वरस्वरूपसम्बोधिनीं वृत्तिम्।

पद्मसुंदर का तार्किक ग्रंथ प्रमाणसुंदर सं. १६३२ में लिखा गया था और अभी अप्रकाशित है। प्रमाणविषयक चर्चा का इस में वर्णन होगा ऐसा नाम से प्रतीत होता है।

पद्मसुन्दर के अन्य ग्रंथ ये हैं–भविष्यदत्तचरित (सं. १६१४), रायमल्लाभ्युदय (सं. १६१५), पार्श्वनाथचरित (स. १६१५), सुन्दर-प्रकाक्षशद्बार्णव, अकबरशाहिशृंगारदर्पण (सं. १६२६), जम्बूचरित तथा हायनसुन्दर[१]।

८०. **विजयविमल**—ये तपागच्छ के आनन्दविमल सूरि के शिष्य थे तथा वानरर्षि इस उपनाम से प्रसिद्ध थे। इन की ज्ञात तिथिया सन १५६७ से १५७८ तक हैं। मल्लिषेण की स्याद्वादमंजरी पर इन्हों ने टीका लिखी है। इन की अन्य रचनाए भी विवरणात्मक ही हैं तथा निम्नलिखित ग्रन्थों पर लिखी है – गच्छाचारपयन्ना, तन्दुलवेयालिय, साधारणजिनस्तव, बन्धोदयसत्ता, बन्धहेतूदयत्रिभंगी, अनिट्कारिका तथा भावप्रकरण।

८१. **राजमल्ल**—काष्टासंघ-माथुरगच्छ के भट्टारक हेमचन्द्र के आम्नाय में पंडित राजमल्ल सम्मिलित थे[१]। आगरा के साहु टोडर की प्रार्थना पर तथा उन के द्वारा मथुरा में जैन स्तूपों के जीर्णोद्धार के अवसर पर सं. १६३१ (सन १५७५) राजमल्ल ने जम्बूस्वामिचरित काव्य लिखा। वैराट नगर में काष्टासंघ-माथुरगच्छ के भट्टारक क्षेमकीर्ति के आम्नाय में[२] साहु फामन के आग्रह से स. १६४१ (सन १५८५) उन्हों ने लाटीसंहिता (श्रावकाचार विषयक ग्रंथ) लिखी। अध्यात्मकमलमार्तंड तथा पञ्चाध्यायी ये उन के अन्य दो ग्रंथ है[३]। इन में पंचाध्यायी का ही प्रस्तुत विषय की दृष्टी से परिचय आवश्यक है।

१) अम्नाय में कहने का तात्पर्य यह है कि हेमचंद्र राजमल्ल के कोई ५० वर्ष पहले हो चुके थे। २) क्षेमकीर्ति उपर्युक्त हेमचन्द्र के चौथे पट्टधर थे हेमचन्द्र–पद्मनन्दि–यश:कीर्ति–क्षेमकीर्ति ऐसी यह परम्परा थी। विस्तृत विवरण के लिए देखिए-भट्टारक संप्रदाय पृ. २४३। ३) प. मुख्तार ने पिंगलछंद नामक ग्रन्थ भी इन्ही राजमल्ल का माना है (देखिए–अध्यात्मकमलमार्तण्ड की प्रस्तावना)।

जैसा कि नाम से प्रतीत होता है इस ग्रंथ में पाच अध्याय होने चाहिए। किन्तु उपलब्ध भाग में डेढ अध्याय ही है—सम्भवत: लेखक के देहावसान से ग्रन्थ अधूरा रहा है। प्राप्त ग्रंथ की पद्यसख्या १९१२ है। इस के दो भाग हैं। पहले अध्याय में द्रव्य, गुण तथा पर्यायों के विपय में जैन मान्यताओं का विशद वर्णन है। इस की विशेषता यह है कि इस विपय में जैनेतर मतो का निरसन करने के साथसाथ जैन परिभाषा में ही जो मतभेद सम्भव हैं उन का भी विस्तृत विचार किया है। निश्चयनय तथा व्यवहारनय इन का परस्पर सम्बन्ध तथा दोनों का कार्य इस प्रकरण मे स्पष्ट हुआ है। ग्रन्थ के दूसरे भाग में मोक्षमार्ग के रूप में सम्यग्दर्शन तथा उस के अंगों का व्यापक वर्णन है[१]।

[प्रकाशन— १ मूलमात्र प्र. गाधी नाथा रंगजी, अकलूज (शोलापूर) १९०६; २ मूल तथा हिंदी टीका—पं. मक्खनलाल, १९१८; ३ मूल व हिंदी टीका-प. देवकीनन्दन, महावीर ब्रह्मचर्याश्रम, कारंजा, १९३२; ४ हिंदी अनुवाद मात्र—सिं. राजकुमार, गोपालग्रन्थमाला (प्रथम अध्याय); ५ मूल व हिंदी टीका—पं. देवकीनंदन, सं. पं. फूलचन्द्र, वर्णी जैन ग्रंथमाला, काशी, १९५०]

८२. **पद्मसार**—ये तपागच्छ के उपाध्याय धर्मसागर के शिष्य थे। इन की ज्ञात तिथिया सन १५८८ से १६०० तक है। इन की दो रचनाएं तर्कविपयक हैं—प्रमाणप्रकाश तथा नयप्रकाश। दूसरे ग्रन्थको युक्तिप्रकाश अथवा जैनमण्डन यह नाम भी दिया है तथा इस पर लेखक ने स्वयं टीका लिखी है।

[प्रकाशन— प्र. हीरालाल हंसराज, जामनगर]

---

१) प्रथम प्रकाशन से कोई १८ वर्ष तक ग्रन्थकर्ता का नाम ज्ञात नही था अत: अंदाज से कुछ विद्वान इसे अमृतचंद्र कृत मानने लगे थे। सन १९२४ में पं. मुख्तार ने वीर (साप्ताहिक) वर्ष ३ अंक १२-१३ में एक लेख द्वारा यह भ्रम दूर किया। इस लेख का तात्पर्य लाटीसंहिता तथा अध्यात्मकमलमार्तण्ड की प्रस्तावना में भी पं. मुख्तार ने दे दिया है।

पद्मसागर के अन्य ग्रंथ ये है – धर्मपरीक्षा (सं. १६४५), शीलप्रकाश, यशोधरचरित, तिलकमंजरीवृत्ति, जगद्गुरुकाव्यसंग्रह (सं. १६४६) व उत्तराध्ययन कथा संग्रह (सं. १६५७)।

८३. शुभविजय—ये तपागच्छ के हीरविजयसूरि के शिष्य थे इन की ज्ञात तिथिया सन १६०० से १६१४ तक हैं। इन कीं दो रचननाएं तर्क विषयक हैं–तर्कभाषावार्तिक (सं. १६६५) तथा स्याद्वाद-भाषा (सं. १६६७)। दूसरे ग्रंथ को नयतत्त्वप्रकाशिका यह नाम भी दिया है तथा इस पर लेखक ने स्वयं टीका लिखी है।

[प्रकाशन—देवचन्द्र लालभाई पुस्तकोद्धार फण्ड, सूरत, १९११] शुभविजय की अन्य रचनाएं इस प्रकार हैं – कल्पसूत्रवृत्ति (सं. १६७१), हैमीनाममाला, काव्यकल्पलतवृत्ति (सं. १६६५), सेताप्रश्न (सं. १६५७), प्रश्नोत्तररत्नाकर (सं. १६७१)।

८४. भावविजय—ये तपागच्छ के मुनिविमल उपाध्याय के शिष्य थे। इन की तीन रचनाएं ज्ञात हैं – चम्पकमालाचरित, उत्तराध्ययनटीका (सं. १६८१) तथा षट्त्रिंशत्जल्पविचार (सं. १६७९ = सन १६२३)। इन में अन्तिम ग्रन्थ तर्कविषयक प्रतीत होता हैं। इस का नाम जल्पसंग्रह अथवा जल्पनिर्णय इस रूप में भी मिलता है।

८५. यशोविजय—विविध तथा विपुल ग्रन्थरचना में यशोविजय की तुलना हरिभद्र से ही हो सकती है। उन का जन्म गुजरात में कलोल नगर के निकट कनोडु ग्राम में हुआ। सन १६३१ में उन्हों ने नयविजय उपाध्याय से दीक्षा ग्रहण की, सन १६४२ से ४५ तक वनारस में विविध शास्त्रो का अध्ययन किया तथा सन १६६१ में विजयप्रभ सूरि से वाचक उपाध्याय पद प्राप्त किया। सौ ग्रन्थ लिखने पर उन्हें न्यायाचार्य यह पद मिला। उन की मृत्यु डभोई नगर में सन १६८६ में हुई।

यशोविजय के तर्कविषयक ग्रंथों की संख्या १२ है। इन में आठ स्वतंत्र प्रकरण हैं तथा चार टीकात्मक हैं। इन का विवरण इसप्रकार है।

जैनतर्कभाषा—इस का विस्तार ८०० श्लोकों जितना है।

प्रमाण, नय तथा निक्षेप इन तीन परिच्छेदों में जैन प्रमाण शास्त्र का संक्षिप्त वर्णन इस में किया है।

[प्रकाशन—१ यशोविजय ग्रंथमाला, काशी १९०८; २ सं. पं. सुखलाल, सिंधी ग्रंथमाला, बम्बई १९३८]

ज्ञानबिन्दु—इस में मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय तथा केवल इन पाच ज्ञानों का वर्णन किया है। इन से सम्बद्ध तार्किक विषय—केवलज्ञानी (सर्वज्ञ) का अस्तित्व, केवली के ज्ञान व दर्शन का भेद, ज्ञान का प्रामाण्य व अप्रामाण्य आदि की चर्चा भी की है। सिद्धसेन के सन्मतिसूत्र के कतिपय मतों का अच्छा समर्थन इस में मिलता है।

[प्रकाशन—१ यशोविजय ग्रन्थमाला, काशी १९०८; २ सं. पं. सुखलाल, सिंघी ग्रन्थमाला, १९४२]

नयोपदेश, नयरहस्य व नयप्रदीप—इन तीन ग्रंथों में नयों के स्वरूप की चर्चा है। इन में पहले पर लेखक ने स्वयं नयामृत-तरंगिणी नामक टीका लिखी है।

[प्रकाशन—जैनधर्मप्रसारक सभा, भावनगर १९०८]

न्यायखण्डखाद्य—वीरस्तुति के रूप में इस में न्यायदर्शन के सिद्धान्तों की आलोचना की है। इस पर लेखक ने स्वयं ५५०० श्लोकों जितने विस्तार की टीका लिखी है।

[प्रकाशन— प्र. मनसुखभाई भागूभाई ,अहमदाबाद]

न्यायालोक—यह रचना भी न्यायदर्शन के खण्डन के लिए लिखी गई थी। विजयनेमिसूरि ने टीका लिखकर इसे प्रकाशित कराया है।

अनेकान्तव्यवस्था—नवीन न्याय की शैली में अनेकान्त की परिभाषाओं का वर्णन इस ग्रन्थ में किया है।

[प्रकाशन—जैनग्रन्थप्रकाशक सभा, अहमदाबाद]

अष्टसहस्रीविवरण—इस में विद्यानन्दकृत अष्टसहस्री के कठिन स्थलों का स्पष्टीकरण है। 'विषमपदतात्पर्यविवरण' यह इस का पूरा नाम है। इस का विस्तार ८००० श्लोकों जितना है।

---

१) जैन साहित्य और इतिहास पृ. ३९५–९८।

[प्रकाशन -- सं. विजयोदयसूरि, जैनग्रन्थप्रकाशक सभा, अहमदाबाद, १९३७]

स्याद्वादकल्पलता—यह हरिभद्र के शास्त्रवार्तासमुच्चय की टीका है तथा १३००० श्लोकों जितने विस्तार की है।

नयचक्रतुम्ब—यह मल्लवादी के विलुप्त ग्रन्थ द्वादशार-नयचक्र के उद्धार का प्रयास है। नयों के चक्र के तुम्ब (केन्द्र) के रूप में स्याद्वाद का वर्णन इस में है।

स्याद्वादमंजूषा—यह मल्लिषेण की स्याद्वादमंजरी की टीका है। उपर्युक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त यशोविजय के जिन ग्रन्थों का पता चलता है उन के नाम इस प्रकार है[1]–देवधर्मपरीक्षा, द्वात्रिंशिका, ज्ञानार्णव, तत्त्वालोकविवरण, द्रव्यालोकविवरण, त्रिसूत्र्यालोक, प्रमाणरहस्य, स्याद्वादरहस्य, वादमाला, विधिवाद, वेदान्तनिर्णय, सिद्धान्ततर्कपरिष्कार, द्रव्यपर्याययुक्ति, अध्यात्ममतपरीक्षा, अध्यात्मसार, आध्यात्मिकमतदलन, उपदेशरहस्य, ज्ञानसार, परमात्मपंचविंशतिका, वैराग्यकल्पलता, अध्यात्मोपदेश, अध्यात्मोपनिषद्, गुरुतत्त्वविनिश्चय, आराधकविराधकचतुर्भंगी, धर्मसंग्रहटिप्पण, निशाभक्तप्रकरण, प्रतिमाशतक, मार्गपरिशुद्धि, यतिलक्षणसमुच्चय, सामाचारीप्रकरण, अस्पृशद्गतिवाद, कूपदृष्टान्त, योगविंशिका, योगदीपिका, योगदर्शनविवरण, कर्मप्रकृतिटीका, छन्दश्चूडामणि, शठप्रकरण, काव्यप्रकाशटीका, अलंकारचूडामणिटीका, तथा कई स्तोत्रादि।

८६. भावप्रभ—ये पूर्णिमागच्छ के महिमप्रभसूरि के शिष्य थे। यशोविजय के नयोपदेश पर इन्हों ने टीका लिखी है। इन की अन्य रचनाएं दो है– प्रतिमाशतक तथा भक्तामरसमस्यापूर्ति (स. १७११ = सन १६५५)।

८७. यशस्वत्सागर—ये तपागच्छ के यशःसागर के शिष्य थे। इन की ज्ञात तिथिया सन १६६५ से १७०४ तक है। इन के तर्क-

१) इन में से पहले तेरह ग्रन्थ नाम से तर्कविषयक ही प्रतीत होते हैं किन्तु हमें उन का अधिक परिचय नही मिल सका।

विषयक ग्रन्थ चार हैं–प्रमाणवादार्थ (सं. १७५१), जैन सप्तपदार्थी (सं. १७५७), जैन तर्कभाषा (सं. १७५९) तथा स्याद्वादमुक्तावली। यशस्वत् सागर की अन्य रचनाएं इस प्रकार है–विचारषड्त्रिंशिकावचूरि (सं. १७२१), भावसप्ततिका (सं. १७४०), स्तवनरत्न, ग्रहलाघववार्तिक (सं. १७६०), तथा यशोराजिराजपद्धति।

८८. **नरेन्द्रसेन**—ये धर्मसेन के शिष्य थे तथा इन का समय सत्रहवीं सदी में अनुमानित किया गया है। इन की रचना प्रमाणप्रमेय कलिका गद्य में है तथा ४८ पृष्ठों में समाप्त हुई है।

[प्रकाशन—सं पं. दरबारीलाल, माणिकचंद्र ग्रंथमाला, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी १९६२]

८९. **विमलदास**—सप्तभंगीतरंगिणी नामक एक ही ग्रंथ से विमलदास ने जैन तर्कसाहित्य में अच्छा सम्मान प्राप्त किया है। वे अनन्तसेन के शिष्य थे। तथा वीरग्राम के निवासी थे। उन्हों ने इस ग्रंथ की रचना वैशाख शु. ८ बृहस्पतिवार, प्लवंग संवत्सर के दिन तंजानगर (तंजोर) में पूर्ण की थी। यह समय सत्रहवीं सदी में अनुमानित किया गया है।

सप्तभंगीतरंगिणी संस्कृत गद्य में है तथा इस का विस्तार ८०० श्लोकों जितना है। समन्तभद्र, अकलंक, विद्यानंद, माणिक्यनंदि तथा प्रभाचन्द्र के ग्रंथों के उचित उद्धरण दे कर लेखक ने सरल भाषा में स्याद्वाद के अस्ति, नास्ति आदि सात वाक्यों का उपयोग व महत्त्व समझाया है। साथ ही अनेकांतवाद में प्रतिपक्षियों द्वारा दिये गये संकर, व्यतिकर, असंभव, विरोध आदि दोषों का परिहार भी किया है। अन्त में सांख्य, बौद्ध, मीमांसक तथा नैयायिक मतों में भी अप्रत्यक्ष रूप से सापेक्षवाद का कैसे अवलम्ब किया गया है यह भी लेखक ने स्पष्ट किया है।

[प्रकाशन—१ हिंदी अनुवाद सहित–सं. ठाकुरप्रसाद शर्मा, रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला, बम्बई, १९०४; २ शास्त्रमुक्तावली, कांजीवरम् १९०९]

९०. **भोजसागर**—ये तपागच्छ के विनीतसागर के शिष्य थे। इन की ज्ञात तिथिया सन १७२९ से १७५३ तक हैं। इन की एक-मात्र कृति द्रव्यानुयोगतर्कणा है। इस में द्रव्यों का स्वरूप तथा उस के वर्णन में विविध नयों का उपयोग स्पष्ट किया है। इस पर लेखक ने स्वयं टीका भी लिखी है।

[प्रकाशन—रायचन्द्र शास्त्रमाला, बम्बई १९०५]

९१. **क्षमाकल्याण**—ये खरतर गच्छ के अमृतधर्म उपाध्याय के शिष्य थे। इन की ज्ञात तिथियां सन १७७२ से १७७९ तक हैं। प्रसिद्ध नैयायिक विद्वान अन्नम्भट्ट की कृति तर्कसंग्रह पर इन्हों ने तर्कफक्किका नामक टीका सं. १८२८ (=सन १७७२) में लिखी। इन की अन्य रचनाएं इस प्रकार हैं – होलिकापर्व कथा, अक्षयतृतीया कथा, मेरुत्रयोदशीकथा, श्रीपालचरित्र, समरादित्य-चरित्र, यशोधरचरित्र, विचारशतबीजक, सूक्तमुक्तावली, खरतरगच्छपट्टावली, प्रश्नोत्तरसार्धशतक व पर्युषणाष्टान्हिका।

९२. **अन्यलेखक**—अब तक हम ने तर्कविषयक ग्रंथों के उन लेखकों का संक्षिप्त वित्ररण दिया जिन के समय तथा कृतियों के विषय में कुछ निश्चित जानकारी प्राप्त है। हस्तलिखित सूचियों में इन के अतिरिक्त कुछ अन्य ग्रंथों के नाम भी मिलते हैं। जिनरत्नकोश से ज्ञात होनेवाले ये नाम इस प्रकार हैं—शातिवर्णी कृत प्रमेयकण्ठिका (परीक्षा-मुख का स्पष्टीकरण), वादिसिंहकृत प्रमाणनौका, वीरसेनकृत प्रमाणनौका, विद्यानन्दिकृत तर्कभाषाटीका, गुणरत्न (विजयसमुद्र के शिष्य) की तर्क-भाषाटीका, दर्शनविजयकृत स्याद्वादबिंदु, वाचकसंयमकृत स्याद्वादपुष्प-कलिका, कीर्तिचन्द्रकृत वेदादिमतखण्डन, विजयहंसकृत न्यायसारटीका, शान्तिचन्द्रकृत सर्वज्ञसिद्धिद्वात्रिंशिका, व हर्षमुनिकृत प्रमाणसार। इन लेखकों तथा ग्रन्थों के बारे में हमें अधिक जानकारी नही मिल सकी।

९३. **अन्य विषयों के ग्रन्थों में तार्किक अंश**—ऊपर जिन ग्रन्थों का विवरण दिया है उन का विषय प्राय: पूर्ण रूप से तार्किक चर्चा रहा है। इस के अतिरिक्त अन्य विषयों के ग्रन्थों में भी प्रसंगवश

कई बार विस्तृत तार्किक चर्चा प्राप्त होती है। ऐसे प्रसंगो का पूर्णतः संकलन या वर्णन करना कठिन है। तथापि दिग्दर्शन के तौर पर हम यहां कुछ प्रमुख उदाहरणों का उल्लेख कर रहे हैं।

आगमाश्रित ग्रंथों में— जिनभद्र (सातवीं सदी) का विशेषावश्यक भाष्य तथा उन्हीं की अन्य रचना विशेषणवती इन दोनों में तार्किक चर्चा के कई प्रसंग आये हैं, विशेषतः सिद्धसेन के सन्मतिसूत्र की आलोचना उल्लेखनीय है। आगमों के प्रमाणविषयक विचारों का उन्हों ने अच्छा स्पष्टीकरण किया है। हरिभद्र ने अपने विशुद्ध तार्किक ग्रन्थों के अतिरिक्त धर्मसंग्रहणी, अष्टकप्रकरण, लोकतत्त्वनिर्णय आदि ग्रंथों में भी पर्याप्त तर्काश्रित चर्चाएं लिखी हैं। शीलाक (नौवीं सदी) ने सूत्रकृतांग की टीका में चार्वाक, वेदान्त तथा बौद्ध मतों की विस्तृत आलोचना प्रस्तुत की है। शातिसूरि (ग्यारहवीं सदी) की उत्तराध्ययनटीका, अभयदेव (ग्यारहवीं सदी) की नौ अंगों तथा दो उपागों की टीकाएं, मलयगिरि (बारहवीं सदी) की चार उपांगों तथा छेदसूत्र-मूलसूत्रों की टीकाएं— इन सब में भी मूल आगमग्रंथों में सूत्ररूप में निर्दिष्ट तार्किक विषयो की चर्चा अपने समय के अनुरूप विस्तार से की हुई मिलती है।

पुराणों तथा काव्यो में—प्रायः प्रत्येक पुराण या काव्य में किसी सर्वज्ञ अथवा विशिष्टज्ञानधारी मुनि के उपदेश के प्रसग में जैन साहित्य के विविध विषयों का समावेश कर दिया जाता है। इन उपदेशों में कई बार तार्किक चर्चाएं भी समाविष्ट हुई हैं। इस दृष्टि से वीरनन्दि (नौवीं-दसवीं सदी) के चन्द्रप्रभचरित का दूसरा सर्ग उल्लेखनीय है। इसी प्रकार वादिराज (ग्यारहवीं सदी) का पार्श्वचरित्र, हरिचन्द्र (बारहवीं सदी) का धर्माशर्माभ्युदय आदि काव्यों में भी एक एक सर्ग तार्किक चर्चा के लिए दिया गया है। जिनसेन (नौवीं सदी) के महापुराण में ऋषभदेव के पूर्वभव के वर्णन में महाबल राजा तथा उस के मंत्रियों का विस्तृत संवाद महत्त्वपूर्ण है। इस में चार्वाकों का भूतचैतन्यवाद तथा बौद्धों का शून्यवाद इन का अच्छा निराकरण प्राप्त होता है।

आचारविषयक ग्रन्थों में–ज्ञान अथवा चारित्र सम्यक् होने के लिए तत्त्वों के यथार्थ स्वरूप पर श्रद्धा होना–सम्यग्दर्शन का होना जरूरी है। इस लिए गृहस्थ अथवा मुनियों के आचार का वर्णन करनेवाले कई ग्रंथों में जीवाजीवादि तत्त्वों की अच्छी तार्किक चर्चा प्रस्तुत की गई है। इस दृष्टि से अमितगति (ग्यारहवीं सदी) के उपासकाचार का चौथा परिच्छेद उल्लेखनीय है। राजमल्ल (सोलहवीं सदी) की लाटीसंहिता में भी इस प्रकार की चर्चा है और उस का पल्लवित रूप उन्हों ने पंचाध्यायी में दिया है।

९४. **खण्डनमण्डनात्मक साहित्य**—शाकटायन, प्रभाचन्द्र, अभयदेव व शुभचन्द्र आदि के तार्किक ग्रंथों में केवली का भोजन तथा स्त्रियों की मुक्ति इन विषयों की भी चर्चा है यह ऊपर बताया ही है। ये विषय दिगम्बर तथा श्वेताम्बर इन दो सम्प्रदायों में परस्पर मतभेद, खण्डनमण्डन तथा विवाद के कारण थे। किन्तु श्वेताम्बर तथा दिगम्बरों के गण-गच्छादि उपभेदों में भी परस्पर छोटी छोटी बातों को लेकर काफी मतभेद एवं विवाद थे और उन विषयों पर काफी ग्रन्थरचना भी हुई है। ऐसे ग्रंथों में प्रद्युम्नसूरि (बारहवीं सदी) का वादस्थल, जिनपतिसूरि (बारहवीं सदी) का प्रबोध्यवादस्थल, जिनप्रभसूरि (चौदहवीं सदी) का तपोटमतकुट्टन, हर्षभूषण (पन्द्रहवी सदी) का अचलमतदलन, धर्मसागर (सोलहवीं सदी) की औष्ट्रिकमतोत्सूत्रदीपिका, गुणविनय (सोलहवीं सदी) का लुम्पाकमतखण्डन, यशोविजय (सत्रहवीं सदी) का आध्यात्मिकमतदलन, जगन्नाथ (सत्रहवीं सदी) का सिताम्बरपराजय, नयकुंजर (सत्रहवीं सदी) का ढुंढिकमतखंडन, मेघविजय (सत्रहवीं सदी) की धर्ममंजूषा आदि का उल्लेख किया जा सकता है। ये ग्रन्थ मुख्यतः साम्प्रदायिक स्पर्धा पर आधारित हैं। अतः तार्किक साहित्य में इन का अन्तर्भाव करना उचित नही।

९५. **देशी भाषाओं में तार्किक साहित्य**-- भारत की आधुनिक भाषाओं में तमिल, कन्नड, गुजराती, हिंदी तथा मराठी इन पांच भाषाओं में जैन लेखकों ने कथा, काव्य, आचार, उपदेश आदि विषयोंपर

काफी ग्रन्थरचना की है। किन्तु तार्किक विषयों पर इन भाषाओं में विशेष साहित्य नही मिलता। हिंदी में अठारहवीं सदी में जयपुर के विद्वान पं. जयचन्द्र छावडा ने प्रमेयरत्नमाला आदि कुछ ग्रन्थों का अनुवाद किया। पं. टोडरमल के प्रसिद्ध ग्रन्थ मोक्षमार्ग प्रकाश का कुछ अंश भी प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों के तार्किक अंशों के अनुवाद जैसा है। किन्तु स्वतन्त्र रूप से हिन्दी या अन्य आधुनिक भाषा में अठारहवीं सदी तक कोई तार्किक ग्रन्थ लिखा गया हो ऐसा ज्ञात नही होता। सम्भवतः इन देशभाषाओं के समय साधारण जैन समाज की रुचि तार्किक चर्चा मे नही रही थी। तथा पाण्डित्यप्रदर्शन का उद्देश देश-भाषाओं की अपेक्षा संस्कृत में ग्रंथ लिखने से अधिक पूरा होता था। इस लिए जैन पण्डितों ने देशभाषाओं में तार्किक ग्रन्थों की रचना की ओर ध्यान नही दिया।

९६. **आधुनिक प्रवृत्तियां**—उन्नीसवीं सदी में भारत में ब्रिटिश शासन दृढमूल हुआ। इस के राजनीतिक परिणाम चाहे जैसे हुए हों, किन्तु प्राचीन इतिहास तथा संस्कृति के अध्ययन में इससे आमूलाग्र परिवर्तन हुआ तथा इस क्षेत्र में नया उत्साह, अध्ययन की नई पद्धतियां तथा विचारविमर्श के नये साधन उत्पन्न हुए। तार्किक विषयों की दृष्टि से इस परिवर्तन का स्वरूप भी बहुविध था। एक ओर पजाब तथा उत्तर प्रदेश में आर्यसमाज की प्रवृत्तियों से जैन पण्डित प्रभावित हुए तथा दिल्ली आदि नगरों में दोनों ओर के पण्डितों में शास्त्रार्थ होने लगे। इन के विषय वेदों की प्रमाणता, ईश्वर का जगत्कर्तृत्व इत्यादि—पुराने ही थे अतः यह पुरानी वादपद्धति के पुनरुज्जीवन जैसा प्रयास था। यूरोप के शास्त्रज्ञों ने भूगोल-खगोल के बारे में जो सिद्धान्त निर्धारित किये वे जैन ग्रन्थों मे वर्णित द्वीपसमुद्रादि की कल्पनाओं से भिन्न थे। अतः पं. गोपालदास बरैया आदि विद्वानों ने तर्कबल से जैन भूगोल का औचित्य सिद्ध करने का बहुत प्रयास किया। आधुनिक विज्ञान का परिचय होने पर कुछ जैन विद्वानों के मन में जैन पुराणों में वर्णित देवों का स्वरूप, विक्रिया ऋद्धि, तीर्थंकरो के पंचकल्याणिक आदि के विषय

में सन्देह होने लगा तथा बाबू सूरजभानु जैसे लेखकों ने आदिपुराण समीक्षा, पद्मपुराणसमीक्षा जैसी पुस्तिकाओं की रचना की। इन पुस्तिकाओं के उत्तर में पं. लालाराम आदि विद्वानों ने पुराणों के वर्णनों का तर्कबल से समर्थन करने का प्रयास किया।

पुरातन युग में जैन लेखकों ने कई जैनेतर तर्कग्रन्थों पर टीकाएं आदि लिखीं थीं किन्तु किसी जैन ग्रन्थ पर जैनेतर विद्वान द्वारा टीका आदि लिखे जाने का उदाहरण नहीं मिलता। आधुनिक युग का यह एक सुपरिणाम था कि जैनेतर विद्वानों ने भी जैन तर्कग्रन्थों के अध्ययन-सम्पादन-प्रकाशन में भाग लेना प्रारम्भ किया। डॉ. सतीशचन्द्र विद्याभूषण, डॉ. आनन्दशंकर ध्रुव, डॉ. शरच्चन्द्र घोशाल, डॉ. परशुराम वैद्य, एफ. डब्ल्यू. टोमस आदि ने जैन तर्कग्रन्थों का जो व्यापक अध्ययन प्रस्तुत किया उस से भारतीय साहित्य मे जैनों के योगदान का महत्त्व सुस्पष्ट हुआ। डॉ. जैकोबी आदि यूरोपीय विद्वानों ने भी सूत्रकृतांगादि ग्रन्थों के संपादन अथवा अनुवाद के कार्य में भाग लिया तथा जैन विषयों की चर्चा को अन्तरराष्ट्रीय रूप दिया।

जैन पण्डितों ने प्रारंभ में तर्कग्रंथों का सम्पादन केवल अनुवाद के रूप में अथवा केवल मूलग्रन्थों के मुद्रण के रूप में किया। पं. निटवे, पं. गजाधरलाल, आदि का कार्य इसी रूप का था। कुछ विद्वानों ने पुरानी पद्धति से संस्कृत में तर्कग्रन्थों पर टीकाएं लिखी अथवा छोटे संस्कृत प्रकरण लिखे। ऐसे लेखकों में मुनि न्यायविजय, गम्भीरविजय आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। किन्तु शीघ्र ही ऐतिहासिक-तुलनात्मक अध्ययन से विभूषित संस्करण भी तैयार होने लगे। इन की निर्मिति में पं. सुखलाल, मुनि चतुरविजय, पं. महेंद्रकुमार, पं. दलसुख मालवणिया, पं. दरबारीलाल आदि विद्वानो का कार्य उल्लेखनीय है। पुरातन ग्रन्थों के संस्करणों के साथ पं. महेंद्रकुमार के 'जैन दर्शन' जैसे स्वतंत्र ग्रन्थों का भी प्रणयन हुआ जिन मे आधुनिक विद्वानों ने जैन दर्शन पर जो आक्षेप लिए हैं उन के समाधान का प्रयास भी किया गया है।

९७. तार्किक साहित्य के इतिहास के प्रयत्न—जैन तार्किक साहित्य के इतिहास के विषय में जो लेखन हुआ है वह दो प्रकार का है–भारतीय तर्कसाहित्य के एक अंग के रूप में तथा विविध विषयों के जैन साहित्य के एक अंग के रूप में। डा. राधाकृष्णन्, डा. दासगुप्त, एम्. हिरियण्णा आदि के द्वारा भारतीय दर्शनों के इतिहास में जैन दर्शन का भी यथोचित समावेश किया गया है। इन लेखकों ने मुख्यत: जैन दर्शन के प्रमुख विषयों का सरल वर्णन करने की ओर ध्यान दिया है–इन विषयों का तार्किक समर्थन या खण्डन अथवा जैन ग्रन्थकारों का व्यक्तित्व और समय आदि का वर्णन उन का प्रमुख उद्देश नही रहा। इन में से अधिकाश इतिहासलेखक अद्वैतवाद से प्रभावित रहे हैं– उस दृष्टि से जैन दर्शन के प्रमुख तत्त्व स्याद्वाद को वे अपर्याप्त अथवा व्यावहारिक मात्र समझते हैं। जैन दार्शनिकों के व्यक्तित्व, ग्रन्थरचना, समय आदि के बारे में चर्चा करने का प्रयास दो ग्रन्थों में विशेष रूप से पाया जाता है–डॉ. सतीशचन्द्र विद्याभूषण का भारतीय तर्कशास्त्र का इतिहास (हिस्टरी ऑफ इन्डियन लाजिक) तथा डॉ. ज्वालाप्रसाद का भारतीय प्रमाणशास्त्र (इन्डियन एपिस्टेमालाजी)। जैन साहित्य के एक अंग के रूप में तार्किक साहित्य का वर्णन मो. द. देसाई के जैन साहित्यनो संक्षिप्त इतिहास, श्री बडोदिया के जैनधर्म का इतिहास और साहित्य (हिस्टरी ॲन्ड लिटरेचर ऑफ जैनिजम), श्री. कापडिया के जैन धर्म और साहित्य (जैन रिलिजन अंड लिटरेचर) आदि ग्रन्थों में मिलता है। जैन तार्किकों में से कुछ प्रमुख आचार्यों के विषय में पं. नाथूराम प्रेमी, पं. जुगलकिशोर मुख्तार, पं. सुखलाल संघवी, पं. दलसुख मालवणिया, पं. महेंद्रकुमार, पं. दरबारीलाल आदि विद्वानों द्वारा अन्यान्य ग्रन्थों की प्रस्तावनाओं में तथा पत्रिकाओं के लेखों में बहुमूल्य सामग्री प्रकाशित की गई है। तार्किक साहित्य के इतिहास के समन्वित अवलोकन का प्रयास पं. दलसुख मालवणिया ने आगमयुग का अनेकान्तवाद, जैन दार्शनिक साहित्य की रूपरेखा, जैन दार्शनिक साहित्य का सिंहावलोकन इन तीन निबन्धों में किया है। पं. महेन्द्रकुमार ने जैन दार्शनिक साहित्य की पृष्ठभूमि शीर्षक निबन्ध भी इसी उद्देश से लिखा था।

९८. **तार्किक साहित्य का युगविभाग**— पं. दलसुख मालवणिया ने जैन दार्शनिक साहित्य को चार युगों में विभक्त किया है (१) आगमयुग (वीरनिर्वाण से वलभी वाचना तक के कोई एक हजार वर्ष), (२) अनेकान्त स्थापनयुग (पाचवीं से सातवीं सदी तक– समन्तभद्र तथा सिद्धसेन इस युग के प्रधान आचार्य थे), (३) प्रमाणशास्त्र व्यवस्थापन युग (आठवीं से सोलहवीं सदी तक– अकलंक तथा हरिभद्र एवं उन की परम्परा द्वारा इस युग का निर्माण हुआ), एवं (४) नवीनन्याययुग (यशोविजय तथा उन की परम्परा द्वारा जैन साहित्य में नवीन न्याय की शैली का प्रवेश– सत्रहवीं सदी में)। पं. महेन्द्रकुमार ने भी प्रायः इसी विभाजन को मान्य किया है। इस युगविभाग से एक दृष्टि से तार्किक साहित्य के विकास को समझने में सहायता अवश्य मिलती है। इस के साथ एक दूसरी दृष्टि से भी तार्किक साहित्य का युगविभाग हो सकता है। हम तार्किक साहित्य को तीन युगों में विभाजित करते हैं (१) प्रारम्भिक निर्माण युग-यह प्रायः आगमयुग का नामातर समझ सकते हैं। इस युग मे– जो वीरनिर्वाण से कोई एक सहस्र वर्षों तक का है– तत्त्व प्रतिपादन में स्वमत का वर्णन प्रमुख है– परमत का खण्डन गौण है, नयों का महत्त्व अधिक है– प्रमाणों की चर्चा कम है, तार्किक चर्चा स्वतंत्र रूप मे नही है–धर्मचर्चा के व्यापक क्षेत्र का अंगमात्र रही है। (२) तर्कविकास युग–समन्तभद्र से देवसूरि-हेमचन्द्र तक कोई आठसौ वर्षों का यह युग है। इस युग में नैयायिक, बौद्ध, मीमासक, वेदान्ती आदि के समान जैन विद्वान भी राजसभाओं और विद्वत्सभाओं में वादविवाद करते थे, वाद में स्वपक्ष के जय और परपक्ष के पराजय का महत्त्व बहुत बढा था, इसलिए ग्रन्थों में भी स्वमतसमर्थन और परमतखण्डन के लिए नई नई युक्तियों का प्रणयन आवश्यक हुआ था। इस युग में नयों का प्रतिपादन गौण हो कर प्रमाणो की चर्चा प्रमुख हुई थी तथा तर्क को धर्मशास्त्र के साधारण क्षेत्र से अलग ऐसा विशिष्ट स्थान प्राप्त हुआ था। (३) संरक्षण युग– तेरहवीं सदी से अठारहवीं सदी तक कोई छहसौ वर्षों का यह युग है।

इस युग के ग्रन्थ मुख्यत: पुराने ग्रन्थों के विचारों का संरक्षण करने के उद्देश से लिखे गये हैं। भारत में मुस्लिम सत्ता के विस्तार से धार्मिक-दार्शनिक साहित्य के निर्माण पर मूलगामी परिणाम हुआ। राजसभाओं में धार्मिक-तार्किक विवाद होना अब संभव नही रहा, साथही विद्वत्-सभाओं का आयोजन भी कठिन हुआ। फलत: इस युग के लेखकों के विचारो मे–तर्कों मे नवीनता का अभाव प्रतीत होता है। उन के ग्रन्थ विषयविशेष के प्रतिपादन की अपेक्षा लेखक के पाण्डित्य-प्रदर्शन का साधन थे। साथ ही इस युग मे भक्तिवादी मतों का जो प्रभाव बढा उस के कारण तर्ककर्कश विचारों का अध्ययन बहुत कम हुआ। पूर्वयुग में गुजरात तथा कर्नाटक में जैन समाज का जो प्रभाव था वह इस युग में बहुत कम हो गया। फलत: साधारण लोगों के लिए रुचिकर कथा-उपदेशादि ग्रन्थों की रचना ही इस युग में अधिक हुई। इस तरह इन तीन युगों मे तार्किक साहित्य का विभाजन है। यह विभाजन एक ओर सामाजिक पार्श्वभूमि पर आधारित है। साथ ही साहित्य के अन्य अंगों की तुलना में तार्किक साहित्य का महत्त्व कैसा रहा यह भी उस से स्पष्ट होता है।

९९. **उपसंहार**—अन्त मे हमारे प्रस्तुत अध्ययन का साराश हम संख्याओं के रूप में उपस्थित करते है। इस अध्ययन में ९४ लेखकों की १६८ रचनाओं का उल्लेख है। इन मे ३० रचनाएं अनुपलब्ध हैं। उपलब्ध किन्तु अप्रकाशित रचनाओं की संख्या ५८ है। स्वतन्त्र रूप से लिखे हुए ग्रन्थ १२३ हैं तथा टीकात्मक ग्रन्थों की संख्या ४५ है। इन में १६ टीकाएं जैनेतर ग्रन्थों पर हैं। जो ८० ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं उन के ज्ञात प्रकाशनों की सम्मिलित संख्या १२३ है।

उपर्युक्त विवरण में उन्हीं आचार्यों का उल्लेख है जिन के उपलब्ध या अनुपलब्ध ग्रन्थों का पता चलता है। शिलालेखों तथा अन्यान्य ग्रंथों के वर्णनों में इन के अतिरिक्त अन्य कई आचार्यों का महान तार्किक और वादी के रूप में उल्लेख मिलता है। मल्लिषेणप्रशस्ति में उल्लिखित महेश्वर, विमलचन्द्र, परवादिमल्ल, पद्मनाभ आदि पण्डित अथवा

प्रभावकचरित में वर्णित शान्तिसूरि, वीरसूरि, सूराचार्य आदि पण्डित इसी प्रकार के हैं। तार्किक साहित्य के इतिहास की दृष्टि से ये सब उल्लेख विशेष महत्त्व के नही हैं। तथापि जैनधर्म के सामाजिक प्रभाव के इतिहास में उन का विशिष्ट स्थान है।

१००. **ऋणनिर्देश**—प्रस्तुत ग्रंथ की प्रतिया प्राप्त कराने में श्री.ब्र.माणिकचन्द्रजी चवरे, कारंजा तथा श्री. डॉ.विद्याचन्द्रजी शाह,बम्बई ने सहायता की। श्री बलात्कारगण मन्दिर, कारंजा, श्री. चन्द्रप्रभ मंदिर, भुलेश्वर, बम्बई तथा श्री माणिकचद हीराचंद ग्रंथ भाडार,चौपाटी, बम्बई के अधिकारियों ने प्रतिया उपयोगार्थ दीं। हुम्मच के जैन मठ के श्री. देवेन्द्रकीर्ति स्वामीजी ने वहा की प्रति के उपयोग की अनुमति दी तथा पं. भुजबलिशास्त्री, मुडबिद्री के सहयोग से इस प्रति के पाठान्तर मिल सके। इस प्रस्तावना के प्रारम्भ मे दिया हुआ भावसेन के समाधि-लेख का चित्र भारतशासन के प्राचीन लिपिविद्, उटकमंड, के कार्यालय से मिला तथा उन्हों ने इसके प्रकाशन की अनुमति दी। वहां के सहायक लिपिविद् श्री. श्रीनिवास रित्ती के सहयोग से इस लेख का वाचन प्राप्त हुआ। उन्हों ने भावसेन की ग्रन्थ के अन्तिम भाग की प्रशस्ति के कन्नड पद्यों के संशोधन में भी सहायता दी। इन सब महानुभावों के सहयोग के लिए हम हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करते हैं। अन्त में जीवराज जैन ग्रन्थमाला के प्रबंधकवर्ग तथा प्रधान सम्पादक डॉ. जैन एवं डॉ. उपाध्ये के प्रति भी हम आभार व्यक्त करते हैं। उन के उदार सहयोग एवं प्रोत्साहन से ही यह कार्य इस रूप में सम्पन्न हो सका है।

जावरा, १५-८-१९६२. — सम्पादक.

श्री-भावसेन-त्रैविद्यदेव-विरचितः

विश्वतत्त्वप्रकाशः



। ॐ नमः । परमात्मने नमः ।

विश्वतत्त्वप्रकाशाय परमानन्दमूर्तये।
अनाद्यनन्तरूपाय नमस्तस्मै परात्मने ॥ १ ॥

[१. चार्वाकाणां पूर्वपक्षे जीवनित्यत्वे अनुमानाभावः ।]

ननु[1] अनाद्यनन्तरूप इति विशेषणमात्मनः कथं योयुज्यते । कायाकारपरिणतियोग्येभ्यो भूतेभ्यश्चैतन्यं जायते । जलबुद्बुदवदनित्या जीवा इत्यभिधानात् । न केषामपि मते जीवस्यानाद्यनन्तत्वग्राहकं प्रमाणं जाघटयते । न तावत् प्रत्यक्षं तद्ग्राहकं प्रमाणं, तस्य संबद्धवर्तमानार्थविषयत्वेन अनाद्यनन्तत्वग्रहणायोगात् । नानुमानमपि तद्ग्राहकं प्रमाणं, तथाविधानुमानाभावात् । अथास्त्यनुमानं[2] तद्ग्राहकं जीवः सर्वदास्ति सदकारणत्वात्[3] पृथ्वीवदिति[4] चेन्न । हेतोर्विशेष्यासिद्धत्वात्[5] । कथमिति चेत्-कायाकारपरिणतभूतचतुष्टयाच्चैतन्योत्पत्तेश्चार्वाकैरङ्गीकृतत्वात् ।

[सारानुवाद]

मंगलाचरण—जो संपूर्ण तत्त्वों को प्रकाशित करते हैं, अनादि तथा अनन्त है और परम आनन्द की मूर्ति हैं ऐसे परमात्माको नमस्कार हो।

१. चार्वाक दर्शन विचार—ग्रन्थ के प्रारम्भ में चार्वाक दार्शनिक पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते हैं–मंगलाचरण में परात्मा को अनादि तथा अनन्त कहा यह योग्य नही। शरीर के आकार को प्राप्त हुए भूतों (पृथ्वी, जल, तेज, वायु) से ही चैतन्य उत्पन्न होता है। जीव पानी के बुद्बुद के समान अनित्य है। जीव को अनादि-अनन्त कहनें के लिये कोई प्रमाण प्राप्त नही होता। प्रत्यक्ष प्रमाण से केवल वर्तमान समय से सम्बद्ध पदार्थों

१ चार्वाकः। २ जीवास्तिसाधकवादी। ३ संश्च अकारणश्च तस्य भावः। ४ चार्वाकमते पृथ्वी सर्वदास्ति। ५ अकारणत्वात् इति विशेष्यः सदिति विशेषणम्।

सदिति विशेषणमपि सर्वदा सत्त्वं विवक्षितं कदाचित् सत्त्वं वा विवक्षितम्। प्रथमपक्षे असिद्धत्वं[1] सर्वदा सत्त्वस्य साध्यसमत्वात्। द्वितीयपक्षे विरुद्धत्वं कदाचित् सत्त्वस्य सर्वदास्तित्वविपरीतप्रसाधकत्वात्। अथ[2] जीवः सर्वदास्ति सदकार्यत्वात् पृथ्वीवदिति चेन्न[3]। अस्यापि तद्दोषेणैव[4] दुष्टत्वात्। अथ जीवः सर्वदास्ति विभुत्वात् आकाशवदिति चेत् न। हेतोः प्रतिवाद्यसिद्धत्वात्[5]। अथ जीवः सर्वदास्ति अमूर्तत्वात् आकाशवदिति चेत् न। हेतोः क्रियाभिर्व्यभिचारात्[6]। ननु [7]तत्परिहारार्थममूर्तद्रव्यत्वादित्युच्यते, तर्हि चार्वाकमते जीवस्य पृथग्द्रव्यत्वाभावात् प्रतिवाद्यसिद्धो हेत्वाभासः। अथ जीवः सर्वदास्ति निरवयवत्वात् परमाणुवदिति चेन्न। पूर्ववत् क्रियाभिर्व्यभिचारात्। तत्परिहारार्थं निरवयवद्रव्यत्वादित्युक्ते द्रव्यत्वस्य पूर्ववदसिद्धत्वाच्च। अथ जीवः सर्वदास्ति चेतनत्वात्,

का ही ज्ञान होता है। अतः अनादि-अनन्त जीव का ज्ञान उस से नही हो सकता। अनुमान से भी यह ज्ञान होना सम्भव नहीं। जीव पृथ्वी के समान सत्-अकारण है (विद्यमान है और किसी कारण से उत्पन्न नही हुआ है) इस लिये जीवका सर्वदा अस्तित्व रहता है– यह अनुमान योग्य नही क्यों कि चार्वाक मत से जीव अकारण नही है– वह शरीर के आकार में परिणत चार भूतोंसे ही उत्पन्न होता है। दूसरा बात यह है कि यहां जीवका अस्तित्व सिद्ध करना है और जीव का अस्तित्व ही उस का हेतु बतलाया है यह योग्य नही। इसी प्रकार जीव सत्-अकार्य है अतः सर्वदा विद्यमान रहता है यह अनुमान भी दोषयुक्त समझना चाहिये। जीव आकाश के समान व्यापक है अतः सर्वदा विद्यमान रहता है यह अनुमान भीं योग्य नही, क्यों कि चार्वाक दर्शन में जीव का व्यापक होना स्वीकार नही किया है। जीव आकाश के समान अमूर्त तथा निरवयव है अतः सर्वदा विद्यमान रहता है यह अनुमान भीं योग्य नहीं क्यों कि क्रिया अमूर्त तथा निरवयव होने पर भी सर्वदा विद्यमान नहीं रहती। जीव चेतन है अतः सर्वदा विद्यमान रहता है– जो सर्वदा विद्यमान नही

१ विशेषणस्य असिद्धत्वं हेतोः। २ जीवास्तित्ववादी। ३ चार्वाकः। ४ पूर्वोक्तहेतुदोषेण। ५ जीवो विभुर्वर्तते इति प्रतिवादिना नाङ्गीक्रियते अतः प्रतिवाद्यसिद्धः। ६ क्रिया सर्वदा नास्ति अमूर्तत्वात् इति व्यभिचारः, क्रिया अमूर्तास्ति परंतु सर्वदा नास्ति। ७ क्रिया तु अमूर्ता वर्तते परंतु द्रव्यं न।

यत्सर्वदा नास्ति तच्चेतनं न भवति यथा खरविषाणमिति चेन्न। हेतोरनध्यवसितत्वात्। कथमिति चेत् सपक्षे[1] असत्त्वादनिश्चितव्याप्तिकत्वे पक्षे एव वर्तमानत्वात् दृष्टान्तस्याप्याश्रयहीनत्वाच्च। अथ आद्यं चैतन्यं[3] चैतन्यपूर्वकं चिद्विवर्तत्वात् मध्यचिद्विवर्तवदिति अनादित्वसिद्धिरिति चेन्न। हेतोरकिंचित्करत्वात्। तत्कथमिति चेत् 'सिद्धे प्रत्यक्षादिबाधिते च साध्ये हेतुरकिंचित्करः' [परीक्षामुख ३-३५] इति जैनैरभिहितत्वात्, अत्र त्वाद्यचैतन्यस्य मातापितृचैतन्यपूर्वकत्वेन सिद्धत्वात्। ननु आद्यं चैतन्यं चैतन्योपादानकारणकं[4] चिद्विवर्तत्वात् मध्यचिद्विवर्तवदिति अनादित्वं भविष्यतीति चेन्न। दृष्टान्तस्य साध्यविकलत्वात्। कुत इति चेत् मध्यचिद्विवर्तस्य कायोपादानकारणकत्वेन चैतन्योपादानकारणकत्वाभावात्। अथ अन्त्यं चैतन्यम्[5] उत्तरचैतन्योपादानकारणं चिद्विवर्तत्वात् मध्यचिद्विवर्तवत् इत्यनन्तत्वसिद्धिरिति चेन्न।

होता वह चेतन नही होता– यह अनुमान योग्य नहीं क्यों कि चैतन्य और सर्वदा विद्यमान रहना इन में कोई निश्चित सम्बन्ध नही है। (आकाश सर्वदा विद्यमान रहता है किन्तु चेतन नही होता।) प्रत्येक चैतन्य किसी पूर्ववर्ती चैतन्य का उत्तररूप होता है अतः प्रथम (जन्म समय के) चैतन्य के पहले भी चैतन्य का अस्तित्व होता है– इस प्रकार जीव के अनादि होने का अनुमान किया जाता है किन्तु यह योग्य नही। जन्मसमय के चैतन्य के पहले मातापिता का चैतन्य होता ही है यह प्रत्यक्षसिद्ध होने पर उससे भिन्न अन्य चैतन्य की कल्पना निरर्थक है। जन्मसमय के चैतन्य का उपादानकारण भी चैतन्य ही होगा अतः जन्मके पूर्व चैतन्य का अस्तित्व होता है यह अनुमान भी योग्य नही, क्योंकि जन्म समय के चैतन्य का उपादान कारण शरीर होता है-- उसके लिये किसी अन्य चैतन्य की कल्पना निरर्थक है। प्रत्येक चैतन्य उत्तरवर्ती चैतन्य का उपादान कारण होता है अतः मृत्युसमय का चैतन्य भी उत्तरवर्ती चैतन्य का उपादान कारण होता है– यह अनुमान भी योग्य नही क्यों कि चैतन्य का उपादान कारण शरीर है यह पहले कहा ही है। इस प्रकार अनुमान से जीव के अनादि-अनन्त होने का समर्थन नही होता।

१ सर्वदास्तीत्यादौ सपक्षे आकाशादौ। २ यथा खरविषाणमिति दृष्टान्तस्य। ३ मातृगर्भस्थम्। ४ चैतन्यमेव उपादानकारणं यस्य। ५ मरणसमयम्।

अत्रापि दृष्टान्तस्य साध्यविकलत्वात्[1]। तस्मान्नानुमानं जीवस्यानाद्यनन्तत्वमावेदयति।

[२. जीवनित्यत्वे आगमाभावः।]

आगमोऽपि न तत् प्रतिपादयितुं समर्थः तत्र[2] प्रामाण्याभावात्। आगमो ह्याप्तवचनादिः[3]। आप्तो ह्यवञ्चकोऽभिज्ञः सोऽपि किंचिज्ज्ञत्वाल्लौकिकार्थानेवान्वयव्यतिरेकाभ्यां चक्षुरादिभिरुपलभ्य प्रतिपादयति, न तु जीवस्यानाद्यनन्तत्वादिकम्। तत्परिज्ञाने किंचिज्ज्ञस्य सामर्थ्याभावात्।

अथ सर्वज्ञ एव जीवस्यानाद्यनन्तत्वं प्रत्यक्षतः प्रतिपद्य किंचिज्ज्ञानां प्रतिपादयतीति चेन्न। सर्वज्ञावेदकप्रमाणाभावात्। न तावदागमस्तदावेदकः सर्वज्ञासिद्धावागमस्याप्रामाण्यात्। अप्रमाणादागमात् सर्वज्ञसिद्धेरयोगाच्च। नापि प्रत्यक्षं सर्वज्ञावेदकं प्रमाणम् अत्रेदानीं प्रत्यक्षेण सर्वज्ञस्यानुपलब्धेः। नानुमानमपि तदावेदकं, सर्वज्ञाविनाभाविलिङ्गाभावात्। अथास्त्यनुमानं तदावेदकं-कश्चित् पुरुषः सकलपदार्थसाक्षात्कारी, तद्ग्रहणस्वभावत्वे सति प्रक्षीणप्रतिबन्धप्रत्ययत्वात्[4] यद् यद्ग्रहणस्वभावत्वे सति प्रक्षीणप्रतिबन्धकप्रत्ययं तत् तत् सकलपदार्थसाक्षात्कारि, यथा अपगततिमिरं लोचनं रूपसाक्षात्कारि, तथा चायं कश्चित् पुरुषः, तस्मात्

२. आगम प्रमाणका अभाव—आगम प्रमाणसे भी जीव का अनादि-अनन्त होना ज्ञात नही होता। आप्त पुरुष के वचन आदि को आगम कहते हैं तथा जो ज्ञानी है और वंचक नही है उसे आप्त कहते हैं। वह आप्त चक्षु आदि (इन्द्रियों) से और अन्वय-व्यतिरेक को समझ कर (अनुमान से) लौकिक विषयोंका ही ज्ञान प्राप्त कर दूसरों को बतलाता है- जीव के अनादि-अनन्त होनेके समान अलौकिक विषयोंका ज्ञान आप्तको नही होता।

कोई आप्त पुरुष सर्वज्ञ होता है- वह जीवका अनादि-अनन्त स्वरूप प्रत्यक्ष जान कर अल्पज्ञ पुरुषों को बतलाता है यह कहना भी योग्य नही क्यों कि कोई पुरुष सर्वज्ञ होता है यह किसी प्रमाणसे सिद्ध नही होता। आगम प्रमाण से सर्वज्ञ का अस्तित्व बतलाना योग्य नही क्यों कि जब सर्वज्ञ का अस्तित्व सिद्ध नही तबतक उसका कहा हुआ

१ कुतः कार्योपादानकारणत्वेनोत्पन्नत्वात्। २ जीवस्य अनाद्यनन्तत्वसाधने। ३ आदिशब्देन अङ्गुल्यादिपरिग्रहः। ४ कारणत्वात् ज्ञानत्वात् च।

सकलपदार्थसाक्षात्कारीति चेन्न। दृष्टान्तस्य साध्यसाधनोभयविकलत्वात्। कथमिति चेत् सकलपदार्थसाक्षात्कारित्वसाध्यस्य सकलपदार्थग्रहणस्वभावे सति प्रक्षीणप्रतिबन्धप्रत्ययत्वसाधनस्य च अपगततिमिरलोचने अभावात्। अथ सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः कस्यचित् प्रत्यक्षाः, अनुमेयत्वात्, पावकवदिति चेन्न। अनुमेयत्वस्य हेतोरनुमित्या व्याप्तत्वेन[1] प्रत्यक्षाविनाभावाभावात्। कुतः [2]अदृष्टानुमानसामान्यतोदृष्टानुमानविषयेषु[3] अनुमेयत्वसद्भावेऽप्युभयवादिप्रसिद्धप्रत्यक्षाभावात्। असिद्धत्वाच्च। तथा हि–पक्षीकृतेषु देशकालस्वभावविप्रकृष्टार्थेषु अनुमेयत्वादिति हेतोरभावात्। अत एव प्रत्यक्षत्वं[4] न साधयति। अथ कस्यचित् प्रत्यक्षास्ते प्रमेयत्वात् करतलवदित्युच्यते। तर्हि प्रमेयत्वस्यापि प्रमया व्याप्तत्वेन प्रत्यक्षाविनाभावाभावात् न ततः प्रत्यक्षत्वसिद्धिः[5]। अथ सर्वज्ञो धर्मी अस्तीति

आगम प्रमाण नही होगा और ऐसे अप्रमाण आगमसे किसी सर्वज्ञ के अस्तित्व की सिद्धि कैसे होगी? प्रत्यक्ष प्रमाणसे सर्वज्ञका ज्ञान नही होता क्यो कि इस समय यहा सर्वज्ञ नही है यह प्रत्यक्षसे ही स्पष्ट है। अनुमानसे भी सर्वज्ञ का ज्ञान नही होता क्यो कि सर्वज्ञके साथ जिसका अविनाभाव हो ऐसा कोई लिङ्ग (साधन) नही है। सर्वज्ञका अस्तित्व बतलानेवाले जो अनुमान प्रस्तुत किये गये हैं वे उचित नही हैं। यथा– जिस तरह अन्धकार दूर होनेपर चक्षु द्वारा रूप का साक्षात ज्ञान होता है उसी तरह किसी पुरुषके ज्ञानके प्रतिबन्धक कारण हट जाने पर उसे समस्त पदार्थों का साक्षात ज्ञान होता है यह अनुमान योग्य नही। यहां समस्त पदार्थोंका ज्ञान सिद्ध करना है किन्तु उदाहरणरूप चक्षुमें यह सम्भव नही अतः यह अनुमान अयोग्य है। सर्वज्ञकी सिद्धि के लिये दूसरा अनुमान इस प्रकार दिया गया है– सूक्ष्म, अन्तरित तथा दूर के पदार्थ भी किसी पुरुषके द्वारा प्रत्यक्ष जाने जाते हैं क्यो कि वे पदार्थ अनुमेय हैं– अनुमान से जाने गये हैं। (जो पदार्थ अनुमेय हैं वे किसी न किसी पुरुषके प्रत्यक्ष होते ही है।) यह अनुमान योग्य नही क्यो कि

१ अग्न्यादिज्ञानमनुमितिः, अनुमितिस्तु परोक्षा। २ अदृष्टादयः कस्यचित् प्रत्यक्षाः अनुमेयत्वात् इति अदृष्टानुमानम्। ३ यच्च सामान्यतोदृष्टं तदेवं गतिपूर्विका। पुंसि देशान्तरप्राप्तिः यथा सूर्ये गतिस्तथा॥ इत्यादि। ४ अनुमेयत्वं हेतुः कस्यचित् प्रत्यक्षत्वम् इति न साधयति। ५ कस्यचित् प्रत्यक्षा इति सिद्धिर्न।

साध्यते असंभवद्बाधकप्रमाणत्वात् सुखादिवदिति चेत् न। हेतोराश्रयासिद्धत्वात्। अनेकबाधकप्रमाणसंभवेन असंभवद्बाधकप्रमाणस्य स्वरूपासिद्धत्वाच्च। ननु[1] तनुकरणभुवनादिकं बुद्धिमद्हेतुकं[2] कार्यत्वात् पटादिवदित्येतदनुमानं सर्वज्ञावेदकं भविष्यतीति चेन्न। हेतोर्भागासिद्धत्वात्। कुत इति चेत् भवदभिमतस्य कार्यत्वस्य पर्वतादिष्वप्रवर्तनात्[3] तस्मात् सर्वज्ञो नास्ति, अनुपलब्धेः खरविषाणवत्। अथ[4] अत्रेदानीमस्मदादिभिरनुपलम्भेऽपि देशान्तरे कालान्तरे पुरुषान्तरैरुपलभ्यत इति चेन्न। अनुमानविरोधात्। तथा हि। वीतो[5] देशः सर्वज्ञरहितः देशत्वादेतद्देशवत्। वीतः[6] कालः सर्वज्ञरहितः कालत्वात् इदानींतनकालवत्।

अनुमानके विषय प्रत्यक्षके विषय होते ही हैं ऐसा कोई नियम नही है। अदृष्ट तथा सामान्यतो दृष्ट अनुमानके विषय किसी के प्रत्यक्ष न होनेपर भी उनका अनुमान होता है। दूसरा दोष यह है कि सूक्ष्म इत्यादि सभी पदार्थ अनुमान के विषय हैं यह भी नियम नही है। इसी तरह ये पदार्थ प्रमेय हैं (प्रमाणके विषय हैं) अतः किसी के प्रत्यक्ष हैं यह अनुमानभी योग्य नही क्यो कि जो प्रमेय हैं वे सब प्रत्यक्ष ही होते है ऐसा नियम नही है। सर्वज्ञके विषयमें कोई बाधक प्रमाण नही अतः उसका अस्तित्व सिद्ध है यह कहनाभी ठीक नही क्यो कि ऐसे बाधक प्रमाण अनेक हैं (इन का आगे निर्देश करेंगे)। शरीर, इन्द्रिय, भुवन आदि (जगत) कार्य हैं अतः उस का निर्माता कोई बुद्धिमान (सर्वज्ञ) होना चाहिये यह अनुमानभी योग्य नही क्यों कि जगत मे पर्वत इत्यादि भाग कार्य नही हैं (अतः उनका निर्माता होना चाहिये यह कल्पना व्यर्थ है)। इस प्रकार किसी प्रमाणसे सर्वज्ञ का ज्ञान नही होता अतः सर्वज्ञका अस्तित्व नही है यही मानना योग्य है। इस समय इस प्रदेशमें इन पुरुषोंको सर्वज्ञका ज्ञान न होता हो किन्तु अन्य समय अन्य प्रदेश में अन्य पुरुषोंको सर्वज्ञका ज्ञान होता है यह कहना भी योग्य नही। इस समय इस प्रदेशमे ये पुरुष है उसी प्रकार सब समय सब प्रदेशोंमें सब पुरुष (अल्पज्ञ) होते है यही अनुमान योग्य है। इस तरह सर्वज्ञ का अस्तित्व सिद्ध नही होता अतः

१ नैयायिकः। २ सर्वज्ञहेतुकम्। ३ पर्वतास्तु सदा वर्तन्ते एव, न कार्यरूपाः, अतः कार्यत्वादयं हेतुः पर्वतेषु न प्रवर्तते। ४ नैयायिकः। ५ विवादापन्नः। ६ वि विशेषम् इतः प्राप्तः वीतः।

चीतः पुरुषः सर्वज्ञं न पश्यति पुरुषत्वात् अस्मदादिवदिति । सर्वज्ञाभावात् तत्प्रणीतागमाभावः । अथ[१] सर्वज्ञप्रणीतागमाभावेऽपि अपौरुषेयागमसद्भावात् स एव जीवस्यानाद्यनन्तत्वमावेदयतीति चेन्न । पदसंदर्भरूपत्वेन आगमस्यापौरुषेयत्वायोगात् । तथा हि । वेदवाक्यानि पौरुषेयाणि वाक्यत्वात् कादम्बरीवाक्यवत् । एवमागमस्य प्रामाण्याभावात् कथं तेन जीवस्यानाद्यनन्तत्वादिकं वेविद्यसे त्वम् । तस्मात् तद्ग्राहकप्रमाणाभावात् सादिसनिधन एव जीवो अजाघटिष्ट[२] ।

[३. चार्वाकसंमतं जीवस्वरूपम् ।]

तथा च प्रयोगाः[३] । जीवः कादाचित्कः द्रव्यत्वे सति प्रत्यक्षत्वात् । जीवः कादाचित्कः विशेषगुणाधिकरणत्वात्[४], द्रव्यत्वावान्तरसामान्यवत्त्वात्[५], क्रियावत्त्वाच्च, पटवदिति च । एवं च

देहात्मिका देहकार्या देहस्य च गुणो मतिः ।
मतत्रयमिहाश्रित्य जीवाभावोऽभिधीयते ॥

(प्रमाणवार्तिकभाष्य पृ. ५३)

सर्वज्ञप्रणीत आगमका भी अस्तित्व नही जिससे जीवका अनादि-अनन्त होना ज्ञात हो सके । सर्वज्ञप्रणीत आगम न होने पर भी अपौरुषेय आगम (वेद)से जीवका अनादि-अनन्त होना सिद्ध होता है यह कथन भी योग्य नही क्यों कि आगम अपौरुषेय नही हो सकते । कादम्बरी आदि ग्रन्थों के समान सभी वाक्यरचना पुरुषकृत होती है अतः वेदवाक्य भी पुरुषकृत हैं— अपौरुषेय नही । अतः जीव का अनादि-अनन्त होना किसी प्रमाणसे सिद्ध नही होता ।

३. अब जीव के स्वरूप के विषय में चार्वाक दार्शनिकों के विचार प्रस्तुत करते हैं— जीव कादाचित्क (कुछ समय तकही विद्यमान) है क्यों कि वह प्रत्यक्ष का विषय द्रव्य है, विशेष गुणों का आधार है, द्रव्यत्व से भिन्न सामान्य (जीवत्व)से युक्त है, तथा क्रियायुक्त है । चार्वाकों ने जीव का अभाव तीन प्रकारसे माना है— बुद्धि देहात्मक है, देह का कार्य है अथवा देह का गुण है (स्वतन्त्र जीव नामक कोई पदार्थ

१ मीमांसकः । २ भृशं संघटते स्म । ३ अनुमान । ४ बुद्धिसुखदुःखादिविशेषगुणाः । ५ द्रव्यत्वं च तदवान्तरसामान्यं ।

इत्ययमप्युपपन्न एव। अत्रापि प्रयोगसद्भावात्। देहात्मको जीवः देहादन्यत्रानुपलब्धेः शिरादिवदिति पुरंदरः[1]। देहकार्यो[2] जीवः देहान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात् उच्छ्वासवदित्युद्भटः। देहगुणो जीवः देहाश्रितत्वात् देहस्य रूपादिवदित्यविद्धकर्णः। तस्मात् पृथिव्यप्तेजोवायुरिति चत्वार्येव तत्त्वानि। कायाकारपरिणतेभ्यस्तेभ्य[3]श्चैतन्यं[4] पिष्टोदकगुडधातुकीसंयोगान्मदशक्तिवत्। तच्च गर्भादिमरणपर्यन्तं जीवादिव्यपदेशभाक् प्रवर्तते। गर्भात् पूर्वकाले मरणादुत्तरकाले च तस्याभावात् पूर्वशरीरकृतादृष्टं तत्फलभोगश्च यतः संपद्यते[5]। अथ[6] पूर्वजन्मकृतादृष्टाभावे केचित् श्रीमन्तः केचिद् दरिद्राः केचित् स्तुत्याः केचिन्निन्द्याः केचित् पूज्याः केचिदपूज्याः इत्यादिविचित्रव्यवस्था कथं घोभवीतीति चेन्न। अदृष्टरहितेषु शिलादिषु[7] तादृग्विचित्रव्यवस्थोपलम्भात्। अथ तत्रापि तदाश्रित[8]जीवादृष्टात् शिलादीनां पूजादिकमिति चेन्न। अन्यकृतादृष्टेनान्यस्य फलभोगे कृतनाशाकृताभ्यागमदोषप्रसंगात्। अपसिद्धान्तापातश्च।

नही है)। जैसे कि पुरन्दर आचार्य ने कहा है– शिरा इत्यादि के समान जीव भी देहात्मक है क्यो कि देह को छोडकर अन्यत्र कहीं जीव पाया नही जाता। उद्भट आचार्य ने कहा है–उच्छ्वास के समान जीव का भी अन्वय और व्यतिरेक देह के अनुसार होता है (जो कार्य शरीर के है वे ही जीव के हैं तथा जो शरीर के कार्य नही है वे जीव के भी नही है)। अतः जीव देह का कार्य है। अविद्धकर्ण आचार्य ने कहा है– रूप इत्यादि के समान जीव भी देहका गुण है क्यो कि वह देहपर आश्रित है। सागश यह कि पृथिवी, जल, तेज तथा वायु ये चारही तत्त्व है। ये ही शरीर के आकार में परिणत होते है तब उनसे चैतन्य उत्पन्न होता है। जैसे आटा, पानी, गुड, धातकी इनके संयोगसे मादकता उत्पन्न होती है उसी प्रकार यह चैतन्य की उत्पत्ति समझना चाहिये। गर्भसे मरण पर्यन्त उसी चैतन्य को जीव आदि नाम दिये जाते है। गर्भ से पहले और मरण के बाद इस चैतन्य का अस्तित्व नही होता। अतः पूर्वजन्म के शरीर द्वारा

१ पुरन्दरः उद्भटः अविद्धकर्णः इति चार्वाकभेदा.। २ देहस्तु कारणं जीवः कार्यरूपः। ३ पृथिव्यादिभ्यश्चतुर्भ्यः। ४ उपजायते। ५ न कुतोऽपि। ६ मीमांसकः। ७ प्रतिमासु। ८ शिलाश्रित।

'कर्ता यः कर्मणां भोक्ता तत्फलानां स एव हि।'
(स्वरूपसंबोधन श्लो० १०)

इत्यभिधानात्। तस्मात् स्तुतिपूजादयो नादृष्टप्रभवाः स्तुतिपूजादित्वात् शिलादीनां स्तुतिपूजादिवत्[1]। वोतं चित्रं[2] नादृष्टप्रभवं विचित्रत्वात् पाषाणादिवैचित्र्यवत्[3]। इति लौकायत[4] मतसिद्धिः॥

[४. उत्तरपक्षे जीवानित्यतानिषेधः।]

अत्र प्रतिविधीयते। ये तावदुक्ता जीवस्य कादाचित्कत्वे प्रयोगास्ते तावद् विचार्यन्ते। तत्र प्रत्यक्षैकप्रमाणवादिनश्चार्वाकस्यानुमानप्रामाण्या-

संपादित अदृष्ट और उस अदृष्ट के फल का उपभोग इनकी कल्पना योग्य नही है। यदि अदृष्ट नही हो तो कुछ श्रीमान होते है, कुछ दरिद्र होते हैं, कुछ स्तुत्य और कुछ निन्द्य होते हैं, कुछ आदरणीय और कुछ तिरस्करणीय होते हैं इस भेद का क्या कारण है यह आक्षेप भी योग्य नही। पत्थरो के कोई अदृष्ट नही होता फिर भी उन में यह सब भेद पाया जाता है। (कोई पत्थर देव प्रतिमा के रूप में पूजा जाता है, कोई वैसे ही पडा रहता है। जैसे पत्थरों मे यह भेद स्वाभाविक है वैसे ही जीवो में भी समझना चाहिये।) पत्थरो मे पाया जानेवाला भेद भी उनमें आश्रित जीवों के अदृष्ट के कारण ही होता है यह कहना भी योग्य नही। अदृष्ट का उपार्जन जीव करे और उसका फल पत्थर को प्राप्त हो यह कथन दोषयुक्त है क्यो कि 'जो कर्म करता है वही उस के फल को भोगता है' यह आपका सिद्धान्त है। अतः अदृष्ट के आधार से जीव के पूर्वजन्म और पुनर्जन्म की कल्पना योग्य नही है। इस प्रकार चार्वाक मत का पूर्वपक्ष है।

४. अब जैन दर्शन के अनुसार इस पूर्वपक्ष को उत्तर देते हैं। चार्वाक मत में सिर्फ प्रत्यक्ष प्रमाण माना है अतः अनुमान के द्वारा वे जीव की अनित्यता सिद्ध करें यह योग्य नही। व्यवहार से अनुमान को प्रमाण मान कर यह युक्तिवाद किया है ऐसा कहा जा सकता है किन्तु

१ यथा शिलादीनां स्तुतिपूजादिक अदृष्टप्रभवं न। २ केचित् सुखिनः केचित् दुःखिनः इति। ३ यथा पाषाणादिवैचित्र्यं अदृष्टप्रभवं न तथा अन्यत्रापि वैचित्र्यम् अदृष्टप्रभवं न। ४ चार्वाकमत।

भावात् कथं तेन जीवस्य कादाचित्कत्वं प्रसाध्यते। अथ[1] अनुमानस्य संवृत्या[2] प्रामाण्यमिष्यत इति चेत् तथापि भवदुक्तानुमानानामनेकदोषदुष्टत्वान्न स्वेष्टसिद्धिः। तथा हि। जीवः कादाचित्कः द्रव्यत्वे सति प्रत्यक्षत्वात् पटवदित्यत्र प्रत्यक्षत्वं नाम[3] बाह्येन्द्रियप्रत्यक्षत्वं स्वसंवेदनप्रत्यक्षत्वं मानसप्रत्यक्षत्वं वा। प्रथमपक्षे स्वरूपसिद्धो हेतुः, जीवस्य बाह्येन्द्रियप्रत्यक्षत्वाभावात्। द्वितीयपक्षे बाध्यसिद्धो हेत्वाभासः चार्वाकमते जीवस्य भूतजन्यत्वेन पटादिवत् स्वसंवेदनप्रत्यक्षाभावात्, भावे[4] वा पटादौ स्वसंवेदनप्रत्यक्षत्वाभावात् साधनविकलो दृष्टान्तः। तृतीयपक्षेऽपि साधनशून्यं निदर्शनं, पटादिदृष्टान्ते मानसप्रत्यक्षत्वाभावात्। द्रव्यत्वे सतीति विशेषणमपि बाध्यसिद्धं, जीवस्य स्वयं पृथग् द्रव्यत्वानङ्गीकारात्। अङ्गीकारे वा नित्यं चैतन्यम् अद्व्यणुकातीन्द्रियद्रव्यत्वात्[5] परमाणुवदिति नित्यत्वसिद्धेर्विरुद्धं विशेषणम्। भूभृधरादिहेतोर्व्यभिचारश्च, तत्र द्रव्यत्वे सति प्रत्यक्षत्वहेतोः सद्भावेऽपि कादाचित्कत्वसाध्याभावात्[6]। यदप्यन्यदनु-

यह युक्तिवाद निर्दोष भी नही है। जीव की अनित्यता बतलाने के लिये चार्वाकोंने जो अनुमान दिया है– जीव प्रत्यक्ष का विषय द्रव्य है अतः अनित्य है– वह योग्य नही क्यों कि बाह्य इन्द्रियों से जीव का प्रत्यक्ष ज्ञान नही होता। स्वसंवेदन से अथवा मानस प्रत्यक्ष से जीव का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है यह समाधान भी ठीक नही क्यों कि चार्वाक मत में जीव को पृथ्वी आदि भूतों से उत्पन्न माना है अतः वस्त्र इत्यादि के समान उस में भी स्वसंवेदन या मानस प्रत्यक्ष सम्भव नही। चार्वाक जीव को स्वतन्त्र द्रव्य नही मानते अतः जीव प्रत्यक्ष का विषय द्रव्य है यह युक्ति वे किस प्रकार दे सकते हैं। यदि जीव द्रव्य है तो परमाणु के समान ही अतीन्द्रिय होने से उस को भी नित्य मानना उचित है। दूसरा दोष यह है कि भूमि, पर्वत इत्यादि प्रत्यक्ष के विषय द्रव्य हैं फिर भी अनित्य नही हैं– सर्वदा विद्यमान है। अतः जो प्रत्यक्ष के विषय हैं वे द्रव्य अनित्य हैं यह कोई नियम नही है। दूसरा अनुमान यह दिया है कि जीव विशेष गुणों का आधार है अतः अनित्य है– यह भी योग्य नही।

१ चार्वाकः। २ लोकव्यवहारेण। ३ भो चार्वाक। ४ जीवस्य स्वसंवेदनप्रत्यक्षत्वभावे। ५ अद्व्यणुक च तत् अतीन्द्रियद्रव्यं च। ६ पर्वतादयस्तु कादाचित्का न भवन्ति।

मानं न्यरीरचत्, जीवः कादाचित्कः विशेषगुणाधिकरणत्वात्[1] पटादिवदिति, तदप्यसत्। हेतोर्बाध्यसिद्धत्वात्। कुत इति चेत् चार्वाकमते चैतन्यस्य विशेषगुणाधिकरणत्वाभावात्। भावे वा नित्यं चैतन्यं द्व्यणुकान्यातीन्द्रियत्वे सति विशेषगुणाधिकरणत्वात परमाणुवदिति विपरीतप्रसाधकत्वाद् विरुद्धः। परमाणुभिर्व्यभिचारश्च। कुतः परमाणुषु रूपादिविशेषगुणाधिकरणत्वसद्भावेऽपि कादाचित्कत्वाभावात्। अथ व्यभिचारपरिहारार्थं परमाण्वन्यत्वे[2] सतीति विशेषणमुपादीयत इति चेन्न। चार्वाकमते चैतन्यस्य परमाण्वन्यत्वासिद्धेः[3]। कुतः तस्य भूतात्मकत्वाङ्गीकारात्। तन्मते पृथिव्यप्तेजोवायुपरमाणूनामेव भूतशब्दवाच्यत्वमितरस्य[4] भूतकार्यत्वं, कार्यस्य कारणात्मकत्वमिति प्रतिपादनात्। तस्य चैतन्यस्य पृथग् द्रव्यत्वाङ्गीकारे नित्यं चैतन्यम् अद्व्यणुकातीन्द्रियद्रव्यत्वात् परमाणुवदिति विपरीतसाधनाद् विरुद्धो हेतुः स्यात्। यदप्यन्यदनुमानं न्यरूरुपत्-जीवः कादाचित्कः द्रव्यत्वावान्तरसामान्यवत्त्वात् घटादिवदिति

एक तो चार्वाक मत में जीवको विशेष गुणों का आधार माना नही है। दूसरे परमाणु रूपादि विशेप गुणों के आधार हैं किन्तु वे नित्य हैं। अतः विशेप गुणों का आधार जीव भी नित्य होना चाहिये। इस अनुमान में परमाणु का अपवाद करके भी यह दोप दूर करना सम्भव नही क्यों कि चार्वाक मत में पृथ्वी आदि परमाणुओंसे ही चैतन्य की उत्पत्ति मानी है। यदि चैतन्यको परमाणुओंसे भिन्न पृथक् द्रव्य मानें तो परमाणुके समान अतीन्द्रिय होनेसे चैतन्य को भी नित्य द्रव्य मानना होगा। जीव द्रव्यत्वसे भिन्न सामान्यसे युक्त है अतः अनित्य है।यह अनुमान भी दोषयुक्त है। परमाणुओं में भी द्रव्यत्व से भिन्न सामान्य (परमाणुत्व) पाया जाता है किन्तु वे नित्य हैं। इसी तरह पर्वत भी द्रव्यत्व से भिन्न सामान्यसे युक्त हैं किन्तु वे भी नित्य हैं। इस लिये द्रव्यत्वसे भिन्न सामान्य से युक्त होने पर जीव को भी नित्य मानना चाहिये। जीव क्रियायुक्त है अतः घट इत्यादि के समान वह भी अनित्य है यह अनुमान

१ ज्ञानादिगुणः। २ परमाणुरहितत्वे सति। ३ चैतन्यं परमाणुभूतमेव नान्यत इति चार्वाकमतम्। ४ चैतन्यस्य।

तदप्यचारु, हेतोः परमाणुभि[1]र्व्यभिचारात्। अथ अनणुत्वे सति द्रव्यत्वावान्तरसामान्यवत्त्वादित्युच्यते तथापि हेतोः पर्वतैरनेकान्तः। कथं पर्वतेषु अनणुत्वे सति द्रव्यत्वावान्तरसामान्यवत्त्वस्य सद्भावेऽपि कादाचित्कत्वाभावात्। यदप्यन्यदनुमानं प्रत्यपीपदत्-जीवः कादाचित्कः क्रियावत्त्वात् घटादिवदिति तदप्यनुचितम्। परमाणुषु क्रियावत्त्वसद्भावेऽपि कादाचित्कत्वाभावात्। अथ[2] अनणुत्वे सति क्रियावत्त्वादिति हेतुः सोप्यसाधुः। ज्योतिर्गणेषु अनणुत्वे सति क्रियावत्त्वसद्भावेऽपि कादाचित्कत्वाभावेन तैरनेकान्तात्। अथ तेषाम् उदयास्तसद्भावात् कादाचित्कत्वमस्तीति चेन्न। ध्रुवताराद्दीनामुदयास्तरहितानां बहूनामप्युपलम्भात्। अथ तेषामप्यह्न्यदर्शनाद् रात्रौ दर्शनात् कादाचित्कत्वमिति चेत् तर्हि भूधरादीनामपि[3] तथा स्यादित्यतिप्रसज्यते। एतेन यदप्यन्यदवादीत् जीवः कादाचित्कः विशिष्टाकारधारित्वात् अवान्तरपरिमाणाधारत्वात् पटादिवदिति तन्निरस्तम्। पर्वतादिभि[4]र्हेतोरनेकान्तसद्भावात्।

भी दोषयुक्त है। परमाणु क्रियायुक्त होते है किन्तु अनित्य नही होते। इसी प्रकार ग्रह-नक्षत्र भी क्रियायुक्त है किन्तु नित्य है। ग्रह नक्षत्रों का उदय और अस्त होता है अतः वे अनित्य है यह कहना ठीक नही क्यों कि ध्रुवतारा जैसे कई नक्षत्रो का कभी अस्त नही होता। ध्रुवभी दिनमे दिखाई नही देता अतः वह भी अनित्य है यह कहना भी अयोग्य है क्यों कि ऐसा मानने पर पर्वत आदि को भी अनित्य कहना होगा— पर्वत भी रात के अन्धेरेमे दिखाई नही देते। अतः क्रियायुक्त होने से जीव को अनित्य कहना योग्य नही। इसी प्रकार जीव विशिष्ट आकार का है, अवान्तर परिमाण का आधार है अतः अनित्य है यह अनुमान भी सदोष समझना चाहिये क्यो कि पर्वत इत्यादि पदार्थ भी विशिष्ट आकार और अवान्तर परिमाण के धारक होते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट हुआ कि चार्वाकों द्वारा जीव को अनित्य सिद्ध करनेके लिये जो अनुमान दिये गये वे गलत है।

१ परमाणुषु द्रव्यत्वावान्तरसामान्यवत्त्वेऽपि कादाचित्कत्वाभावात्। २ भो चार्वाक अथ एवम्। ३ भूधरादीनाम् अह्नि दर्शनं रात्रौ अदर्शनं वर्तते परंतु न ते कादाचित्काः। ४ पर्वतादिषु विशिष्टाकारधारित्वसद्भावेऽपि कादाचित्कत्वाभावात्।

[५. जीवनित्यता-समर्थनम् ।]

तस्मादनाद्यनन्तो जीवः अद्व्यणुकत्वे सति अतीन्द्रियद्रव्यत्वात् निरवयवद्रव्यत्वाच्च परमाणुवत् । अथ जीवस्य निरवयवत्वमसिद्धमिति चेन्न । जीवो निरवयवः अद्व्यणुकत्वे बाह्येन्द्रियग्रहणायोग्यत्वात् परमाणुवदिति निरवयत्वसिद्धेः । तर्हि द्रव्यत्वमसिद्धमिति चेन्न । जीवो द्रव्यं गुणाधारत्वात् परमाणुवदिति द्रव्यत्वसिद्धेः । अथ गुणाधारत्वमप्यसिद्धमिति चेन्न । तत्साधकप्रमाणसद्भावात् । तथाहि शब्दादिज्ञानं क्वचिदाश्रितं गुणत्वात् रूपादिवत् । अथ ज्ञानस्य गुणत्वमसिद्धमिति चेन्न । ज्ञानं गुणः क्रियान्यत्वे[1] सति निर्गुणत्वात्[2] अवयविक्रियान्यत्वे सति उपादानाश्रितत्वात् रूपादिवदिति गुणत्वसिद्धेः । अथ तथापि शब्दादिज्ञानस्य शरीरा-[3]श्रितत्वाङ्गीकारेण सिद्धसाध्यत्वाद् गुणत्वादिति हेतोरकिंचित्करत्वमिति चेन्न । तस्य तदाश्रितत्वे[4] बाधकसद्भावात् । शरीरं न ज्ञानादिगुणाश्रयं[5]

५. अब जीव को अनादि-अनन्त सिद्ध करनेवाले अनुमान प्रस्तुत करते हैं । जीव परमाणु के समान अतीन्द्रिय तथा निरवयव द्रव्य है (इन्द्रियों से जीव का ग्रहण नही होता और जीव के अवयव नही होते– वह एक अखण्ड द्रव्य है) अतः वह अनादि-अनन्त है । जीव निरवयव है क्यों कि बाह्य इन्द्रियों से उस का ग्रहण नही हो सकता । जीव द्रव्य है क्यों कि वह (ज्ञान आदि) गुणो का आधार है । जैसे रूप आदि गुणों का आधार परमाणु है उसी प्रकार ज्ञान आदि गुणो का आधार जीव है । ज्ञान क्रिया से भिन्न है और स्वयं निर्गुण है अतः ज्ञान एक गुण है और वह जिस द्रव्यके आधार से रहता है वही जीव द्रव्य है । जैसे रूप आदि गुण क्रियासे भिन्न और स्वयं निर्गुण हैं तथा परमाणु के आधारसे रहते हैं उसी प्रकार ज्ञान और जीव का सबन्ध समझना चाहिये । शब्द आदि का ज्ञान शरीर पर ही आश्रित है अतः उस के आधार के रूप मे जीव की कल्पना व्यर्थ है यह आक्षेप उचित नही । शरीर ज्ञान का आधार नही हो सकता क्यों कि वह वस्त्र आदि के समान मूर्त, अचेतन तथा भूतों (पृथिवी आदि)

१ क्रियारहितत्वे सति । २ क्रियाया निर्गुणत्वमस्ति तर्हि किं क्रिया गुणः अत उक्तं क्रियान्यत्वे सति । ३ शरीरमेव जीवः । ४ शरीराश्रितत्वे । ५ ज्ञानादिगुणानाम् आश्रयभूतम् ।

भूतविकारत्वात्। मूर्तत्वात् अचेतनत्वात् पटवत्। ज्ञानं वा न शरीरगुणः सति शरीरे निवर्तमानत्वात् व्यतिरेके शरीरगन्धवदिति[1]। ननु इन्द्रियाश्रितत्वेन[2] सिद्धसाध्यतेति चेन्न। तस्यापि बाधितत्वात्। नेन्द्रियाणि ज्ञानादिगुणवन्ति करणत्वात् भूतविकारत्वाज्जडत्वात् मूर्तत्वात् कुठारवदिति। ज्ञानादयो नेन्द्रियगुणाः सतीन्द्रिये निवर्तमानत्वात् व्यतिरेके[3] इन्द्रियरूपादिवत्। अन्तःकरणाश्रितत्वेऽप्येते[4] हेतवः[5] प्रयोक्तव्याः। तस्मात् ज्ञानादयो जीवगुणाः अर्थावबोधकत्वात् अजडत्वात् स्वसंवेद्यत्वात् स्वप्रतिपत्तौ परनिरपेक्षत्वात् व्यतिरेके[6] रूपादिवदिति जीवस्य ज्ञानादिगुणाधारत्वात् द्रव्यत्वसिद्धिः।

से बना हुआ है। इसी प्रकार ज्ञान भी शरीर का गुण नही हो सकता क्यों कि (मृत अवस्था मे) शरीर के विद्यमान होते हुए भी उस में ज्ञान नही होता। जो शरीर का गुण हो– जैसे शरीर का गन्ध है– वह सर्वदा शरीर में रहता है। इसी प्रकार इन्द्रिय भी ज्ञान के आधार नही हैं क्यों कि इन्द्रिय भूतों (पृथिवी आदि)से बने हैं, मूर्त हैं तथा करण (साधन) हैं– जैसे कुठार होता है। ज्ञान इन्द्रियों का गुण नहीं है क्यों कि (मृत अवस्था में) इन्द्रियों के विद्यमान होते हुए भी ज्ञान नही होता। जो इन्द्रियों के गुण हैं– जैसे इन्द्रियों के रूप आदि– वे सर्वदा इन्द्रियों में विद्यमान रहते हैं। इसी प्रकार अन्तःकरण भी ज्ञान का आधार नही है– ज्ञान अन्तकरण का गुण नही है। ज्ञान इत्यादि जीव के गुण हैं क्यों कि वे अर्थों का बोध कराते हैं, जड नही हैं, स्वसंवेद्य हैं– उन की प्रतीति के लिये किसी दूसरे (व्यक्ति या पदार्थ) की आवश्यकता नही होती। रूप इत्यादि शरीर के गुण हैं, उन मे अर्थों का बोध कराना आदि ये विशेषताएं नही हैं। इस प्रकार ज्ञानादि गुणों के आधार के रूप में जीव द्रव्य का अस्तित्व सुनिश्चित है।

१ यस्तु शरीरगुणो भवति स तु शरीरे न निवर्तते यथा शरीरगन्धः। २ इन्द्रियं न ज्ञानादिगुणाश्रयं भूतविकारत्वात् मूर्तत्वात् अचेतनत्वात् घटवत्। ३ यस्तु इन्द्रियगुणो भवति स तु सतीन्द्रिये न निवर्तते यथा इन्द्रियरूपादि। ४ शब्दादिज्ञानस्य अन्तःकरणाश्रितत्वेऽपि। ५ मूर्तत्वात् जडत्वात् इत्यादि। ६ यस्तु जीवगुणो न भवति स अर्थावबोधको न भवति यथा रूपादि।

[६. जीवस्य देहात्मकत्वनिषेधः ।]

यदप्यन्यदवादीत्–देहात्मको जीवः देहादन्यत्रानुपलब्धेः शिरादिवदिति। तत्र अक्षेणा[1]नुपलब्धिर्हेतुर्लिङ्गादिना[2]नुपलब्धिर्वा। प्रथमपक्षे देहादन्यत्रेति विशेषणमनर्थकं देहेऽप्यक्षेण जीवस्यानुपलब्धेः। तथा च सर्वत्रा[3]नुपलभ्यमानं कथं देहात्मकं प्रसाध्यते। न कथमपि। द्वितीयपक्षे असिद्धो हेतुः लिङ्गादिना देहादन्यत्र[4] जीवस्योपलब्धेः। तथा जीवो देहादन्यत्रापि तिष्ठति द्रव्यत्वात् परमाणुवदिति अनुमानात्। 'असरीरा जीवघणा' इत्याद्यागमश्च। आगमस्याप्रामाण्यमिति चेन्न। तत्प्रामाण्यस्याग्रे विस्तरेण समर्थनात्। साधनशून्यं च निदर्शनम्[5]। शिरादीनां देहादन्यत्रानुपलब्धेरभावात्। यदप्यन्यदवोचत्–जीवः शरीरादनन्यः शरीरव्याघातेन व्याहन्यमानत्वात्, यो यद्व्याघातेन व्याहन्यते स ततो नान्यः, यथा तन्तुव्याघातेन व्याहन्यमानः पटः, तथा चायं तस्मात् तथेति–तदप्यचर्चिताभिधानं दृष्टान्तस्य साध्य[6]साधनो[7]भयविक-

६. अब चार्वाक आचार्यों ने जीव का जो स्वरूप कहा है उसका क्रमशः खण्डन करते हैं। शिरा आदिके समान जीव भी देहात्मक है क्यों कि वह देह से अन्यत्र नही पाया जाता यह (पुरन्दर आचार्य का) विधान योग्य नही। जीव के अन्यत्र न होने का ज्ञान प्रत्यक्ष से होगा या अनुमान आदि से होगा। प्रत्यक्ष से तो देह में भी जीव का अस्तित्व ज्ञात नही होता फिर वह देहात्मक है यह कैसे सिद्ध किया जाय। दूसरे, अनुमान आदिसे देह से अन्यत्र भी जीव का अस्तित्व पाया जाता है। जीव परमाणु के समान द्रव्य है अतः वह देहसे अन्यत्र भी पाया जाता है– यह अनुमान है तथा '(सिद्ध) शरीररहित एवं केवल चैतन्यरूप होते हैं' यह आगम प्रमांण है– इन प्रमाणों से देह से अन्यत्र भी जीव का अस्तित्व ज्ञात होता है। यह आगम अप्रमाण है यह आक्षेप भी योग्य नही। आगम के प्रामाण्य का हम आगे विस्तार से समर्थन करेंगे। तन्तुओं का नाश होने पर वस्त्र का नाश होता है उसी प्रकार शरीर का नाश होने पर जीव का भी नाश होता है अतः जीव

१ प्रत्यक्षप्रमाणेन। २ अनुमानप्रमाणेन। ३ देशकाले। ४ देहं विना। ५ दृष्टान्तः शिरादिवत्। ६ साध्यात् शरीरात् दृष्टान्तः घटो भिन्नः। ७ शरीरनाशे घटो न नश्यति।

लत्वात्। अथ जीवः शरीरादनन्यः शरीरव्याघातेन व्याहन्यमानत्वात् शरीररूपवदिति भविष्यतीति चेन्न। विचारासहत्वात्। शरीरव्याघातेन व्याहन्यमानत्वं नाम शरीरविनाशेन विनाशित्वं, शरीरच्छेदेन छेद्यत्वं, शरीरभेदेन दुःखित्वं वा। प्रथमपक्षे असिद्धो हेतुः। शरीरविनाशात् पूर्वमेव शरीरे जीवाभावस्य[1] निश्चितत्वेन शरीरविनाशाद् विनाश्यत्वाभावात्। जीवः शरीरविनाशान्न विनश्यति, निरवयवद्रव्यत्वात् अतीन्द्रियद्रव्यत्वाच्च परमाणुवदिति प्रमाणाच्च। द्वितीयपक्षेऽप्यसिद्धो हेतुः। जीवो न छेद्यः तत एव[2] तद्वदिति[3]। दृष्टान्तोऽपि[4] साधनविकलः। रूपादीनां निरवयवत्वेन छेद्यत्वाभावात्। तृतीयपक्षेऽपि साधनशून्यं निदर्शनम्। रूपादीनामचेतनत्वेन दुःखित्वाभावात्। तस्माज्जीवो न शरीरात्मकः चेतनत्वात्, अजडत्वात् अनणुद्व्यणुकत्वे सति[5] बाह्येन्द्रियग्रहणायोग्यत्वात्, अनणुत्वे सति निरवयवद्रव्यत्वात्, स्पर्शादिरहितद्रव्यत्वाच्च, व्यतिरेके[6]

शरीर से भिन्न नही है– यह युक्तिवाद भी दोषयुक्त है। यहा जीव और शरीर से सम्बद्ध उदाहरण देना चाहिये–वस्त्र के नाश होने से शरीर या जीव का सम्बन्ध नही है। शरीर नष्ट होने पर शरीर का रूप नष्ट होता है उसी प्रकार जीव नष्ट होता है अतः जीव शरीर से अभिन्न है– यह युक्तिवाद भी ठीक नहीं। एक दोष तो यह है कि शरीर से भिन्न कोई जीव नामक द्रव्य नही है ऐसा चार्वाक मानते हैं अतः शरीर के नष्ट होनेपर जीव नष्ट होता है यह विधान निरर्थक होता है। परमाणु के समान जीव भी निरवयव तथा अतीन्द्रिय द्रव्य है अतः उस का नाश नही होता– यह अनुमान भी उक्त विधान में बाधक है। शरीर के छेदन करने पर जीव भी छिन्न होता है यह कहना भी इसी प्रकार दोषयुक्त है। दूसरे, शरीर के रूप का जो उदाहरण दिया है उस में भी यह विधान लागू नही होता क्यों कि रूप गुण निरवयव है अतः उसका छेदन नही हो सकता। शरीर को दुःख होने पर जीव दुःखी होता है अतः वे अभिन्न हैं– यह विधान भी सदोष है क्यों कि (शरीर तथा) शरीर का

१ चार्वाकमते सर्वथा जीवाभावः। २ निरवयवद्रव्यत्वात् अतीन्द्रियद्रव्यत्वात्। ३ परमाणुवत्। ४ शरीररूपादिवत् अयं दृष्टान्तः। ५ बाह्येन्द्रियग्रहणायोग्यत्वम् अणुषु विद्यते तथा द्व्यणुके चास्ति तत्रातिव्याप्तिस्तद्व्यावृत्त्यर्थम् अनणु-अद्व्यणुकत्वे सति विशेषणम्। ६ यः शरीरात्मको भवति स चेतनो न भवति यथा गिरादिः।

शिरादिवत्। शरीरं वा न जीवात्मकम् अचेतनत्वात्, जडत्वात्, जन्यत्वात्, रूपादिमत्त्वात् अनित्यत्वात्, सावयवत्वात्, बाह्येन्द्रियग्राह्यत्वात्, पटवदिति प्रतिपक्षसिद्धिः।

[७. जीवस्य देहकार्यत्वनिषेधः।]

यदप्यन्यदब्रवीत्–जीवो देहकार्यः देहान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात् उच्छ्वासवदिति, तदप्यसमञ्जसम्। कुतः, हेतोरसिद्धत्वात्। तथा हि। सति[1] भवनमन्वयः, असत्यभवनं[2] व्यतिरेकः। तत्र इदं शरीरं निरात्मकं प्राणादिरहितत्वात् लोष्टादिवदिति सति शरीरेऽपि जीवाभावो निश्चीयते इत्यन्वयाभावः। जीवो धर्मी शरीराभावेऽपि तिष्ठतीति साध्यो धर्मः पृथग्द्रव्यत्वात् निरवयवद्रव्यत्वात् अतीन्द्रियद्रव्यत्वाच्च परमाणुवदिति व्यतिरेकाभावः। एवं जीवस्य शरीरान्वयव्यतिरेकाभावादसिद्धत्वं

रूप आदि अचेतन है–उन में सुख-दुःख का अनुभव संभव नही है। इस प्रकार यह स्पष्ट हुआ कि जीव चेतन है, जड नही है, बाह्य इन्द्रियों से उसका ग्रहण नही हो सकता, वह निरवयव है तथा स्पर्श आदिसे रहित है अत: जीव शरीरात्मक नही है। शिरा आदि जो शरीर के भाग हैं उन में चेतन होना आदि ये विशेषताएं नहीं होतीं। इसी प्रकार शरीर जीवात्मक नही है क्यों कि वह अचेतन है, जड है, उत्पन्न होता है, रूप आदि से युक्त है, अनित्य है, अवयवसहित है तथा बाह्य इन्द्रियों से ज्ञात होता है। अचेतन होना आदि ये विशेषताएं वस्त्र आदि जड पदार्थों में ही होती हैं– जीव में नही होतीं। अत: जीव शरीर से भिन्न है।

७. उद्भट आचार्यके मतका खण्डन—उच्छ्वास के समान जीव के अन्वय और व्यतिरेक शरीर के अनुसार होते है अत: जीव शरीर का कार्य है यह (उद्भट आचार्य का) कहना योग्य नही क्यों कि जीव के अन्वय और व्यतिरेक शरीर के अनुसार नही होते। मृत अवस्था में शरीर विद्यमान होता है किन्तु जीव नही होता अत: जीव का शरीर के साथ अन्वय निश्चित नही है। शरीर के विना भी जीव का अस्तित्व पहले सिद्ध किया है। अत: शरीर के साथ जीव का व्यतिरेक भी नही

१ देहे सति। २ देहे असति।

हेतोर्निश्चीयते। उच्छ्वासस्य वायूपादानकारणकत्वेन वायुकार्यत्वात्[1] शरीरकार्यत्वाभावात् साध्यविकलो दृष्टान्तश्च। तस्मान्न शरीरकार्यो[2] जीवः चेतनत्वात् अजडत्वात् बाह्येन्द्रियग्रहणायोग्यत्वात् निरवयवद्रव्यत्वात् स्पर्शरहितद्रव्यत्वाच्च, व्यतिरेके[3] शरीरे क्रियावत्। शरीरं वा न जीवोपादानकारणम् अचेतनत्वात् जडत्वात् जन्यत्वात् रूपादिमत्त्वात् सावयवत्वात् बाह्येन्द्रियग्राह्यत्वात् पटवदिति प्रतिपक्षसिद्धिः।

[८. जीवस्य देहगुणत्वनिषेधः।]

यदप्यन्यदचूचुदत् देहगुणो जीवः देहाश्रितत्वात् शरीररूपादिवदिति, तदप्यनधीताभिधानं हेतोरनेकदोषदुष्टत्वात्। तथा हि। देहाश्रितत्वं नाम देहसंयुक्तत्वं देहसमवेतत्व देहात्मकत्वं वा। न प्रथमपक्षः श्रेयान् हेतोः विरुद्धत्वात्। कथमिति चेत् द्रव्ययोरेव संयोगनियमात्। शरीरसंयुक्तत्वं

है। दूसरा दोष यह है कि यहा उच्छ्वास का उदाहरण दिया है किन्तु उछ्वास वायु का कार्य है – शरीर का नही। जीव चेतन है, जड नही है, वाह्य इन्द्रियों से उस का ग्रहण नही होता, वह निरवयव है तथा स्पर्श आदि से रहित है अतः जीव शरीर का कार्य नही हो सकता। शरीर की क्रियाओं मे चेतन होना आदि ये विशेषताएं नही होतीं। इसी प्रकार शरीर अचेतन है, जड है, उत्पन्न होता है, रूपादि युक्त है, अवयवसहित है तथा वाह्य इन्द्रियों से ज्ञात होता है अतः शरीर जीवका उपादान कारण नही हो सकता।

८. **अविद्धकर्ण आचार्यका खण्डन**—शरीर के रूप के समान जीव भी शरीर पर आश्रित है अतः जीव शरीर का गुण है यह (अविद्धकर्ण आचार्य का) कथन भी दोषयुक्त है। शरीर पर आश्रित कहने का तात्पर्य शरीर से संयुक्त, शरीर से समवेत या शरीरात्मक होना हो सकता है। ये तीनों पर्याय सम्भव नही है। संयोग दो स्वतन्त्र द्रव्यों में

१ उच्छ्वासस्य वायुकार्यत्वात् वायुकारणक उच्छ्वास इत्यर्थः वायुः कारणं उच्छ्वासः कार्यम्। २ शरीरं कारणं जीवः कार्यं शरीरादुत्पन्नत्वात्। ३ यत्तु शरीरकार्यं भवति तच्चेतनं न भवति तदजडं न भवति यथा शरीरे क्रियादिः। क्रिया शरीरकार्यं वर्तते तर्हि चेतनरूपा नास्ति।

पटवत्[2] जीवस्य द्रव्यत्वमेव साधयतीति। द्वितीयपक्षे असिद्धो हेतुः। आवयोर्मते[2] समवायाभावेन समवेतत्वानङ्गीकारात्। अङ्गीकारे वा परमत-प्रवेशः स्यात्। तृतीयपक्षेऽप्यसिद्धो हेत्वाभासः। जीवस्य देहात्मकत्वाभावे चेतनत्वादिहेतूनां प्रागेव निरूपणात्। तस्मान्न देहगुणो जीवः बाह्येन्द्रिया-ग्राह्यत्वात् अयावद्द्रव्यभावित्वात्[3] व्यतिरेके[4] शरीररूपवत्। कायो वा न चैतन्यगुणवान् अचेतनत्वात् जडत्वात् जन्यत्वात् रूपादिमत्वात् अनित्यत्वात् सावयवत्वात् बाह्येन्द्रियग्राह्यत्वात् पटवदिति[5] प्रतिपक्षसिद्धिः। एवं च सति

'देहात्मिका देहकार्या देहस्य च गुणो मतिः।
मतत्रयमिहाश्रित्य जीवाभावोऽभिधीयते ॥'

इत्येतन्नोपपनीपद्यत[6] एव।

[९. पुनर्भवसमर्थनम्।]

यदप्यन्यत् प्रत्यतिष्ठिपत्—तस्मात् पृथिव्यप्तेजोवायुरिति चत्वार्येव तत्त्वानि, कायाकारपरिणतेऽभ्यस्तेभ्यश्चैतन्यं पिष्टोदकगुडाधातकी-

होता है। अतः जीव शरीर से संयुक्त है ऐसा कहें तो जीव और शरीर ये दो द्रव्य मानने होंगे जो चार्वाकों को इष्ट नही है। जैनों के समान चार्वाक भी समवाय सम्बन्ध नही मानते अतः जीव शरीर से समवेत है यह कहना भी उनके लिये योग्य नही। जीव शरीरात्मक नही है यह पहले स्पष्ट किया है। इस प्रकार जीव शरीर का गुण नही है क्यों कि वह बाह्य इन्द्रियों से ज्ञात नही होता और सर्वदा शरीर के साथ नही रहता। (जो गुण होता है वह सर्वदा द्रव्य के साथ रहता है— जैसे शरीर का रूप सर्वदा शरीर में रहता है।) इस प्रकार जीव के विषय में चार्वाक आचार्यों की कल्पनाओं का निरास हुआ।

९. पुनर्भवका समर्थन—जीव का अनादि-अनन्त स्वरूप इस प्रकार स्पष्ट होने पर पृथिवी आदि भूतों के शरीर रूप मे परिणत होने पर चैतन्य उत्पन्न होता है, गर्भ से पहले तथा मरण के बाद चैतन्य का अस्तित्व नही होता, पूर्वजन्म के अदृष्ट के फल की कल्पना निर्मूल है

१ शरीरपटयोः संयुक्ततरम्। २ जैनचार्वाकयोः। ३ न यावद्द्रव्यभावित्वात् अयावद्द्रव्यभावित्वात् गुणस्तु यावद्द्रव्यभावी भवति। ४ यस्तु देहगुणो भवति स बाह्येन्द्रियग्राह्यो न भवति चेतनो न भवति यथा शरीरे रूपम्। ५ यथा पटः चैतन्य-गुणो न चैतन्यमेव गुणो यस्य सः। ६ न संभवति।

संयोगान्मदशक्तिवत्, तच्च गर्भादिमरणपर्यन्तं जीवादिव्यपदेशभाक् प्रवर्तते, गर्भात् पूर्वकाले मरणादुत्तरकाले च तस्याभावात्, पूर्वशरीरकृतादृष्टं तत्फलभोगश्च यतः संपद्यत इति, तदपि स्वमनोरथमात्रम्। प्रागेव जीवस्यानाद्यनन्तत्वसमर्थनात् अपि च वीतं[1] चैतन्यम् एकसंतानपूर्वचैतन्यजन्यं चिद्विवर्तत्वात् मध्यचिद्विवर्तवदिति निर्दुष्टानुमानाज्जीवस्य पूर्वभवसिद्धेः। वीतं चैतन्यम् एकसंतानोत्तरचैतन्यजनकं चिद्विवर्तत्वात् मध्यचिद्विवर्तवदिति निर्दुष्टानुमानाज्जीवस्योत्तरभवसद्भावाच्च। पूर्वभवकृतादृष्टं तत्फलभोगश्च एतद्भवमासनीस्यते[2]। एतद्भवकृतादृष्टं तत्फलभोगश्च उत्तरभवमाचनीस्कयते[3]।

[१०. अदृष्टस्वरूपम्।]

किं च अदृष्टाभावे केचिज्जीवाः श्रीमन्तः केचिद् दरिद्राः केचित् स्तुत्याः केचिन्निन्द्याः केचित् पूज्याः केचिदपूज्याः इत्यादि विचित्रव्यवस्था कथं जाघटयते। अथादृष्टरहितेषु शिलादिषु तादृग्विचित्रव्यवस्थावत् देहिनामपि पूज्यत्वादिव्यवस्था बोभूयते इति चेन्न। शिलादीनामपि खरपृथिवीकायिकादि[4]जीवभोगायतत्वेन[5] तददृष्टादेव स्तुतिपूजादि[6]संभवात्

आदि कथन में कुछ सार नही रहता। प्रत्येक चैतन्य पूर्वक्षण में विद्यमान चैतन्य का ही उत्तररूप होता है अतः गर्भसमय के चैतन्य के पूर्वक्षण में भी चैतन्य का अस्तित्व होना चाहिये। प्रत्येक चैतन्य का उत्तररूप अनन्तरक्षण का चैतन्य होता है अतः मरणसमय के चैतन्य के अनन्तरक्षण में भी चैतन्य का अस्तित्व होना चाहिये। अतः जीव को पूर्वजन्म के अदृष्ट का फल इस जन्म में भोगना पडता है तथा इस जन्म के अदृष्ट का फल अगले जन्म में भोगना पडता है यह मानना आवश्यक है।

१०. अदृष्टका स्वरूप—अदृष्ट का अस्तित्व न माने तो कोई जीव श्रीमान होते हैं, कोई दरिद्र होते हैं, कोई स्तुत्य और कोई निंद्य होते है, कोई पूज्य और कोई तिरस्करणीय होते है इस भेद की उपपत्ति नही लगती। पत्थरों में जैसे स्वाभाविक भेद है वैसे जीवों मे भी मान कर इस आक्षेप का समाधान नही होता

१ विवादापन्नम्। २ आगच्छति। ३ आगच्छति। ४ खरपृथिवीकायिकजीवाना शिलादयः भोगायतनम्। ५ भोगायतनं शरीरम्। ६ शिलादीनाम्।

अदृष्टरहितत्वासिद्धेः। अथ जीवादृष्टात् तद्भोगायतनस्य कथं स्तुतिपूजादिकमिति चेदुच्यते[1]। भोक्तुरदृष्टाद् भोगो भोग्यवर्गश्च[2] निष्पद्यते। तत्र स्वात्मनि वर्तमानसुखदुःखसाक्षात्कारो भोगः। इन्द्रियान्तःकरणानुकूलप्रतिकूलाभ्यामात्मनः सुखदुःखोत्पादको भोग्यवर्गः। तत्र तत्पुण्योदयात् शुभशरीरेन्द्रियान्तःकरणानां तदनुकूलपदार्थानां च निष्पत्तिः प्राप्तिरनुभुक्तिः तद्विपरीता[3]नामनिष्पत्तिरप्राप्तिरननुभुक्तिः सुखसाक्षात्कृतिश्च भवति। तत्पापोदयादशुभशरीरेन्द्रियान्तःकरणानां प्रतिकूलपदार्थानां च निष्पत्तिः प्राप्तिरनुभुक्तिस्तद्विपरीतानाम[4]निष्पत्तिरप्राप्तिरननुभुक्तिर्दुःखसाक्षात्कृतिश्च भवति। सकलपदार्थानां तत्तद्भोक्तृभोग्यत्वेन तत्तददृष्टनिष्पन्नत्वान्नादृष्टाजन्यं[5] किंचित् कार्यवैचित्र्यमस्ति। तस्माददृष्टस्यानुकूलप्रतिकूलपदार्थनिष्पादकप्रापकानुभावकप्रकारेण सुखदुःखलक्षणफलोत्पादने पर्यवसानम्[6]।

क्यों कि पत्थर भी खरपृथिवीकायिक जीवों के शरीर हैं अतः उन जीवों के अदृष्ट के अनुसार उन को स्तुति, पूजा आदि की प्राप्ति होती है। जीव के अदृष्ट से शरीर को स्तुतिपूजादि प्राप्त होना सम्भव नही यह आक्षेप भी उचित नही। अदृष्ट का फल भोग और भोग्यवर्ग इन दो साधनों से मिलता है। जीव को अपने आप में सुखदुःख आदि का साक्षात् अनुभव होता है यह भोग है। इंद्रिय और अन्तःकरण के अनुकूल या प्रतिकूल हो कर सुख या दुःख उत्पन्न करे वह भोग्यवर्ग है। पुण्य का उदय हो तो शुभ शरीर, इन्द्रिय और अन्तःकरण प्राप्त होते हैं, अनुकूल पदार्थ प्राप्त होते है तथा उन से सुख का अनुभव प्राप्त होता है। पाप का उदय हो तो अशुभ शरीर, इंद्रिय और अन्तःकरण प्राप्त होते हैं, प्रतिकूल पदार्थ प्राप्त होते हैं तथा उन से दुःख का अनुभव प्राप्त होता है। अतः अदृष्ट के फल के विना कोई कार्य उत्पन्न नही होता।

१ मया जैनेन। २ स्त्र्यादिः भोग्यवर्गः भोग्यवर्गात् समुत्पन्नसुखदुःखसाक्षात्कारो भोगः। ३ शुभशरीरेन्द्रियान्तःकरणप्रतिकूलानाम्। ४ अशुभशरीरेन्द्रियान्तःकरणविपरीतानाम्। ५ भोक्तृ। ६ परिसमाप्तिः।

[११. अदृष्टसमर्थनम् ।]

अथ अदृष्टास्तित्वं कथं निश्चीयत इति चेदुच्यते । अनुभूयमानं सुखदुःखादिकं निर्हेतुकं सहेतुकं वा[1] । निर्हेतुकत्वे सुखादिकं सर्वदा सदेव स्यात् निर्हेतुकत्वात् पृथ्वीवत् । अथवा सुखादिकं सर्वदा असदेव स्यात् निर्हेतुकत्वात् खरविषाणवदित्यतिप्रसंगः स्यात् । न चैवं, कादाचित्कत्वदर्शनात्[2] । ततः सहेतुकत्वमङ्गीकर्तव्यम्[3] । तत्रापि समानोद्योगिनां[4] मध्ये कस्यचित् संपूर्णफलं कस्यचित् त्रिपादफलं कस्यचिदर्धफलं कस्यचिन्निष्फलं कस्यचिद् विपरीतफलं भवतीति दृष्टकारणव्यभिचारात्[5] विचित्रमदृष्टकारणमस्तीति निश्चीयते । एवं च सति स्वकृतादृष्टात् स्वकीयपदार्थस्तुतिपूजादिव्याजेन स्वस्यैव सुखदुःखोत्पत्तेः कृतनाशाकृताभ्यागमदोषस्याप्रसंगः नापसिद्धान्तापातोऽपि । एतेन यदप्यनुमानद्वयमभ्यधायि[6] –स्तुतिपूजादयो नादृष्टप्रभवाः स्तुतिपूजादित्वात् शिलादीनां स्तुतिपूजादिवत्, वीतं चित्रं नादृष्टप्रभवं विचित्रत्वात् पाषाणादिवैचित्र्यवदिति, तन्निरस्तम् । उभयत्र दृष्टान्तस्य साध्यविकलत्वात् ।

११. अब अदृष्ट का अस्तित्व स्पष्ट करते हैं । जीव को सुखदुःखदि का जो अनुभव मिलता है वह अकारण नही है । अकारण वस्तु या तो पथ्वी आदि के समान सर्वदा विद्यमान होती है या खरविपाण के समान कभी विद्यमान नही होती । सुखदुःख का अनुभव सर्वदा विद्यमान या सर्वदा अविद्यमान नही है–कादाचित्क है अतः वह अकारण नही है । दूसरे, समान काम करनेवाले जीवों में किसी को उस काम का पूरा फल मिलता है, किसी को पौन भाग, किसी को आधा फल मिलता है । किसी का काम निष्फल होता है तो किसी को उलटा फल भी मिलता है । इस विचित्रता का कोई दृष्ट कारण नही है अतः अदृष्ट कारण होना चाहिये । इस प्रकार पृथिवीकायिक जीव को उसी के द्वारा किये कर्म का स्तुतिपूजादि फल मिलता है अतः कृतनाश या अकृताभ्यागम दोप की यहां सम्भावना नही है तथा हमारे सिद्धान्त के विरुद्ध

१ भो चार्वाक जैनः पृच्छति । २ सुखदुःखस्य च कादाचित्कत्वदर्शनात् । ३ सुखदुःखादेः । ४ समान-उद्यमीनाम् । ५ समानोद्योगः दृष्टकारणं तस्य व्यभिचारः कथं समानोद्योगेऽपि कस्यचित् संपूर्णफलं कस्यचित् त्रिपादफलम् इत्यादि व्यभिचारः । ६ त्वया चार्वाकेण ।

पाषाणादीनां स्तुतिपूजादिवैचित्र्यस्यादृष्टप्रभवत्वसमर्थनात्। तस्माज्जीवस्य पृथग्द्रव्यत्वेन पृथ्वीवदनादित्वसिद्धेः सुखदुःखादिवस्तुवैचित्र्येणादृष्टसिद्धेश्च न लौकायतमतसिद्धिः, अपि तु जैनमतसिद्धिरेव अबोभूयिष्ट।

[१२. उत्तरपक्षोपसंहारे जीवस्य प्रमाणग्राह्यत्वम्।]

यदपि प्रत्यूचिरे चार्वाकाः-ननु अनाद्यनन्तरूप इति विशेषणमात्मनः कथं योयुज्यते, कायाकारपरिणतियोग्येभ्यो भूतेभ्यश्चैतन्यं जायते, जलबुद्बुदवदनित्या जीवा इत्याभिधानात्, न केषामपि मते जीवस्य अनाद्यनन्तत्वग्राहकं प्रमाणं जाघटयते इति, तत् प्रलापमात्रमेव। जीवस्यानेकप्रमाणादनाद्यन्तत्वसमर्थनात्। चैतन्यं न देहात्मकं न देहकार्यं न देहगुणोऽपि। प्रबन्धेन[1] प्रमाणतः प्रागेव समर्थनाच्च। यदन्यदब्रुवन्-न तावत् प्रत्यक्षं तद्ग्राहकं[2] प्रमाणं तस्य संबद्धवर्तमानार्थविषयत्वेन अनाद्यनन्तत्वग्रहणायोगादिति, तत्रास्मदादिप्रत्यक्षं तत्तथैव[3] बोभवीति। योगिप्रत्यक्षं तु तद्ग्रहणसमर्थं[4] बोभवीत्येव। अथ योगिप्रत्यक्षाभावात् तत्-कथं[5] तद्ग्रहणसमर्थं[6] स्यादिति चेन्न। तस्येदानीमेव[7] पुरतः समर्थनात्।

भी यह वर्णन नही है। इस लिये पत्थरों के स्तुतिपूजा का उदाहरण देकर अदृष्ट का खण्डन करना योग्य नही। अदृष्ट के अस्तित्व का समर्थन होने से जीव का पृथक् द्रव्य होना तथा पृथ्वी आदि के समान अनादि होना भी स्पष्ट होता है।

१२. चार्वाक आक्षेपपर विचार—जीव को अनादि-अनन्त कहने के लिये कोई प्रमाण नही अतः मंगलाचरण में प्रयुक्त अनाद्यनन्तरूप यह विशेषण योग्य नही यह आक्षेप चार्वाकों ने प्रस्तुस्त किया था। इस का अब उत्तर देते हैं। चैतन्य देह का कार्य नही है, देह का गुण नही है तथा देहात्मक भी नही है यह पहले स्पष्ट किया ही है। उन अनुमानों से जीव के अनादि अनन्त होने का स्पष्ट समर्थन होता है। प्रत्यक्ष प्रमाण से सम्बद्ध तथा वर्तमान पदार्थों का ही ज्ञान होता है अतः अनादि अनन्त होते का ज्ञान उस से नही हो सकता यह कहना हम जैसे साधारण पुरुषों के प्रत्यक्ष ज्ञान के लिये ठीक है। किन्तु योगियों

१ विस्तरेण। २ जीवस्य अनाद्यनंतत्वग्राहकम्। ३ अनाद्यनन्तत्वग्राहकम्। ४ जीवस्य अनाद्यनन्तत्वग्रहणे। ५ योगिप्रत्यक्षम्। ६ अनाद्यनन्तत्व। ७ योगिप्रत्यक्षस्य।

यदप्यन्यद्वादिषुः[1]-नानुमानमपि तद्ग्राहकं[2] प्रमाणं तथाविधानुमानाभावादिति तदप्यसांप्रतं[3] तद्ग्राहकानेकानुमाननिरूपणात्।

[१२. आगमप्रामाण्ये सर्वज्ञसद्भावः।]

यदप्यन्यत् प्रत्यवातिष्ठिपत्-आगमोऽपि न तत्[4] प्रतिपादयितुं समर्थः तस्य तत्र[5] प्रामाण्याभावात्, आगमो ह्याप्तवचनादिः, आप्तो ह्यवञ्चकोऽभिज्ञः, सोऽपि किंचिज्ज्ञत्वादित्यादि, तदप्यनात्मज्ञभाषितम्। आगमप्रणेतुराप्तस्य सर्वज्ञत्वाङ्गीकारात्। अथासौ[6] कथमङ्गीक्रियते, तदावेदकप्रमाणाभावात्, न तावदागमस्तदावेदकः तथाविधागमाभावादिति चेन्न। सर्वज्ञावेदकागमस्य सद्भावात्। तथा हि।

'यः सर्वाणि चराचराणि विधिवद् द्रव्याणि तेषां गुणान्।
पर्यायानपि भूतभाविभवतः सर्वान् सदा सर्वथा।
जानीते युगपत् प्रतिक्षणमतः सर्वज्ञ इत्युच्यते।
सर्वज्ञाय जिनेश्वराय महते वीराय तस्मै नमः॥' इति।

[उद्धृत–पञ्चास्तिकाय-तात्पर्यटीका, गा. १३५]

के प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा अनादि-अनन्त स्वरूप भी ज्ञात हो सकता है। योगि-प्रत्यक्ष के अस्तित्व में भी चार्वाकों का विश्वास नही है। किन्तु हम शीघ्र ही उस का अस्तित्व सिद्ध करेंगे।

१३. सर्वज्ञसद्भावपर विचार—आगम प्रमाण से जीव का अनादि-अनन्त रूप ज्ञात नही होता, क्यों कि ऐसे विषयों में आगम प्रमाण नही होता-आदि कथन भी योग्य नही है, क्यो कि (जैन दर्शन मे) आगम के प्रणेता सर्वज्ञ का अस्तित्व स्वीकार किया है। सर्वज्ञ के अस्तित्व के लिये कोई प्रमाण नही यह कथन भी योग्य नही क्यों कि निम्नलिखित आगम प्रमाण से सर्वज्ञ का अस्तित्व ज्ञान होता है। यथा– 'जो संपूर्ण चर तथा अचर द्रव्य, उन के गुण तथा भूतकाल, वर्तमानकाल एवं भविष्यकाल के संपूर्ण पर्यायों को पूर्णतः विधिवत् सर्वदा–प्रतिक्षण जानते हैं – और इसी लिये जिन्हें सर्वज्ञ कहा जाता है उन सर्वज्ञ महावीर जिनेश्वर को नमस्कार हो।' इस आगम के प्रमाण होने मे आक्षेप करना भी उचित

---

१ चार्वाकाः। २ अनाद्यनन्तत्व। ३ अघटमानम्। ४ अनाद्यनंतत्वम्। ५ अनाद्यनन्तग्रहणे। ६ सर्वज्ञः।

अथास्य[1] प्रामाण्याभावात् कथं सर्वज्ञमावेदयतीति चेन्न। अयमागमः प्रमाणम् अबाधितविषयत्वात् निर्दुष्टप्रत्यक्षवदिति प्रामाण्यसिद्धेः- अथास्याबाधितविषयत्वमसिद्धमिति चेन्न। एतदागमविषये[2] सर्वज्ञे बाधकप्रमाणाभावात्। बाधको हि विषयाभावावेदकः। न तावत् प्रत्यक्षं सर्वज्ञाभावावेदकं, तस्य संबद्धवर्तमानरूपादिगोचरचारित्वेन[3] सर्वज्ञा-भावाविषयत्वात्। विषयत्वे[4] वा सर्वत्र सर्वदा सर्वेषां सर्वज्ञत्वाभावं प्रत्यक्षेण जानत एव सर्वज्ञत्वापातात्[5]। अत्रेदानीं प्रत्यक्षं सर्वज्ञाभावं निश्चिकीयत[6] इति चेत् सत्यमेतत्। अत्रेदानीं सर्वज्ञोऽस्तीति को वै ब्रूयात्, न कोऽपि।

[१४. मीमांसककृतसर्वज्ञनिषेधविचारः।]

मा भूत् प्रत्यक्षं सर्वज्ञाभावावेदकम्, अनुमानं[7] वोभूयत इति मीमांसको[8] वावदीति। तथा हि। वीतः[9] पुरुषः सर्वज्ञो न भवति पुरुषत्वात् रथ्यापुरुषवदिति। तद् विचार्यते। तत्र[10] रागद्वेषाज्ञानरहितपुरुषत्वं

नही क्यों कि निर्दोष प्रत्यक्ष के समान यह आगम प्रमाण भी अबाधितविषय है – इस के द्वारा प्रतिपादित विषय किसी प्रमाण से बाधित नही होता। सर्वज्ञ के अस्तित्व में प्रत्यक्ष प्रमाण बाधक नही हो सकता क्यों कि प्रत्यक्ष से सम्बद्ध और वर्तमान विषयों का ही ज्ञान होता है अतः सर्वज्ञ का अभाव प्रत्यक्ष से ज्ञात नही होता। इस समय यहां सर्वज्ञ नही हैं इतना विधान तो सत्य है। किन्तु सर्वत्र सर्वदा सर्वज्ञ नही है यह प्रत्यक्ष से ज्ञात नही हो सकता। जो व्यक्ति सर्वत्र सर्वदा किसी के अभाव को जाने वह स्वयं ही सर्वज्ञ होगा। अतः प्रत्यक्ष प्रमाण सर्वज्ञ का बाधक नही हो सकता।

१४. मीमांसककृत सर्वज्ञनिषेधका विचार— अनुमान के आधार से सर्वज्ञ का अभाव बतलाने का प्रयास मीमासकों ने किया है उसका अब विचार करते है। मीमासकों का कथन है कि सर्वसाधारण पुरुष के समान सभी पुरुष अल्पज्ञ होते हैं अतः यह (जिसे

१ आगमस्य। २ आगमज्ञेये सर्वज्ञे। ३ विषय। ४ सर्वज्ञाभावविषयत्वे। ५ निश्चयात्। ६ निश्चिनोति। ७ अनुमानं सर्वज्ञाभावावेदकं भवति। ८ मीमासकशब्देन भाट्टप्राभाकराः। ९ मीमासकः सर्वज्ञाभावम् अनुमानेन साधयति। १० अनुमाने।

हेतुस्तत्सहितपुरुषत्वं साधनं पुरुषत्वमात्रं लिङ्गमिति वा व्यचकरपामः[१]। तत्र प्रथमपक्षे विरुद्धो हेतुः। रागद्वेषाज्ञानरहितपुरुषस्य भवदभिमत-साध्यविपरीतप्रसाधकत्वात्[२]। द्वितीयपक्षे असिद्धो हेतुः। विवादाध्यासिते[३] पुरुषे रागद्वेषाज्ञानसहितत्वाभावात्। अथ[४] तदभावं केन निरचैपुर्भवन्त[५] इत्यसावप्राक्षीत्। तदुच्यते। रागद्वेषाज्ञानानि क्वचिन्निःशेषमपगच्छन्ति, तरतमभावेन हीयमानत्वात्। यत्तरतमभावेन हीयमानं तत् क्वचिन्निःशेषमपगच्छति, यथा हेमन्यवलोहम्[६]। तरतमभावेन हीयमानानि चेमानि रागद्वेषाज्ञानानि तस्मात् क्वचिन्निःशेषमपगच्छन्तीत्यनुमानान्निरचैष्म[७]। वीतः पुमान् रागद्वेषाज्ञानरहितः परमप्रकृष्टज्ञानवैराग्यवत्त्वात्, व्यतिरेके[८] रथ्यापुरुषवदिति च वावद्यामहे। तदपि कुतो यूयम-

सर्वज्ञ कहा जाता है वह) पुरुष भी सर्वज्ञ नहीं है। किन्तु यह अनुमान योग्य नही है। पुरुषों मे सब समान नही होते–कोई पुरुष राग, द्वेष तथा अज्ञान से सहित होते हैं, कोई पुरुष राग, द्वेष तथा अज्ञान से रहित होते हैं। हम जिन्हे सर्वज्ञ कहते हे उन मे राग, द्वेष तथा अज्ञान का अभाव है। अत: सिर्फ पुरुष होने से उनके सर्वज्ञ होने का निषेध नही होता। इस पुरुष में राग, द्वेष तथा अज्ञान का अभाव है यह विधान भी निराधार नही – इस का अनुमान से समर्थन होता है। राग, द्वेष तथा अज्ञान तरतमभाव से पाये जाते है – कहीं अधिक होते हैं तथा कहीं कम होते है-अत: किसी पुरुष में उन का पूर्ण अभाव होता है। उदाहरणार्थ सुवर्ण मे कहीं अधिक मल पाया जाता हैं, कहीं कम मल पाया जाता है और कहीं पूर्णत: निर्मल सुवर्ण भी होता है। इसी प्रकार राग, द्वेष तथा अज्ञान भी कहीं अधिक होते हैं, कहीं कम होते हैं तथा कहीं उन का पूर्ण अभाव भी होता है। दूसरा अनुमान यह है कि इस पुरुष में ज्ञान और वैराग्य का परम उत्कर्ष हुआ है अत: यह सर्वज्ञ है। ज्ञान और वैराग्य के परम उत्कर्ष का भी

१ विकल्पान् कुर्महे स्म वयं जैनाः। २ सर्वज्ञप्रसाधकत्वात्। ३ सर्वज्ञत्वेनाङ्गीकृते। ४ मीमांसकः। ५ निश्चयं कुर्वन्ति स्म। ६ किट्टिकादि। ७ वयं जैनाः। ८ यः रागद्वेषाज्ञानरहितो न भवति स परमप्रकर्षज्ञानवान् न भवति यथा रथ्यापुरुषः।

ज्ञासिद्धेत्यसावप्राक्षीत्। तन्निरूप्यते। ज्ञानवैराग्यं क्वचित् परमप्रकर्षमवाप्नोति तरतमभावेन प्रवर्धमानत्वात्. य एवं[1] स एवं यथा सुवर्णवर्णः[2], तथा च ज्ञानवैराग्यं[3] तस्मात् तथे[4]त्यनुमादज्ञासिष्म[5]। पुरुषत्वमात्रस्य सर्वज्ञासर्वज्ञयोः समानत्वेनानैकान्तिकत्वात् न ततः स्वेष्टसिद्धिः। अथ[6] सर्वज्ञाभावात् पुरुषत्वं किंचिज्ज्ञैरेव व्याप्तमिति चेन्न। तदभावस्य केनापि प्रमाणेनानिश्चितत्वात्। एतेन यदप्यनुमानद्वयमगादीत्[7]विवादाध्यासितः पुरुषः सर्वज्ञो न भवति शरीरित्वात् पाण्यादिमत्वाच्च रथ्यापुरुषवदिति तन्निरस्तम्। उक्तदोषस्यात्रापि[8] समानत्वात्।

अथ[9] इदमनुमानं सर्वज्ञाभावं निर्मिमीते[10]। विविदापन्नः पुरुषः सर्वज्ञो न भवति वक्तृत्वात्, रथ्यापुरुषवदिति चेत् तत्रापि[11]दृष्टादृष्टयोर[12]-विरुद्धवक्तृत्वं साधनं, तद्विरुद्धत्वं हेतुः, वक्तृत्वमात्रं वा लिङ्गमिति

अनुमान से समर्थन करते हैं – ज्ञान और वैराग्य में तरतमभाव होता है (कहीं कम और कहीं अधिक प्रमाण होता है) अत. किसी पुरुप में उन का परम उत्कर्प विद्यमान होना है। उदाहरणार्थ-सुवर्ण का रंग कहीं फीका और कहीं उजला होता है और कहीं पूर्णतः उज्ज्वल सुवर्ण भी विद्यमान होता है। इस तरह यह स्पष्ट हुआ कि सिर्फ पुरुप होना सर्वज्ञ होने में बाधक नही है – पुरुप सर्वज्ञ भी हो सकते हैं, और असर्वज्ञ भी हो सकते हैं, इसी तरह शरीरयुक्त होना तथा हाथ पात्र आदि से युक्त होना ये भी सर्वज्ञ होने में बाधक नही हैं।

यह पुरुप सर्वज्ञ नही है क्यों कि यह वक्ता है (उपदेश देता है) यह अनुमान मीमासक प्रस्तुत करते हैं किन्तु यह उचित नहीं। सिर्फ वक्ता होना सर्वज्ञ होने में बाधक नही है। यदि वह वक्ता दृष्ट या अदृष्ट (प्रत्यक्ष से या परोक्ष अनुमानादिप्रमाण से ज्ञात) के विरुद्ध उपदेश देता है तब वह सर्वज्ञ नही हो सकता। किन्तु यदि उस का उपदेश दृष्ट और अदृष्ट के विरुद्ध नही है – अनुकूल है तो वह सर्वज्ञ

१, २ यथा सुवर्णवर्णः परमप्रकर्षमाप्नोति। ३ तरतमभावेन प्रवर्धमानम्। ४ परमप्रकर्षमवाप्नोति। ५ वय जैनाः। ६ मीमांसकः। ७ मीमासकः। ८ तद्विचार्यते तत्र रागद्वेषाज्ञानरहितशरीरित्वं हेतुः तत्सहित। शरीरित्वं साधन शरीरित्वमात्रं वा लिङ्गमिति। पाण्यादिमत्वादिति हेतोः तथा ज्ञातव्यम् ९ मीमासकः। १० करोति। ११ जैनाः। १२ प्रत्यक्षपरोक्षयोः।

चयमप्राक्षम[1]। तत्र प्रथमपक्षे विरुद्धो हेतुः, दृष्टादृष्टाविरुद्धवक्तृत्वस्य भवदुक्तसाध्यविपरीतप्रसाधकत्वात्। द्वितीयपक्षे असिद्धो हेतुः, विवादाध्यासिते पुरुषे[2] दृष्टादृष्टविरुद्धवक्तृत्वाभावात्। अथ तदभावं कथं यूयं निश्चिनुथेत्यप्राक्षीत्[3]। रागद्वेषाज्ञानाभावादेव निश्चैष्मेति वयं ब्रूमः। तदभावोऽपि क्वचित् पुरुषे प्रागेव समर्थित इति उपरम्यते। वक्तृत्वमात्रस्य तु सर्वज्ञासर्वज्ञयोः समानत्वेन व्यभिचारित्वात् न ततः[4] सर्वज्ञसिद्धिरिति।

नानुमानं बाधकमस्ति[5]। आगमस्तु साधक एव न तु बाधकः संपद्यते। 'अनश्नन्[6]न्यो[7] अभिचाकशीती[8]'त्यादेः (मुण्डकोपनिषत् ३-१-१) 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाती'त्यादेश्च (कठोपनिषत् ५-१५) सर्वज्ञप्रतिपादकागमस्य श्रवणात्। अथ[9] आगमस्य कार्यार्थे प्रामाण्याङ्गीकारात् सिद्धार्थे[10] प्रामाण्याभाव इति चेन्न। तस्याग्रे[11] सिद्धार्थेऽपि प्रामाण्यसमर्थनात्। तस्मान्नागमोऽपि बाधकः स्यात्।

होने में बाधक नही है। इस पुरुष का उपदेश दृष्ट और अदृष्ट के विरुद्ध नही है यह कैसे जाना जाता है? – राग, द्वेष और अज्ञान का संपूर्ण अभाव होने से ही यह विशेषता उत्पन्न होती है। इस तरह स्पष्ट हुआ कि सिर्फ वक्ता होना सर्वज्ञ होनेमें बाधक नहीं। सर्वज्ञ और असर्वज्ञ दोनों वक्ता हो सकते हैं।

सर्वज्ञ के अस्तित्व में अनुमान बाधक नही यह अब तक स्पष्ट किया। आगम भी इस विषय में बाधक नही – प्रत्युत साधक है। यथा – 'दूसरा न खाते हुए देखता है', 'उस के तेज से यह सब प्रकाशित होता है' आदि वैदिक वाक्यों से ही सर्वज्ञ का अस्तित्व सूचित होता है। आगम का प्रामाण्य कार्य के विषय मे है अस्तित्व आदि सिद्ध विषयों में नही यह कहना भी योग्य नही – इस का विवरण हम आगे प्रस्तुत करेंगे।

१ पृच्छामः। २ सर्वज्ञत्वे नाङ्गीकृते सर्वज्ञे इत्यर्थः। ३ निश्चयन्ति (?) स्म। ४ अनुमानात्। ५ सर्वज्ञसाधने नानुमानं बाधकम्। ६ अश्नातीति अश्नन् न अश्नन् अनश्नन्। ७ संसारादन्यः। ८ कसगतौ यङ्लुक्। ९ मीमांसकः। १० सर्वज्ञार्थे। ११ आगमस्य।

नाप्युपमानं बाधकम्, दृष्टदृश्यमानयोर्भूयोऽवयवसाम्यादनेन सदृशः पदार्थस्तेन सदृशोऽयमिति वा उपमानम्। तथा च सर्वज्ञाभावस्य अस्मदादिदर्शनायोग्यत्वात् तत्सदृशस्यापरस्यादर्शनाच्च कथमुपमानं सर्वज्ञाभावविषयतया समुत्पद्यते। नार्थापत्तिरपि सर्वज्ञाभावमावेदयति। सर्वज्ञाभावमन्तरेणानुपपद्यमान[1]स्यार्थस्याभावात्। अथ अभावप्रमाणं सर्वज्ञाभावमनुगृह्णातीति चेन्न। तदुत्पत्ति[2]सामग्र्या एव अत्र अनुपपन्नत्वात्। तथा हि।

'गृहीत्वा वस्तुसद्भावं[3] स्मृत्वा च प्रतियोगिनम्[4]।
मानसं नास्ति तज्ज्ञानं जायतेऽक्षानपेक्षया[5] ॥'

(मीमांसाश्लोकवार्तिक, पृ. ४८२)

इत्यभावप्रमाणोत्पादिका सामग्री। एवं च सर्वदेशसर्वकालसर्वपुरुषपरिषद्ग्रहणे सति अन्यत्रान्यदा दृष्टसर्वज्ञस्मरणे सति पश्चादत्र सर्वज्ञो नास्तीति मानसं ज्ञानं जायते। न चेदृशी सामग्री मीमांसकानां

उपमान प्रमाण भी इस विषय में बाधक नही हो सकता। जो देखा है और जो देख रहे हैं उन विषयों में समानता देखकर 'यह पदार्थ वैसा ही है' ऐसा ज्ञान होना यही उपमान प्रमाण है। सर्वज्ञका अभाव हम ने पहले देखा हो और उस जैसा दूसरा पदार्थ अब देख रहे हों यह सम्भव नही। इसी प्रकार अर्थापत्ति प्रमाण भी बाधक नही है क्यों कि 'सर्वज्ञ के अभाव के विना अमुक चीज की उपपत्ति नही होती' ऐसा कोई विधान सम्भव नही है।

अभाव प्रमाण से सर्वज्ञ का अभाव ज्ञात होता है यह कथन भी उचित नही। अभाव प्रमाण के विषय में मीमासकों का मत यह है कि 'किसी वस्तुका अस्तित्व जानने के बाद उस के प्रतियोगी वस्तु का स्मरण होने से वह वस्तु नही है इस प्रकार मानस ज्ञान इन्द्रियों की सहायता के विना उत्पन्न होता है।' (उदाहरणार्थ-सन्मुख स्थित जमीन को देखकर और घट का स्मरण होने से 'वह घट यहा नही है' ऐसा मानस ज्ञान होता है।) किन्तु सर्वज्ञ के विषय में ऐसा ज्ञान सम्भव नही है – सब प्रदेशों में सब समय मे सब पुरुषों के विषय में ज्ञान होना

१ यथा रात्रिभोजनमन्तरेण पीनत्वं नोपपद्यते तथा सर्वज्ञाभावमन्तरेण अमुकं नोपपद्यत इति नास्ति किंतु सर्वमुपपद्यतेऽतो नार्थापत्तिः। २ अभावज्ञानस्य। ३ भूतलादि। ४ घटादि। ५ प्रत्यक्षप्रमाणस्यानपेक्षया।

संपद्यते, आधारग्रहणप्रतियोगिग्रहणयोरसंभवात्। संभवे वा तद्ग्राहिण एव सर्वज्ञत्वात् सर्वज्ञसिद्धिरवोभूयिष्ट। किं च।

'प्रमाणपञ्चकं[1] यत्र वस्तुरूपे न जायते।
वस्तुसत्तावबोधार्थं तत्राभावप्रमाणता॥'
(मीमांसाश्लोकवार्तिक पृ. ४७३)

इत्यभिहितत्वात्[2]। अत्र तु सर्वज्ञसद्भावविषयतया आगमाद्यनेकप्रमाणप्रवृत्तेरभावस्यावकाशो न स्यात्। तस्मादभावप्रमाणमपि सर्वज्ञाभावं नानुगृह्णाति। तस्मादागमप्रामाण्यसमर्थनार्थमबाधितविषयत्वादिति युक्तो हेतुः समर्थित एव स्यात्। तथा च प्रमाणभूतो 'यः सर्वाणि चराचराणि' इत्याद्यागमः सर्वज्ञमावेदयत्येव। तथा च सर्वज्ञासिद्धावागमस्याप्रामाण्यात्, अप्रमाणादागमात् सर्वज्ञसिद्धेरयोगादिति वचनं यतः[3] शोभेत।

[१५. सर्वज्ञसद्भावे प्रमाणानि।]

यदप्युक्तं नापि प्रत्यक्षं सर्वज्ञावेदकं प्रमाणम् अत्रेदानीं सर्वज्ञस्य प्रत्यक्षेणानुपलब्धेरिति, तत्रास्मदादिप्रत्यक्षं तथैव। योगिप्रत्यक्षं तु सर्वज्ञमावेदयत्येव। अथ योगिप्रत्यक्षस्यैवाभावात् कथं सर्वज्ञमावेदयतीति चेन्न। प्रागुक्तक्रमेण योगिप्रत्यक्षस्य समर्थितत्वात्।

तथा पहले कभी देखे हुए सर्वज्ञ का यहा अस्तित्व नही है इस प्रकार का ज्ञान होना सम्भव नही है। सब पुरुषों के विषय में जो जाने वह स्वयं ही सर्वज्ञ होगा। मीमासकों की अभाव प्रमाण की व्याख्या इस प्रकार है- 'जिस विषय में (प्रत्यक्षादि) पाच प्रमाणों से ज्ञान होना सम्भव नही उस विषय मे वस्तु के अस्तित्व का ज्ञान अभाव प्रमाण से होता है'। इस के अनुसार भी सर्वज्ञ के अभाव का ज्ञान अभाव प्रमाण से सम्भव नही क्यों कि सर्वज्ञ का अस्तित्व आगम आदि प्रमाणों से ज्ञात होता है यह पहले स्पष्ट किया ही है। इस प्रकार यह स्पष्ट हुआ कि प्रत्यक्षादि किसी भी प्रमाण से सर्वज्ञ का अस्तित्व बाधित नही होता। अतः पहले उद्धृत 'यः सर्वाणि' आदि आगमवाक्य अबाधित होने से प्रमाणभूत सिद्ध होता है।

१५. सर्वज्ञ सद्भावके प्रमाण—अब सर्वज्ञ के अस्तित्व में साधक प्रमाणों का विचार करते हैं। प्रत्यक्ष से सर्वज्ञ का ज्ञान नही होता इस

---

१ प्रत्यक्षानुमानागमोपमानार्थापत्तयः। २ मीमांसकैरभिहितत्वात्। ३ कुतः शोभते अपि तु न शोभेत।

यदप्यन्यदगादीत् नानुमानं तदावेदकं, सर्वज्ञाविनाभावि[1]लिङ्गाभावादिति तदप्यनभिज्ञभाषितम्। सर्वज्ञावेदकानां बहूनामनुमानानां सद्भावात्। तथा हि। वीतः सदसद्वर्गः कस्यचिदेकज्ञानालम्बनः अनेकत्वात्. यदुक्तसाधनं[2] तदुक्तसाध्यं यथा पञ्चाङ्गुलम्, अनेकश्चायं सदसद्वर्गः[3] तस्मात् कस्यचिदेकज्ञानालम्बन इति। अस्य हेतोः पक्षे सद्भावान्न स्वरूपासिद्धत्वं, न व्यधिकरणासिद्धत्वं[4] च। उभयवादिसंप्रतिपन्नस्य सदसद्वर्गस्य पक्षीकरणान्नाश्रयासिद्धत्वम्[5]। पक्षे सर्वं प्रवर्तमानत्वान्न भागासिद्धत्वम्। पक्षे हेतोः प्रमाणेन निश्चितत्वान्नाज्ञातासिद्धत्वं[6], न संदिग्धासिद्धत्वं च। साध्यविपरीत[7]विनिश्चिताविनाभावाभावान्न विरुद्धत्वम्। विपक्षे वृत्तिरहितत्वान्नानैकान्तिकत्वम्[8]। प्रतिवादिनः प्रमाणाप्रसिद्धसाध्यस्य प्रसाधकत्वान्नाकिंचित्करत्वम्[9]। सपक्षे सत्त्वनिश्चयान्नानध्यवसितत्वम्[10]। पक्षे साध्याभावावेदकप्रमाणानां प्रागेव निराकृतत्वान्न कालात्ययापदिष्टत्वम्। स्वपक्षे सत्त्रिरूपत्वात् परपक्षे असत्त्रिरूपत्वान्न प्रकरणसमत्वम्। इति हेतुदोषाभावः। पञ्चाङ्गुलवदिति दृष्टान्ते साध्यसद्भावान्न साध्यविकलो

आक्षेप का पहले उत्तर दिया है कि हम जैसे अल्पज्ञों के विषय में तो यह कथन ठीक है। किन्तु योगि प्रत्यक्ष से सर्वज्ञ का अस्तित्व ज्ञात होता है। योगी (सर्वज्ञ) के अस्तित्व का समर्थन अब तक प्रस्तुत किया ही है।

सर्वज्ञ के अस्तित्व का साधक अनुमान इस प्रकार है – अनेक पदार्थ किसी एक ज्ञान का विषय होते हैं, जगत के समस्त सत् और असत् पदार्थ अनेक हैं; अतः वे किसी एक ज्ञानका विषय हैं। वही सर्वज्ञ का ज्ञान है। इस अनुमान मे किसी प्रकार का दोष नही है (दोषरहित होने का विवरण मूल में देखा जा सकता है।)

१ यथा धूम० अग्न्यविनाभावोऽस्ति तथा नात्र। २ यस्तु अनेकः स कस्यचित् एकज्ञानालम्बनः। ३ अस्तिनास्ति। ४ पर्वतोऽग्निमान् महानसे धूमवत्त्वादिति व्यधिकरणश्चासौ असिद्धश्च। ५ आश्रयश्चासौ असिद्धश्च। ६ अज्ञातश्चासौ असिद्धश्च। ७ साध्यविपरीत० कः अनेकज्ञानालम्बनः। ८ व्यभिचारित्वम्। ९ प्रसिद्धे साध्ये प्रवर्तमानो हेतुरकिंचित्करः। प्रतिवादिनः साध्यं सिद्धं चेद् भवति तर्हि अकिंचित्करः स्यात्। अत्र तु साध्यं प्रतिवादिनः असिद्धमेव वर्तते। सर्वज्ञो नास्ति इति साध्यं प्रतिवादिनः। १० अनिश्चितव्याप्तिकत्वं न।

दृष्टान्तः। साधनस्यापि सद्भावान्न साधनविकलो दृष्टान्तः तत एव नोभयविकलोऽपि। प्रमाणप्रतिपन्नपञ्चाङ्गुलस्य दृष्टान्तत्वेनोपादानान्नाश्रयहीनो दृष्टान्तः। व्याप्तिपूर्वकदृष्टान्तप्रदर्शनान्न[1] विपरीतव्याप्तिकोऽपीति[2] दृष्टान्तदोषाभावश्च।

अथ सदसद्वर्गः कस्यचिदेकज्ञानालम्बनो[3] न भवति अनेकत्वात् रूपरसादिवदिति प्रत्यनुमानबाधास्तीति चेन्न। सिद्धसाध्यत्वेन हेतोरकिंचित्करत्वात्। कथमिति चेत् सदसद्वर्गे अस्मदादीनां केषांचिदेकज्ञानालम्बनत्वाभावस्याङ्गीकारात्। अथ सदसद्वर्गो न कस्याप्येकज्ञानालम्बनः, अनेकत्वात् रूपरसादिवदिति प्रसाध्यते तर्हि अस्मदाद्येकज्ञानालम्बनैः[4] सेनावनादिभिर्हेतोर्व्यभिचारः स्यात्। अथ तेषामपि पक्षकुक्षौ निक्षेपान्न व्यभिचार इति चेत् तर्हि पक्षीकृतेषु सेनावनादिषु साध्याभावस्य प्रत्यक्षेणैव निश्चितत्वात् कालात्ययापदिष्टो हेत्वाभासः स्यात्। अथ सदसद्वर्गः कस्यचिदेकज्ञानालम्बन इति युष्मत्पक्षेऽपि पक्षीकृतेषु रूपरसगन्धस्पर्शशब्देषु एकज्ञानालम्बनत्वाभावस्य प्रत्यक्षेण निश्चितत्वात् कालात्ययापदिष्टत्वं तत्रापि समानमिति चेन्न। तत्रास्मदादीनामेकज्ञानालम्बनत्वाभावस्याङ्गीकारेण यस्य कस्यचिदेकज्ञानालम्बनत्व-

अनेक पदार्थ किसी एक ज्ञान का विषय नही होते – जैसे रूप, रस आदि अनेक विषय एक ही व्यक्ति द्वारा ज्ञात नही होते – अतः समस्त सत्-असत् पदार्थ किसी एक ज्ञान के विषय नही हैं इस प्रकार अनुमान प्रस्तुत करना उचित नही क्यों कि समस्त पदार्थ प्रत्येक व्यक्ति के ज्ञान का विषय होते है यह हमारा मन्तव्य नही है – हम जैसे अल्पज्ञों के ज्ञान का विषय समस्त पदार्थ नही होते। किन्तु किसी एक व्यक्ति (सर्वज्ञ) के ज्ञान का विषय ये समस्त पदार्थ होते हैं यही हमारा मन्तव्य है। अनेक पदार्थ किसी भी एक ज्ञान का विषय नहीं होते यह तो नही कहा जा सकता क्यों कि सेना, वन आदि अनेक वस्तु समूह का ज्ञान हम जैसे अल्पज्ञों को भी प्रत्यक्ष ही होता है। रूप, रस, गन्ध,

१ यस्तु अनेकः स कस्यचिदेकज्ञानालम्बनः यथा पञ्चाङ्गुलम्। २ यस्तु एकज्ञानालम्बनः स अनेक इति विपरीतव्याप्तिकः। एवं सति को दोषः। पटः एकज्ञानालम्बनोऽस्ति परतु अनेको न। ३ एकज्ञानस्य विषयः। ४ विषयैः।

स्यैव प्रसाध्यत्वात्। तच्च न प्रत्यक्षेण बाध्यते। ततो न कालात्ययापदिष्टत्वमस्मत्पक्षेऽपि समानम्। अपि तु स्वपक्षोक्तदोषमपरिहृत्य परपक्षेऽपि[1] साम्यमापादयतस्तवैव मतानुज्ञा नाम निग्रहः प्रसज्यते। किं च प्रत्यनुमानेन प्रत्यवस्थानं प्रकरणसमा जातिरिति प्रत्यनुमानबाधावचनमसद्दूषणमेव न तु सद्दूषणम्। ततः प्रत्यनुमानं प्राक्तनानुमानस्य[2] न किंचित् कर्तुं शक्नोतीति निर्दुष्टं प्राक्तनमनुमानम्।

[१६. केवलान्वयिनः अनुमानस्य प्रामाण्यम्।]

ननु तथापीदमनुमानं केवलान्वयित्वेन[3] अप्रमाणं कथं सर्वज्ञमावेदयति। तथा हि। केवलान्वय्यनुमानं प्रमाणं न भवति विपक्षाद् व्यावृत्तिरहितत्वात् अनैकान्तिकवदिति चेन्न। हेतोरसिद्धत्वात्। कुत इति चेत् विपक्षग्रहणव्यावृत्तिस्मरणयोरभावे विपक्षे व्यावृत्तिरहितत्वस्य ज्ञातुमशक्यत्वादज्ञातासिद्धो[4] हेत्वाभासः। विपक्षग्रहणव्यावृत्तिस्मरणयोः सद्भावे[5] वा विपक्षे व्यावृत्तिसद्भावनिश्चयात् विपक्षे व्यावृत्तिरहितत्वा-

---

स्पर्श तथा शब्द ये किसी एक ही ज्ञान के विषय नही होते (एक ही क्षण मे इन पांचों का एक ही व्यक्ति को ज्ञान नही होता) यह आक्षेप भी योग्य नही — हम जैसे अल्पज्ञों के विषय में यह सत्य होने पर भी सभी व्यक्तियों के लिये नियामक नही है। अतः किसी एक व्यक्ति को समस्त पदार्थों का ज्ञान होता है यह साध्य निर्बाध रूप से स्पष्ट होता है।

१६. केवलान्वयी अनुमानका प्रामाण्य—सर्वज्ञ के अस्तित्व का साधक उपर्युक्त अनुमान केवलान्वयी है और केवलान्वयी अनुमान प्रमाण नही होता क्यों कि उस में विपक्ष से व्यावृत्ति होना सम्भव नही ऐसा एक आक्षेप है। अनैकान्तिक हेत्वाभास में भी यही दोष होता है — वह विपक्ष से व्यावृत्त नही होता। किन्तु यह आक्षेप योग्य नही क्यों कि 'विक्षप में व्यावृत्ति नही है', यह कहने के लिए विपक्ष का ज्ञान होना और उस में व्यावृत्ति का ज्ञान होना आवश्यक है। केवलान्वयी

---

१ जैनपक्षे। २ सदसद्वर्गः कस्यचिदेकज्ञानालम्बनः अनेकत्वादिति। ३ यस्तु अनेकः स एकज्ञानालम्बनः यथा पञ्चाङ्गुलम् इति केवलान्वयी हेतुः। ४ विपक्षग्रहणं च व्यावृत्तिस्मरणं च तयोरभावे केवलान्वयिनि हेतौ विपक्षे व्यावृत्तिरहितत्वं ज्ञातुमशक्यम्। केवलान्वयिनि हेतौ तु विपक्षो नास्त्येव। ५ केवलान्वयिनि हेतौ।

दिति हेतुः स्वरूपासिद्ध एव स्यात् । विपक्षग्रहणसंभवे वा कस्याप्रामाण्यं प्रसाध्येत । न कस्यापि । प्राभाकरपक्षेऽप्यसिद्धो हेतुः । कथमिति चेत् व्यावृत्तिर्नाम अभावः, रहितत्वमपि प्रतिषेध एव । तथा च प्राभाकरपक्षे अभाव[1]प्रतियोगिकप्रतिषेधाभावात्[2] स्वरूपासिद्धो हेत्वाभासः स्यात् । विपक्षे व्यावृत्तिरहितत्वमपि विपक्षस्वरूपमात्रमेव । प्रकृते[3] तस्याभावाच्च हेतोः स्वरूपासिद्धत्वम् । ततः केवलान्वय्यप्यनुमानं प्रमाणं भवत्येव व्याप्तिमत्पक्षधर्मत्वात् धूमानुमानवत् । अथ विपक्षे बाधकप्रमाणाभावादप्रयोजको हेतुरिति[4] चेन्न । विपक्षे बाधको नाम हेतोर्विपक्षे अप्रवृत्तिनिश्चायकः । तथा च अत्र[5] विपक्षानुपलब्धेरेव हेतोर्विपक्षे अप्रवृत्तिर्निश्चीयत इति कथं विपक्षे बाधकप्रमाणाभावः यतोऽप्रयोजनको हेतु[6] स्यात् । अपि तु नैव स्यात् । तस्मान्निर्दुष्टादेतदनुमानात्[7] शिष्टानुशिष्टविशिष्टानां दृष्टेष्टसिद्धिर्भवत्येव ।

अनुमान में विपक्ष का अस्तित्व ही नही होता अतः विपक्ष मे व्यावृत्ति नही यह कहना सम्भव नही है। इस लिए केवलान्वयी अनुमान को भी प्रमाण मानना चाहिये । प्राभाकर मीमासक भी केवलान्वयी अनुमानको अप्रमाण नही मान सकते । उन के मत में अभाव का तात्पर्य दूसरे किसी भाव से होता है (‘ यहा घट नही है इस का तात्पर्य ‘ यहा सिर्फ जमीन है ’ इस भावात्मक ज्ञान से होता है), अतः हेतु की विपक्ष में व्यावृत्ति नही है यह कहने का तात्पर्य विपक्ष विद्यमान है यह होगा किन्तु केवलान्वयी अनुमान में विपक्ष का अस्तित्व ही नही होता । अतः विपक्ष में व्यावृत्ति नही होना यह आक्षेप यहा उचित नही है। अनुमान के प्रमाण होने के लिये दो आवश्यक बातें हैं – व्याप्ति सत्य हो और व्याप्ति से युक्त धर्म पक्ष में विद्यमान हों । ये दोनों बातें केवलान्वयी अनुमान में होती हैं अतः वह प्रमाण है । विपक्ष का यदि अस्तित्व ही नही है तो विपक्ष मे बाधक प्रमाण होना चाहिये यह कहने में कोई सार नही रहता ।

१ तन्मते भावान्तरग्राहकः अभावः इति धूमाग्न्योरभावः तस्य प्रतियोगी ह्रदरहितत्वाभावात् । २ एवं सति विपक्षे व्यावृत्तिसद्भावनिश्चयात् । ३ केवलान्वयिनि हेतौ । ४ केवलान्वयी । ५ केवलान्वयिनि हेतौ । ६ अनेकत्वादयं हेतुः । ७ वीतः सदसद्वर्गः एकज्ञानालम्बनः अनेकत्वात् इति केवलान्वय्यनुमानात् ।

[१७. सर्वज्ञसाधकानि अनुमानान्तराणि ।]

तथा कश्चित् पुरुषः सकलपदार्थसाक्षात्कारी तद्ग्रहणयोग्यत्वे सत्यपगताशेषदोषत्वात् । यः सकलपदार्थसाक्षात्कारी न भवति स तद्ग्रहणयोग्यत्वे सत्यपगताशेषदोषोऽपि न भवति यथा मलिनो मणिः। तद्ग्रहणयोग्यत्वे सत्यपगताशेषदोषश्चायं[1] तस्मात्[2] सकलपदार्थसाक्षात्कारी भवतीति च । अथात्रापि विशेष्यासिद्धो[3] हेतुरिति चेन्न । क्वचित् पुरुषे अपगताशेषदोषत्वस्य[4] प्रागेव समर्थितत्वात् । तर्हि विशेषणासिद्धो[5] हेतुर्भविष्यतीति चेन्न । सकलपदार्थग्रहणयोग्यत्वस्यात्मनि विद्यमानत्वात्[6] । तदभावे वा आगमात् यत्कार्यं तत्कारणपूर्वकमित्यादि व्याप्तिज्ञानाच्च सकलपदार्थग्रहणं न स्यात् । अपि च,

'यदि षड्भिः प्रमाणैः स्यात् सर्वज्ञः केन वार्यते ।
एकेन[7] तु प्रमाणेन सर्वज्ञः केन कल्प्यते ॥' (मीमांसाश्लोकवार्तिक पृ.७९)

१७. **सर्वज्ञत्व साधक अन्य अनुमान**—सर्वज्ञ का अस्तित्व इस अनुमान से भी ज्ञात होता है - किसी पुरुष में समस्त पदार्थों का ग्रहण करने की योग्यता हो और उस के समस्त दोष दूर हों तो वह समस्त पदार्थों का साक्षात् ज्ञान प्राप्त करता है । उदाहरणार्थ – कोई रत्न मलिन है तबतक उस में कोई प्रतिबिम्ब सम्भव नही होता । (वही निर्मल हो तो यथासम्भव अनेक पदार्थोंका प्रतिबिम्ब उस में पडता है ।) यहा विवक्षित पुरुष के समस्त दोष दूर हुए हैं (उस में ज्ञान और वैराग्य का परम उत्कर्ष हुआ है) यह पहले बतलाया ही है। तथा आत्मा में समस्त पदार्थों का ग्रहण करने की योग्यता है यह मीमांसकों को भी मान्य है । आगम से (वेद से) समस्त (अतीन्द्रिय) पदार्थों का ज्ञान प्राप्त होता है तथा प्रत्येक कार्य के पूर्ववर्ती कारण होता है इस प्रकार व्याप्तिका ज्ञान भी समस्त पदार्थों का ग्रहण करता है यह मीमांसकों को मान्य है । ऐसा उन्हों ने कहा भी है – 'कोई पुरुष छह प्रमाणों से सर्वज्ञ होता हो तो कोई उस का निवारण नही करता है किन्तु एक प्रमाण (केवल प्रत्यक्ष) से सर्वज्ञ कैसे हो सकता है !' अतः

१ कश्चित् पुरुषः । २ तद्ग्रहणयोग्यत्वे सति अपगताशेषदोषत्वात् । ३ अपगताशेषदोषत्वात् अयं विशेष्यः । ४ प्रक्षीणप्रतिबन्धप्रत्ययत्वस्य । ५ तद्ग्रहणयोग्यत्वे सति इति विशेषणम् । ६ सकलपदार्थग्रहणयोग्यत्वम् आत्मनि विद्यमानमस्ति । ७ प्रत्यक्षेण ।

इति स्वयमभिधानात् । आत्मनः सकलपदार्थग्रहणयोग्यत्वमङ्गीकृतं परैरिति[1] विशेषणासिद्धोऽपि न भवति ।

अथास्यापि[2] केवलव्यतिरेकित्वेन[3] प्रामाण्याभावात् कथं सर्वज्ञावेदकत्वम्[4] । तथा हि । केवलव्यतिरेकि प्रमाणं न भवति सपक्षे सत्त्वरहिततत्वात् विरुद्धवदितिचेत् तत्रापि[5] सपक्षग्रहणसत्त्वस्मरणयोरभावे सपक्षे सत्त्वरहितत्वस्य ज्ञातुमशक्यत्वादज्ञातासिद्धो हेत्वाभासः । सपक्षग्रहणसत्त्वस्मरणयोः सद्भावे वा सपक्षे सत्त्वस्य निश्चितत्वात्। प्राभाकरपक्षेऽपि सत्त्वरहितत्वं नाम सपक्षस्वरूपमात्रमेव तच्चात्र[6] नास्तीति स्वरूपासिद्धत्वं हेतोः स्यात् । तस्मात् केवलव्यतिरेक्यनुमानमपि प्रमाणं भवत्येव व्याप्तिमत्पक्षधर्मत्वात् धूमानुमानवत् । तत सर्वज्ञसिद्धिर्भवत्येव ॥

तथा सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः कस्यचित् प्रत्यक्षाः प्रमेयत्वात् करतल-

समस्त पदार्थों का ग्रहण करने की योग्यता आत्मा मे है और वह जब दोषरहित होता है तब सर्वज्ञ होता है यह स्पष्ट हुआ ।

जो सर्वज्ञ नही होता वह निर्दोष नही होता ऐसा यह अनुमान केवलव्यतिरेकी है अतः प्रमाण नहीं है ऐसा एक आक्षेप है । विरुद्ध हेत्वाभास मे सपक्ष में हेतु का अस्तित्व नही होता उसी प्रकार केवलव्यतिरेकी अनुमान में भी सपक्ष मे हेतु का अस्तित्व नही होता ऐसा यह आक्षेप है । यहा भी केवलान्वयी अनुमान के समान ही उत्तर समझना चाहिये – सपक्ष का ज्ञान हो और उस मे अस्तित्व का विचार हो तब तो 'सपक्ष मे अस्तित्व नही' यह कहना सम्भव होगा । किन्तु केवल – व्यतिरेकी अनुमान में सपक्ष का अस्तित्व ही नही होता अतः उस में हेतु के अस्तित्व का प्रश्न ही नही उठता। अतः केवलव्यतिरेकी अनुमान भी प्रमाण मानना योग्य है ।

सर्वज्ञ का साधक दूसरा अनुमान इस प्रकार है – जो पदार्थ प्रमेय है वे किसी पुरुष के प्रत्यक्ष ज्ञान के विषय होते हैं, सूक्ष्मादि पदार्थ भी प्रमेय है अतः उन सब का प्रत्यक्ष ज्ञान किसी पुरुष को होता है । इस अनुमान में चार्वाकों ने आक्षेप किया था कि जो प्रमेय होते

१ मीमासकैः । २ मीमासकः । ३ कश्चित् पुरुषः सकलपदार्थसाक्षात्कारी तद्ग्रहणयोग्यत्वे सत्यपगताशेषदोषत्वात् अयं हेतुः केवलव्यतिरेकी । ४ कश्चित् पुरुषः सकलपदार्थसाक्षात्कारीत्यनुमानस्य । ५ भवदुक्ते हेतौ । ६ केवलव्यतिरेकिणि।

वदिति च। अत्र[1] यदप्यवादि चार्वाकेण प्रमेत्वस्यापि प्रमया व्याप्तत्वेन प्रत्यक्षाविनाभावाभावान्न ततः प्रत्यक्षत्वसिद्धिरिति तदप्यनात्मज्ञभाषितम्। प्रत्यक्षैकप्रमाणवादिपक्षे[2] प्रमेयत्वस्य प्रत्यक्षेणैव व्याप्तत्वात्। तथा च प्रमेयत्वादिति हेतुः स्वव्यापकं[3] प्रत्यक्षत्वमेव प्रसाधयतीति। अथ परेषां[4] मते प्रत्यक्षीकृतस्मृतप्रत्यभिज्ञाततर्कितानुमितागमितोपमितकल्पिताभावेषु[5] प्रवर्तमानं प्रमेयत्वं प्रत्यक्षं न प्रसाधयति व्यापकोपलब्ध्या[6] व्याप्यविशेषप्रसाधनासंभवात्। धवखदिरपलाशवटाश्वत्थनिम्बतिन्तिणीकचोचपनसाम्रादिषु प्रवर्तमानवृक्षत्वोपलब्ध्या वटप्रसाधनासंभवात्[7] किं च प्रत्यक्षत्वाभावेऽपि स्मृत्यादिषु प्रमेयत्वस्य प्रवर्तनात् प्रत्यक्षत्वमन्तरेण प्रमेयत्वानुपपत्तिरित्येवंविधाविनाभावाभावात् प्रमेयत्वं कथं प्रत्यक्षत्वं साधयेदिति चेन्न। एतस्य[8] प्रमाणत्वेनानिरूपणात्। किं तर्हि। एतस्य[9] चार्वाकं प्रति तर्कत्वेन निरूपितत्वात्। परप्रसिद्धव्याप्त्या[10] परस्यानिष्टापादनं तर्कः। अनिष्टापादनं प्रमितहानिरप्रमितस्वीकारश्च। तथा च

हैं वे सब प्रत्यक्ष के ही विषय होते हैं ऐसा नियम नही – वे अन्य प्रमाणों के विषय भी हो सकते हैं। किन्तु चार्वाक सिर्फ प्रत्यक्ष को एकमात्र प्रमाण मानते है। अतः उन्हीं के मतानुसार प्रमेय होना और प्रत्यक्ष का विषय होना समान है। इस पर मीमासक आदि आक्षेप करते हैं कि प्रत्यक्ष, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान, आगम, उपमान, अर्थापत्ति, अभाव आदि प्रमाणों के विषय भी प्रमेय होते हैं अतः उन्हें सिर्फ प्रत्यक्ष का विषय कहना ठीक नही। वन में वट, खदिर, पलाश आदि बहुत से वृक्ष होते हैं, यह वृक्ष है अतः वट है ऐसा उन में नियम करना सम्भव नही। इस का उत्तर यह है – ऊपर हम ने प्रमेय होना और प्रत्यक्षविषय होना समान है यह चार्वाकों को उत्तर के रूप में कहा है – हम उसे 'तर्क' रूप में प्रयुक्त करते है, प्रमाण रूप में नही। प्रतिवादी को मान्य व्याप्ति का प्रयोग कर के प्रतिवादी को अमान्य बात

१ अनुमाने। २ चार्वाकमते। ३ अर्थापत्तिः। ४ जैनादीना सर्वज्ञवादिनाम्। ५ अर्थापत्तिः। ६ 'व्यापकं तदतन्निष्ठ व्याप्यं तन्निष्ठमेव च।' इति वाक्येन व्यापकशब्देनात्र प्रमेयत्वग्रहणम्। ७ इह वने वटोऽस्ति वृक्षत्वात् इति युक्तं न, कुतः वृक्षत्वात् अयं हेतुः वटं न साधयति। ८ जैनो वदति प्रमेयत्वादित्यस्य हेतोः प्रमाणत्वेनानिरूपणात् दोषो न किं तर्हि इत्यादि। ९ प्रमेयत्वादित्यस्य हेतोः। १० उभयवादिप्रसिद्धव्याप्त्या हेतूक्तिरनुमानं तर्कानुमानयोरयं भेदः।

एतस्माच्चार्वाकप्रमाणप्रसिद्धव्याप्तिकात् तर्काच्चार्वाकस्याप्रमितः सर्वज्ञ आपाद्यत इति सर्वं सुस्थम्।

[१८. अदृष्टस्य प्रत्यक्षविषयत्वम्।]

मीमांसकैस्तु

धर्मज्ञत्व[1]निषेधस्तु केवलोऽत्रोपयुज्यते।
सर्वमन्यद्[2] विजानंस्तु पुरुषः केन वार्यते॥
(तत्त्वसंग्रह का. ३१२८)

इत्यभिहितत्वात् तन्मते[3] धर्माधर्मसाक्षात्कार्येव विप्रतिपन्नो[4] नान्यः[5] ततः[6] स एव प्रसाध्यते। अदृष्टं कस्यचित् प्रत्यक्षं प्रमेयत्वात् सुखादिवदिति। अत्रापि[7] प्रमेयत्वं च स्यात् प्रत्यक्षत्वं च मा भूत् को विरोध इति चेत् न अदृष्टस्य प्रत्यक्षत्वाभावे प्रमेयत्वानुपपत्तेः। कुत इति चेत् अनुमानोपमानार्थापत्त्यभावाविषयत्वात्[8]। कथम्।

सिद्ध करना यही तर्क है। चार्वाकों को अमान्य सर्वज्ञ का अस्तित्व सिद्ध करने के लिए हम ने यह तर्क प्रयुक्त किया है।

१८. अदृष्टपर विचार—मीमासक मत में पुरुष के धर्म अधर्म का ज्ञान होना सम्भव नही माना है – जैसा कि कहा है – 'यहा केवल धर्मज्ञ होने का निषेध इष्ट है, पुरुष बाकी सब जाने तो उसे कौन रोकता है?' अतः अब धर्म-अधर्म का ज्ञान पुरुष को होता है यह सिद्ध करते है। अदृष्ट (धर्म-अधर्म, पुण्य-पाप) प्रमेय है अतः वह किसी पुरुष के प्रत्यक्ष का विषय होता है – उदाहरणार्थ सुख आदि जो प्रमेय हैं वे सब किसी के प्रत्यक्ष का विषय होते हैं। अदृष्ट प्रमेय है और प्रत्यक्ष विषय नही है यह मानने में क्या आपत्ति है यह प्रश्न हो सकता है। इस का उत्तर यह है कि अदृष्ट अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति और अभाव का विषय नही है यह मीमासकों ने ही कहा है – ' सब प्रमाताओं

१ सर्वज्ञ। २ पदार्थादि। ३ मीमासकमते। ४ संदेहापन्नः अप्रतिपन्नः। ५ सकलपदार्थसाक्षात्कारी विप्रतिपन्नो न। ६ धर्माधर्मसाक्षात्कारी यो विप्रतिपन्नः स एव प्रसाध्यते। ७ मीमासको वदति भो जैन। ८ अदृष्टम् एतेषा प्रमाणाना विषयो न।

सर्वप्रमातृसंबन्धिप्रत्यक्षादिनिवारणात्[1]।
केवलागमगम्यत्वं लप्स्यते पुण्यपापयोः ॥
(तत्त्वसंग्रह का. ३१४२)

इति स्वयमभिधानात्। अथ आगमप्रमया विषयीकृतत्वेन अदृष्टस्य प्रमेयत्वोपपत्तेरिति चेन्न। आगमस्यापि प्रत्यक्षपूर्वकत्वात्। तथा हि। विवादपदानि वाक्यानि स्ववाच्य[2]साक्षात्कारिणा प्रयुक्तानि अनुमानाद्यनपेक्षप्रमाणवाक्यत्वात्, यदेवं[3] तदेवं, यथा अहं सुखीत्यादि वाक्यम्, अनुमानाद्यनपेक्षप्रमाणवाक्यानि च तानि तस्मात् स्ववाच्यसाक्षात्कारिणा प्रयुक्तानीति। धर्माधर्मप्रतिपादकवाक्यानां धर्माधर्मसाक्षात्कारिणा प्रयुक्तत्वमङ्गीकर्तव्यम्। अथ धर्माधर्मप्रतिपादकवाक्यानामपौरुषेयत्वात् कथं पुरुषप्रयुक्तत्वमङ्गीक्रियत इति चेन्न। तदपौरुषेयत्वस्याग्रे विस्तरेण निराकरिष्यमाणत्वात्।

[१९. सर्वज्ञसाधकानुमाने दोषाणां निरासः।]

सर्वज्ञो धर्मी अस्तीति साध्यो धर्मः सुनिश्चितासंभवद्बाधक-

के प्रत्यक्ष आदि का सम्बन्ध सम्भव न होने से पुण्य और पाप सिर्फ आगम से जाने जा सकते हैं'! पुण्य और पाप आगम के विषय हैं — प्रत्यक्ष के नही यह कहना भी योग्य नही। आगम भी किसी के प्रत्यक्ष ज्ञान पर ही आधारित होता है। जैसा कि अनुमान प्रस्तुत करते हैं — आगम के वाक्य अनुमानादि प्रमाणों की अपेक्षा नही रखते अतः वे ऐसे व्यक्ति द्वारा कहे गये हैं जो उन के विषयों को साक्षात जानता हो। उदाहरणार्थ — मैं सुखी हूं आदि वाक्य प्रत्यक्ष पर आधारित हैं इसीलिये उन के प्रमाण होने में अनुमानादि की अपेक्षा नही होती। अतः धर्म-अधर्म के प्रतिपादक प्रमाण वाक्य भी उन विषयों को प्रत्यक्ष जाननेवाले पुरुष द्वारा प्रयुक्त हुए हैं यह मानना योग्य है। आगमवाक्य अपौरुषेय नही हैं यह हम आगे विस्तारसे स्पष्ट करेंगे।

१९. सर्वज्ञसाधक अनुमान की निर्दोषता।— सर्वज्ञसाधक अनुमान में सर्वज्ञ यह धर्मी है। उसका अस्तित्व यह साध्य धर्म है और

---

१ सर्वप्रमातृसंबन्धिप्रत्यक्षादेरदृष्टं पुण्यपापं विषयो न भवति। २ वाक्यगतार्थम्। ३ यानि अनुमानाद्यनपेक्षप्रमाणवाक्यानि तानि स्ववाच्यसाक्षात्कारिणा प्रयुक्तानि यथा अहं सुखीत्यादिकं वाक्यम्।

प्रमाणत्वात् सुखादिवदिति च। ननु धर्मित्वेनाङ्गीकृतः सर्वज्ञः प्रमाणप्रतिपन्नः अप्रमाणप्रतिपन्नो वा। प्रथमपक्षे हेतुप्रयोगस्य वैयर्थ्यं स्यात्। सर्वज्ञास्तित्वस्य प्रागेव प्रमाणप्रतिपन्नत्वात्। द्वितीयपक्षे धर्मिणोऽप्रमाणप्रतिपन्नत्वाद् आश्रयासिद्धो हेत्वाभासः स्यादित्यसौ पर्यनुयुंक्ते[1]। अत्रोच्यते। धर्मी प्रमाणप्रतिपन्नो न भवति अप्रमाणप्रतिपन्नो वा न भवति अपि तु विकल्पप्रतिपन्न एवेति ब्रूमः। विकल्पो नाम प्रमाणाप्रमाणसाधारणज्ञानमुच्यते। जलमरीचिकासाधारणप्रदेशे जलज्ञानवत्। तस्माद् धार्मिणो विकल्पसिद्धत्वाद् हेतोर्नाश्रयासिद्धत्वं नापि हेतुप्रयोगस्य वैयर्थ्यं विप्रतिपन्नं प्रति तदस्तित्वप्रसाधनात्। अथवा अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीतीति[2] तस्य भासा सर्वमिदं विभातीत्याद्यागमात् प्रतिपन्नः सर्वज्ञो धर्मी क्रियत इति नाश्रयासिद्धत्वम्। तत्प्रामाण्येऽपि विप्रतिपन्नं प्रति सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणत्वात् तत्प्रमेयास्तित्वं[3] प्रसाध्यत

उस में बाधक प्रमाण नही हो सकते यह उस का हेतु है। इस पर कोई आक्षेप करते हैं कि यहा धर्मी (सर्वज्ञ) प्रमाण से ज्ञात है या नही? यदि ज्ञात है तो उस के विषय में हेतु आदि निरर्थक होंगे (क्यों कि उस का अस्तित्व ज्ञात ही है)। यदि प्रमाण से धर्मी (सर्वज्ञ) ज्ञात नही है तो उस के बारे में अनुमान आदि कैसे हो सकते हैं? वह प्रमाण से अनिश्चित होने से उस के विपय में हेतु आश्रयासिद्ध होगा। इस आक्षेप का उत्तर इस प्रकार है – यहा धर्मी (सर्वज्ञ) प्रमाण से ज्ञात है अथवा अज्ञात है ये दोनों बातें ठीक नही – वह विकल्प से ज्ञात है ऐसा कहना चाहिये। जैसे मृगजल के प्रदेश में जल का ज्ञान होने पर भी यह ज्ञान प्रमाण है अथवा अप्रमाण है यह निश्चय नहीं होता–विकल्प होता है वैसे ही सर्वज्ञ के विपय में विकल्प होने पर अनुमान आदि से उस का अस्तित्व सिद्ध किया जाता है। अतः यह अनुमान प्रयोग निरर्थक नही है। अथवा उक्त आक्षेप का दूसरा उत्तर यह है – आगम से (पूर्वोक्त उपनिपद्वाक्यों आदि से) सर्वज्ञ का ज्ञान होता है तदनन्तर अनुमान का प्रयोग करते हैं अतः यहा धर्मी (सर्वज्ञ) असिद्ध नही है। जो आगम को प्रमाण

१ वदति। २ चकास्ति दीप्तौ। ३ तस्य सर्वज्ञस्य प्रमेयरूप यदस्तित्वं तत्।

इति हेतुप्रयोगस्यापि न वैयर्थ्यम्। किं च धर्मिणो विकल्पसिद्धत्वानङ्गीकारे 'वेदस्याध्ययनं सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकम्।' (मीमांसाश्लोकवार्तिक, पृ. ९४९) इति सर्वस्य वेदाध्ययनस्य धर्मीकरणं कथं घटते[1] तस्य प्रत्यक्षादिप्रमाणाविषयत्वेन प्रमाणप्रतिपन्नत्वाभावात्। 'अतीतानागतौ कालौ वेदकारविवर्जितौ।' (तत्त्वसंग्रह पृ. ६४३) इत्यत्रापि अतीतानागतकालयोर्धर्मीकरणं कथं युज्यते। तयोरपि प्रत्यक्षादिप्रमाणाविषयत्वात्। उदात्तादयः सर्वध्वनिधर्मा अनित्या इत्यत्रापि देशकालान्तरितध्वनिधर्माणामपि पक्षीकरणं कथं स्यात्। तेषामपि प्रमाणाविषयत्वात्। तस्माद् धर्मिणो विकल्पसिद्धत्वमङ्गीकर्तव्यम्।

ननु एवं चेदाश्रयासिद्धो[2] हेत्वाभासो न स्यादिति चेत् मा भूदसौ[3] का नो[4] हानिः। अपसिद्धान्त इति चेन्न। अस्मत्सिद्धान्ते अविद्यमानसत्ताको अविद्यमाननिश्चय इति असिद्धस्य द्वैविध्यनिरूपणात्। तर्हि

नही मानते उन के लिये अनुमान से सर्वज्ञ का अस्तित्व सिद्ध किया जाता है।

मीमांसकों ने भी अपने हेतुप्रयोगों में विकल्प से सिद्ध धर्मी का आश्रय लिया है। 'वेद का सब अध्ययन गुरुपरम्परा से चलता है' इस कथन में वेद का सब अध्ययन प्रत्यक्षादि प्रमाणों से ज्ञात नही है — विकल्प से ही ज्ञात है। इसी तरह 'अतीत काल में और भविष्य काल में वेद के कर्ता नही हैं' इस कथन मे अतीत काल और भविष्यकाल का ज्ञान प्रमाणसिद्ध नही है — विकल्पसे सिद्ध है। 'उदात्त आदि सब ध्वनि के धर्म अनित्य हैं' इस कथन में भी सब ध्वनि-धर्मो का ज्ञान प्रमाणसिद्ध नही है — विकल्पसिद्ध है। अतः सर्वज्ञ यह धर्मी भी विकल्पसिद्ध मानने में दोष नही है।

धर्मी के विकल्पसिद्ध होने के कारण ही जैन प्रमाणशास्त्र में असिद्ध हेत्वाभास के दो ही प्रकार माने हैं— अविद्यमानसत्ताक (जिस में हेतु का अस्तित्व ही न हो) और अविद्यमाननिश्चय (जिस मे हेतु का

१ अत एव वेदाध्ययनं सर्वं विकल्पसिद्धम्। २ भो जैन। ३ आश्रयासिद्धः। ४ जैनानाम्।

उभयवादिप्रतिपन्नस्य सदसद्वर्गस्य पक्षीकरणान्नाश्रयासिद्धत्व[1]मित्यादिकं कथं यूयमवादिष्टेति चेत् पराभ्युपगममात्रेणेति जागद्यामहे। ननु तथापि सर्वज्ञास्तित्वे बाधकप्रमाणसद्भावात् सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणत्वं स्वरूपासिद्धमिति चेन्न। सर्वज्ञप्रतिपादकागमस्य प्रामाण्यसमर्थनावसरे प्रागेव बाधकप्रमाणासंभवस्य सुनिश्चितत्वात्॥

[२०. जगतः कार्यत्वनिषेधः।]

यदप्यनूद्यापास्थत्[2] - तनुकरणभूभुवनादिकं बुद्धिमद्धेतुकं कार्यत्वात् पटवदित्येतदनुमानं सर्वज्ञावेदकं भविष्यतीति चेन्न,[3] हेतोर्भागासिद्धत्वात्, कथमिति चेत् भवदभिमतकार्यत्वस्य पर्वतादिष्वप्रवर्तनादिति। तत्तथैवास्माभि[4]रभ्यङ्गीक्रियते। अभूत्वाभावित्वलक्षणस्य यौगाभिमतकार्यत्वस्य भूभुवनभूधरादिष्वभावात्। अत्र यौगः प्रत्यवातिष्ठिपत्। भूभुवनभूधरादिकं कार्यम् अनणुत्वे सत्यसर्वगतत्वात्[5] पटवदिति, तदप्य-

निश्चय न हो)। आश्रयासिद्ध– जिस में धर्मीका अस्तित्व सिद्ध न हो– आदि का निरूपण हम ने नही किया है। यदि पहले आश्रयासिद्ध आदि का उल्लेख किया है (पूर्व परिच्छेद १५) तो वह दूसरे पक्ष को उत्तर देने मात्र के लिये समझना चाहिये। सर्वज्ञ के विषय मे बाधक प्रमाण सम्भव नही है यह पहले विस्तार से बतलाया ही है।

२०. जगतके कार्यत्वका निषेध—कोई सर्वज्ञ ईश्वर जगत का कर्ता नही है यह चार्वाकों का मत जैन दार्शनिकों को भी मान्य है। शरीर, इन्द्रिय, भूमि, भुवन आदि कार्य हैं अतः उन का कोई बुद्धिमान कर्ता होना चाहिये यह अनुमान योग्य नही। न्यायदर्शन के ही अनुसार कार्य वह होता है जो पहले विद्यमान न हो और बाद में उत्पन्न हुआ हो। यह बात पर्वतों आदि में नही पाई जाती अतः उन्हें कार्य कहना योग्य नही और इसीलिये उन के कर्ता की भी कल्पना व्यर्थ है। जो अणु से भिन्न हैं और असर्वगत हैं (सर्वव्यापी नही हैं) वे कार्य होते

१ अनेकत्वादित्यस्य हेतोर्न आश्रयासिद्धत्वम्। २ तिरपकारमकार्षीच्चार्वाकः। ३ चार्वाकः नैयायिकं प्रति कथयति इति चेन्न हेतोर्भागासिद्धत्वादित्यादि। ४ जैनैः। ५ यौगः। असर्वगतत्वादित्युक्ते अणुषु अतिव्याप्तिः। अणुः असर्वगतोऽस्ति परंतु अणुः कार्यं न अतः अनणुत्वे सतीति।

चारु। तत्र आत्मनोऽनणुत्वे सत्यसर्वगतत्वेऽपि कार्यत्वाभावेन तेन हेतोरनेकान्तत्वात्। कुत एतदिति चेत् आत्माऽसर्वगतः दिक्कालाकाशान्यद्रव्यत्वात् अश्रावण[1]विशेषगुणाधिकरणत्वात्[2] परमाणुवत् ज्ञानासमवाय्याश्रयत्वात्[3] मनोवत् द्रव्यत्वस्या[4]वान्तरसामान्यवत्त्वात् पटवदित्यनुमानात्[5]। अथ[6] भूभुवनभूधरादिकं कार्यम् अनणुत्वे सति रूपादिमत्वात् पटवदिति चेन्न। सकलकार्यद्रव्याणामुत्पत्तिप्रथमसमये रूपादिमत्त्वाभावेन हेतोः स्वरूपासिद्धत्वात्। अथ भूभुवनभूधरादिकं कार्यम् अनणुत्वे सति मूर्तत्वात् पटवदिति चेन्न। हेतोर्विचारासहत्वात्। कथम्। मूर्तत्वं नाम असर्वगतद्रव्यत्वं रूपादिमत्त्वं वा। प्रथमपक्षे आत्मना अनेकान्तः[7]। द्वितीयपक्षे स्वरूपासिद्धत्वमिति[8]। अथ[9] भूभुवनभूधरादिकं कार्य

है अतः भूमि आदि कार्य हैं यह कहना उचित नहीं। आत्मा अणु से भिन्न है और सर्वगत नहीं है किन्तु कार्य नहीं है। इस पर आक्षेप करते हैं कि न्यायदर्शन में तो आत्मा को सर्वगत माना है। उत्तर यह है कि आत्मा सर्वगत नहीं है क्यों कि वह दिशा, काल और आकाश से भिन्न द्रव्य है, विशेष गुणों का आधार है, ज्ञान का असमवायी आश्रय है और द्रव्यत्व से भिन्न सामान्य (जीवत्व) से युक्त है। (इन सब युक्तियोंका आगे विस्तार से वर्णन किया है।) भूमि आदि रूपादि गुणों से युक्त हैं अतः कार्य हैं यह कहना भी उचित नहीं क्यों कि न्यायदर्शन के ही अनुसार प्रत्येक कार्य द्रव्य उत्पत्ति के प्रथम क्षण में रूप आदि से रहित होता है। अतः जो रूपादियुक्त है वह कार्य है यह नियम योग्य नहीं। इसी प्रकार जो मूर्त हैं वह कार्य

१ आत्मा असर्वगतः अश्रावणेत्यादि। २ श्रावणः शब्दः स एव विशेषगुणः तस्याधिकरणम् आकाशं तत्सर्वगतम् अत उक्तम् अश्रावणविशेषेत्यादि। ३ ज्ञानासमवायि आत्मनः संयोगः तस्याश्रयत्वम् आत्मनि मनसि च विद्यते। ४ द्रव्यत्वं नामावान्तरसामान्यमाकाशादिष्वपि सर्वगतेष्वस्तीति व्यभिचारशङ्का न कर्तव्या, अनुमानप्रयोक्तुरन्यथाभिप्रायात्, एवमित्यभिप्रायः –तस्य द्रव्यत्वे अवान्तरसामान्यं द्रव्यत्वावान्तरसामान्यम् इति तच्च पक्षे आत्मत्वं दृष्टान्ते पटत्वम् एवंविधं द्रव्यत्वावान्तरसामान्यम् आकाशादिषु नास्ति तेषामेकैकव्यक्तितया आकाशत्वादेरभावात् ततो व्यभिचाराभावः। ५ आत्मा सर्वगतः इत्यादेः। ६ यौगः। ७ आत्मा असर्वगतः द्रव्यं वर्तते परंतु कार्यं न। ८ सकलकार्यद्रव्याणामुत्पन्नप्रथमसमये रूपादिमत्त्वाभावेन हेतोः स्वरूपासिद्धत्वम्। ९ यौगः।

सावयवत्वात् घटादिवदिति भूभुवनभूधरादीनां कार्यत्वसिद्धिरिति चेन्न। तत्र सावयवत्वं नाम अवयवैरारब्धत्वम् अवयवेषु वृत्तिमत्त्वं वा स्यात्। प्रथमपक्षे असिद्धो हेतुः। कुतः। अवयवैरारब्धत्वमेव कार्यत्वमिति हेतोः साध्यसमत्वात्। द्वितीयपक्षे अवयवसामान्येन[1] व्यभिचारः। कथम्। अवयवसामान्यस्य[2] अवयवेषु वृत्तिमत्त्वेऽपि कार्यत्वाभावात्। अथ सामान्यवत्त्वे[3] सत्यवयवेषु वृत्तिमत्त्वादिति चेन्न। तथापि हेतोराद्यद्व्यणुकावयवगतरूपादिभिर्व्यभिचारात्[4]। तदन्यत्वे सतीति विशेष्यत इति चेत् तर्हि न कोऽपि हेतुर्व्यभिचारी स्यात्। सर्वत्र तदन्यत्वे सतीति वक्तुं शक्यत्वात्। मा भूद् व्यभिचारी हेतुः का नो[5] हानिरिति चेन्न। अपसिद्धान्तापातात्। कुतः स्वयमसिद्धविरुद्धानैकान्तिकाद्य[6]भिधानात्।

हैं यह नियय भी योग्य नहीं क्यों कि उत्पत्ति के प्रथम क्षण में सभी कार्य द्रव्य अमूर्त होते हैं यह न्यायदर्शन का ही मत है। भूमि आदि सावयव हैं अतः कार्य है यह कथन भी योग्य नहीं। सावयव का अर्थ अवयवों से आरम्भ होना अथवा अवयवों मे विद्यमान होना ऐसा दो प्रकार से हो सकता है। अवयवों से आरम्भ होना और कार्य होना एक ही बात है अतः एकको दूसरे का हेतु बतलाना योग्य नहीं। दूसरा पक्ष–अवयवों में विद्यमान होना–भी सम्भव नहीं क्योंकि अवयवसामान्य–अवयवत्व–अवयवों मे विद्यमान तो होता है किन्तु कार्य नहीं होता। इस एक बात को अपवाद मानें तो भी मूल हेतु निर्दोष नहीं होता–आद्य द्व्यणुक आदि के अवयवों में रूपादि विद्यमान होते है किन्तु वे कार्य नहीं होते–नित्य होते हैं ऐसा न्यायदर्शन का ही मत है। अतः अवयवों में विद्यमान होता और कार्य होना इन दो बातों में अवश्य सम्बन्ध नहीं है यह स्पष्ट हुआ।

१ अवयवेषु अवयवसामान्यस्य वृत्तिरस्ति तस्याः कार्यत्वाभावः। २ अवयवत्वस्य, अवयवत्व सामान्यं घटे घटत्वं पटे पटत्वं वर्तत एव। ३ भूभुवनभूधरादिकं कार्यं सामान्यवत्त्वे सत्यवयवेषु वृत्तिमत्त्वात्। ४ नित्यानां तु रूपादयो नित्या एव इति नैयायिकेनोक्तत्वात्। ५ नैयायिकादीना। ६ प्रकरणसमकालात्ययापदिष्टादि।

अथ भूभुवनभूधरादिकं कार्यं सामान्यवत्त्वे[1] सति अस्मदादि[2]-बाह्येन्द्रियग्राह्यत्वात् पटवदिति चेन्न। अस्यापि भागासिद्धत्वात्। कुतः पक्षीकृतेषु भूलोकादिशिवलोकान्तेषु अतलादिपातालेषु लोकालोक[3]पर्वतादिषु च हेतोरप्रवृत्तेः। अथ भूभुवनभूधरादिकं कार्यम् अवयवित्वात् पटादिवदिति चेन्न। तस्याप्यसिद्धत्वात्। कथमिति चेत्, अवयवित्वं नामावयवेषु समवेतत्वमवयवाः समवायिकारणानि समवायिकारणेषु समवेतत्वं कार्यत्वमेव। ततश्च साध्याविशिष्टत्वेन[4] स्वरूपासिद्धो हेतुरिति भूभुवनभूधरादीनां कार्यत्वं न साधयतीति कार्यत्वादिति हेतोर्भागासिद्धत्वं समर्थितमेव स्यात्। एतेन क्षित्यादिकं पुरुषकृतम् उत्पत्तिमत्त्वात् जन्यत्वात् कारणव्यापारानुविधायित्वात्[5] पूर्वान्तवत्वात् उत्तरान्तवत्वात्[6] उभयान्तवत्वात् कादाचित्कत्वात् इत्यादयो हेतवो निरस्ताः। तेषामपि[7] भूभुवनभूधरादिष्वभावेन भागासिद्धत्वाविशेषात्। अथ

भूमि आदि कार्य हैं क्यों कि वे सामान्य से भिन्न हैं तथा हमारे बाह्य इन्द्रियों से जाने जाते हैं यह कथन भी योग्य नहीं। भूमि से शिवलोक तक (स्वर्गभूमिया) तथा अतल आदि पाताल एवं चक्रवाल पर्वत आदि हमारे बाह्य इन्द्रियों से ज्ञात नहीं होते अतः उक्त कथन दोषयुक्त है। भूमि आदि अवयवी हैं अतः कार्य हैं यह कथन भी युक्त नहीं क्यों कि अवयवी होना और कार्य होना एकही बात है—अवयव समवायी कारण होते हैं तथा अवयवी उनका कार्य होता है—अतः एकको दूसरे का हेतु बतलाना निरर्थक है।

इसी प्रकार पृथ्वी आदि उत्पत्तियुक्त हैं, जन्य हैं (किसी के द्वारा उत्पन्न होते हैं), कारण के अनुसार क्रियाएं करते हैं, आरम्भयुक्त हैं, अन्तयुक्त हैं, आरम्भ और अन्त से युक्त हैं, अनित्य हैं आदि हेतु भी जगत को पुरुषकृत सिद्ध नहीं करते क्यों कि पृथ्वी आदि में इन सब बातों का अस्तित्व सिद्ध नहीं है। कार्य वह है जो अपने कारण से

१ सामान्यवत्त्वे सति इति सामान्यव्यतिरिक्ते सति। २ सामान्यम् अस्मदादिबाह्येंद्रियग्राह्यं वर्तते तथापि कार्यं न अत उक्तं सामान्यव्यतिरिक्ते सतीति। ३ लोकालोकश्चक्रवालः इत्यमरः। ४ अविशेषेण। ५ कारणं विना क्षित्यादिकं न जायते अतः कारणव्यापारानुविधायित्वात्। ६ पृथिव्याः पूर्वान्तवत्त्वं वर्तते उत्तरान्तवत्त्वमस्ति। ७ हेतूनाम्।

स्वकारणसमवेतस्य सत्तासमवायलक्षणमस्मदभिमतं कार्यत्वमिति चेन्न। तस्यापि[1] सकलप्रध्वंसेष्वभावेन[2] भागासिद्धत्वात्। अथ वीतस्य भावस्य पक्षीकरणान्नायं दोष[3] इति चेत् तर्हि सकलकार्यविनाशो बुद्धिमद्धेतुको न स्यात्। मा भूत् का नो[4] हानिरिति चेत् तर्ह्यपसिद्धान्तप्रसङ्ग एव स्यात्। कुतः इति चेत् महेश्वरः स्वसंजिहीर्षया सकलकार्यं विनाशयतीति स्वस्य सिद्धान्तत्वात्।

सत्तासमवायस्य विचार्यमाणे असंभवात् स्वरूपासिद्धत्वं च हेतोः स्यात्। तथा हि। स हि भवन् सत्तासमवायः स्वरूपेण सद्रूपस्य[5] भवेत् असद्रूपस्य[6] वा। प्रथमपक्षः कक्षीक्रियते चेत् तदा वीतः[7] सत्तासमवाय-रहितः स्वरूपेण सद्रूपत्वात् सामान्यवदिति[8] सत्तासमवायस्याभाव एव स्यात्। अथ द्वितीयपक्षोऽङ्गीक्रियते तथापि वीतः[9] सत्तासमवायरहितः

समवेत हो तथा सत्ता के समवाय से युक्त हो–यह लक्षण भी पृथ्वी आदि के कार्य होनेमें साधक नहीं है। सभी विनाश कार्य तो होते है किन्तु कारण से समवेत या सत्ता-समवाय से युक्त नहीं होते। अतः कार्य होना और कारणसमवेत होना अविनाभावी नहीं हैं। विनाश अभावरूप है और हम सिर्फ भावरूप जगतको कार्य मानते हैं यह कहना भी ठीक नहीं क्यों कि महेश्वर अपनी संहारेच्छा से सब कार्यों का नाश करते हैं यह न्यायदर्शनकाही मत है। इस लिये जगत कार्य है यह सिद्ध नहीं हो सकता।

ऊपर कार्य के लक्षण में सत्ता का समवाय होना आवश्यक कहा वह भी योग्य नहीं है। सत्ता के समवाय की कल्पना निरर्थक है। जिस वस्तु के साथ सत्ता का समवाय होता है वह यदि स्वयं सत् है तो उसे सत्तासमवाय की जरूरत नहीं–सामान्य आदि सत्तासमवाय के विना ही स्वयं सत् होते है उसी प्रकार यह वस्तु स्वयं सत् होगी। यदि यह वस्तु स्वयं असत् है तो उसे सत्तासमवाय सत् कैसे बना सकेगा। वह खर के

१ सत्तासमवायलक्षणस्य कार्यत्वस्य। २ कार्यभूतेषु। ३ यौगो वदति अस्माभिस्तु सकलप्रध्वंसाः अभावरूपाः पक्षीक्रियन्ते न किंतु वीतस्य भावस्य पक्षीकरणान्नाय दोषः। ४ नैयायिकादीनाम्। ५ पदार्थस्य। ६ अथवा स्वरूपेण असद्रूपस्य पदार्थस्य सत्तासमवायः भवेत्। ७ विवादापन्नः पदार्थः। ८ सामान्यं सत्तासमवायरहितं स्वरूपेण सद्रूपत्वात्। ९ विवादापन्नः पदार्थः।

स्वरूपेणासद्रूपत्वात् खरविषाणवदिति सत्तासमवायस्यासंभवाच्च स्वरूपासिद्धत्वं हेतोः सिद्धम्। अथ सद्रूपस्य न भवत्यसद्रूपस्यापि न भवति किंतु सदसद्विलक्षणस्यैव[1] सत्तासमवाय इति चेन्न। सदसद्विलक्षणस्यानिर्वाच्यस्योत्पत्त्यङ्गीकारे यौगानां त्वपसिद्धान्तात्। मायावादि[2]मतप्रवेशप्रसंगाच्च। अथ सदसद्रूपस्य सत्तासमवाय इति चेन्न। एकस्य स्वरूपेण सदसद्रूपत्वविरोधात्[3]। स तर्हि जैनानां सदसदनेकान्तः कथं भविष्यतीति चेत्। स्वरूपेण सत्त्वं पररूपेणासत्त्वं स्वावष्टब्धक्षेत्रे सत्त्वमन्यत्रासत्त्वं स्ववर्तमानकाले सत्त्वमन्यदा असत्त्वमिति विषय[4]देशकालभेदेन विरोधस्य परिहृतत्वादिति ब्रूमः। अथास्माकमपि स्वरूपेण सतः पररूपेणासतः सत्तासमवायो भविष्यतीति चेन्न। स्वरूपेण सतः सत्तासमवाये[5] सामान्यादीनां[6] सत्तासमवायः स्यादित्यतिप्रसज्यते। तस्मात् सत्तासमवायस्यासंभवात् स्वरूपासिद्धत्वं हेतोः समर्थितमेव।

सींग के समान शून्यरूप होगी। यह वस्तु सत् और असत् दोनों से भिन्न अनिर्वाच्य है यह कहना भी न्यायदर्शन में सम्भव नहीं–यह तो मायावादियों का मत है। यह वस्तु सत् और असत् दोनों है यह कहना भी ठीक नहीं क्यों कि एकही वस्तु स्वरूप से सत् और असत् दोनों नहीं हो सकती। फिर जैन मत मे वस्तु को कथंचित् सत् तथा कथंचित् असत् कैसे माना है यह आक्षेप होता है – उत्तर यह है कि हम वस्तु को स्वरूप से सत् और पररूप से असत्, अपने काल तथा क्षेत्र में सत्, दूसरे काल तथा क्षेत्र में असत् मानते हैं – एकही स्वरूप से सत् तथा असत् दोनों नहीं मानते। न्यायदर्शन में वस्तु को स्वरूप से सत् माना जाय तो सत्तासमवाय की जरूरत नहीं रहती – सामान्य आदि सत्तासमवाय के बिनाही सत् हैं यह उपर्युक्त आक्षेप दूर नहीं किया जा सकता।

१ पदार्थस्य। २ ब्रह्माद्वैतवादि। ३ एकस्मिन् पदार्थे सदसद्रूपं विरुध्यते इत्यर्थः। ४ पदार्थः स्वरूपमित्यर्थः। ५ अङ्गीक्रियमाणे। ६ सामान्यं स्वरूपेण सत् वर्तते परंतु तस्य नास्ति सत्तासमवायः।

अथ कृतबुद्ध्युत्पादकत्वमस्मदभिमतं कार्यत्वमिति[1] चेत् तद्धि कृतसंकेतस्य भवेत् अकृतसंकेतस्य वा। आद्यपक्षे गगनादिना हेतोर्व्यभिचारः[2] स्यात्। तत्रापि खननोत्सेचनात् कृतमिति गृहीतसंकेतस्य कृतबुद्ध्युत्पादकत्वसद्भावे बुद्धिमद्धेतुकत्वाभावात्। द्वितीयपक्षे असिद्धो हेतुः। अकृतसंकेतस्य मीमांसकादेर्भूभुवनभूधरादिषु कृतबुद्ध्युत्पादकत्वाभावात्। भावे वा अविप्रतिपत्तिरेव स्यात्, न चैवं, विप्रतिपत्तिदर्शनात्। तस्मात्तदभावो निश्चीयत इति असिद्धो हेतुः।

[२१. ईश्वरसाधकानुमानानां निरासः।]

अथ तनुकरणभुवनादिकं सकर्तृकम् अचेतनोपादानत्वात् पटादिवदिति भूभुवनादीनां पुरुषकृतत्वसिद्धिरिति चेन्न। आत्मोपादानेषु[3] बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्ने धर्माधर्मादिषु अनुपादानेषु[4] च सकलप्रध्वंसेषु

'यह कृत है' ऐसी बुद्धि उत्पन्न होना ही कार्य का लक्षण है – यह कथन भी ठीक नहीं। यह कृत है ऐसी बुद्धि विशिष्ट संकेत पर अवलम्बित होती है। आकाश खोदा गया, सींचा गया आदि कल्पनाओं का भी संकेत होता है किन्तु मात्र उतने से आकाश को कार्य नहीं माना जाता। पृथ्वी आदि कृत हैं यह भी एक संकेत है – और मीमांसक आदि को यह संकेत ज्ञात नहीं है – वे पृथ्वी आदि को कृत नहीं समझते। इस लिये 'कृत है ऐसी बुद्धि उत्पन्न करना' यह लक्षण भी पृथ्वी आदि में घटित नहीं होता। यदि सब लोग पृथ्वी आदिको कृत समझते तो विवाद का कारण ही न रहता।

२१. ईश्वर साधक अनुमान का निरास—पृथ्वी आदि का उपादान अचेतन है अतः वे पुरुषकृत हैं यह अनुमान भी योग्य नहीं। जो कार्य है वे अचेतन उपादान से ही होते हैं ऐसा नियम नहीं क्यों कि बुद्धि, सुख, दुःख आदि का उपादान आत्मा चेतन है। इसी प्रकार सभी विनाश उपादानरहित कार्य होते हैं – सचेतन या अचेतन उपादान

१ क्षित्यादिकं सकर्तृकं कृतबुद्ध्युत्पादकत्वात्। २ गगनादिकं पुरुषकृतं कृतबुद्ध्युत्पादकत्वात् इति व्यभिचारः अथ गगनं कृतं नास्ति। ३ आत्मा चैतन्यरूप उपादानकारणं येषां ते तथोक्ताः तेषु। ४ न उपादानकारणं येषां सकलप्रध्वंसानां ते तथोक्ताः तेषु।

अचेतनोपादानत्वाभावेन भागासिद्धत्वात्[1]। अथ आत्मनः अचेतनत्वात् बुद्ध्यादीनामचेतनोपादानत्वमस्तीति चेन्न। आत्मा चेतनः, ज्ञातृत्वात् भोक्तृत्वाच्च व्यतिरेके पटादिवदिति[2] आत्मनश्चेतनत्वसिद्धेः। चेतयति संवेदयतीति चेतन आत्मा इति व्युत्पत्तेश्च। तस्मात् बुद्ध्यादिषु अचेतनोपादानत्वाभावाद् भागासिद्धत्वं हेतोर्निश्चीयते। अथ बुद्ध्यादिप्रध्वंसव्यतिरिक्तानां पक्षीकरणान्नायं दोष इति चेन्न। बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मादीनां सकलकार्यप्रध्वंसस्यापीश्वरकर्तृकत्वाभावप्रसंगात्।

अथ तनुकरणभुवनादिकं प्रयत्नजं संनिवेशविशिष्टत्वात् रचनाविशेषविशिष्टत्वात् पटादिवदिति चेत्। तत्र संनिवेशविशिष्टत्वं नाम परिमाणविशेषविशिष्टत्वम् अवयवित्वं वा। आद्यपक्षे परमाण्वाकाशादिना व्यभिचारः। तेषां परिमाणविशेषविशिष्टत्वेऽपि[3], प्रयत्नजत्वाभावात्।

से नहीं होते। अतः अचेतन उपादान होना और कार्य होना इनमें नियत सम्बन्ध नहीं है। बुद्धि, सुख, दुःख आदि का उपादान आत्मा अचेतन है यह कहना भी ठीक नहीं। आत्मा ज्ञाता और भोक्ता है अतः वह अचेतन नहीं हो सकता। वस्त्र आदि ज्ञाता और भोक्ता नहीं होते वेही अचेतन हो सकते है। आत्मा को चेतन इसीलिये कहा जाता है कि वह जानता है — संवेदन करता है। जिन का उपादान अचेतन है वे पुरुषकृत हैं ऐसा माने तो बुद्धि, सुख, दुःख आदि को तथा सभी विनाशों को पुरुषकृत नहीं मान सकेंगे।

पृथ्वी आदि विशिष्ट आकार के हैं तथा उनकी रचना विशिष्ट है अतः वे प्रयत्न से निर्मित हैं यह अनुमान भी योग्य नहीं। परमाणु और आकाश में भी विशिष्ट आकार होता है किन्तु न्यायदर्शन में उन्हें प्रयत्न से निर्मित नहीं माना है। विशिष्ट आकार का तात्पर्य मध्यम आकार मानें तो भी यह अनुमान निर्दोष नहीं होता। गुण, कर्म तथा

१ अत एवं वक्तुं शक्यते यत् अचेतनोपादानकारणकं तत् सकर्तृकं चेतनोपादानकारणकमपि सकर्तृकम्। २ यश्चेतनो न भवति स ज्ञाता न भवति यथा पटः। ३ परमाणुषु अत्यन्ताल्पपरिमाणमस्ति आकाशे महत् परिमाणमस्ति।

अथ मध्यपरिमाणयोगित्वं संनिवेशविशिष्टत्वमिति चेत् तथापि गुणकर्मप्रध्वंसेषु हेतोरभावाद् भागासिद्धत्वम्। अथ द्वितीयपक्षः कक्षीक्रियते परीक्षादक्षैर्विचक्षणैरिति चेत् तर्हि गुणकर्मप्रध्वंसेष्ववयवित्वादिति हेतोरप्रवृत्तेर्भागासिद्धत्वमेव स्यात्।

ननु सर्वं कार्यं सर्ववित्कर्तृपूर्वकं कादाचित्कत्वात्, यत् सर्ववित्कर्तृत्वपूर्वकं न भवति तत् कादाचित्कं न भवति यथा व्योम, कादाचित्कं चेदं,[2] तस्मात् सर्ववित्कर्तृपूर्वकमिति भूभुवनादिकानां सर्वज्ञकृतत्वसिद्धिरिति चेन्न। अत्रापि[3] कादाचित्कत्वादिति हेतोर्भूभुवनादिष्वभावेन भागासिद्धत्वाविशेषात्। कालात्ययापदिष्टत्वं च हेतोः स्यात्। कथमिति चेत् बुद्ध्याद्यङ्कुरादिपटादिकार्येषु सर्ववित्कर्तुरभावस्य प्रत्यक्षेणैव निश्चितत्वात्।

[२२. जगत्कर्तुः शरीरविचारः।]

अथ सर्ववित्कर्तुरशरीरत्वेन अस्मदादिप्रत्यक्षग्रहणायोग्यत्वात् कथं तदभावः प्रत्यक्षेण निश्चीयत इति चेन्न। शरीररहितस्य कर्तृत्वायोग्यत्वात्।

विनाश ये कार्य तो होते है किन्तु विशिष्ट आकार के — मध्यम आकार के नहीं होते (आकाररहित होते हैं)। अतः कार्य होना और विशिष्ट आकार के होना इन में नियत सम्बन्ध नहीं है। विशिष्ट रचना का तात्पर्य अवयवयुक्त होना है यह उत्तर भी सम्भव नहीं क्यों कि गुण, कर्म, विनाश ये कार्य होते हैं किन्तु अवयवयुक्त नहीं होते। अतः अवयवी होना और कार्य होना इनमें भी नियत सम्बन्ध नहीं है।

पृथ्वी आदि अनित्य हैं अतः ईश्वरनिर्मित हैं यह अनुमान भी सदोष है। एक तो पृथ्वी आदि अनित्य ही नहीं हैं। दूसरे, बुद्धि आदि तथा वस्त्र आदि अनित्य कार्य ईश्वरनिर्मित नहीं हैं यह भी प्रत्यक्षसिद्ध है — बुद्धि का उपादान आत्मा है तथा वस्त्र तन्तुओं से बनता है। अतः अनित्य होना और ईश्वरनिर्मित होना इन में नियत सम्बन्ध नहीं है।

२२. जगत्कर्ताके शरीरका विचार—सर्वज्ञ ईश्वर अशरीर है अतः वह प्रत्यक्ष से सामान्य मनुष्यों को ज्ञान नही होता किन्तु प्रत्यक्ष से ईश्वर का अभाव भी सिद्ध नही होता यह कहना ठीक नही। ईश्वर

---

१. गुणादयः अमूर्ताः अतः तेषाम् अवयवित्वं नास्ति। २ कार्यम्। ३ अनुमाने।

कुतः। विवादाध्यासितः कर्ता न भवति शरीररहितत्वात् मुक्तात्मवदिति प्रयोगसद्भावात्। अथ महेश्वरस्य शरीररहितत्वेऽपि ज्ञानचिकीर्षा-प्रयत्नवत्त्वेन[1] कर्तृत्वं, मुक्तात्मनां तदभावादकर्तृत्वमिति चेन्न। शरीर-रहितत्वे[2] ज्ञानचिकीर्षाप्रयत्नवत्त्वस्याप्यनुपपत्तेः। तथा हि। विवादापन्नः पुरुषः ज्ञानेच्छाप्रयत्नरहितः शरीररहितत्वात् मुक्तात्मवदिति। अथ महेश्वरस्य नित्यमुक्तत्वात् नित्यज्ञानेच्छाप्रयत्नवत्त्वोपपत्तेः कर्तृत्वमुपपद्यत इति चेन्न। तेषां नित्यत्वायोगात्। वीता ज्ञानचिकीर्षाप्रयत्नाः न नित्याः आत्मविशेषगुणत्वात् दुःखादिवत्, अनणुविशेषगुणत्वात्[3] पटरूपादिवत्, विभुविशेषगुणत्वात् शब्दवत्[4]। वीतः पुरुषः न नित्यज्ञानेच्छाप्रयत्नवान् मुक्तत्वादितरमुक्तवत्, योगित्वादितरयोगिवत्, पुरुषत्वात् संप्रतिपन्न-

यदि अशरीर है तो वह कर्ता नहीं हो सकता। जैसे मुक्त जीव शरीर-रहित होते हैं और कर्ता नही होते वैसे ही ईश्वर भी शरीररहित हो तो कर्ता नही होगा। ईश्वर में ज्ञान, जगत् के निर्माण की इच्छा तथा प्रयत्न ये विशेष है जो मुक्त जीवों मे नही होते—अतः वह कर्ता है यह समाधान भी योग्य नही। ज्ञान, इच्छा तथा प्रयत्न ये सब शरीररहित पुरुष मे सम्भव नही है—इसीलिये कि मुक्त जीव शरीररहित होते हैं, उन में ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न का अभाव होता है। ईश्वर नित्य मुक्त है अतः उस में नित्य ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न होते हैं यह कथन भी योग्य नही। ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न ये आत्मा के विशेष गुण हैं अतः नित्य नही हो सकते। आकाश का गुण शब्द जैसे अनित्य है अथवा वस्त्र के रूपादि गुण जैसे अनित्य हैं उसी प्रकार आत्मा के ज्ञान आदि गुण भी अनित्य है। दूसरे, ईश्वर यदि मुक्त है तो अन्य मुक्त जीवों के समान उसे भी ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न

१ ईश्वरस्य नित्यं ज्ञानं नित्यचिकीर्षा नित्यप्रयत्नोऽस्ति इति नैयायिको वदति। २ महेश्वरस्य। ३ अणुव्यतिरिक्ते सति पटरूपं न नित्यं विशेषगुणत्वात् अणुरूपं यदस्ति तन्नित्यमस्ति अत उक्तम् अनणुत्वेति। ४ शब्दः न नित्यः आकाशविशेषगुणत्वात् तथा ज्ञानेच्छादयः न नित्याः आत्मविशेषगुणत्वात्।

पुरुषवदिति। तस्मादसौ[१] कर्ता न भवति ज्ञानेच्छाप्रयत्नरहितत्वात् मुक्तात्मवत्। ज्ञानेच्छाप्रयत्नरहितोऽसौ[२] शरीररहितत्वात् तद्वदिति तस्य कर्तृत्वाभावः।

अथ सशरीर एव ईश्वरः सकलकार्यं करोतीति चेत् तत् शरीरं सर्वगतमसर्वगतं वा सकलदेशेषु कार्यं कुर्यात्। न तावत् सर्वगतं तेनैव[३] सकललोकव्याप्तेरन्यपदार्थप्रचारस्यावकाशासंभवात्। अथ आलोकादिवत्[४] तस्याप्रतिबन्धकत्वात् तत्रैव सकलपदार्थप्रचारो भविष्यतीति चेन्न। शरीराणां पञ्चभूतात्मकत्वेन आप्यतैजसवायवीयानामपि पार्थिवादि-परमाण्ववष्टम्भेन ह्यनेकाकारत्वे सत्येव शरीरत्वात्। तादृशस्य शरीरस्य मूर्तद्रव्यप्रचारप्रतिबन्धित्वात्। तन्मते[५] अन्यादृशस्य शरीरस्याभावाच्च। एवं च बुद्ध्याद्यङ्कुरादिकार्येषु तादृक्[६]शरीरव्यापाराभावस्य प्रत्यक्षेणैव निश्चितत्वात् कालात्ययापदिष्टत्वं हेतोः समर्थितं भवति।

से रहित मानना ही उचित है। इसी लिए उसे कर्ता भी नही माना जा सकता।

ईश्वर शरीरसहित है और सब कार्य करता है यह कथन भी ठीक नही। ईश्वर का शरीर सर्वव्यापी होगा या अव्यापक होगा। यदि उसको सर्वव्यापी मानें तो उसी के द्वारा समस्त प्रदेश व्याप्त होने पर अन्य पदार्थों के लिए स्थान नही रहेगा। जैसे प्रकाश सर्वत्र व्याप्त होने पर भी अन्य पदार्थों को प्रतिबन्ध नही करता उसी तरह ईश्वर का शरीर भी अप्रतिबन्धक है—यह समाधान भी उचित नहीं। न्यायदर्शन में शरीरों को पंचभूतात्मक माना है। अतः प्रत्येक शरीर में अप्, तेज और वायु के साथ पृथ्वी के परमाणु भी होते हैं। इस लिये उन के मत में कोई शरीर अप्रतिबन्धक नही हो सकता। तथा बुद्धि, अंकुर, वस्त्र आदि के निर्माण में ईश्वर का ऐसा कोई पंचभूतात्मक शरीर कारण नही है यह प्रत्यक्ष से ही निश्चित है। अतः ईश्वर का जगत्कर्ता होना सिद्ध नही होता।

१ ईशः। २ ईशः। ३ सर्वगतशरीरेण। ४ यथा आलोकः केषामपि पदार्थानां प्रतिबन्धको नास्ति तथा ईशशरीरस्य। ५ नैयायिकमते। ६ सर्वगतशरीर।

अथ असर्वगतं तच्छरीरमङ्गीक्रियते तन्नित्यमनित्यं वा। न तावन्नित्यं शरीरत्वात्, अवयवित्वात्, मध्यमपरिमाणवत्त्वात्, संप्रतिपन्नशरीरवत्। अथ अनित्यं तत् केन क्रियते। तेनैव महेश्वरेणेति चेत् अशरीरेण सशरीरेण वा। न तावदाद्यः पक्षः शरीरावष्टम्भरहितस्य कार्यकर्तृत्वायोगात्। अथ अस्मदादेः स्वशरीरक्रियायां शरीरान्तरमन्तरेणापि कर्तृत्वं दृश्यत इति चेन्न। तत्रापि शरीरावष्टब्धस्यैव[1] कर्तृत्वात्, वामपादचारो दक्षिणपादावष्टम्भेन दक्षिणपादप्रचारो वामपादावष्टम्भेन उभयप्रचारः कट्याद्यवष्टम्भेन क्रियते इति शरीरावष्टब्धस्यैव कर्तृत्वात्। तथा वीतः पुमान् सशरीर एव कर्तृत्वात् संप्रतिपन्नकर्तृवत्। अशरीरस्य च कर्तृत्वं नोपपनीपद्यत इति प्रागेव विस्तरेण प्रत्यपीपदामे[2]त्यत्रोपरम्यते। अथ सशरीरेण क्रियते चेत् तर्हि तदपि शरीरं पूर्वशरीरसहितेन तदपि ततः पूर्वशरीरसहितेनेतीश्वरस्यानाद्यनन्तशरीरसंततिः स्यात्।

ईश्वर का शरीर अव्यापक है यह मानकर भी उसके कर्तृत्व का समर्थन नहीं हो सकता। वह शरीर नित्य नही हो सकता क्यों कि शरीर अनित्य होते हैं – अवयवयुक्त तथा मध्यमपरिमाण के होते हैं। यदि ईश्वर का शरीर अनित्य है तो प्रश्न होता है कि उस शरीर का निर्माण किसने किया? उसी ईश्वर ने अपना शरीर निर्माण किया यह मानना ठीक नहीं। क्यों कि शरीर निर्माण के पहले ईश्वर शरीरहित था तथा शरीररहित अवस्था में कार्य करना सम्भव नही। हम अपने शरीर की क्रियाएं अपने आप–दूसरे शरीर की सहायता के विना–करते हैं उसी तरह ईश्वर अपने शरीर का निर्माण करता होगा यह समाधान भी उचित नहीं। हमारे शरीर की क्रियाएं भी शरीर से स्वतन्त्र नही होतीं – दाहिना पैर उठाते हैं तो बाएं पैरका उसे आधार होता है तथा बायां पैर उठाते है तो दाहिने पैर का आधार होता है। शरीररहित अवस्था में कोई कार्य नही होता।

ईश्वर ने अपने शरीर का निर्माण सशरीर स्थिति में किया यह कहें तो अनवस्था होगी–इस शरीर के निर्माण के पहले जो शरीर था उस के निर्माण के लिये पूर्ववर्ती शरीर की जरूरत होगी–उस पूर्ववर्ती शरीर

१ पुरुषस्य। २ प्रतिपादयामः स्म।

तथा च सर्वज्ञत्वं सर्वकर्तृत्वं मुक्तत्वं च नोपपनीपद्यते तस्य। तथा हि। वीतः पुरुषः सर्वज्ञो न भवति संसारित्वात् प्रसिद्धसंसारिवत्। अथेश्वरस्य संसारित्वमसिद्धमिति चेन्न। विवादाध्यासितः संसारी पूर्वशरीरं विहायोत्तरशरीरग्राहित्वात् प्रसिद्धसंसारिवत्। वीतः पुरुषः जगत्कर्ता न भवति संसारित्वात् पूर्वोत्तरशरीरत्यागस्वीकारवत्त्वाच्च संमतसंसारिवत्। अत एव मुक्तत्वमपि नोपपनीपद्यते तस्य। एवं चासौ[1] वन्द्यो न भवति सदा संसारित्वात् अभव्यवत्। अथ विश्वकार्यकर्तृत्वेन अस्मददृष्टादीनां कर्तृत्वाद् वन्द्योऽसाविति चेन्न। वीतो न वन्द्यः विश्वकार्यनिमित्तकारणत्वात् कालवदिति बाधकसद्भावात्।

किं च[2]। तच्छरीरस्य प्रादेशिकत्वे[3] सकलदेशेषूत्पद्यमानकार्याणि तत्र तत्र गत्वा करोति एकत्र स्थित्वा वा। न तावदाद्यः पक्षः भिन्नदेश-

के निर्माण के लिये उस से भी पूर्ववर्ती शरीर की जरूरत होगी–इस प्रकार शरीरों की परम्परा का कहीं अन्त नही होगा। अतः सशरीर अवस्था में भी ईश्वर का जगत्-निर्माता होना योग्य सिद्ध नही होता।

दूसरी बात यह है कि न्यायदर्शन में मान्य ईश्वर संसारी है अतः वह सर्वज्ञ, जगत्कर्ता या मुक्त नही हो सकता। ससारी वह होता है जो एक शरीर छोडकर दूसरा शरीर धारण करता है। ईश्वर भी एक शरीर छोडकर दूसरा धारण करता है अतः वह संसारी है, तथा संसारी जीव सर्वज्ञ, सर्वकर्ता या मुक्त नही होते। अतः ईश्वर का भी सर्वज्ञ, सर्वकर्ता या मुक्त होना युक्त नही है। इसीलिए ऐसा ईश्वर वन्दनीय भी नही है। हमारे अदृष्ट (पुण्य-पाप) का कर्ता होने से ईश्वर वन्दनीय है यह कथन भी युक्त नही। विश्व के सभी कार्यों में काल भी निमित्त-कारण होता है किन्तु उतने से काल वन्दनीय नही होता। उसी प्रकार पुण्यपाप आदि में निमित्तकारण होने से ईश्वर भी वन्दनीय नही है।

ईश्वर का शरीर अव्यापक है यह मानने पर एक दोष और उत्पन्न होता है। प्रश्न यह है कि ऐसी स्थिति में ईश्वर एक जगह बैठकर सर्वत्र कार्य करता है या जहा कार्य करना हो वहा जा कर करता है। यदि

१ ईश्वरः। २ दूषणान्तरम्। ३ एकदेशे स्थितत्वेन।

कार्याणां युगपदुत्पत्त्यभावप्रसंगात्। अस्मत् प्रत्यक्षकार्येषु तथाविधकर्तुरभावस्य प्रत्यक्षेणैव निश्चितत्वात् हेतोः कालात्ययापदिष्टत्वं च। अथ द्वितीयः पक्षः कक्षीक्रियते[1] तथापि सकलदेशोद्भूतपद्यमानकार्याणां पुरुषकृतत्वं दुर्लभं स्यात्। तथा हि। प्रयत्नात् कोष्ठवायुप्रचारः कोष्ठवायोः करादीनां क्रिया ततश्च कार्यनिष्पत्तिरिति तच्छरीरसमीपस्थानां करचरणादिक्रियाव्याप्तानामेव[2] सकर्तृकत्वं नान्येषामिति स्थितम्। अथ यथैव हि राजा उपरितनभूमिकायां स्थित्वा भृत्यान् तत्र तत्र[3] प्रतिपाद्य स्वदेशे सकलकार्याणि कारयति तथा महेश्वरोऽपि कैलासाचले स्थित्वा लोके तत्रतत्रस्थितजीवान् प्रतिपाद्य सर्वाणि कार्याणि कारयतीति चेन्न। कस्यापि जीवस्य तथाविधप्रतिपादकप्रतीतेरभावात्। परान् प्रतिपाद्य कारयति चेत् तस्य स्वातन्त्र्यकर्तृत्वाभावप्रसंगाच्च।

वह जगह जगह जा कर कार्य करता हो तो अनेक जगहों में एकही समय कार्य नही हो सकेंगे। तथा हम जिन कार्यों को प्रत्यक्ष देखते हैं उन्हें करने के लिए हमारे सन्मुख के प्रदेश में ईश्वर नही आता है यह प्रत्यक्ष से ही स्पष्ट है। एक जगह बैठकर ईश्वर सर्वत्र कार्य करता हो यह भी सम्भव नही क्यों कि शरीर के द्वारा वहीं कार्य किया जा सकता है जहां प्रयत्न से हाथ, पाव आदि अवयव पहुंच सकें (ईश्वर के अवयव सर्वत्र नही पहुंचते हैं यह प्रत्यक्ष से ही सिद्ध है अतः वह सर्वकर्ता नहीं हो सकता।) जैसे राजा अपने प्रासाद में बैठकर नौकरों को राज्य मे जगह जगह भेज कर सब कार्य कराता है वैसे ही ईश्वर कैलास पर्वत पर बैठकर जगत में सर्वत्र जीवों द्वारा कार्य कराता है यह कहना भी युक्त नही। अमुक कार्य करने के लिए किसी जीव को ईश्वर की आज्ञा प्राप्त हुई हो यह देखा नही गया है। तथा ईश्वर यदि दूसरों द्वारा जगत के कार्य कराता है तो वह परतन्त्र होगा—स्वतन्त्र भाव से जगत्कर्ता नहीं हो सकेगा। अतः ईश्वर का जगत्कर्ता होना युक्त नही है।

१ एकत्र स्थित्वा करोति इति। २ पदार्थानाम्। ३ स्थाने स्थाने।

[२३. अदृष्टस्य ईश्वराधीनत्वनिषेधः ।]

यदैव सर्वज्ञः सर्वान् परिज्ञाय कारयति चेत् सर्वेषां[1] सौख्यं सुखसाधनं च ज्ञात्वा प्रतिपाद्य कारयेत् । न दुःखं तत्साधनं च[2] । तथा च लोके नारकतिर्यग्दरिद्रादीनामभाव एव स्यात् । अथ जीवानामदृष्टं ज्ञात्वा तत्तदृष्टानुरूपं[3] सुखदुःखादिकं तत्साधनं च कार्यं स्यादिति महेश्वरः चिन्तयति तच्चिन्तामात्रेण सकलकार्यनिष्पत्तिरिति तस्य स्वातन्त्र्यकर्तृत्वमस्तीति चेन्न । प्राणिनामदृष्टोदयादेव भोगभोग्यवर्गादीनां निष्पत्तिसंभवेन महेश्वरचिन्तया प्रयोजनाभावात् । अथादृष्टस्याचेतनत्वात् कुठारवद् बुद्धिमत्प्रेरणामन्तरेण स्वकार्ये प्रवर्तनासंभवात् तच्चिन्तया भाव्यमिति चेन्न । अस्मदादीनामपि यस्य यादृशमदृष्टं तस्य तादृग् भोगो भोग्यवर्गश्च स्यादिति चिन्तयापि[4] तत्तत्कार्यनिष्पत्तिसंभवेन तच्चिन्तया प्रयोजनाभावात् । ततस्तत्[5] परिकल्पनं व्यर्थमेव स्यात् । अथादृष्टं स्वसाक्षा-

२३. अदृष्टका ईश्वराधीनत्व—यदि ईश्वर सर्वज्ञ है और सर्वकर्ता भी है तो वह सब जीवों के लिए सुख के ही साधन निर्माण करता–दुःख के साधन का निर्माण उसके लिए उचित नही है। जीवों के अदृष्ट के (पुण्य-पाप के) अनुसार ईश्वर सुख-दुःख के साधन निर्माण करने की इच्छा करता है तथा ईश्वर की इच्छा से ही वे साधन निर्माण होते हैं अतः ईश्वर स्वतन्त्र भाव से जगत्कर्ता है यह कथन भी युक्त नही । प्राणियो को अपने अपने अदृष्ट के उदय से ही सुख-दुःख और उसके साधन प्राप्त होते हैं अतः उस में ईश्वर की इच्छा निरर्थक होगी । अदृष्ट अचेतन है अतः किसी बुद्धिमान की प्रेरणा के बिना वह फल नही दे सकता अतः ईश्वर की प्रेरणा आवश्यक है यह समाधान भी उचित नही । हमारे जैसे सर्वसाधारण जीवों की प्रेरणा से भी अदृष्ट फल दे सकता है यह कहा जा सकता है–प्रेरणा ईश्वर की ही हो यह आवश्यक नही । अदृष्ट को जो साक्षात जानता हो वही उसको प्रेरणा दे सकता है अतः ईश्वर की प्रेरणा आवश्यक है यह कथन भी युक्त

१ प्राणिनाम् । २ न कारयेत् । ३ सदृशम् । ४ अस्मदादीनां चिन्तया । ५ ईश्वर ।

त्कारिणा[1] बुद्धिमता[2] प्रेरितं सत् स्वकार्ये प्रवर्तते अचेतनत्वात् वास्यादि[3]-वदिति चेन्न। तेनैव बुद्धिमता हेतोर्व्यभिचारात्। तस्याचेतनत्वेऽपि स्वकार्ये प्रवर्तनात्। अथास्या[4]चेतनत्वं नास्तीति चेन्न। आत्मा स्वयमचेतनः चेतनासमवायाच्चेतन इति स्वसिद्धान्तविरोधात्। स्वानुमानबाधितत्वाच्च – आत्मा अचेतनः अस्वसंवेद्यत्वात् पटादिवदिति। अथ चेतनासमवायेन बुद्धिमतोऽपि चेतनत्वात् तस्याचेतनत्वाभाव इति चेन्न। यौगमते चेतनायाः कस्या अप्यसंभवात्। ननु बुद्धिश्चेतना भवतीति चेन्न। बुद्धिरचेतना अस्वसंवेद्यत्वात् पटादिवदिति तस्या अप्यचेतनत्वात्। तस्माददृष्टं स्वयोग्यतया जीवानां भोगं भोग्यवर्गं च स्वयमेव संपादयतीति किमन्यपरिकल्पनया। अथ अदृष्टोत्पत्तावपि बुद्धिमता कर्त्रा भवितव्यमिति चेत् स चास्त्येव। यः सदाचारी स पुण्यस्य कर्ता यो दुराचारी स पापस्य कर्ता इति। अथ ईश्वराराधनाविरोधने विहाय अपरयोः सदाचार-

नही। इस अनुमान पर मूलभूत आक्षेप यह भी है कि न्यायदर्शनके अनुसार आत्मा स्वयं अचेतन है—चेतना के समवाय सम्बन्ध से वह चेतन कहलाता है—फिर वह अदृष्ट को प्रेरणा कैसे दे सकेगा? न्यायदर्शन मे आत्मा को स्वसंवेद्य नही माना है इस से भी स्पष्ट होता है कि उस मत में आत्मा को अचेतन माना है – जो स्वसंवेद्य नही वह चेतन भी नही हो सकता। न्यायदर्शन में किसी भी तत्त्व को योग्य रीति से चेतन नही माना है। उस मत में बुद्धि भी स्वसंवेद्य नही है अतः वह भी चेतन नही है। इसलिए बुद्धि के सम्बन्ध से भी आत्मा को चेतन नही कहा जा सकता। अतः अदृष्ट को प्रेरणा देने के लिए किसी ईश्वर की कल्पना निरर्थक है। अदृष्ट स्वय अपनी योग्यता से जीवों को भोग और उस के साधन प्राप्त कराता है। अदृष्ट के निर्माण के लिए भी बुद्धिमान कर्ता आवश्यक है यह आक्षेप भी ठीक नही। जो जीव सदाचारी है वह अपने पुण्यकर्म—अदृष्ट का कर्ता है तथा जो जीव दुराचारी है वह अपने पापकर्म—अदृष्ट का कर्ता है। अतः उस से भिन्न किसी कर्ता की कल्पना व्यर्थ है। ईश्वर की आराधना यही सदाचार है तथा

१ अदृष्टसाक्षात्कारिणा। २ ईश्वरेण। ३ कुठारविशेषः। ४ अदृष्टम्। ५ ईश्वरस्य।

दुराचारयोरभावात् कथमीश्वरमन्तरेण पुण्यपापसंभव इति चेन्न। ईश्वर-चिन्तां विहाय काम्यानुष्ठाने प्रवर्तमानानां मीमांसकादीनां काम्यापूर्वात्[1] स्वर्गादिप्राप्तिनिश्चयात्। अथ तन्निश्चयः कुत इति चेत्,

अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत।
कारीरीं[2] निर्वपेद् वृष्टिकामः पुत्रकाम्येष्ट्या पुत्रकामो यजेत॥

इत्यादिश्रुतिप्रामाण्यात्।

सवत्सारोमतुल्यानि युगान्युभयतोमुखीम्[3]।
दातास्याः स्वर्गमाप्नोति पूर्वेण विधिना ददत्[4]॥
(याज्ञवल्क्यस्मृति १-९-२०६)

इत्यादिस्मृतिप्रामाण्याच्च। तथा तच्चिन्तां[5] विहाय स्तेयब्रह्महत्यादि-निषिद्धानुष्ठाने प्रवर्तमानानां[6] दुरितापूर्वा[7]न्नारकादियातनानिश्चयात्। तत् कथम्,

सुवर्णमेकं[8] गामेकां भूमेरप्येकमङ्गुलम्।
हरन्नरकमाप्नोति यावदाभूतसंप्लवः॥

ईश्वर का विरोध यही दुराचार है यह कथन भी ठीक नही। मीमांसक ईश्वर का आराधन आवश्यक नही मानते फिर भी काम्य कर्मों से उन्हें स्वर्गादि प्राप्त होते हैं ऐसा कहा जाता है– ‘ जिसे स्वर्ग की इच्छा हो वह अग्निहोत्र से हवन करे, या ज्योतिष्टोम यज्ञ करे, वृष्टि की इच्छा हो वह मेंढकों का बलि दे तथा पुत्र की इच्छा हो वह पुत्रकामेष्टि से यज्ञ करे।’ ऐसा वेदवाक्य है। तथा स्मृतिवाक्य भी है–‘ पूर्वोक्त विधि से बछडे-सहित गाय का दान करे उसे उस गायके जितने केश हों उतने युगोंतक स्वर्ग प्राप्त होता है। ’ इसी प्रकार ईश्वर की चिन्ता न कर चोरी, ब्रह्महत्या आदि पातक करते हैं उन्हे नरक आदि की यातनाएं भी प्राप्त होती ही हैं। जैसा कि स्मृतिवाक्य है – ‘ एक सुवर्ण, एक गाय या एक अंगुल भूमि का भी जो हरण करता है वह प्रलयकाल तक नरक में रहता है। ’ तथा वेदवाक्य भी है – ‘ जो ब्राह्मण को निन्दावचन कहे उसे सौ मुद्राएं दण्ड देना चाहिए तथा जो ब्राह्मण का वध करे

१ काम्य यज्ञादि तच्च तदपूर्वम् इति अदृष्टं तस्मात्। २ दर्दुरं जुहुयात् वृष्टिकामः। ३ प्रसूतकाले। ४ यः ददत् सः। ५ ईश्वर। ६ तस्करादीनाम्। ७ अदृष्टात्। ८ बाल २७ रति १-३।

'ब्राह्मणायावगुरेत् तं शतेन'[1] यानयाद्यो हनत् सहप्रणेता' इत्यादि श्रुतेश्च निश्चीयते। अथ काम्यनिषिद्धानुष्ठानयोः[2] प्रवर्तनमपीश्वरप्रेरणामन्तरेण कथमिति चेत् प्रागुपार्जितपुण्यपापोदयेन उत्पन्नशुभाशुभपरिणामादिभिरिति ब्रूमः[3]।

[२४. सृष्टिसंहारप्रक्रियानिरासः।]

यद्प्यन्यदनुमानमाश्रयत्-विमतं कार्यम् उपादानोपकरणसंप्रदानप्रयोजनसाक्षात्कारिकृत[4] जन्यत्वात् स्वशरीरक्रियावदिति तदपि निरस्तम्। सुषुप्तशरीरक्रियया हेतोर्व्यभिचारात्। तत्र जन्यत्वहेतोः सद्भावेऽपि उपादानोपकरणसंप्रदानप्रयोजनसाक्षात्कारिकृतत्वसाध्याभावात्। प्रागुक्तभागासिद्धत्वस्य कालात्ययापदिष्टत्वादेश्चात्रापि समानत्वाच्च।

अथ वात्यादीनां नोदनाभिघातेन अवयवेषु क्रिया क्रियातो अवयवविभागः विभागात् संयोगविनाशः संयोगविनाशादवयविद्रव्यविनाशः

उसे प्राणदण्ड देना चाहिए।' अब इन शुभ-अशुभ कामों में प्रवृत्ति भी ईश्वर की प्रेरणा से होती है यह कथन भी ठीक नही। यह प्रवृत्ति तो अपने पूर्वोपार्जित पुण्य-पापके उदय से उत्पन्न हुए शुभअशुभ परिणामों—भावनाओंपर अवलम्बित होती है। ईश्वर की प्रेरणा की वहा जरूरत नही है।

२४. सृष्टिसंहार प्रक्रिया का निरास—भूमि आदि जन्य हैं – किसी के द्वारा निर्माण किये गये हैं और इन का निर्माता वही हो सकता है जो उपादान, उपकरण आदि को साक्षात जानता हो— यह अनुमान ईश्वर की सिद्धि के लिए प्रस्तुत किया जाता है। किन्तु यह भी सदोष है। सोए हुए व्यक्ति के शरीर की क्रियाए तो होती हैं किन्तु उस व्यक्तिको उस का ज्ञान नही होता। अतः क्रिया का करनेवाला उसको जानता ही हो यह आवश्यक नही है।

न्याय-वैशेषिक मत में सृष्टि के विनाश की प्रक्रिया इस प्रकार है – पहले तो प्रबल वायु के आघात से जगत के अवयवों में क्रिया पैदा होती है, क्रिया से अवयवों मे विभाग होता है, विभाग से उनका संयोग नष्ट होता है – वे अलग अलग बिखर जाते हैं, अवयवों के

१ मानविशेष। २ काम्यनिषिद्धयोः अनुष्ठाने तयोः। ३ वयं जैनाः।
४ साक्षात्कारी कश्चित् पुरुषः तेन कृतम्।

ततः परमाणुपर्यन्तं कार्यविनाशः पुनः परमाणुभ्यां व्द्यणुकोत्पत्तिः व्द्यणुकेभ्यस्त्र्यणुकोत्पत्तिः त्र्यणुकेभ्यश्चतुरणुकोत्पत्तिरित्यादिभिरन्त्यावयवी उत्पद्यत इति भूभुवनभूधरादीनां जन्यत्वसिद्धेः हेतोर्भागासिद्धत्वाभाव इति चेन्न।

भूभुवनभूधरादीनां जातुचिदुत्पत्त्यसंभवेन[1] हेतोः स्वरूपासिद्धत्वात्। कथमिति चेत् सर्वदा प्रवर्तमानहस्त्यश्वरथपदातिमृगादीनां पादादिसंघट्टनेन लाङ्गलमूशलकुद्दालयष्टितोमरादीनामाहवसंघर्षणेन वात्यादीनां[2] नोदनाभिघातेन पावकप्रभाकरादीनां दाहशोषणेन च परमाणुपर्यन्तं विनष्टानां भूभुवनभूधरादीनां पुनरुत्पत्तिसमयासंभवात्। कुतः [3]तद्व्याघातकारिणां[4] तत्र तत्राव्यवधानेन सर्वदा प्रवर्तमानत्वात्। प्रत्यक्षादिप्रमाणेन प्रक्रियायाः[5] तथानुपलम्भाच्च अप्रामाणिकीयं स्वरुचिविरचिता वैशेषिकी प्रक्रिया। तस्मात् भूभुवनादीनां नोदनाभिघातादिना विनाशे पुनर्जननासंभवात् तत्र[6] जन्यत्व हेतोरप्रवृत्तेर्भागासिद्धत्वं समर्थि-

बिखरने से अवयवी द्रव्य नष्ट होते है और सब के अन्त मे सिर्फ परमाणु बचे रहते है – वाकी सब कार्य द्रव्यों का नाश होता है। उत्पत्ति की प्रक्रिया इस से ठीक उलटी है – पहले दो परमाणु मिलकर द्व्यणुक बनते हैं, द्व्यणुकों के मिलने से त्र्यणुक बनते हैं, त्र्यणुकों से चतुरणुक बनते हैं और इस प्रकार अणुओ के विभिन्न संयोगों से पृथ्वी आदि सभी पदार्थ उत्पन्न होते है।

हमारे मत में यह सब प्रक्रिया निराधार ही कल्पित की गई है। हाथी, घोडे, रथ, पशु आदि के चलने से तथा मूसल, कुदाल आदि के आघात से, तथा युद्ध मे परस्पर प्रहरों से तथा अग्नि, सूर्य के द्वारा दाह, शोषण होने से जगत मे अवयवो का बिखरना और परमाणु की अवस्था तक पहुंचना सदाही चलता रहाता है (इस का यह तात्पर्य नही कि किसी समय सभी पदार्थ नष्ट हो कर सिर्फ परमाणुही बचे रहेंगे।) यदि पृथ्वी आदि सब नष्ट हो कर सिर्फ परमाणु ही बचे रहते हैं तो उन से पुनः पृथ्वी आदि का निर्माण होना भी सभव नही है क्यो कि उन

१ कदाचित्। २ वातसमूहो वात्या। ३ भूभुवनादि। ४ कुद्दालादीनाम्। ५ नोदनाभिघातेन अवयवेषु क्रिया क्रियातो विभागः विभागात् संयोगविनाशः इत्यादि पूर्वोक्ता प्रक्रिया। ६ भ्वादिषु।

तमेव। कालात्ययापदिष्टत्वमपि विदेहसदेहविश्वकर्तृविचारेण[1] प्रागेव निश्चितमिति सर्वं सुस्थम्।

[२५. सृष्टिनित्यत्वसमर्थनम्।]

तस्माद् विमतं कार्यं पुरुषकृतं न भवति असंभवद्विदेहसदेहकर्तृकत्वात् यदेवं[2] तदेवं यथा व्योमादि[3] तथा चेदं[4] तस्मात्तथेति[5] प्रतिपक्षसिद्धिः। अत्र विवादाध्यासितेषु कार्येषु[6] विदेहसदेहकर्तुरसंभवस्य प्रागेव प्रतिपादितत्वान्नासिद्धो हेतुः विपक्षे घटादावसत्त्वनिश्चयान्न विरुद्धो नाप्यनैकान्तिको न प्रकरणसमश्च। सपक्षे व्योमादौ सत्त्वनिश्चयान्नानध्यवसितः। पक्षे[7] साध्याभावनिश्चायकप्रमाणाभावान्न कालात्ययापदिष्टः। व्योमादौ साध्यसाधनोभयसद्भावान्न दृष्टान्तदोषोऽपीति। तथा विवादापन्नं कार्यं[8] पुरुषव्यापारनिरपेक्षजन्यं शरीरिप्रयत्ननिरपेक्षजन्यत्वात् व्यतिरेके[9] घटादिवदिति च। ननु अशरीरिप्रयत्नजन्यत्वेन पुरुषव्यापारजन्यत्वं भविष्यतीति चेन्न। शरीररहिते प्रयत्नाभावस्य प्रागेव समर्थितत्वात्।

परमाणुओं के संयोग में बाधक कारण सदा ही विद्यमान रहते हैं। तथा यह जो सृष्टि के विनाश और उत्पत्ति की प्रक्रिया है वह प्रत्यक्ष आदि किसी प्रमाण से सिद्ध नही है। अतः पृथ्वी आदि को जन्य कहना ही युक्त नही। इसलिए पृथ्वी आदि के निर्माता की कल्पना भी व्यर्थ है।

२५. सृष्टिके नित्यत्वका समर्थन—पृथ्वी आदि किसीके द्वारा निर्मित नही हैं क्यों कि इन का निर्माता सशरीर भी नही हो सकता और अशरीर भी नही हो सकता। जैसे आकाश का सशरीर या अशरीर कोई निर्माता नही है—वह स्वयंभू है वैसे ही पृथ्वी आदि भी स्वयंभू हैं। इसके विपरीत घट आदि जो पदार्थ पुरुषकृत हैं उन का कोई शरीरधारी निर्माता होता है। पृथ्वी आदि के ऐसा कोई निर्माता नही है अतः वे स्वयंभू हैं। (इस अनुमान की निर्दोषता का तान्त्रिक विवरण मूल में देखना चाहिए।) निर्माता अशरीर नही हो सकता यह पहले स्पष्ट किया ही है।

१ अशरीरसशरीर। २ यत् असंभवद्विदेहसदेहकर्तृकं तत् पुरुषकृतं न भवति। ३ यथा व्योमादि पुरुषकृतं न भवति। ४ इदं कार्यम् असंभवद्विदेहसदेहकर्तृकमिति। ५ पुरुषकृतं न भवति। ६ भूभुवनभूधरादिः। ७ भूभुवनादौ। ८ भूभुवनादिकम्। ९ यत् पुरुषव्यापारनिरपेक्षजन्यं न तच्छरीरिप्रयत्ननिरपेक्षजन्यं न यथा घटः।

तथा भूभुवनमकर्तृकं नित्यत्वादाकाशवदिति च। अथ भूभुवनादीनां नित्यत्वमसिद्धमिति चेन्न। वीतं भूभुवनादिकं धर्मी नित्यं भवतीति साध्यो धर्मः अस्मदादिप्रत्यक्षानवच्छिन्न[1]महापरिमाणाधारत्वात् आकाशवदिति नित्यत्वसिद्धेः। ननु ब्राह्ममानेन[2] वर्षशतान्ते महेश्वरसंजिहीर्षया तनुकरणभुवनादिकसकलकार्यविनाशे पृथिव्यप्तेजोवायुपरमाणवो[3] धर्माधर्मसंस्कारसहितात्मानः दिक्कालाकाशमनांसि तिष्ठन्तीति भुवनादीनां नित्यत्वमसिद्धम्। तथा च प्रयोगः। सकलात्मगताद्दृष्टानि कदाचिन्निरुद्धवृत्तानि अदृष्टत्वात् सुषुप्तादृष्टवदिति चेन्न। हेतोः सिद्धसाध्यत्वेनाकिंचित्करत्वात्। कथम्। काम्यनिषिद्धाद्यनुष्ठानेनोपार्जितसकलात्मगतादृष्टानां स्वफलयोग्यदेशकालादिप्राप्तिपर्यन्तं[5] निरुद्धवृत्तित्वाङ्गीकारात्[6]। सुषुप्तादृष्टस्य निरुद्ध-

पृथ्वी आदि का कोई कर्ता नही है क्यों कि आकाश के समान वे भी नित्य है। पृथ्वी आदि को नित्य मानने का कारण यह है कि वे इतने महान् आकार के हैं जिस का हमें प्रत्यक्षादि के द्वारा ठीक निश्चय नही हो सकता। इसके प्रतिकूल न्यायदर्शन का मत है कि ब्रह्मदेव की गणना से सौ वर्ष बीतने पर ईश्वर अपनी संहारेच्छा से समस्त कार्योंका विनाश करता है उस समय सिर्फ पृथ्वी, अप्, तेजस् तथा वायुके परमाणु, धर्म और अधर्म के संस्कार से युक्त आत्मा, दिशा, काल, आकाश और मन ये मूलभूत द्रव्य ही बचते हैं – बाकी सभी कार्यों का विनाश होता है अतः पृथ्वी आदि को नित्य मानना उचित नही। इस मत के समर्थन मे अनुमान भी दिया जाता है – सभी आत्माओं के अदृष्ट (पुण्य-पाप) किसी समय निरुद्ध होते है। सोए हुए मनुष्य का अदृष्ट निरुद्ध होता है उसी प्रकार सभी आत्माओं के अदृष्ट भी किसी समय निरुद्ध होते है। (यह अदृष्ट निरुद्ध होने का समय ही प्रलयकाल है जिस में ईश्वर द्वारा उपर्युक्त रीति से जगत् का संहार होता है।) किन्तु

१ अज्ञात। २ संहारकालस्य मानेन। ३ यदा ईश्वरः सकलकार्यविनाशं करोति तदा पृथ्व्यादीनां परमाणवः धर्मादिसंस्कृता आत्मानः दिगादीनि चत्वारि न नश्यन्ति एतानि तिष्ठन्त्येव इति नैयायिकमतम्। ४ काम्यं यज्ञं निषिद्धं हिंसादिकं ते आदिर्यस्य तच्च तत् अनुष्ठानं च। ५ अदृष्टानां स्वफलयोग्यो देशः स्वफलयोग्यः कालः यावन्न प्राप्नोति तावददृष्टस्य निरुद्धवृत्तित्वमेवास्ति इत्यस्माभिरपि अङ्गीक्रियते। ६ अस्माकं जैनानाम्।

वृत्तित्वाभावात् साध्यविकलो दृष्टान्तश्च। कुतः जीवनहेतुप्रयत्नोच्छ्वासादीनां धनधान्यादिहानिवृद्धिगृहदाहशरीरव्यापादनादीनामदृष्टव्यापार[1] कार्याणां बहूनां दर्शनात्। तस्माद् वीतः कालः[2] प्राणिभोगसहितः भोगानुकूलादृष्टसंपन्नात्मसहितत्वात् संप्रतिपन्नकालवदिति[3] सदा प्राणिनां भोगो भोग्यवर्गश्च प्रवर्तते।

अथ गोत्वं गोव्यक्तिषु कदाचिन्न वर्तते जातित्वात्[4] अश्वत्ववदिति[5] कदाचित् सकलकार्याभावः प्रसाध्यते[6]। तत्रापि गोत्वं गोव्यक्तिषु कदाचिन्न वर्तत इति कोऽर्थः-स्वव्यक्तीर्विहायान्यव्यक्तिषु कदाचिद् वर्तत इत्यभिप्रायः, निराश्रयत्वेन तिष्ठतीति वा। प्रथमपक्षे जातिसांकर्यं[7] प्रसज्यते। गोत्वं गोव्यक्तीर्विहायान्यव्यक्तिषु वर्तत इत्युक्ते अपसिद्धान्तापातश्च[8]। दृष्टान्तोऽपि साध्यविकलः स्यात्। कुतः। अश्वत्वस्य कदाचिदपि स्वव्यक्तीर्विहायान्यत्र प्रवर्तनाभावात्। गोव्यक्तिष्वश्वत्वस्य सर्वदा अप्रवर्त-

इस अनुमान में दो दोष हैं। एक तो यह कि सभी आत्माओं के अदृष्ट – जो काम्य, निषिद्ध आदि कर्मों के कारण उपार्जित किये जाते हैं – अपने फल देने के समय तक निरुद्ध होते ही हैं, फिर उनके निरुद्ध होने का प्रलयकाल जैसा अलग समय मानने की क्या जरूरत है? दूसरा दोष इस अनुमान के उदाहरण में है – सोए हुए मनुष्य का अदृष्ट निरुद्ध नही रहता क्यों कि उस स्थिति में भी उस के श्वासोच्छ्वासादि क्रियाएं चलती रहती हैं तथा धनधान्य की हानि या वृद्धि भी चालू रहती है। अतः प्रत्येक समय में प्राणियों को पूर्वकालीन अदृष्ट से फलभोग मिलते रहना है यही मानना उचित है।

किसी समय सब कार्यों का अभाव (प्रलय) होता है यह बतलाने के लिए दूसरा अनुमान इस प्रकार दिया जाता है – जाति किसी समय व्यक्ति में विद्यमान नही रहती, उदाहरणार्थ अश्वत्व जाति गायों में विद्यमान नही है, अतः गोत्व जाति भी गोव्यक्तियों में किसी समय विद्यमान नही रहती होगी। (जिस समय कोई जाति किसी व्यक्ति में

१ विशेषपदम्। २ सुषुप्तावस्थायां कालः। ३ यथा प्राणिभोगसहितोऽस्ति। ४ सामान्यत्वात्, सामान्यं जातिः, सामान्यजन्मनः। ५ अश्वत्वं गोव्यक्तिषु यथा न प्रवर्तते। ६ मया नैयायिकेन। ७ गोजातिः अश्वजातौ अश्वजातिः गोजातौ इति जातिसांकर्यं भवति। ८ गोत्वं गोव्यक्तावेव वर्तते इति नैयायिकानां सिद्धान्तः।

मानत्वेन कदाचिन्न वर्तेत इत्येतत्साध्याभावात्। द्वितीयपक्षे अपसिद्धान्तः। 'षण्णा[1]माश्रितत्वमन्यत्र नित्यद्रव्येभ्यः[2]' (प्रशस्तपादभाष्य पृ. १६.) इति स्वसिद्धान्तत्वात्। अश्वत्वस्य निराश्रयावस्थानाभावात् साध्यविकलो दृष्टान्तश्च। किं च गोत्वादेर्निराश्रयावस्थाङ्गीकारे द्रव्यत्वं प्रसज्यते[3]। गोत्वादिकं नित्यद्रव्यम् अनाश्रितत्वेनावस्थितत्वात् आकाशवदिति। तस्मात् गोत्वादिकं स्वव्यक्तिषु सर्वदा वर्तते जातित्वात्[4] द्रव्यत्ववदिति गजगवाश्वादिव्यक्तीनां सर्वदा सत्त्वसिद्धिः[5]।

अथ पृथिव्याद्यारम्भकपरमाणवः कदाचित् स्वातन्त्र्यभाजः[6] परमाणुत्वात् प्रदीपारम्भकपरमाणुवदिति[7] अनेन सकलप्रध्वंसो भविष्यतीति चेन्न। सिद्धसाध्यत्वेन हेतोरकिंचित्करत्वात्। कथमिति चेत् तनुकरणभुवनादिषु स्वतन्त्रपूर्वपरमाणूनां प्रवेशस्य ततो[8] निर्गतपरमाणूनां

ही रहती वही प्रलयकाल है।) यह अनुमान भी दोषयुक्त है। एक तो गोत्व जाति गो-व्यक्तियों को छोडकर रह नही सकती – यदि गोत्व जाति अश्व आदि अन्य व्यक्तियों में रहे तो अश्वत्व और गोत्व मे अन्तर नही रहेगा। दूसरे, इस अनुमान का उदाहरण भी दोषयुक्त है – क्यों कि अश्वत्व गायों मे किसी भी समय विद्यमान नही रहता किन्तु अश्वों में सर्वदा विद्यमान रहता है। यहा उदाहरण ऐसा चाहिए था जिस मे एक जाति अपनेही व्यक्ति मे किसी समय विद्यमान रहती है और अन्य समय विद्यमान नही रहती। किन्तु ऐसा उदाहरण सम्भव नही है। तथा गो-व्यक्ति के आश्रय के विना ही गोत्व-जाति रहती है यह मानना भी न्यायदर्शन के मत के विरुद्ध होगा– 'नित्य द्रव्यों को छोडकर छहों पदार्थ आश्रित होते हैं' ऐसा उन का मत है। अतः वे गोत्व-जाति का विना आश्रय के रहना नही मान सकते।

इस अनुमान की उदाहरण अश्वत्व जाति भी आश्रयरहित नही पाई जाती। यदि जाति को आश्रयरहित मानें तो उपर्युक्त सिद्धान्तानुसार

१ द्रव्यगुणकर्मादि। २ विना नित्यद्रव्यरहितेभ्यः ३ गोत्वं सामान्यं न तु द्रव्यत्वम्। ४ सामान्यत्वात्। ५ गोत्वं गोव्यक्तावेव अश्वत्वम् अश्वजातावेव इति सर्वदा सत्त्वसिद्धिरेव। ६ कदाचित् स्वातंत्र्यभाज इत्युक्ते कदाचित् केनापि क्रियन्ते इति समायातम्। ७ प्रदीपारम्भकाः परमाणवः के वर्तिकातैलभाजनादयः। ८ तन्वादेः।

स्वातन्त्र्यभाक्त्वस्य चास्माभिरप्यभ्युपगमात् वैतालीह्रदे जलप्रवेशनिर्गमवत्[1]। एवं चेद् भूभुवनादीनामनित्यत्वेन जैनानामपसिद्धान्त इति चेन्न।

प्रविशद्गलतां व्यूहे[2] देहेऽणूनां समासकृत्[3]।
स्थितिभ्रान्त्या प्रपद्यन्ते तमात्मानमबुद्धयः[4] ॥

(समाधितन्त्र श्लो. ६९)

इति सिद्धान्तत्वात्। प्रदीपारम्भकावयवादीनां[5] स्वातन्त्र्यपरमाणुत्वाभावात् साध्यविकलो दृष्टान्तश्च।

ननु विश्वसंतानोऽयं दृश्यसंतानशून्यैः समवायिभिरारब्धः[6] संतानत्वात् आरणेयाग्निसंतानवदिति[7] अनेन सकलप्रध्वंसपूर्वका सृष्टिर्भविष्यतीति चेन्न। विचारासहत्वात्। दृश्यसंतानशून्यैः समवायिभिरारब्ध इति

उसे द्रव्य कहना होगा जो उचित नही है। अतः जातिया सर्वदा अपने व्यक्तियों में विद्यमान रहती हैं यही मानना योग्य है।

प्रत्येक वस्तु के आरम्भक परमाणु स्वतन्त्र होते हैं। उदाहरणार्थ, दीपक के आरम्भक परमाणु (बत्ती, तेल, अग्नि के रूप में) स्वतन्त्र होते हैं। अतः पृथ्वी आदि के आरम्भक परमाणु भी प्रारम्भसमय में स्वतन्त्र रहे होंगे (वही प्रलय का समय है) यह कथन भी युक्त नही। पृथ्वी आदि में स्वतन्त्र परमाणुओं का प्रवेश होता है तथा उन से निकले हुए परमाणु भी स्वतन्त्र होते हैं यह जैन मत मे भी मान्य है। तथापि जैन मत में पृथ्वी आदि को नित्य ही माना है क्यों कि परमाणुओं के प्रवेश और निर्गमन के साथसाथ पृथ्वी आदि का सम्पूर्ण विनाश नही होता। उदाहरणार्थ – किसी सरोवर मे पानी बहकर आता है और जाता भी है किन्तु सरोवर बना रहता है। शरीर के विषय में भी जैन सिद्धान्त इसी प्रकार है – जैसा कि पूज्यपाद आचार्य ने कहा है – 'शरीर यह एक ऐसा परमाणुसमूह है जिस में परमाणु प्रवेश करते हैं और निकलते भी हैं और उसका संकलित रूप स्थिर रहता है उसी को मन्दबुद्धि लोग आत्मा समझते हैं।' अतः स्वतन्त्र परमाणुओं के प्रवेश या निर्गमन से

१ यथा वैतालीह्रदे स्वत एव जलप्रवेशः निर्गमश्च स्वतन्त्र एव। २ समूहे। ३ विश्वासकृत्। ४ स्वरूपम्। ५ वर्तिकातैलादीनाम्। ६ समवायिकारणैः। ७ यथा आरणेयाग्निसंतानः दृश्यसंतानशून्यसमवायिभिरारब्धः।

अदृश्यमात्रसमवायिभिरारब्ध इत्यभिप्रायः परमाणुभिरारब्ध इति वा। न तावदाद्यः पक्षः सिद्धसाध्यत्वेन हेतोरकिंचित्करत्वात्। कथम्। तनुकरण संतानस्य समवायिकारणरूपत्वेनोपात्तशुक्रशोणितादीनामदृश्यत्वेन तनुकरणसंतानस्य दृश्यसंतानशून्यैःसमवायिभिरारब्धत्वाङ्गीकारात्। न द्वितीयः पक्षोऽपि। दृष्टान्तस्य साध्यविकलत्वात्। आरणेयाग्निसंताने द्व्यणुकादिभिरारब्धत्वसंभवेन परमाणुभिरारब्धत्वाभावात्। तत् कथम्। आरणेयाग्निर्न परमाणुभिरारब्धः अद्व्यणुकत्वात्[1] अस्मदादि बाह्येन्द्रिय-ग्राह्यत्वात् पटादिवदिति। घटादिसंतानेन व्यभिचाराच्च। तेषां दृश्य-संतानैर्मृत्पिण्डशिवकादिसमवायिभिरारब्धत्वात्। अथ तेषामपि पक्षी-करणान्न व्यभिचार इति चेत् तर्हि प्रत्यक्षेण पक्षे[2] साध्याभावस्य निश्चितत्वात् कालात्ययापदिष्टो हेतुः स्यात्। तस्माद् वीतानि नराश्वादि-शरीराणि पूर्वनराश्वादिशरीरजानि गर्भजसंतानशरीरत्वात् संप्रतिपन्न-

पृथ्वी अनित्य ही है यह कहना योग्य नही। इस अनुमान का उदाहरण भी दोषयुक्त है क्यों कि दीपक के प्रारम्भ में परमाणु स्वतन्त्र नही होते (– बत्ती, तेल, अग्नि के स्कन्ध रूप में ही होते हैं)।

जैसे अरण्य में अग्नि किसी दृश्य कारण के विना ही भडकती है वैसे इस विश्व की परम्परा भी किसी दृश्य कारण के विना ही (प्रलया-स्थिति से) शुरू हुई है यह कहना भी ठीक नही। इस में एक दोष तो यह है कि कारण दृश्य न हो तो अदृश्य भी हो सकता है, जैसे कि शरीर का उत्पत्तिकारण वीर्य तथा रज अदृश्य स्थिति में होता है। किन्तु इसका तात्पर्य यह नही कि शरीर (प्रलयस्थिति से –) कारण-रहित उत्पन्न होता है। दूसरे, यहां उदाहरण भी दोषयुक्त है क्यों कि अरण्य में अग्नि परमाणुओं से आरम्भ नही होता। न्यायदर्शन के ही मतानुसार परमाणुओं से पहले द्व्यणुक बनते है और वे बाह्य इन्द्रियों से ग्राह्य नही होते। अग्नि बाह्य इन्द्रियों से ग्राह्य है अतः वह परमाणुओं से आरम्भ नही हुआ है। तीसरा दोष यह भी है कि जगत में घट आदि बहुतसे पदार्थों का कारण दृश्य होता है। अतः विश्व के पदार्थों का दृश्य कारण नही होता यह कहना प्रत्यक्ष से ही बाधित है। इस

१ द्व्यणुकत्र्यणुकादिभिः आरब्धत्वात्। २ घटादौ।

शरीरवत् इति शरीरसंतानस्याप्यनादित्वसिद्धिः। ततश्च लोकस्याकृतिमत्त्वमनाद्यनन्तत्व[1]प्रतिपादकागमस्य प्रामाण्यसिद्धिश्च।

[२६. ईश्वरनिरासोपसंहारः।]

एतेनैव ब्रह्मणोऽपि विश्वकर्तृत्वाभावं प्रत्यपीपदाम[2]। उक्तसाधनदूषणयोस्तत्कर्तृत्वेऽपि समानत्वात्। तथा ब्रह्मा सर्वज्ञो न भवति संसारित्वात् प्रसिद्धसंसारिवत्। ब्रह्मणः संसारित्वमसिद्धमिति चेन्न। ब्रह्मा संसारी जातिजरामरणवत्त्वात् पूर्वोत्तरशरीरत्यागोपादानवत्त्वाच्च प्रसिद्धससारिवत्। तथा विष्णुरपि सर्वज्ञो न भवति मत्स्यत्वेनोत्पन्न त्वात् प्रसिद्धमत्स्यवत् कूर्मत्वेनोत्पन्नत्वात् प्रसिद्धकूर्मवत् वराहत्वेनोत्पन्नत्वात् प्रसिद्धवराहवत् गोपालत्वात् प्रसिद्धगोपालवत् संसारित्वात् प्रसिद्धसंसारिवत्। अथ विष्णोः संसारित्वं नास्तीति चेन्न। विष्णुः संसारी उत्पत्तिविनाशवत्त्वात्, पूर्वशरीरं विहायोत्तरशरीरग्राहित्वात् प्रसिद्धसंसारिवत्। ब्रह्मविष्णुमहेश्वरा न सर्वज्ञाः कामक्रोधलोभमानमात्सर्योपेतत्वात् संप्रतिपन्नपुरुषवत्।

विवरण से स्पष्ट होता है कि मनुष्य तथा पशुओं के शरीर अपने मातापिताके शरीरों से उत्पन्न होते हैं तथा यह शरीरों की परम्परा अनादि है। इस लिए जगत को अनादि-अनन्त मानना ही उचित है। ऐसा जिस शास्त्र का मत है वही प्रमाण हो सकता है।

२६. ईश्वर निरास का उपसंहार—ईश्वर के जगत्-कर्ता होने का निरसन अब तक विस्तार से किया। इसी प्रकार ब्रह्मदेव तथा विष्णु के जगत्-कर्ता या सर्वज्ञ होने का निरसन होना है। ये देव संसारी हैं—एक शरीर छोडकर दूसरा धारण करते हैं तथा जन्म, वृद्धत्व, एवं मृत्यु से युक्त हैं अतः वे सर्वज्ञ नही हो सकते। विष्णुने तो मछली, कछुआ, सुअर, ग्वाल आदि के शरीरों में जन्म लिया है। अतः संसारी होने से वह सर्वज्ञ नही हो सकता। दूसरे, ये सब देव काम, क्रोध, लोभ, अभिमान, मत्सर आदि दोषों से युक्त हैं यह भी उन के सर्वज्ञ होने में बाधक है।

१ भुवनस्य अनाद्यनन्तत्वम्। २ वयं जैनाः।

बुद्धोऽपि सर्वज्ञो न भवति क्षणिकत्वात् प्रदीपशिखावत्, प्रत्यक्षादि[1]-विरुद्धवक्तृत्वात् उन्मत्तवत्। अथ बुद्धस्य प्रत्यक्षादिविरुद्धवक्तृत्वमसिद्ध-मिति चेन्न। निर्दुष्टप्रत्यक्षप्रसिद्धस्य स्थिरस्थूलसाधारणाकारस्या[2]-सत्यत्व प्रतिपादनात्। अप्रामाणिकस्य क्षणिकनिरंशविविक्तस्यैव[3] सत्यत्वप्रतिपादनाच्च। तस्माद् ब्रह्मविष्णुमहेश्वरबुद्धादीनाम् असर्वज्ञ-त्वान्न वन्द्यत्वं न पूज्यत्वं न स्तुत्यत्वम्। अपि तु जिनेश्वरस्यैव वन्द्यत्वं स्तुत्यत्वं पूज्यत्वं च। कथं जिनेश्वरस्यैव सर्वज्ञत्वमिति चेत् 'यः सर्वाणि चराचराणि' इत्यादि ग्रन्थेन विस्तरतो जिनेश्वरस्य सर्वज्ञत्वं प्रत्यतिष्ठि[4]-पामेत्यत्रोपारंरस्यिष्म[5]।

[२७. सर्वज्ञाभावनिरासः।]

यदप्यभ्यधायि चार्वाकेण-तस्मात् सर्वज्ञो नास्ति अनुपलब्धेः खर-विषाणवदिति, तदप्यसत्। हेतोरसिद्धत्वात्। सर्वज्ञोपलब्धौ प्रागेवागमा-नुमानादिप्रमाणोपन्यासात्। यदप्यन्यदनूद्य निरास्थात्-अथेदानीमस्मदा-दिभिरनुपलभ्योऽपि देशान्तरे कालान्तरे पुरुषान्तरैरुपलभ्यते इति चेन्न, अनुमानविरोधात्, तथा हि, वीतो देशः सर्वज्ञरहितः देशत्वात् एतद्देशवत्

बुद्ध भी सर्वज्ञ नही हैं क्यों कि (उन्हीं के मतानुसार) वे क्षणिक हैं (तथा एकही क्षण जिनका अस्तित्व है वे सर्वज्ञ कैसे हो सकते हैं ?)। दूसरे, बुद्ध ने प्रत्यक्षादि प्रमाणों से विरुद्ध तत्त्वों का उपदेश दिया है— वे स्थिर, स्थूल तथा साधारण पदार्थों को असत्य मानते हैं तथा सर्वथा क्षणिक, निरंश और विशेष को ही सत्य पदार्थ मानते हैं। इस से भी उन का सर्वज्ञ न होना स्पष्ट होता है। जैन दर्शन के मतानुसार सर्वज्ञ देव वन्द्य, पूज्य, तथा स्तुत्य हैं। अतः ब्रह्मदेव, विष्णु, शिव या बुद्ध वन्द्य, पूज्य, या स्तुत्य नही है क्यों कि वे सर्वज्ञ नही हैं।

२७. सर्वज्ञके अभाव का निरास—चार्वाको ने कहा है कि सर्वज्ञ का ज्ञान किन्ही प्रमाणों से नही होता अतः उस का अस्तित्व ही नही है। इस के उत्तर में हमने सर्वज्ञ साधक अनुमान तथा आगम प्रमाणों को प्रस्तुत किया ही है। इस प्रदेश के समान सभी प्रदेश सर्वज्ञरहित हैं,

१ प्रत्यक्षादिभिः सह। २ वस्तुनः। ३ वस्तुनः। ४ वयं जैनाः स्थापितवन्तः। ५ उपरम्यते।

इति–तदप्यसमञ्जसम्। दृष्टान्तस्य साध्यविकलत्वात् एतद्देशे कालान्तरे सर्वज्ञसद्भावेन सर्वज्ञरहितत्वाभावात्। यदप्यभ्यधायि वीतः कालः सर्वज्ञरहितः कालत्वात् इदानींतनकालवदिति तदप्यसंगतम्। दृष्टान्तस्य साध्यविकलत्वात् इदानीमपि देशान्तरे सर्वज्ञसद्भावेन इदानींतनकालस्य सर्वज्ञरहितत्वाभावात्। यदप्यन्यदवादि वीतः पुरुषः सर्वज्ञं न पश्यति पुरुषत्वात् अस्मदादिवदिति सर्वज्ञाभावात् तत्प्रणीतागमाभाव इति तदप्यसत्। दृष्टान्तस्य साध्यविकलत्वात्। कथम्। अस्मदादावागमानुमानाभ्यां सर्वज्ञप्रतिपत्तिसद्भावात्। ततस्सर्वज्ञसद्भावात् सर्वज्ञप्रणीतागमसद्भावः ततश्च जीवस्यानाद्यनन्तत्वसिद्धिरिति।

अथ[1] वीतौ देशकालौ सर्वज्ञरहितौ देशकालत्वात् एतद्देशकालवदिति सर्वज्ञाभाव इति चेत्। तत्र चार्वाकस्य धर्मी[2] प्रमाणप्रसिद्धो न वा। प्रथमपक्षे[3] प्रत्यक्षैकप्रमाणवादिनश्चार्वाकस्यानाद्यनन्तकालं सकलदेशं

तथा इस काल के समान सभी काल सर्वज्ञरहित है यह अनुमान भी युक्त नही। इसी प्रदेश मे पूर्ववर्ती काल मे सर्वज्ञ हो गये हैं तथा इसी काल में भी अन्य प्रदेशों में सर्वज्ञ विद्यमान हैं। अतः यह काल और यह प्रदेश सर्वज्ञरहित हैं यह नही कहा जा सकता। हमारे जैसे पुरुषों को सर्वज्ञ का ज्ञान नही होता अतः किसी पुरुषको नही होता होगा यह कहना भी ठीक नही क्यों कि हमें (जैनो को) आगम तथा अनुमान से सर्वज्ञ का ज्ञान होता ही है। इस तरह सर्वज्ञ की सिद्धि होती है तथा उसी से सर्वज्ञप्रणीत आगम प्रमाणभूत सिद्ध होते हैं। तदनुसार जीवका अनादि-अनन्त होना स्पष्ट ही है।

सभी प्रदेशों तथा सभी कालो में सर्वज्ञ नही हैं ऐसा चार्वाक कहते हैं। किन्तु चार्वाक सिर्फ प्रत्यक्ष को प्रमाण मानते हैं। सिर्फ प्रत्यक्ष से सभी प्रदेशों तथा सभी कालों का ज्ञान कैसे सम्भव है? यदि सम्भव हो तो जिसे ऐसा ज्ञान है वह स्वयं ही सर्वज्ञ होगा। फिर जगत में सर्वज्ञ नही है यह कहना उसके लिए सम्भव नही है। यदि सब देशों तथा कालों को चार्वाक नही जानते हैं तो किसी प्रदेश या किसी काल में सर्वज्ञ नही हैं यह कहना उनके लिए योग्य नही है।

१ असर्वज्ञवादी चार्वाकः मीमांसको वा वदति। २ वीतौ देशकालौ इति धर्मी। ३ यदि धर्मी प्रमाणसिद्धः।

प्रत्यक्षतो जानतः स्वस्यैव सर्वज्ञत्वेन देशकालयोः सर्वज्ञसहितत्वात् सर्वज्ञरहिताविति साध्यस्याभावः प्रत्यक्षेण निश्चीयते इति कालात्ययापदिष्टो हेतुः स्यात्। द्वितीयपक्षे[1] धर्मिणः प्रमाणसिद्धत्वाभावात् आश्रयासिद्धो हेत्वाभासः। मीमांसकानामप्यत्रायमेव दोष उद्भाव्यते। प्रत्यक्षेण धर्मिग्रहणे तद्दोषस्य[2] समानत्वात्। अथ[3] अनुमानेन धर्मी[4] गृह्यत इति चेत् प्रकृतानुमानेन[5] अनुमानान्तरेण वा। प्रकृतानुमानेन चेदितरेतराश्रयदोषः। कुतः। अनुमानस्य सिद्धौ धर्मिणः सिद्धिः धर्मिसिद्धौ अनुमानसिद्धिरिति। अनुमानान्तरेण चेदनवस्था तस्याप्यनुमानान्तरेण धर्मि[6]सिद्धिस्तस्याप्यनुमानान्तरेण धर्मिसिद्धिरिति। अथ आगमाद् धर्मिसिद्धिरिति चेन्न। आगमस्य मीमांसकैः कार्यार्थे[7] प्रामाण्याङ्गीकारेण देशकालादिसिद्धार्थप्रतिपादने प्रामाण्यानभ्युपगमात्। अथ दृष्टदृश्यमानसादृश्यनिबन्धनं[8] नोपमानमपि[9] सकलदेशकालग्रहणसमर्थम्। तथा नार्थापत्ति-

मीमासकों ने सर्वज्ञ के अभाव में जो युक्तिया दी हैं वे भी इसी प्रकार सदोष हैं। सभी देशो तथा कालों का ज्ञान उन्हे प्रत्यक्ष से नही हो सकता। अनुमान से भी यह ज्ञान सम्भव नही। मीमासक आगम प्रमाण को सिर्फ कार्य के विषय में प्रमाण मानते हैं अतः आगम से देश-काल जैसे सिद्ध पदार्थों का ज्ञान उन्हें नही हो सकता। उपमान प्रमाण से भी समस्त देश कालों का ज्ञान सम्भव नही क्यों कि उपमान में देखे हुए तथा दिखाई दे रहे ऐसे दो पदार्थों की तुलना आवश्यक है जो प्रस्तुत मे सम्भव नही है। समस्त देश काल सर्वज्ञरहित हुए विना अमुक बात की उपपत्ति नही लगती यह भी नही कहा जा सकता अतः अर्थापत्ति प्रमाण भी इस विषय में उपयोगी नही है। समस्त देशों तथा कालो का ज्ञान अभाव प्रमाण से भी नही होता क्यों कि ऐसा ज्ञान भावरूप होना चाहिए तथा भावरूप पदार्थो का ज्ञान अभाव प्रमाण से होना सम्भव नही। समस्त देश-कालो का यह ज्ञान दूसरों के कहने

१ यदि अप्रमाणसिद्धो धर्मी। २ प्रत्यक्षेण धर्मिग्रहणे स्वस्यैव सर्वज्ञत्वेन देशकालयोः सर्वज्ञसहितत्वात् इत्यादिदोषस्य समानत्वात्। ३ मीमासकः। ४ वीतौ देशकालौ सर्वज्ञरहितौ। ५ वीतौ देशकालौ सर्वज्ञरहितौ देशकालत्वात् एतद्देशकालवदिति प्रकृतानुमानम्। ६ वीतौ देशकालौ इति धर्मी। ७ यज्ञादि। ८ कारणम्। ९ धर्मिग्राहकं न।

रपि सकलदेशकालं धर्मिणं गृह्णाति तदविनाभूतकल्पनाभावात्[१]। अभावं च न भावग्राहकं प्रमाणं किंत्वभावग्राहकमेव। तस्मान्मीमांसकानां धर्मिग्राहकप्रमाणाभावादाश्रयासिद्धो हेत्वाभासः[२]। अथ पराभ्युपगमात् प्रसिद्धौ देशकालौ धर्मीक्रियेते इति चेत् तर्हि[३] पराभ्युपगमः स्वस्य प्रमाणमप्रमाणं वा। प्रमाणं चेत् तर्हि पराभ्युपगमादेव सर्वज्ञसहितत्वमप्यस्तु[४], अविशेषात्। ततः कालात्ययापदिष्टत्वं हेतोः[५]। अप्रमाणं चेदाश्रयासिद्धो हेतुः स्यात्।

किं च[६]। एतद्देशकालप्रवर्तनां दृष्ट्वा सर्वत्र सर्वदा तथा[७] प्रसाधयतां लोकायतमीमांसकानां मते सुरगुरुजैमिन्यादीनां[८] सहस्रशाखावेदपारगाणामश्वमेधादियागकर्तॄणामप्यभावः स्यादित्यतिप्रसज्यते। तथा हि विमतौ देशकालौ सुरगुरुजैमिन्यादिरहितौ देशकालत्वात् एतद्देशकालवदिति स्वव्याघातोत्पत्तिप्रसंगत्वादेवंविधः प्रयोगो न कर्तव्यः।

से स्वीकार किया है यह कथन भी ठीक नही। दूसरों का कथन ही मानना हो तो सर्वज्ञ का अस्तित्व भी मानने में क्या दोष है ?

इस देश तथा काल में सर्वज्ञ नही है अतः किसी देश या काल में सर्वज्ञ नही होते इस कथन की व्यर्थता निम्न उदाहरण से स्पष्ट होगी। इस देश तथा काल में बृहस्पति – जो कि चार्वाक दर्शन के प्रणेता माने गये हैं – नही है अतः किसी देश या काल में बृहस्पति नही हो सकते; क्या ऐसा कहना ठीक है ? मीमांसा दर्शन के प्रणेता जैमिनि, हजार शाखाओं में विभक्त वेद के ज्ञाता, अश्वमेधादि यज्ञ करनेवाले – ये सब इस देश तथा इस काल में नही हैं अतः वे किसी देश या काल में नही हो सकते यह कहना क्या उचित होगा ? उसी प्रकार इस देश तथा समय को देखकर सभी देश तथा समयों में सर्वज्ञ का अभाव मानना अनुचित है।

१ सद्देशकल्पकानाम्। २ देशकालत्वादयं हेतुः हेत्वाभासः। ३ तव मते। ४ देशकालयोः सर्वज्ञसहितत्वमस्तु। ५ हेतुना देशकालौ सर्वज्ञरहितौ साध्येते, पराभ्युपगमात् सर्वज्ञसहितौ देशकालौ भवत. इतिकालात्ययापदिष्टत्वं हेतोः। ६ दूषणान्तरम्। ७ सर्वज्ञो नास्तीति प्रसाधयताम्। ८ लोकायतानां मूलगुरुः सुरगुरुः मीमांसकाना मतस्य कर्ता जैमिनिः।

[२८. वेदस्यापौरुषेयत्वनिरासः।]

यदप्यनूद्य प्रत्यवोचत्[1]–अथ सर्वज्ञप्रणीतागमाभावेऽपि अपौरुषेयागमसद्भावात् स एव जीवस्यानाद्यनन्तत्वमावेदयतीति चेन्न, आगमस्यापौरुषेयत्वाभावात्, तथा हि वेदवाक्यानि पौरुषेयाणि वाक्यत्वात् कादम्बरीवाक्यवदिति, तत् तथैव। आगमस्य सर्वज्ञप्रणीतत्वेन पौरुषेयत्वाभ्युपगमात्।

अथापौरुषेयो वेदः अनवच्छिन्नसंप्रदायत्वे सत्यस्मर्यमाणकर्तृकत्वात् आकाशवदित्यपौरुषेयत्वसिद्धिरिति चेन्न। हेतोर्विशेष्यासिद्धत्वात्[2]। तथा हि। अस्मर्यमाणकर्तृकत्वं वादिनः[3] प्रतिवादिनः[4] सर्वस्य[5] वा। वादिनश्चेत्[6] कर्तुरनुपलब्धेरभावाद्[7] वा। आद्यपक्षे पिटकत्रयेऽपि वादिनः कर्तुरनुपलब्धेरस्मर्यमाणकर्तृकत्वसद्भावेनापौरुषेयत्वात् तस्यापि[8] प्रामाण्यं प्रसज्यते। ततस्तदुक्तानुष्ठानेऽपि मीमांसकाः प्रवर्तेरन्। अथ

२८. वेदके अपौरुषेयत्वका निरास—कादम्बरी आदि के वाक्यों के समान सभी वाक्य पुरुषकृत होते हैं अतः वेदवाक्य भी पुरुषकृत हैं यह चार्वाकों का अनुमान जैन दार्शनिकों को भी मान्य है। जैनदर्शन को मान्य आगम सर्वज्ञप्रणीत हैं अतः वे पुरुषकृत ही हैं।

वेद के अपौरुपेय होने मे मीमासकों द्वारा प्रस्तुत किया गया अनुमान इस प्रकार है – वेद के अध्ययन की परम्परा अविच्छिन्न है किन्तु उस के कर्ता कौन हैं इस का किसी को स्मरण नही है अतः आकाश आदि के समान वेद का भी कोई कर्ता नही है (यदि कोई कर्ता होता तो किसी को उस का स्मरण होता)। किन्तु यह अनुमान सदोष है। कर्ता का स्मरण नही है अतः कर्ता ही नही है यह कथन ठीक नही। उदाहरणार्थ, मीमांसकों को इस का स्मरण नही है कि पिटकत्रय के कर्ता कौन थे। फिर पिटकत्रय को भी अपौरुपेय और प्रमाणभूत क्यों नही माना जाता? यदि कहें कि बौद्ध लोग पिटकत्रय

१ चार्वाको वदति। २ अस्मर्यमाणकर्तृत्वं विशेष्यम्। ३ मीमासकस्य। ४ बौद्धादेः। ५ उभयवादिप्रतिवादिनोर्वा। ६ अस्मर्यमाणकर्तृत्वम्। ७ केवलमभावाद् वा अस्मर्यमाणकर्तृत्वम्। ८ पिटकत्रयस्यापि। ९ पिटकत्रये: १० पिटकत्रये वेदेऽपि अस्मर्यमाणकर्तृत्व समानम्। ११ मीमासकः।

तत्र[१] सौगतैः कर्तुरङ्गीकरणात् पौरुषेयत्वेनाप्रामाण्यमिति चेत् तर्हि वेदेऽपि सौगतैः कर्तुरङ्गीकरणात् पौरुषेयत्वेन अप्रामाण्यमस्त्वविशेषात्[१०]। अथ[११] कर्तुरभावाद् वादिनोऽस्मर्यमाणकर्तृकत्वमिति चेत् कुतः कर्तुरभावो निश्चीयते। अस्मादनुमानादिति चेन्न। इतराश्रयप्रसंगात्। वेदे वादिनः कर्तुरभावनिश्चये वादिनोऽस्मर्यमाणकर्तृत्वसिद्धिः वादिनोऽस्मर्यमाण-कर्तृकत्वसिद्धौ वेदे वादिनः कर्तुरभावनिश्चय इति। अथ वेदस्य प्रामाण्यो-पपत्त्या कर्तुरभावो निश्चीयते इति चेन्न। अत्रापीतरेतराश्रयापत्तेः। वेदस्य कर्तुरभावनिश्चये प्रामाण्योपपत्तिः प्रामाण्योपपत्त्या कर्तुरभावनिश्चय इति। सर्वज्ञप्रणीतत्वेनापि प्रामाण्योपपत्तेश्च। सर्वज्ञो नास्तीति चेन्न। तस्य प्रागेव सद्भावसमर्थनात्।

तस्माद् वादिनोऽस्मर्यमाणकर्तृकत्वं हेतुर्न भवति। नापि प्रतिवा-

को पुरुषकृत मानते हैं अतः वह अप्रमाण है तो उत्तर में कहा जा सकता है कि बौद्ध लोग वेद को भी पुरुषकृत मानते हैं अतः वेद भी अप्रमाण होंगे – इन दोनों में कोई विशेष भेद नही हैं।

वेद का कर्ता ही नही है अतः उस का स्मरण नही हो सकता ऐसा कहें तो यह परस्पराश्रय होगा – पहले आपने कहा कि स्मरण नही होता इस लिए कर्ता नही है तथा अब कहते हैं कि कर्ता नही है इस लिए स्मरण नही होता। अतः इस को सिद्ध करने के लिए कोई स्वतन्त्र प्रमाण चाहिए। वेद प्रमाणभूत हैं अतः कर्ता से रहित हैं यह कथन भी इसी प्रकार परस्पराश्रित है – पहले कहा है कि वेद अपौरु-षेय हैं इस लिए प्रमाण हैं तथा अब कहते हैं कि वेद प्रमाण हैं अतः अपौरुषेय हैं। तथा हमने पहले स्पष्ट किया ही है कि आगम सर्वज्ञ-प्रणीत होने से प्रमाणभूत होते हैं – प्रमाण होने के लिए अपौरुषेय होना जरूरी नही।

दूसरी बात यह है कि वेदके कर्ता का स्मरण नही है यह

१ अपौरुषेयो वेदः अनवच्छिन्नसंप्रदायत्वे सत्यस्मर्यमाण कर्तृकत्वात्। २ अस्मर्य-माणकर्तृकत्वम्। ३ बौद्धः वेदस्य कर्तॄन् अष्टकइत्यनुमानात्। पुरुषान् वदति आदिशब्देन जैनः वेदस्य कर्तारं कालासुरं वदति नैयायिकः ईश्वरं वदति। ४ नैयायिकादिभिः।

दिनः[२], अग्निद्धत्वात्। कुतः वेदे प्रतिवादिभिरष्टकादिकर्तुः[३] स्मरणात्। अथ परेषामष्टकाद्यनेककर्तृविप्रतिपत्त्या वेदे कर्तुरभाव एवेति चेन्न। कर्तृमात्रे वि प्रतिपत्त्यभावात्। तन्नामविशेषे विप्रतिपत्तिः। ततो न प्रतिवादिनो अस्मर्यमाणकर्तृकत्वं हेतुः। नापि. सर्वस्य। अमीमांसकैः[४] सर्वैस्तत्र कर्तुः स्मरणात्।

अथ तत्स्मरणस्या[१]नुभवजनितसंस्कारजत्वात्[२] वेदे कर्ता केन प्रमाणेनानुभूतो यतः स्मर्यंत इति चेत् वृद्धोपदेशात् वाक्यत्वादनुमानाच्चेति ब्रूमः[३]। किं च त्रिकालत्रिलोकोदरवर्तिसर्वात्मचेतोवृत्ति विशेषविज्ञानरहितो मीमांसकः कथं वेदे सर्वेषां कर्तृस्मरणाभावं निश्चिनुयात्। तथा जानतः स्वस्यैव सर्वज्ञत्वेनागमकर्तृत्वप्रसंगात्। अथ[४]

वेदस्याध्ययनं सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकम्।
वेदाध्ययनवाच्यत्वादधुनाध्ययनं यथा॥
(मीमासाश्लोकवार्तिक पृ. ९४९)

कथन भी ठीक नही – बौद्धों को स्मरण है कि वेद के कर्ता अष्टक आदि ऋषि हैं। इस पर आक्षेप करते हैं कि प्रतिपक्षियों मे वेदके कर्ता के बारे में एकमत नही है अतः उन के कथन विश्वसनीय नही हैं। किन्तु प्रतिपक्षियों में वेदके कर्ता के नाम के बारेमें मतभेद होने पर भी 'वेद का कोई कर्ता था' इस विषय में एकमत है। अतः वेद के कर्ता का स्मरण ही नही है यह कहना उचित नही।

मीमासकों का एक आक्षेप यह है कि जिसे एक बार किसी चीज का अनुभव हुआ है उसे ही उस का स्मरण हो सकता है। प्रतिवादी को वेद-कर्ता का अनुभव नही हुआ है अतः स्मरण भी नही हो सकता। उत्तर यह है कि प्रत्यक्ष अनुभव न होने पर भी वृद्धों के उपदेश से वेद-कर्ता का स्मरण हो सकता है। तथा वाक्य पुरुषकृत होते हैं इस अनुमान से भी वेद के कर्ता का अनुमान हो सकता है। दूसरे, सभी प्रदेशों में सभी समयों में सभी पुरुषो को वेद-कर्ता की स्मृति नही है इसका ज्ञान मीमासको को कैसे हुआ? यदि ऐसा ज्ञान हो सकता है तब तो मीमासक सर्वज्ञ ही सिद्ध होंगे।

१ वेदकर्तुः स्मरणस्य। २ वेदकर्तृस्मरणं तु अनुभवसंस्कारजं भवति तर्हि-वेदकर्तुः स्मरणस्य अनुभवः केन प्रमाणेन। ३ वयं जैनाः। ४ मीमासकः वेदस्यापौरुषेयत्वस्थापनार्थं श्लोकं प्राह।

इति वेदाध्ययनस्यानादित्वसिद्धिरिति चेन्न। आपस्तम्बसूत्राध्ययनेन बौधायनकल्पसूत्राध्ययनेन काण्वशाखाध्ययनादिना हेतोर्व्यभिचारात्। तेषां वेदाध्ययनवाच्यत्वसद्भावेऽपि अनादितो गुर्वध्ययनपूर्वकत्वाभावात्। किं च इदानीन्तनप्रवर्तनां दृष्ट्वा कालान्तरेऽपि तथा[1] प्रवर्तनां प्रसाधयतो मीमांसकस्य पिटकत्रयादीनामप्यनादित्वेन अपौरुषेयत्वात् प्रामाण्यं प्रसज्यते। तथा हि।

पिटकाध्ययनं सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकम्।
पिटकाध्ययनवाच्यत्वादधुनाध्ययनं यथा ॥ (स्याद्वादसिद्धि १०-३०)

इति। ततश्च तदुक्तानुष्ठानेऽपि मीमांसकाः प्रवर्तेरन्नविशेषात्। तस्माद् वेदपिटकयोः पौरुषेयत्वापौरुषेयत्वाविशेषेऽपि[2] मीमांसकाः वेदोक्तानुष्ठाने प्रवर्तन्ते इति पक्षपात एवावशिष्यते। ननु

'जैसे इस समय वेद का अध्ययन गुरु से किया जाता है वैसे सर्वदा होता है – वेदाध्ययन अविच्छिन्न गुरुपरम्परा से चलता है' अतः वह अनादि है – किसी व्यक्ति द्वारा शुरू किया हुआ नही है यह अनुमान मीमांसक प्रस्तुत करते हैं। किन्तु यह कथन सदोष है। आपस्तम्ब सूत्र, बौधायन कल्पसूत्र, काण्व शाखा इन नामों से ही स्पष्ट है कि आपस्तम्ब, बौधायन, कण्व आदि आचार्यों ने वेदाध्ययन की उस उस शाखा का प्रारम्भ किया है। अतः वेदाध्ययन की परम्परा अनादि नही है। दूसरे, इस समय वेद का ही अध्ययन गुरुपरम्परा से चलता है ऐसा नही – पिटकत्रय का अध्ययन भी गुरुपरम्परा से ही चलता है। फिर मीमांसक पिटकत्रय को प्रमाणभूत मानकर क्यों नही चलते? यदि बौद्ध पिटकत्रय को पुरुषकृत मानते हैं अतः वे अप्रमाण हैं ऐसा कहें तो बौद्धों के ही कथनानुसार वेद को भी पुरुषकृत अतः अप्रमाण मानना होगा। अतः वेद और पिटकत्रय के प्रमाण भूत होने में अन्तर करना पक्षपात का ही द्योतक होगा – युक्तिवाद का नही।

---

१ यथा इदानींतनकाले वेदस्य कर्ता नास्ति तथा कालान्तरेऽपि। २ पौरुषेयत्वं चेत् तर्हि वेदेऽपि पौरुषेयत्वं पिटकत्रयेऽपि पौरुषेयत्वम्। चेत् वेदे अपौरुषेयत्व तर्हि पिटके अपौरुषेयत्वमिति समानत्वात्।

अतीतानागतौ कालौ वेदकारविवर्जितौ ।
कालशब्दाभिधेयत्वादिदानींतनकालवत् ॥

(तत्त्वसंग्रह पृ. ६४३)

इति वेदस्यापौरुषेयत्वसिद्धिरिति चेन्न। बौधायनापस्तम्बाश्वलायनयाज्ञवल्क्यादिप्रवर्तमानकालैर्हेतोर्व्यभिचारात्। तेषां कालशब्दाभिधेयत्वसद्भावेऽपि वेदकारविवर्जितत्वाभावात्। अथ तत्कालानामपि[1] वेदकारविवर्जितत्वं प्रसाध्यत इति चेन्न। कल्पसूत्रकर्तुर्बौधायनस्य आपस्तम्बसूत्रकर्तुरापस्तम्बस्य आश्वलायनशाखाकर्तुराश्वलायनस्य काण्वशाखादिकर्तुर्याज्ञवल्क्यादेस्तत्काले सद्भावेन पक्षे साध्याभावो[2] निश्चित एव स्यात्। अथ तेषां तत्कर्तृत्वं[3] केन प्रमाणेन ज्ञायत इति चेन्न। व्यासादीनां भारतादिकर्तृत्वं येन प्रमाणेन ज्ञायते तेनैवेति संतोष्टव्यम्। अथ भारतादिग्रन्थावसाने ग्रन्थकारः स्वकीयनाममुद्रां व्यधादिति चेत् तदत्राप्यस्ति। 'नारायणं प्रविशतीत्याह भगवान् बौधायनः' इत्यादीनां कल्पसूत्रादिषु

यह काल वेदकर्ता से रहित है उसी प्रकार सब काल वेदकर्ता से रहित होते हैं अत: अतीत समय और आनेवाले समयमें भी वेद के कर्ता नहीं हो सकते यह अनुमान प्रस्तुत किया गया है। किन्तु यह भी पूर्वोक्त दोष से दूषित है। विविध वैदिक ग्रन्थों के कर्ता बौधायन, आपस्तम्ब, आश्वलायन, याज्ञवल्क्य आदि जिस अतीत समय में थे उस समय को वेदकर्ता से रहित कैसे कहा जा सकता है? जैसे महाभारत आदि ग्रन्थों के रचयिता व्यास आदि ऋषि थे उसी प्रकार विविध वैदिक ग्रन्थों के रचयिता आपस्तम्ब आदि ऋषि थे अत: इन दोनों में फर्क करना ठीक नही है। भारतादि ग्रन्थों के अन्त में ग्रन्थकार के नाम पाये जाते हैं वैसे वैदिक ग्रन्थो के अन्त में नही पाये जाते अत: उन ग्रन्थों का कोई कर्ता नही यह कहना भी उचित नही। एक तो कई वैदिक ग्रन्थों में कर्ता का नाम पाया जाता है — जैसे कि बौधायन कल्पसूत्र में 'वह नारायण में प्रवेश करता है ऐसा भगवान् बौधायन ने कहा है' यह उल्लेख है। दूसरे सिर्फ नाम न मिलने से कोई ग्रन्थ कर्तासे

१ आपस्तम्बादि। २ वेदकारविवर्जितौ इति साध्यम्। ३ कल्पसूत्रादीनां आपस्तम्बादिऋषिकर्तृत्वम्।

श्रवणात्। किं च इदानीमपि केचन कवयः स्वनाममुद्रां ग्रन्थेषु न विरचयन्ति एतावता तेषामपौरुषेयत्वं स्यात्।

[२९. वेदकर्तृसूचकानि वैदिकवाक्यानि ।]

अथापौरुषेयो वेदः कर्तुरुपलम्भकप्रमाणरहितत्वात् आकाशवदित्यपौरुषेयत्वसिद्धिरिति चेन्न। हेतोरसिद्धत्वात्। कर्तुरुपलम्भकप्रमाणस्यागमस्य सद्भावात्। तथा हि। 'प्रजापतिर्वा इदमेक आसीत् नाहरासीत् न रात्रिरासीत् स तपोऽतप्यत तस्मात् तपस्तेपानाच्चतुरो वेदा अजायन्त' इत्यादीनां बहुलमुपलम्भात्। अथ आगमवाक्यानां कार्यार्थे[1] प्रामाण्यात् सिद्धार्थप्रतिपादने[2] प्रामाण्याभाव इति चेन्न। तेषां सिद्धार्थेऽपि प्रामाण्यसद्भावात्। आगमः सिद्धार्थेऽपि प्रमाणम् अव्यभिचारप्रमाणत्वात् प्रत्यक्ष-

रहित नही हो जाता – इस समय भी कुछ कवि अपना नाम लिखे बिना ग्रन्थ-रचना करते हैं किन्तु इतने से उनके ग्रन्थ अपौरुषेय नही हो सकते।

२९. वेदकर्ता के सूचक वैदिक वाक्य—आकाश के कर्ता का किसी प्रमाण से ज्ञान नही होता उसी प्रकार वेद के कर्ता का भी किसी प्रमाण से ज्ञान नही होता अतः वेद का कोई कर्ता नही है यह कथन भी ठीक नही। वेद के कर्ता के विषय में वैदिक ग्रन्थों के ही आगम-प्रमाण मिलते हैं – जैसे कि कहा है, 'उस समय दिन नही था, रात भी नही थी, सिर्फ एक प्रजापति था, उसने तप किया, उस के तप करने से चार वेद उत्पन्न हुए।' इस पर मीमासकों का उत्तर है कि आगम के कार्यविषयक वाक्य तो प्रमाण हैं – सिद्ध अर्थों के विषय के वाक्य प्रमाण नही हैं। किन्तु आगम में ऐसा भेद करना उचित नही। जैसे प्रत्यक्ष प्रमाण कार्य और सिद्ध दोनों अर्थों में प्रमाण होता है वैसे सभी प्रमाण होते हैं अतः आगम को भी कार्य और सिद्ध दोनों विषयों में प्रमाण मानना चाहिए। इस पर मीमांसक आक्षेप करते

१ अग्निष्टोमात् स्वर्गो भवति इत्यादि कार्यार्थप्रामाण्यं। २ सर्वज्ञो बभूवेत्यादि सिद्धार्थः।

वदिति। ननु पदानां कार्यान्वितस्वार्थनियतत्वेन कार्यार्थे प्रामाण्यनियमात् तेषां प्रत्यक्षदृष्टान्तेन सिद्धार्थे प्रामाण्यं वक्तुं न पार्यत इति चेन्न। पदानां योग्येतरान्वितस्वार्थनियतत्वेन कार्यान्वितस्वार्थनियतत्वाभावात्। विवाद-पदानि पदानि[1] न कार्यान्वितस्वार्थनियतानि पदत्वात् कार्यपदवदिति। किं च 'तस्मात्[2] तपस्तेपानाच्चतुरो वेदा अजायन्त' इति वेदकर्तार-माराधयेत् तदुक्तानुष्ठाने प्रवर्तेतेत्यादि कार्यपदान्वितत्वेनापि तेषां प्रामाण्यसद्भावात् वेदकर्तुरुपलम्भकप्रमाणसिद्धिः। अथ लिङादीनां[3] मानान्तरापूर्वापूर्वाभिधानाददृष्टवाचकत्वात्[4] नान्यवाचकत्वमस्तीति चेन्न। लिङादिप्रत्ययान्ता न मानान्तरापूर्ववाचकाः पदत्वात् पदान्तरवत् इति लिङादीनामदृष्टादन्यवाचकसिद्धेः। किं च अदृष्टस्यापि

मानान्तरप्रमेयत्वे[5]ऽपूर्वतो हानिरिष्यते।
तस्याप्रमेयतायां तु न तत्र पदसंगतिः॥

है कि आगम प्रमाण शब्दों पर आश्रित है और शब्द अपने कार्यपरक अर्थ में नियत हैं अतः आगम कार्यविषय में ही प्रमाण है – प्रत्यक्ष प्रमाण शब्दोंपर आश्रित नही है अतः उस में ऐसी मर्यादा नही है। किन्तु यह आक्षेप उचित नही। एक तो शब्द कार्य-परक अर्थ मेंही नियत होते हैं ऐसा कोई नियम नही है – सिद्ध अर्थों के लिये भी शब्दों का प्रयोग होता है। दूसरे, आगम को कार्यविषय में ही प्रमाण मान कर भी उपर्युक्त आगमवाक्य का स्पष्टीकरण हो सकता है – कहा जा सकता है कि प्रजापति वेद के कर्ता हैं अतः उनकी आराधना करनी चाहिए यह तात्पर्य है। वेदों में जो क्रियापद हैं उन से वही अदृष्ट अर्थ व्यक्त होता है जो अन्य प्रमाणों से ज्ञान न होता हो – यह मीमांसकों का कहना है। किन्तु जैसे सब शब्द दृष्ट तथा अदृष्ट दोनों विषयों में प्रयुक्त होते हैं वैसे ही वेद के शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं अतः वे अदृष्ट विषय को ही व्यक्त करते हैं ऐसा नियम करना उचित नही। इस विषय में पूर्ववर्ती आचार्य ने कहा भी है – 'यदि अदृष्ट को

---

१ वेदपदानि। २ ब्रह्मणः। ३ वेदवाक्यानाम्। ४ सर्वज्ञ। ५ न केवलम् आगमेन प्रमेयत्वम्।

इति उभयपक्षेऽपि मीमांसकानां दोषसद्भावाददृष्टस्य मानान्तरगोचरत्वं लिङादीनामदृष्टादन्यवाचकत्वं च स्वीकर्तव्यम्। तथा च 'तस्मात् तपस्तेपानाच्चतुरो वेदा अजायन्त' इति प्रमाणभूतादागमाद् वेदस्य सकर्तृकत्वसिद्धेः कर्तुरुपलम्भकप्रमाणरहितत्वादित्यसिद्धो हेत्वाभासः।

अथ कार्यान्वयरहितवाक्यानां[1] प्रमितिजनकत्वाभावात् प्रमाणभूतत्वं नास्तीति चेन्न। प्रमितिजनकत्वसद्भावात्। तथा हि। तद्वाक्यश्रवणाद् व्युत्पन्नानां क्वचिदर्थे प्रतीतिर्जायते न वा। न जायते इति वक्तुं नोचितम्। शब्दशब्दार्थवेदिनामन्वितार्थसुशब्दसंदर्भश्रवणादर्थप्रतीतिजनननियमात्। अथ प्रतीतिर्जायते तत्प्रमाणं न भवत्यप्रमाणमेव तत्प्रतीतेः स्मरणरूपत्वादिति चेन्न। स्मरणस्यानुभवजनितसंस्कारजत्वात् प्राक्तनप्रमया प्रमितत्वेन वेदकर्तुरनुभवसिद्धिप्रसंगात्। तथा च. कर्तुरुपलम्भकप्रमाणरहितत्वादित्यसिद्धो हेतुः। अथ तदनुभवजनितसंस्कारजं स्मरणं न भवत्य।

आगम से भिन्न प्रमाण का विषय मानते हैं तो वह अपूर्व विषय नही रहेगा। किन्तु अन्य प्रमाणों से अदृष्ट का ज्ञान नही होता यह मानें तो शब्दों द्वारा उस का वर्णन सम्भव नही होगा।' अतः वेद-प्रतिपादित विषयों का ज्ञान अन्य प्रमाणो से भी होता है तथा वेद के क्रियापद अदृष्ट से भिन्न अन्य पदार्थों का भी वर्णन करते हैं यह स्वीकार करना चाहिए। तदनुसार 'प्रजापति से वेद उत्पन्न हुए' इस वेद-वाक्य से ही वेद के कर्ता का अस्तित्व स्पष्ट होता है।

कार्यविषय से रहित वाक्य प्रमिति को उत्पन्न नही करते अतः वे वाक्य प्रमाण नही होते यह मीमांसकों का कथन है। किन्तु यह उचित नही। कार्य विषय से रहित वाक्य सुन कर अर्थ की प्रतीति तो होती ही है। फिर प्रमिति उत्पन्न नही होती यह कैसे कह सकते हैं? यहा मीमांसकों का उत्तर है कि कार्यविषय से रहित वाक्य से अर्थ तो प्रतीत होता है किन्तु वह प्रतीति स्मरणरूप है अतः प्रमाण नही है। किन्तु यह उत्तर भी मीमासकों को अन्ततः प्रतिकूल ही सिद्ध होता है। उन के कथनानुसार 'प्रजापति से वेद उत्पन्न हुए' इस प्रस्तुत वाक्य को

१ सिद्धार्थ।

न्यदेव वाक्यजनितं स्मरणमिति चेन्न। स्मरणस्य संस्कारमन्तरेण-जननासंभवात्। तथा हि। वीतं ज्ञानम् अनुभवजनितसंस्कारजं स्मरणत्वात् प्रसिद्धस्मरणवत्। तथा चोक्तं शालिकाया[1]मपि।

प्रमाणमनुभूतिः सा स्मृतेरन्या पुनः स्मृतिः।
पूर्वविज्ञानसंस्कारमात्रजं ज्ञानमुच्यते ॥

(प्रकरणपञ्चिका ६-२)

इति। तस्माद् वेदस्यापौरुषेयत्वाभावात् पौरुषेयत्वेऽपि सर्वज्ञप्रणीतत्वाभावाच्च तस्य[2] अप्रामाण्यमेव स्यात्।

[३०. वेदानां बहुसंमतत्वनिरासः।]

ननु वेदाः प्रमाणं बहुजनपरिगृहीतत्वात् आयुर्वेदवदिति[3] वेदानां प्रामाण्यसिद्धिरिति चेन्न। तुरुष्कशास्त्रेण[4] हेतोर्व्यभिचारात्। अथ विशिष्टबहुजनपरिगृहीतत्वं हेतुरिति चेत् तर्हि जनानां वैशिष्ट्यं कौत-

स्मरणरूप मानें तो किसी को इसका अनुभव भी हुआ होगा यह स्पष्ट होता है क्यों कि अनुभव से उत्पन्न संस्कार से ही स्मरण होता है। शालिकनाथ ने स्मृति के विषय में कहा भी है, 'अनुभूति प्रमाण होती है तथा वह स्मृति से भिन्न होती है। स्मृति वह ज्ञान है जो पहले के ज्ञान के संस्कार से उत्पन्न होता है।' अतः 'प्रजापति से वेद उत्पन्न हुए' इस वाक्य तो स्मरणरूप मानने पर भी असत्य नही कहा जा सकता। तदनुसार वेद अपौरुषेय नही हो सकते। वेद पौरुषेय हैं किन्तु सर्वज्ञप्रणीत नही हैं अतः वे प्रमाणभूत नहीं हैं।

३०. वेद बहुसम्मत नही हैं—आयुर्वेद के समान वेद भी बहुत लोगो को मान्य हैं अतः वे प्रमाण है यह अनुमान प्रस्तुत किया गया है। किन्तु सिर्फ बहुत लोगों को मान्य होना प्रमाणभूत होने का सूचक नही है। तुरुष्क लोगों के शास्त्र भी बहुत लोगो को मान्य हैं किन्तु उन्हें वेदानुयायी प्रमाण नही मानते। इस के उत्तर में कहा जाता है कि साधारण लोगो की मान्यता से प्रमाणभूत होना व्यक्त नही होता—

१ प्राभाकरे। २ वेदस्य। ३ वैद्यकशास्त्र। ४ म्लेच्छशास्त्र।

स्कुतम् । वेदोक्तानुष्ठाने प्रवर्तनाज्जनानां वैशिष्ट्यमिति चेन्न । इतरेतराश्रयप्रसंगात् । वेदस्य प्रामाण्याभावे तदुक्तानुष्ठाने प्रवर्तमानानां विशिष्टत्वाभावस्तेषां विशिष्टत्वाभावे विशिष्टबहुवचनपरिगृहीतत्वाभावाद् वेदस्य प्रामाण्याभाव इति । अथ यौक्तिकबहुजनपरिगृहीतत्वं लिङ्गमिति चेन्न । वेदानुग्राहिणां भाट्टप्राभाकरशांकरीयभास्करीयनैयायिकवैशेषिकसेश्वरसांख्यनिरीश्वरसांख्यानां परस्परं व्याहतोक्तित्वात् यौक्तिकत्वनिश्चयोपायाभावेन हेतोरसिद्धत्वात् । तथा हि । भाट्टप्राभाकराः एकादश नव पदार्थान् ईश्वरादीन्द्रादिदेवत्वाभावं

ध्रुवा द्यौर्ध्रुवा पृथिवी ध्रुवासः[1] पर्वता इमे ।
ध्रुवं विश्वमिदं जगत् ध्रुवो राजा विशामयम् ॥
ध्रुवं ते राजा वरुणो ध्रुवं देवो बृहस्पतिः ।
ध्रुवं त इन्द्रश्चाग्निश्च राष्ट्रं धारयतां ध्रुवम् ॥

(ऋग्वेद १०-१७३-४, ५)

इति नित्यत्वेन जगतः सृष्टिसंहाराभावं प्रपञ्चस्य[2] सत्यत्वं जगत्प्रवर्त-

विशिष्ट लोगो की मान्यता वेद को ही प्राप्त है अतः वह प्रमाण है। इस पर प्रश्न होता है कि विशिष्ट लोग किन्हें माना जाय ? वेद का अनुसरण करते हैं वे विशिष्ट हैं यह कहना परस्पराश्रय होगा क्यों कि वेद प्रमाण हैं या नही यही प्रस्तुत विवाद का विषय है। युक्तिवाद का आश्रय लेने से विशिष्टता प्राप्त होती है यह कहें तो प्रश्न होता है कि कि वेद को प्रमाण माननेवाले युक्तिवादो विशिष्टो मे अत्यधिक विरोध क्यो पाया जाता है। भाट्ट मीमांसक ग्यारह पदार्थ मानते हैं तथा प्राभाकर मीमांसक नौ पदार्थ मानते हैं। ये दोनों ईश्वर का तथा इन्द्र आदि देवताओं का अस्तित्व नही मानते। ये जगत को नित्य मानते हैं — जगत की उत्पत्ति और प्रलय पर विश्वास नही करते, संसार को सत्य मानते हैं, जगत की स्थिति हमेशा ऐसी ही रहती है जैसी इस समय है यह मानते हैं तथा आत्माओं की संख्या भी बहुत मानते हैं। वे जगत की नित्यता में निम्न वेदवाक्य आधार के रूप में प्रस्तुत करते हैं, 'यह आकाश तथा पृथ्वी, पर्वत तथा सम्पूर्ण जगत ध्रुव हैं उसी प्रकार

१ ध्रुवाः ध्रुवासः सारस्वते स्तः । २ जगतः ।

नायाः सर्वदा ईदृग्भावमात्मनानात्वं च समर्थयन्ते। शांकरीयभास्करीयास्तु 'तस्मादात्मनः[1] आकाशः संभूतः आकाशाद् वायुः वायोरग्निः अग्नेरापः अद्भ्यः पृथ्वी पृथिव्या ओषधयः ओषधिभ्योऽन्नम् अन्नात् पुरुषः' (तैत्तिरीयोपनिषत् २-१-१) इत्याद्युपनिषद्वाक्यैरीश्वरादिदेवतासद्भावं जगतः सृष्टिसंहारक्रमं पुनश्च

सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन।
आरामं तस्य पश्यन्ति न तं[2] पश्यति कश्चन ॥
(छान्दोग्योपनिषत् ३-१४-१)

इत्यात्मन एकत्वं प्रपञ्चमिथ्यात्वं च समर्थयन्ति। तत्रापि भास्करीया ब्रह्मणः सकाशात् प्रपञ्चस्य भेदाभेदसत्यत्वं च वर्णयन्ति मायावादिन[3]स्त्वभेदमेवेति। नैयायिकवैशेषिकास्तु षोडश षट् पदार्थान्

यह प्रजाओ का राजा भी ध्रुव रहे। राजा वरुण, देव बृहस्पति, इन्द्र तथा अग्नि तुम्हारे राज्य को ध्रुव बनाएं।' इस के विपरीत शांकरीय तथा भास्करीय वेदान्ती ईश्वर, तथा देवताओं का अस्तित्व मानते हैं, जगत की उत्पत्ति और प्रलय मानते हैं, आत्मा एकही मानते हैं तथा संसार को मिथ्या कहते हैं। इन के प्रमाणभूत वेदवाक्य इस प्रकार हैं— 'उस आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी, पृथ्वी से औषधि (वनस्पति), औषधि से अन्न तथा अन्न से पुरुष उत्पन्न हुआ।' 'यह सब ब्रह्म ही है, यहा नाना कुछ नही है, सब उसके प्रभाव को देखते हैं, उसे कोई नही देखता।' इन में भी परस्पर मतभेद है — शाकरीय तो सिर्फ अभेद ही मानते हैं, भास्करीय ब्रह्म और प्रपंच में भेदाभेद मानते हैं। नैयायिक सोलह पदार्थ मानते हैं और वैशेषिक छह पदार्थ मानते हैं। ये दोनों जगत की उत्पत्ति और प्रलय मानते है, ईश्वर और देवताओं का अस्तित्व मानते है, प्रपंच सत्य मानते हैं तथा आत्माओं की संख्या बहुत मानते हैं। इन के प्रमाणभूत वेदवाक्य ये हैं — 'यह एक देव है जो पृथ्वी तथा आकाश को उत्पन्न करता है, इस की आंखें सर्वत्र हैं,

१ ब्रह्मणः। २ आत्मानम्। ३ शांकरीयाः।

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतःपात्।
शं बाहुभ्यां धमति संपतत्रै द्यावाभूमी जनयन् देव एकः॥
(श्वेताश्वतरोपनिषत् ३–३)

इत्यादि सृष्टिसंहारक्रमम् ईश्वरादिदेवतासद्भावं प्रपञ्चस्य सत्यत्वमात्मनानात्वादिकं च समर्थयन्ते। सेश्वरसांख्यास्तु,

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥
चन्द्रमा मनसो जातः चक्षुषः सूर्योऽजायत।
मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद् वायुरजायत॥
(ऋग्वेद १०–९०–११, १२)

इत्यादि सृष्टिसंहारक्रमम् ईश्वरादिदेवतासद्भावं वर्णयन्ति। निरीश्वरसांख्यास्तु,

प्रकृतेर्महांस्ततोऽहंकारस्तस्माद् गणश्च षोडशकः।
तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि॥
(सांख्यकारिका २२)

इस के मुख, बाहु तथा पैर सर्वत्र हैं तथा यह अपने बाहुओं से कल्याण का निर्माण करता है।

सेश्वरसांख्य दर्शन के अनुयायी भी ईश्वर व देवताओं को तथा सृष्टि और संहार को मानते हैं तथा आधार के रूप में ये वेदवाक्य प्रस्तुत करते हैं – ‘उस (जगद्व्यापी पुरुष) का मुख ही ब्राह्मण थे, क्षत्रिय उस के बाहु थे, वैश्य उस की जंघाएं थे। तथा शूद्र उस के पैरों से उत्पन्न हुए थे। उस के मन से चन्द्रमा, आखों से सूर्य, मुख से इन्द्र तथा अग्नि एवं श्वांस से वायु उत्पन्न हुआ था।’

निरीश्वर सांख्य दार्शनिक ईश्वरादि देवताओं को नही मानते, आत्मा को भोक्ता मानते है किन्तु कर्ता नही मानते, आत्मा को ज्ञान से रहित, सर्वदा शुद्ध मानते हैं। इन के मत में जगत के सृष्टि तथा संहार का क्रम इस प्रकार है – ‘प्रकृति से महत्, उस से अहंकार, उस से सोलह तत्त्वों का समुदाय तथा उन सोलह में से पांच (तन्मात्रों) से पांच भूत आविर्भूत होते हैं’।

इत्यादि सृष्टिसंहारक्रममीश्वरादिदेवताभावमात्मनामकर्तृत्वभोक्तृत्वज्ञानादिरहितत्वसदाशुद्धत्वादिकं वर्णयन्तीति परस्परव्याहतोक्तित्वाद् वेदानुसारिणां यौक्तिकत्वाभावो निश्चीयते। तथा च यौक्तिकबहुजनपरिगृहीतत्वादित्यसिद्धो हेत्वाभासः। आयुर्वेदवदित्यत्रापि आयुर्वेदस्य प्रामाण्ये तदुक्तौषधाचरणे नियमेन व्याधिपरिहारः स्यात्, न चैवं, तस्मादायुर्वेदस्य प्रामाण्याभावात् साध्यविकलो दृष्टान्तः स्यात्।

[३१. वेदानां सदोषत्वम्।]

ननु

चोदना[1]जनिता बुद्धिः प्रमाणं दोषवर्जितैः।
कारणै[2]र्जन्यमानत्वात् लिङ्गाप्तोक्त्यक्षबुद्धिवत्॥
(मीमांसाश्लोकवार्तिक पृ. १०२)

इत्येतदनुमानाच्चोदनानां प्रामाण्यसिद्धिरिति चेन्न। दोषवर्जितैः कारणैर्जन्यमानत्वादिति हेतोरसिद्धत्वात्। कुत इति चेत् चोदनानां दोषवर्जितत्वासंभवात्। कथमिति चेत् मीमांसकैश्चोदनानां सर्वज्ञप्रणीतत्वानभ्यु-

इस प्रकार वैदिक दर्शनों मे परस्पर विरोध इतना प्रबल है कि उन सब को युक्तिवादी कहना सम्भव नही। इस लिए युक्तिवादी बहुमत वेद को प्रमाण मानता है यह कहना भी व्यर्थ होता है। वेदों के बहुसम्मत होने में आयुर्वेद का जो उदाहरण दिया है वह भी निरुपयोगी है क्यों कि आयुर्वेद कोई पूर्ण प्रमाण नही है, यदि वह पूर्ण प्रमाण होता तो उस से नियमपूर्वक सब व्याधिया दूर होतीं किन्तु ऐसा होता नही है। अतः वेदों की प्रमाणता में आयुर्वेद का उदाहरण व्यर्थ है।

३१. वेद सदोष है—अनुमान, आप्त पुरुष का वचन तथा प्रत्यक्ष ये निर्दोष कारणों से उत्पन्न होने पर प्रमाण होते है उसी प्रकार वेदवाक्यों की प्रेरणा भी प्रमाण है क्यों कि वह निर्दोष कारणों से उत्पन्न होती है – यह मीमासकों का कथन है। किन्तु यह उचित नही। वेद सर्वज्ञप्रणीत नही है अतः वे दोषरहित नही हो सकते और इसी लिए प्रमाण भी नही हो सकते। इस पर आक्षेप है कि मीमासक वेदों को सर्वज्ञप्रणीत नही मानते किन्तु नैयायिक वेदों को सर्वज्ञ ईश्वर के द्वारा

१ वेदवाक्येन प्रेरणा। २ वेदवाक्यैः

पगमात्। अथ नैयायिकादिभिश्चोदनानां सर्वज्ञप्रणीतत्वाभ्युपगमात् तन्मते तासां दोषवर्जितत्वसंभवात् तज्जनिता बुद्धिः प्रमाणं भविष्यतीति चेन्न। तैरुक्तभर्गादीनां[1] सर्वज्ञत्वाभावस्य प्रागेव[2] प्रमाणेन प्रतिपादितत्वात्। अथापौरुषेयत्वेन चोदनानां दोषवर्जितत्वसंभवात् तज्जनिता बुद्धिः प्रमाणमिति चेन्न। चोदनानामपौरुषेयत्वस्य प्रागेव प्रबन्धेन प्रतिषिद्धत्वात्।

ननु वेदाः प्रमाणम् अबाधितविषयत्वात् आयुर्वेदवदिति वेदानां प्रामाण्यसिद्धिरिति चेन्न। अबाधितविषयत्वस्य हेतोरसिद्धत्वात्। तथा हि। 'आत्मनः आकाशः संभूत' इत्यादिदशोपनिषद्वाक्यानां नैयायिक-वैशेषिकैर्बाधितत्वात्। विश्वतश्चक्षुरित्यादीनां[3] वेदान्तिभिर्बाधितत्वात्। तदुभयेषां[4] मीमांसकैर्बाधितत्वात्। 'अलाबूनि मज्जन्ति, ग्रावाणः प्लवन्ते, अन्धो मणिमविन्धत् तमनङ्गुलिरावयत्[5], (तैत्तिरीयारण्यक १-११-५) उत्ताना वै देवगवा वहन्ति.' (आपस्तम्ब श्रौतसूत्र ११-७-६) इत्यादि-वाक्यानां सकलयौक्तिकैर्बाधितत्वात् अबाधितविषयत्वादित्यसिद्धो हेत्वाभासः। आयुर्वेदे अबाधितविषयत्वाभावात् साधनविकलो दृष्टान्तश्च।

निर्मित मानते हैं अतः उन के प्रमाण होने में क्या हानि है? उत्तर यह है कि नैयायिक जिस ईश्वर को मानते हैं वह सर्वज्ञ नही हो सकता यह हमने पहले ही स्पष्ट किया है। वेद अपौरुषेय हैं अतः निर्दोष हैं यह कथन भी ठीक नही क्यों कि वेद अपौरुषेय नही हो सकते यह हमने पहले विस्तार से स्पष्ट किया है।

वेदवाक्य प्रमाण हैं क्यों कि आयुर्वेद के समान वेदवाक्य भी अन्य प्रमाणों से बाधित नही होते – यह मीमांसकों का अनुमान है। किन्तु यह उचित नही। 'आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ' आदि वेदवाक्यों को नैयायिक बाधित समझते हैं। 'उस के चक्षु सर्वत्र हैं' आदि वेदवाक्यों को वेदान्ती बाधित मानते हैं। मीमासक इन दोनों को गलत कहते हैं। कुछ वाक्य तो सब को अमान्य होने जैसे है, जैसे कि – 'तूंबी डूबती है, पत्थर तैरते हैं, अन्धे ने मणि को बींधा, विना उंगली के उस में डोरा डाला, देवों की गाये उलटी वहती हैं' आदि

१ जैनैः। २ ईश्वर। ३ वेदवाक्यानाम्। ४ नैयायिकवेदान्त्योः। ५ प्रोतवान्।

एतेन वेदाः प्रमाणम् अविसंवादित्वात् आयुर्वेदवदित्यनुमानं प्रत्युक्तम्। अविसंवादित्वात् स्ववाच्यार्थाव्यभिचारित्वात् अबाध्यत्वादित्येकार्थत्वेनोक्तदोषाणामत्रापि समानत्वात्।

[३२. वेदानां पौरुषेयत्वम्।]

अथ वेदाः प्रमाणमपौरुषेयत्वात् संप्रतिपन्नलिंगादिवदिति प्रामाण्यं वेदानामिति चेन्न। वेदानां पौरुषेयत्वेनापौरुषेयत्वासिद्धेः। तथा हि वेदवाक्यानि पौरुषेयाणि वाक्यत्वात् कादम्बरीवाक्यवत्। अथ वेदवाक्यानां त्रिष्टुबनुष्टुबादिछन्दोनिबद्धत्वाद् वाक्यत्वमसिद्धमिति चेन्न। अपादस्य सपादस्य वा पदकदम्बकस्य वाक्यत्वेनाभिधानात्।

'सुप्तिङन्तचयो वाक्यं क्रिया वा कारकान्विता। (अमरकोश १-६-२)

इति। अथ तथापि पौरुषेयत्वे स्मर्यमाणकर्तृकत्वमुपाधिरिति[1] चेन्न। तस्य उपाधिलक्षणाभावात्। कथमिति चेत् साधनाव्यापकत्वे सति साध्यव्यापी उपाधिरित्युपाधेर्लक्षणम्। तल्लक्षणं स्मर्यमाणकर्तृकत्वस्य साध्यव्याप-

वाक्य हैं। इन सब बाधाओं के होते हुए वेदवाक्यों को अबाधित कैसे कहा जा सकता है? इस अनुमान का उदाहरण भी सदोष है क्यों कि आयुर्वेद पूर्णतः अबाधित नही है, यदि होता तो उस से सब व्याधिया नियमतः दूर होतीं। अतः अबाधित होने से वेद प्रमाण हैं यह कथन निरर्थक है।

३२. वेद पौरुषेय है—वेद अपौरुषेय हैं अतः प्रमाण हैं इस कथन का पहले विचार किया है। उसी का पुनः विस्तार से परीक्षण करते है। वेद पौरुपेय हैं क्यों कि वे वाक्यों मे निबद्ध हैं तथा वाक्य पौरुपेय ही होते हैं। वेद त्रिष्टुप्, अनुष्टुप् आदि छन्दों में हैं अतः वे वाक्य नही हैं यह कहना भी उचित नही क्यों कि छन्दोबद्ध अथवा अबद्ध दोनों प्रकार के शब्दसमूहों को वाक्य कहते हैं। कहा भीं है--' विभक्ति तथा क्रिया के प्रत्ययों से युक्त शब्दों का समूह वाक्य कहलाता है, अथवा कारक से युक्त क्रिया को वाक्य कहते हैं।' वेदों में वाक्य तो है किन्तु उन के कर्ता का स्मरण नही है अतः वे

१ वेदवाक्यानि पौरुषेयाणि वाक्यत्वात् अत्र वाक्यत्वात् हेतुना पौरुषेयत्वे साध्ये स्मर्यमाणकर्तृत्वम् उपाधिः।

कत्वभावात्[1] नास्तीत्यनुपाधित्वमिति। तस्य साध्यव्यापकत्वाभावः कथमिति चेत्,

व्यावर्तकं हि यद् यस्य स्वव्यावृत्तिवशादिह[2]।
तद्व्यापकं परं व्याप्यं गमकं व्यापकस्य तत्॥

इति व्याप्यव्यापकयोर्लक्षणम्। तथा च पुरतः क्रियमाणकार्येषु स्मर्यमाणकर्तृकत्वाभावेऽपि पौरुषेयत्वसद्भावात् साध्याव्यापकत्वमिति। अथ ज्ञायमानकर्तृत्वमुपाधिरिति चेत् तर्हि ज्ञायमानसाध्यत्व[3]मुपाधिरित्युक्तं स्यात्। तथा च साधनव्यापकत्वेन[4] नोपाधित्वम्। अयमेकः प्रकारः। किं च। अस्मदनुमानं[5] प्रतिसोपाधिकत्वसमर्थकस्य तवानुमानस्यापि[6] तथा सोपाधिकत्वप्रसंगे स्वव्याघातित्वं स्यात्। अथ पौरुषेयत्वे कृतबुद्ध्युत्पादकत्वमुपाधिर्भविष्यतीति चेन्न। तस्याप्युपाधिलक्षणाभावात्। कुतः

वाक्य पौरुषेय नही हैं यह कथन भी सम्भव नही है। यह पहले स्पष्ट किया ही है कि जो पौरुषेय हैं उन के कर्ता का स्मरण हो ही यह आवश्यक नही। (वाक्यों के पौरुषेय होने में इन पृष्ठों में जिन उपाधियों का वर्णन किया है उन का तान्त्रिक विवरण मूल पाठ से देखना चाहिए।) अर्थात जिस के कर्ता का स्मरण नही है वह अपौरुषेय है यह भी नियम नही है। यदि कहें कि जिन वाक्यों के विषय में 'ये कृत हैं' ऐसा ज्ञान होता है वे ही वाक्य पौरुषेय हैं तो इस से भी वेदवाक्य पौरुषेय ही सिद्ध होते हैं क्यों कि वेदवाक्यों के विषय में भी 'ये कृत है' यह ज्ञान होता ही है। जिन वाक्यों की रचना शक्य हो वेही पौरुषेय होते

१ यत्र यत्र पौरुषेयत्वं तत्र तत्र स्मर्यमाणकर्तृत्वम् इति वक्तुं न पार्यते पिटकत्रये पौरुषेयत्वमस्ति स्मर्यमाणकर्तृत्वं नास्ति। २ यत्राग्निर्नास्ति तत्र धूमोऽपि नास्ति अत्र अग्निर्व्यावर्तमानः धूममपि व्यावर्तयति अग्निस्तु व्यापकः धूमस्तु व्याप्यः। स्मर्यमाणकर्तृत्वं न व्यापकं, व्यापकं किं यत् स्वव्यावृत्त्या अन्यव्यावर्तकं तत् व्यापकं स्मर्यमाणकर्तृत्वं निवर्तमानं सत् पौरुषेयत्वं साध्यं न व्यावर्तयति। ३ साध्यं पौरुषेयत्वम्। ४ ज्ञायमानकर्तृत्वं साधनेऽपि वर्तते। ५ वेदवाक्यानि पौरुषेयाणि वाक्यत्वात् कादम्बरीवाक्यवत् इति। ६ वेदाः प्रमाणम् अपौरुषेयत्वात् सप्रतिपन्नलिङ्गवत् इति यत्र यत्र अस्मर्यमाणकर्तृत्वं तत्र तत्र अपौरुषेयत्वम् इति वक्तुं न पार्यते तेन साधनाव्यापकत्वं यत्र यत्र स्मर्यमाणकर्तृत्वं तत्र तत्र प्रमाणत्वम् इति साध्यसमव्याप्तिः।

साधनाव्यापकत्वे सति साध्यसमव्याप्तिरुपाधिरिति उपाधेर्लक्षणम्। तस्य कृतबुद्ध्युत्पादकत्वे अभावात्। कथं–यत्र यत्र कृतबुद्ध्युत्पादकत्वं तत्र तत्र पौरुषेयत्वं यथा घटादि यत्र यत्र पौरुषेयत्वं तत्र तत्र कृतबुध्युत्पादकत्वं यथा घटः इत्यन्वयसमव्याप्तिः। यत्र यत्र कृतबुद्ध्युत्पादकत्वाभावस्तत्र तत्र पौरुषेयत्वाभावः यथा व्योमादि, यत्र यत्र पौरुषेयत्वाभावस्तत्र तत्र कृतबुद्ध्युत्पादकत्वाभावः यथा व्योमादिरिति व्यतिरेकसमव्याप्तिः। इत्येव तस्य साध्यसमव्याप्तिसद्भावेऽपि साधनाव्यापकत्वाभावात्। कथमिति चेत्–यद् यद् वाक्यं तत् तत् कृतबुध्युत्पादकमिति साधनव्यापकत्वात्। तस्मात् कृतबुद्ध्युत्पादकत्वमपि नोपाधिः। ननु शक्यक्रियत्वमुपाधिरिति चेन्न। तस्य साध्यसमव्याप्तिसद्भावेऽपि साधनाव्यापकत्वाभावात्। यद् यद् वाक्यं तत् तत् शक्यक्रियमिति साधनव्यापकत्वात्। अथातीन्द्रियार्थप्रतिपादकवाक्यानां शक्यक्रियत्वं नास्तीति चेन्न। पिटकत्रयस्यातीन्द्रियार्थप्रतिपादकत्वेऽपि शक्यक्रियत्वदर्शनात्। अथ तदप्रमाणमिति चेत् तर्हि वेदोऽप्यप्रमाणमस्तु विशेषाभावात्।

अथ वेदे सामर्थ्योपेतमन्त्रसद्भावात् तस्य प्रामाण्यमिति चेत् तर्हि पिटकत्रयेऽपि सामर्थ्योपेतमन्त्रसद्भावात् प्रामाण्यमस्तु। अथ वेदोक्ता एवैते तत्र तत्र व्यवह्रियन्त इति चेन्न। वेदे प्राकृतादिभाषामन्त्राणामभावात्। तस्माच्छक्यक्रियत्वमपि नोपाधिः। ननु तथापि पौरुषेयत्वमिति

हैं यह नियम भी इसी प्रकार का है। वेदवाक्यों की रचना भी शक्य है अतः इस नियम के अनुसार उन्हें पौरुषेय कहना चाहिए। जो वाक्य अतीन्द्रिय विषयों का वर्णन करते हैं उन की रचना पुरुषों द्वारा शक्य नही यह कथन भी ठीक नही है। पिटकत्रय अतीन्द्रिय विषयों का वर्णन करते है किन्तु उन की रचना पुरुषों द्वारा ही हुई है।

वेदों में सामर्थ्ययुक्त मन्त्र हैं अतः वेद प्रमाण हैं यह कथन भी उपयुक्त नही है। सामर्थ्ययुक्त मन्त्र पिटकत्रय में भी है फिर उनको मीमासक प्रमाण क्यो नही मानते? पिटकत्रय में वेदोंसे ही मन्त्र लिये गये हैं यह कहना भी सम्भव नही क्यो कि वेद संस्कृत भाषा मे हैं तथा पिटकत्रय प्राकृत भाषा में हैं। अतः वेद के मन्त्रो की रचना शक्य नही यह कहना व्यर्थ है। वेदों का उच्चारण पुरुषों द्वारा होता है अतः

पुरुषोच्चारितत्वं तथा च वेदवाक्यानां पुरुषोच्चारणसद्भावात् सिद्धसाध्यत्वेन हेतोरकिंचित्करत्वमिति चेन्न। कादम्बर्यादिकाव्येषु या प्रसिद्धा इदंप्रथमता[1] तादृग्भूतेदंप्रथमताया एव प्रसाध्यत्वात्।

तथा पौरुषेया वेदाः राजर्ष्यादीनां चरित्रोपाख्यानत्वात् भारतादिवत्। अथ वेदस्य राजर्ष्यादिचरित्रोपाख्यानत्वाभावादसिद्धो हेत्वाभास इति चेन्न। पुराकल्पेषु पुरातनक्षत्रियाणां चरित्रोपाख्यानप्रतिपादनात्। तत् कथमिति चेत्। अज्ञातज्ञापको विधिः संध्यामुपासीत अग्निहोत्रं जुहुयादिति। अनुष्ठानप्रवर्तको मन्त्रः अग्नये स्वाहा, अग्नेः इदं न मम इत्यादि। अनुष्ठानस्तावको[2] अर्थवादः 'यस्मिन् देशे नोष्णं न क्षुन्न ग्लानिः पुण्यकृत एव प्रेत्य[3] तत्र गच्छन्ति सर्वस्याप्त्यै[4] सर्वस्य चित्यै[5] सर्वमेव तेनाप्नोति सर्वं जयति' इत्यादि। पुरातनचरित्रोपाख्यानम्– 'पुराकल्पे

वे पौरुषेय हैं ही यह कहना भी अयोग्य है। प्रतिपक्षी वेद को जब पौरुषेय कहते हैं तो उन का तात्पर्य यह होता है कि कादम्बरी आदि काव्य जैसे कवियों द्वारा नये बनाए जाते है उसी प्रकार वेदमन्त्रो की रचना ऋषियों द्वारा की गई थी।

वेद पौरुषेय है यह सिद्ध करने का बलवान प्रमाण यह है कि वेदों में राजर्षियों की चरित-कथाएं पाई जाती हैं। वेदमन्त्रों के मुख्य चार प्रकार हैं – विधि, मन्त्र, अर्थवाद तथा पुरातन कथावर्णन। विधि वह है जिस में अज्ञात वस्तुकी जानकारी दी जाती है, जैसे – 'सन्ध्या की उपासना करनी चाहिए, अग्निहोत्र का हवन करना चाहिए।' अनुष्ठान में उपयुक्त वाक्य मन्त्र है, जैसे–'अग्नि को अर्पण हो, यह अग्नि का है, मेरा नही'। अनुष्ठान की स्तुति करनेवाले वाक्य अर्थवाद हैं, जैसे–'पुण्य करनेवाले लोग मृत्युके बाद उस स्थान मे जाते हैं जहां गर्मी नही होती, भूख नही होती, ग्लानि नही होती, सब की प्राप्ति तथा संग्रह होता है, उस से सब प्राप्त होता है, सब पर जय प्राप्त होता है। पुरातन कथा का उदाहरण इस प्रकार है – 'पुरातन समय में देव तथा असुर युद्ध कर रहे थे, उस में देवों को विजय प्राप्त हुआ', 'अंगिरस यज्ञ कर रहे थे, उन के लिए पृष्णिक् धर्म

१ प्रथमकालोत्पन्नत्वम्। २ स्तुतिकारकः। ३ गत्वा। ४ प्राप्त्यै। ५ ज्ञानाय।

देवासुराः संयता आसन् ते देवा विजयमुपयन्त ' इत्यादि । 'अङ्गिरसो[1] वै सत्रमासत[2] तेषां पृश्निग् घर्मदुघास ' इत्यादि च। एवं विधिमन्त्रार्थवादपुराकल्पानां वेदे प्रतिपादितत्वात् वेदस्य राजर्ष्यादिचरित्रोपाख्यानत्वं सिद्धम्।

तथा च विश्वामित्रजनकजनमेजयादि[3] नाम पुरुषकृतसंकेतादर्थमाचष्टे[4]। जात्युपाधिभ्यां व्यक्तिष्वप्रवर्तमानत्वे सति नियतदेशकालवर्तिव्यक्तिपरत्वात् कादम्बरीचित्रलेखादि[5]नामवत्। तत्र नियतदेशकालवर्तिव्यक्तिपरत्वादित्युक्ते गोदण्ड्यादि[6]नामभिर्व्यभिचारः। तद्व्यवच्छेदार्थं जात्युपाधिभ्यां व्यक्तिष्वप्रवर्तमानत्वे सतीति विशेषणोपादानम्। जात्युपाधिभ्यां व्यक्तिष्वप्रवर्तमानत्वादित्युक्ते आकाशादिनामभिर्व्यभिचारः। तद्व्यवच्छेदार्थं नियतदेशकालवर्तिव्यक्तिपरत्वादिति विशेष्योपादानम्। तथा 'इषे त्वोर्जे त्वाङ्गिरसादि[7]' नाम पुरुषकृतसंकेतादर्थमाचष्टे। जात्युपाधिनिरपेक्षतया नियतव्यक्तिवाचकत्वात् भट्टिचाणक्यादिनामवत्।

दे रही थी।' इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि वेदों में राजर्षियों की चरित-कथाएं है। अतः वेद पौरुषेय सिद्ध होते हैं।

वेद मे विश्वामित्र, जनक, जनमेजय आदि जो नाम पाये जाते हैं वे विशिष्ट समय तथा प्रदेश में विद्यमान व्यक्तियों के हैं – गो, अश्व आदि जाति-नामों से तथा दण्डधारी, छत्रधारी आदि उपाधिसूचक नामों से ये नाम भिन्न हैं। कादम्बरी, चित्रलेखा आदि नामों के समान इन नामों का प्रयोग भी पुरुषकृत संकेत पर अवलम्बित है। अतः वेदों में इन का पाया जाना वेद पुरुषकृत होने का स्पष्ट प्रमाण है। तथा 'इष तथा ऊर्ज में अंगिरस' आदि नाम भी संकेत सिद्ध है। भट्टि, चाणक्य आदि नामो के समान अंगिरस आदि नाम भी नियत व्यक्ति का वाचक है तथा जाति व उपाधि से भिन्न है अतः पुरुषकृत संकेत द्वारा ही इस का प्रयोग सम्भव है। वेदों के मन्त्र त्रिष्टुप्, अनुष्टुप् आदि छन्दों में

१ बृहस्पतिः। २ वने गत्वा यज्ञं करोति। ३ एते राजर्षयः। ४ यथा घट इति नाम पुरुषकृतसंकेतात् घटमर्थम् आचष्टे। ५ काचित् स्त्री। ६ (गो)जातिः (दण्डी) उपाधिः। ७ इष आश्विनमासे ऊर्जे कार्तिक मासे।

तथा पौरुषेयाः वेदाः अनुष्टुवादिछन्दोनिबद्धत्वात् पदसंदर्भत्वाच्च भारतादिवदिति च।

[३३. शब्दनित्यत्वनिषेधः ।]

अथ शब्दानां नित्यत्वात् तत्संदर्भस्य वेदस्यापि नित्यत्वेनापौरुषेयत्वम्। तथा हि। नित्यः शब्दः श्रावणत्वात् शब्दवदिति चेन्न। उदात्तानुनासिकादिध्वनिधर्मैर्हेतोर्व्यभिचारात्। तेषां श्रावणत्वेऽपि नित्यत्वाभावात्। अथ नित्यः शब्दः प्रत्यभिज्ञायमानत्वात् आकाशवदिति चेन्न। करणाङ्गहारादिभि[1]र्हेतोर्व्यभिचारात्। तत्र स एवायमङ्गहार इति प्रत्यभिज्ञायमानत्वेऽपि नित्यत्वाभावात्। अथ अङ्गहारादिष्वनित्येषु एकत्वप्रत्यभिज्ञानं भ्रान्तं[2], नित्ये शब्दे त्वभ्रान्तं, भ्रान्तेनाभ्रान्तस्य व्यभिचारो न युक्त इति चेत्। तर्हि शब्दस्य नित्यत्वं केन निश्चीयते अनेनानुमानेन[3] अन्येन वा। अनेन चेदितरेतराश्रयः। शब्दस्य नित्यत्वसिद्धौ तत्र प्रत्यभिज्ञानस्या-

निबद्ध हैं तथा शब्दों के समूह है अतः महाभारत आदि के समान वेद भी पुरुषकृत ही सिद्ध होते हैं।

३३. शब्दके नित्यत्वका निषेध—शब्द नित्य हैं अतः शब्दसमूहरूप वेद भी नित्य है – यह मीमांसकों का एक कथन है। यह कथन शब्द के नित्य होने पर आधारित है अतः उस का विचार करते हैं। शब्द सुना जाता है अतः नित्य है यह अनुमान ठीक नहीं क्यों कि उदात्त, अनुनासिक आदि ध्वनि भी सुने जाते हैं किन्तु वे नित्य नही हैं। आकाश के समान शब्द का भी प्रत्यभिज्ञान होता है – 'यह वही आकाश है' इस ज्ञान के समान 'यह वही शब्द है' ऐसा ज्ञान होता है – अतः शब्द नित्य है यह अनुमान भी ठीक नही। शरीर की विशिष्ट हलचलें – नृत्य की मुद्राएं आदि – दुहराई जाती हैं तब उन में भी प्रत्यभिज्ञान होता है – 'यह वही मुद्रा है' ऐसा ज्ञान होता है किन्तु ये मुद्राएं नित्य नही होतीं। मुद्राएं अनित्य हैं अतः उन में प्रत्यभिज्ञान भ्रमजनित है किन्तु शब्द के विषय में प्रत्यभिज्ञान भ्रमरहित है क्यों कि शब्द नित्य है – यह मीमांसकों का कथन है। किन्तु शब्द नित्य है या नही यही जब वाद का विषय है

१ करण ६४ अङ्गहारोङ्गविक्षेपः। २ स एवायम् इति न घटते किं तु तादृशोयम् इति घटते। ३ नित्यः शब्दः प्रत्यभिज्ञायमानत्वात् इति।

भ्रान्तत्वं तत् प्रत्यभिज्ञानाभ्रान्तत्वे ततः शब्दस्य नित्यत्वसिद्धिरिति। अथ अन्येनानुमानेन चेत् तत् कीदृशम्। नित्यः शब्दः अमूर्तत्वात् आकाशवदिति चेन्न। हेतोः क्रियाभिर्व्यभिचारात्। अथ तत् परिहारार्थम् अमूर्तद्रव्यत्वादित्युच्यते तथापि प्रतिवाद्यसिद्धो हेत्वाभासः। कथम्। नैयायिकादीनां मते शब्दस्याकाशगुणत्वेन द्रव्यत्वासिद्धेः। जैनैस्तु मूर्तद्रव्यत्वेनाङ्गीकाराच्च। अथ तैरप्रमाणमूलत्वेनाङ्गीकृतमिति चेन्न। तत्र प्रमाणसद्भावात्। शब्दो मूर्तः स्पर्शवत्त्वात् वातादिवदिति। अथ शब्दस्य स्पर्शवत्त्वमसिद्धमिति चेन्न। शब्दः स्पर्शवान् संयोगविभागान्यत्वे सति कांस्यपात्रादौ नादोत्पादकत्वात् कोणादिवदिति[1] मूर्तद्रव्यापनोदित्वात्[2] जलादिवदिति शब्दस्य स्पर्शवत्त्वसिद्धेः। न चायं हेतुरसिद्धः निःसाणादिमहाशब्देन बहुपदात्यास्फोटनेन च प्रासादप्राकारादीनां विनिपातदर्शनात्।

तब 'शब्द नित्य है अतः उस का प्रत्यभिज्ञान भ्रमरहित है' यह कहना कैसे संभव है ? यह तो परस्पराश्रय होगा। अतः शब्द को नित्य सिद्ध करने के लिए किसी दूसरे प्रमाण की आवश्यकता है। शब्द आकाश के समान अमूर्त है अतः नित्य है यह अनुमान उचित नही – क्रियाएं अमूर्त होती हैं किन्तु नित्य नही होतीं। इस दोष को दूर करने के लिए इसी अनुमान का रूपान्तर प्रयुक्त करते हैं – शब्द अमूर्त द्रव्य है अतः नित्य है। किन्तु यह भी सदोष है – नैयायिकों के मत से शब्द गुण है, द्रव्य नही तथा जैनों के मत से शब्द द्रव्य तो है किन्तु मूर्त है– अतः शब्द अमूर्त द्रव्य है यह कथन विवादास्पद है। शब्द के मूर्त द्रव्य होने का प्रमाण यह है कि वह स्पर्शयुक्त है। कासे के पात्र पर शब्द का आघात होने पर वैसे ही नाद उत्पन्न होता है जैसे किसी कोण (वीणा बजाने का दण्ड) के आघात से उत्पन्न होता है। शब्द से पानी जैसे मूर्त द्रव्य मे हलनचलन उत्पन्न होता है। निसानादि वाद्यों के प्रचण्ड नाद से तथा पैदल सेना के पदाघात के नाद से प्रासाद गिरते हुए देखे गए हैं। इन सब बातों से शब्द का स्पर्शयुक्त तथा मूर्त होना स्पष्ट है।

१ कोणो वीणादिवादनम्। २ चलनक्रियाकारकत्वात्।

ननु नित्यः शब्दः आकाशैकगुणत्वात् तद्गतपरममहत्त्ववदिति शब्दस्य नित्यत्वमिति चेन्न। हेतोरसिद्धत्वात्। तथा हि। शब्दो नाकाशगुणः अस्मदादिबाह्येन्द्रियग्राह्यत्वात् पटादिवत्। आकाशं वा नास्मदादिबाह्येन्द्रियग्राह्यगुणवत् सदास्पर्शरहितद्रव्यत्वात् नित्यत्वात् अखण्डत्वात् निरवयवत्वात् कालवत्। तस्मादनित्यः शब्दः सामान्यविशेषवत्त्वे सत्यस्मदादिबाह्येन्द्रियग्राह्यत्वात् पटादिवत्। भाट्टं प्रति अनित्यः शब्दः बाह्येन्द्रियग्राह्यद्रव्यत्वात्[1] पटादिवदिति प्रसाध्येत। प्राभाकरं प्रति अनित्यः शब्दः अस्मदादिबाह्येन्द्रियग्राह्यगुणत्वात्[2] पटरूपादिवदिति प्रसाधनीयम्। एतत् कथाविचारे[3] प्रपञ्चितमिति नेह प्रतन्यते।

तथा अनित्यः शब्दः भावत्वे सति कृतकत्वात् विद्युदादिवत्। ननु शब्दस्य कृतकत्वाभावेन विशेष्यासिद्धो हेतुरिति चेन्न। पुरुषविवक्षाप्रयत्नाभ्यां तात्वादिभिः क्रियमाणस्य शब्दस्य अनुभूयमानत्वात्। अथ ताल्वादीनां व्यञ्जकत्वात्[4] कारकत्वाभाव इति चेन्न। ताल्वादिव्यापारान्वयव्यतिरेकाभ्यां शब्दोपलब्ध्यनुपलब्धिनिश्चयेन ताल्वादीनां कारकत्व-

शब्द आकाश का गुण है अतः आकाश की व्यापकता के समान शब्द भी नित्य है यह कथन युक्त नही क्यों कि शब्द आकाश का गुण नही है। आकाश के गुण बाह्य इन्द्रियों से ज्ञात नही होते किन्तु शब्द बाह्य इन्द्रियों से ज्ञात होता है अतः शब्द आकाश का गुण नही हो सकता। भाट्ट तथा प्राभाकर मीमांसकों के शब्दविषयक मतों का परीक्षण हमने 'कथाविचार' ग्रन्थ में विस्तार से किया है। अतः यहां थोडे में ही सन्तोष करते हैं।

शब्द ऐसा भावरूप पदार्थ है जो कृतक है अतः विद्युत् आदि के समान शब्द भी अनित्य है। बोलने की इच्छा होने पर पुरुष के प्रयत्न से तालु, जीभ आदि की क्रिया से शब्द निर्माण होता है। अतः शब्द को कृत कहा है। इसके विरोध में प्रतिपक्षी कहते हैं कि तालु आदि की क्रिया शब्द को सिर्फ व्यक्त करती है – उत्पन्न नही करती। किन्तु यह कथन उचित नही। तालु आदि की क्रिया में और शब्द में नियत अन्वयव्यतिरेक सम्बन्ध पाया जाता है – क्रिया हो तो

१ भाट्टमते नैयायिकोक्तनवद्रव्यशब्दतमःसहित–एकादश द्रव्याणि। २ परमाणुगतरूपादिगुणेन। ३ ग्रन्थे। ४ प्रकाशकत्वात्।

निश्चयात्। तदप्यन्वयव्यतिरेकसमधिगम्यो हि सर्वत्र कार्यकारणभाव इति न्यायात्। व्यञ्जकव्यापारान्वयव्यतिरेकाभ्यां व्यङ्ग्यो[1]पलब्ध्यनुपलब्धिनियमो नास्त्येव प्रदीपव्यापारान्वयव्यतिरेकाभ्यां घटोपलब्ध्यनुपलब्धिनियमाभाववदिति। अथ ताल्वादीनां व्यापारस्य व्यञ्जकत्वेऽपि नियमेन शब्दोपलम्भकत्वं शब्दस्य नित्यत्वात् सर्वगतत्वाच्च विरुद्धमिति चेन्न नित्यत्वस्य प्रागेव प्रत्युक्तत्वात्[2] सर्वगतत्वस्यापि प्रमाणबाधितत्वाच्च। तथा हि। शब्दः सर्वगतो न भवति सामान्यविशेषवत्त्वे सत्यस्मदादिबाह्येन्द्रियग्राह्यत्वात्। अस्मदादिबाह्येन्द्रियेण सर्वात्मना उपलभ्यमानत्वात् पटादिवदिति। तस्मात् शब्दस्य नित्यताभावात् तत्संदर्भस्य वेदस्यापि नित्यत्वाभावेन अपौरुषेयत्वाभावात् वेदाः प्रमाणम् अपौरुषेयत्वादित्यसिद्धो हेत्वाभासः स्यात्।

[३४. वेदानां बाधितविषयत्वम्।]

ततो न वेदाः प्रमाणम् अनाप्तोक्तत्वादुन्मत्तवचनवत्। अथ मीमांसकमते वेदस्यानाप्तोक्तत्वात् तथास्तु। नैयायिकादीनां तु मते महेश्वरादिसर्वज्ञप्रणीतत्वाद् वेदस्य प्रामाण्यं भविष्यति।

शब्द उत्पन्न होता है, क्रिया न हो तो शब्द उत्पन्न नही होता। अतः तालु आदि की क्रिया को शब्द का उत्पादक ही मानना चाहिए। व्यक्त होनेवाली तथा व्यक्त करनेवाली वस्तुओं में नियत अन्वयव्यतिरेक नही पाया जाता – दीपक हो तो घट होता है, दीपक नही हो तो घट नही होता यह कहना सम्भव नही है। शब्द नित्य और सर्वगत है अतः तालु आदि की क्रिया होने पर नियमतः शब्द व्यक्त होता है यह कहना भी उचित नही। शब्द नित्य नही यह अभी बतला रहे हैं। तथा शब्द सर्वगत भी नही है क्यों कि वह बाह्य इन्द्रियों से ज्ञात होता है। इस प्रकार शब्द की अनित्यता स्पष्ट होती है। तदनुसार शब्दसमूहरूप वेद भी पौरुषेय व अनित्य सिद्ध होते हैं। अतः वेद अपौरुषेय अतएव प्रमाण हैं यह कहना उचित नही है।

३४. वेदों का बाधित विषयत्व—वेद अप्रमाण है क्यों कि वे आप्त पुरुष – सर्वज्ञ – द्वारा प्रणीत नही हैं। इस के उत्तर में प्रतिपक्षी कहते हैं कि मीमासकमतानुसार वेद सर्वज्ञप्रणीत न हों; किन्तु

१ घटादि। २ निराकरणात्।

अनन्तरं[1] तु वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिःसृताः ।
प्रतिमन्वन्तरं[2] चैव श्रुतिरन्या विधीयते ॥

इति वचनादिति चेन्न । महेश्वरादीनां सर्वज्ञत्वाभावस्य प्रागेव प्रतिपादितत्वेन तेषामतीन्द्रियार्थेष्वाप्तत्वासंभवात्[3] । तथा न वेदाः प्रमाणं बाधितविषयत्वात् उन्मत्तवाक्यवत् । ननु वेदस्य बाधितविषयत्वमसिद्धमिति चेन्न । 'आत्मनः आकाशः संभूतः' इत्यादीनां नैयायिकवैशेषिकैर्बाधितत्वात् । विश्वतश्चक्षुरित्यादीनामद्वैतिभिर्बाधितत्वात्[4] । उभयेषां मीमांसकैर्बाधितत्वात् । 'अलाबूनि मज्जन्ति, ग्रावाणः प्लवन्ते, अन्धो मणिमविन्धत् तमनङ्गुलिरावयत्, उत्ताना वै देवगवा वहन्ती'त्यादीनां सर्वयौक्तिकैर्बाधितत्वात् ।

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
स भूमिं विश्वतो वृत्वा अत्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम् ॥
(ऋग्वेद १०-९०-१)

इत्येतद्वाक्यस्य[5]

अपाणिपादो जवनो[6] ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः ।
स वेत्ति विश्वं न हि तस्य वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम् ॥
(श्वेताश्वतरोपनिषद् ३-१९)

नैयायिक मतानुसार तो वेद सर्वज्ञ-ईश्वरप्रणीत है ? कहा भी है – 'तदनन्तर ईश्वर के मुखों से वेद निकले । इस प्रकार प्रत्येक मन्वन्तर में भिन्नभिन्न वेद की उत्पत्ति होती है । ' किन्तु ईश्वर सर्वज्ञ-मुक्त नही हो सकता यह पहले विस्तार से बतलाया है अतः ईश्वरप्रणीत होने पर भी वेद प्रमाण नही हो सकते । वेद अप्रमाण होने का एक कारण यह भी है कि उस का कथन प्रमाणबाधित है । वेदवाक्यों को वैदिक दर्शन ही किस प्रकार बाधित समझते हैं यह पहले (परिच्छेद ३१ में) स्पष्ट किया है । वेदवाक्यों में परस्पर विरोध भी है, जैसे कि – 'उस पुरुष के हजार सिर थे, हजार आखें थी, हजार पैर थे, वह भूमि को सब ओर से घेर कर दस अंगुल अधिक रहा ' यह वाक्य है तथा इस के विरोध में 'अग्रणी महान् पुरुष वह है जिस के हाथपैर नही हैं किन्तु

---

१ सृष्टयनन्तरम् । २ कालमानविशेषः । ३ आप्तस्तु यथार्थोपदेष्टा पुरुषः । ४ वेदान्तिभिः । ५ बाधकः श्लोकः । ६ वेगवान् ।

इत्येतेन वाक्येन बाधितत्वात्। ननु सदा मुक्तोऽपि देवो भाक्तिकानां प्रीतिविशेषोत्पादनार्थं शरीरस्वरूपं प्रदर्शयत्येकस्य वाक्यस्य[1] अर्वाचीनावस्था[2]प्रतिपादकत्वमितरस्य पराचीनावस्थाप्रतिपादकत्वमिति तयोर्बाध्यबाधकभावाभाव इति चेन्न। सदा मुक्तस्य शरीरग्रहणासंभवात्। तथा हि। वीतः शरीरं न गृह्णाति मुक्तत्वात् इतरमुक्तवत्। तस्यादृष्टरहितत्व[3]मसिद्धमिति चेन्न। वीतः पुमान् अदृष्टरहितः मुक्तत्वात् सदाचारदुराचाररहितत्वात् अन्यमुक्तवत्। ननु सदाचारदुराचाररहितत्वमप्यसिद्धमिति चेन्न। वीतः सदाचारदुराचाररहितः मुक्तत्वात् स्वादृष्टानुगृहीतशरीररहितत्वात् अपरमुक्तवदिति। मुक्तस्य शरीरग्रहणासंभवा-

जो वेगवान है, आँखें न होने पर भी जो देखता है, कान न होते हुए सुनता है तथा जो सब जानता है किन्तु उसे कोई नही जानता ' यह वाक्य भी है। इस विरोध के समाधान के लिए कहा जाता है कि ईश्वर तो सदा मुक्त है किन्तु भक्तों के अनुग्रह के लिए शरीर धारण करता है अतः ये दोनों वर्णन दो अवस्थाओं के लिये है। किन्तु यह समाधान भी उपयुक्त नही है। जो मुक्त है वह सदाचार-दुराचार से रहित होता है अतः उसके कोई अदृष्ट (पुण्य-पाप) नही होता तथा अदृष्ट के विना शरीर धारण करना सम्भव नही है। अतः ईश्वर मुक्त है तथा शरीर धारण करता है ये कथन स्पष्टतः परस्पर विरुद्ध हैं। वेदवाक्यों के परस्पर विरोध का एक उदाहरण और है – कहा है ' जो अश्वमेध यज्ञ करता है उसका शोक-पाप दूर होता है, उसे ब्रह्महत्या के पाप से छुटकारा मिलता है। जो इस प्रकार जानता है उसे भी यही फल मिलता है।' यहा बहुत (बत्तीस करोड मुद्रा) व्यय तथा प्रयास से होनेवाले यज्ञ का फल तथा सिर्फ उस यज्ञ के जानने का फल

१ सहस्रशीर्षा पुरुषः इत्यादि अपाणिपादो जवनो इत्यादि वाक्ययोः। २ एका मुक्तावस्था अपरा शरीरावस्था एवं सति अर्वाचीनावस्था पराचीनावस्था च। ३ इतरमुक्तस्तु अदृष्टरहितोऽस्ति अतः शरीरं न गृह्णाति सदामुक्तस्तु अदृष्टरहितो नास्ति अतः शरीरं गृह्णाति ।

व्यवस्थाद्वया[1]संभवेन तत् प्रतिपादकवाक्ययोर्बाध्यबाधकभावः सिद्धः। अपि च। 'तरति शोकं तरति पाप्मानं तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजते य उ चैनमेवं वेद[2]' इत्यत्र द्वात्रिंशत्कोटिवित्तव्ययेन वर्षशतबहुतरशरीरायासेन प्रसाध्याश्वमेधफलस्य वाक्यार्थपरिज्ञानमात्रात् संभव[3]प्रतिपादनाच्च बाधितं तत्[4]। ननु न बाध्यं तत् वेदार्थपरिज्ञानस्य ततो[5]ऽप्यधिकफलोपभोगसंभवात्। तथा हि।

स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य[6] वेदं न विजानाति योऽर्थम्।
अर्थज्ञ इत् सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा ॥
(निरुक्त १–१८)

इति निरुक्ते इति चेन्न। वेदार्थज्ञस्य ब्रह्महत्याद्युपनिपाते प्रायश्चित्ताभावप्रसंगात्। तथैवास्तीति चेन्न। अश्वत्थामादेर्ब्रह्महत्याशङ्कामात्रेऽपि महाप्रायश्चित्तप्रदानात्। अथ तस्य वेदार्थपरिज्ञानाभावात् प्रायश्चित्तप्रदानमिति

समान कहा है जो असम्भव है। वेद के ज्ञान की महिमा निरुक्त मे भी कही है – 'जो वेद को कण्ठस्थ करता है किन्तु उसका अर्थ नही जानता वह सिर्फ बोझा ढोनेवाला खम्भे के समान जड है, जो अर्थ जानता है वह सब मंगल प्राप्त करता है तथा ज्ञान से पाप को दूर कर स्वर्ग प्राप्त करता है।' किन्तु ब्रह्महत्या से छुटकारा मिलने की बात यदि सही हो तो वेद जाननेवालेको ब्रह्महत्या का कोई प्रायश्चित्त जरूरी नही होगा। इस के विरुद्ध वैदिक ग्रन्थों में कहा है कि अश्वत्थामा को ब्रह्महत्या की सिर्फ शंका होने पर भी बडा प्रायश्चित्त दिया गया। अश्वत्थामा रुद्र का अवतार कहा गया है अतः वह वेद जानता होगा इसमें सन्देह नही – उसे भी ब्रह्महत्या की शंका का प्रायश्चित्त दिया गया इस से स्पष्ट होता है कि वेद के ज्ञान से पाप दूर नहीं होते। यहा मीमासक उत्तर देते हैं कि यज्ञ के जानने से यह फल प्राप्त होता है यह कथन अर्थवाद है – प्रशंसा के लिए कहा है,

१ मुक्तावस्था शरीरावस्था च। २ यः अश्वमेधेन यजते यः उ चैनमश्वमेधं वेद जानाति स शोकं तरति इति संबन्धः। ३ अश्वमेधफलस्य संभवस्तस्य प्रतिपादनात्। ४ तरति शोकमित्यादि। ५ अश्वमेधात्। ६ वेदं पठित्वा।

चेन्न। अश्वत्थामा वेदार्थज्ञः त्रिलोचनत्वात् प्रसिद्धत्रिलोचनवत् रुद्रावतारत्वात् समन्तरुद्रावतारवदिति तस्य वेदार्थपरिज्ञानसिद्धेः। अथ तद्वाक्यार्थपरिज्ञानस्य तत्फलकथनमर्थवाद[1] इति चेत् तर्हि अश्वमेधयागस्यापि तत्कथनमर्थवाद एवास्तु विशेषाभावात्। द्वयोर[2]प्यर्थवादत्वेन बाधितविषयत्वं सिद्धम्।

[३५. वेदानां हिंसाहेतुत्वम्।]

तथा न वेदाः प्रमाणं ब्राह्मणादिवधविधायकत्वात् तुरुष्कशास्त्रवत्। अथ वेदानां ब्राह्मणादिवधविधायकत्वाभावादसिद्धो हेत्वाभास इति चेन्न। 'ब्रह्मणे ब्राह्मणमालभेत[3] क्षत्राय राजन्यं मरुद्भ्यो वैश्यं तपसे शूद्रं तमसे तस्करम्' इत्यादिना ब्राह्मणादिवधविधानात्। नन्वत्र ब्रह्मणो[4] यागाय ब्राह्मणमालभेत इति कोऽर्थः ब्राह्मणं स्पृशेदित्यर्थ इति चेत् तर्हि 'श्वेतमजमालभेत भूतिकामः[5]' इत्यत्रापि भूतिकामः श्वेतमजं स्पृशेदित्यर्थ एव स्यात्। अत्र हननार्थाङ्गीकारे तत्रापि तथा स्याद् विशेषाभावात्।

अक्षरशः सत्य नही है। किन्तु ऐसा मानने पर यज्ञ करने का फल भी अक्षरशः सत्य है यह कैसे निश्चय होगा? अतः इस पूरे कथन में परस्पर-विरोध दूर नही किया जा सकता।

३५. वेदों में हिंसा का विधान—वेद इस लिये भी अप्रमाण हैं कि उन मे तुरुष्कों के समान ब्राह्मण आदि के वध करने का विधान है – कहा है – 'ब्रह्मा के लिये ब्राह्मणका वध करे, क्षत्र के लिये क्षत्रिय का, मरुतों के लिये वैश्य का, तप के लिये शूद्र का तथा तम के लिये चोर का वध करे।' इस मन्त्र में ब्राह्मण के वध का तात्पर्य ब्राह्मण को स्पर्श करना है ऐसा कहा जाता है किन्तु यह स्पष्ट ही गलत है। यदि वध का अर्थ स्पर्श करना हो तो 'ऐश्वर्य की इच्छा हो तो सफेद बकरे का बलि दे' यहा पर भी बकरे को स्पर्श करने से विधि क्यों नही पूरा होता?

१ स्तुतिमात्रमेव न सत्यम्। २ वेदवाक्यार्थपरिज्ञानस्य अश्वमेधयागस्य च द्वयोः। ३ छेदनं कुर्यात्। ४ ब्रह्मनिमित्तम्। ५ संपदार्थम्।

अथ यागविशेषे विहितत्वात् तद्ब्राह्मणवधोऽपि पुण्यहेतुरेव न तु पापहेतुरिति चेन्न। क्रत्वन्तःपातिनी हिंसा पापहेतुः वधत्वात् प्रसिद्धब्रह्महत्यादिवदिति प्रमाणेन बाधितत्वात्। ननु पापहेतुत्वे निषिद्धत्वमुपाधिरिति चेन्न। तस्य उपाधिलक्षणाभावात्। कुतः साध्यसमव्याप्तेरभावात्। कथं यो यः पापहेतुः स सर्वोऽपि निषिद्ध इत्युक्ते 'श्येनेनाभिचरन्[1] यजेत' इत्यादिविधिना व्यभिचारात्। अथ निषेधातिक्रान्तविषयत्वेन श्येनयागस्य निषिद्धत्वमिति चेन्न। परेषा[3]मभिचारं कामयमानः श्येनयागेन यजेतेत्यादिना पापहेतोरपि काम्यानुष्ठानत्वेन विहितत्वात्। ततो निषिद्धत्वस्य साध्य[4]व्यापकत्वाभावादनुपाधित्वम्। कथम्। यद्यन्निषिद्धं भवति तत्पापहेतुर्भवति इत्युक्ते श्येनयागेन[5] व्यभिचारात्। किं च। सर्वस्योपाधेर्यथोक्तलक्षणलक्षितत्वेऽपि दूषणाभासत्वमेव न तु सद्दूषणत्वम्। तस्योत्कर्षापकर्षसमजातित्वात्। तथा हि। प्रसिद्धायां हिंसायां पापहेतुत्वं

विशिष्ट यज्ञों में ब्राह्मण आदि का वध भी पापका कारण न हो कर पुण्य का कारण होता है यह कथन भी युक्त नही। प्राणिवध यज्ञ में हो या अन्यत्र हो – वह पाप का ही कारण होता है। मीमांसकों के कथनानुसार सभी वध पापकारण नही होते – जिन का शास्त्रों में निषेध है वे ही वध पापकारण होते हैं। किन्तु यह कथन ठीक नही है। वैदिक ग्रन्थों में पापकारण वध का भी विधान मिलता है, उदाहरणार्थ–अभिचार से शत्रु का वध करने के लिये श्येन के यज्ञ का विधान है। यहां श्येन का वध पापकारण होते हुए भी विहित है – निषिद्ध नही। अतः जो निषिद्ध हैं वे ही वध पापकारण हैं यह कहना सम्भव नही है। दूसरी बात यह है कि किसी अनुमान में इस प्रकार उपाधि बतला कर दोष निकालना योग्य नही – यह दूषणाभास होता है जिस का अन्तर्भाव उत्कर्षसम, अपकर्षसम या संशयसम जाति में होता है (इस दूषण का तान्त्रिक विवरण मूल में देखने योग्य है)।

१ शत्रुमन्त्रविधिना वधं कुर्वन् अथवा मन्त्रविधिना मरणान्तिकहोमं कुर्वन्। २ निषिद्धत्वमात्रम् अत्रोपाधिः। ३ शत्रूणाम्। ४ पापहेतुः साध्यम्। ५ श्येनयागस्तु पापहेतुर्भवति परंतु निषिद्धो नास्ति।

निषिद्धत्वेन व्याप्तं[1] तत् पापहेतुत्वं[2] क्रत्वन्तःपातिन्यामपि हिंसायामङ्गीक्रियते[3] तर्हि तद्व्यापकं[4] निषिद्धत्वमप्यङ्गीकर्तव्यमित्युत्कर्षसमा जातिः[5]। व्यापकं निषिद्धत्वं नाङ्गीक्रियते तर्हि व्याप्यं पापहेतुत्वमपि नाङ्गीकुर्यादित्यपकर्षसमा जातिः[6]। दृष्टान्ते दृष्टस्यानिष्टधर्मस्य पक्षे योजनमुत्कर्षसमा जातिस्तन्निवृत्तौ पक्षस्य साध्यधर्मनिवृत्तिरपकर्षसमा जातिरिति वचनात्। तस्मादुपाधिरसद्दूषणं जातित्वात् सद्दूषणेष्वपठितत्वात् अन्यतरपक्ष[7]निर्णयाकारकत्वात् व्याप्तिपक्षधर्मावैकल्यानिश्चायकत्वात् च साधर्म्यादिवत्[8]। ननु व्याप्तिपक्षधर्मतावैकल्यनिश्चायकत्वाभावेऽपि व्याप्तिसंदेहापादको भवतीति सद्दूषणत्वमिति चेन्न। तथा च संशयसमजातित्वात्। साधर्म्यवैधर्म्योपाधिप्रतिकूलतर्कादिभिर्भूयो दर्शनान्निश्चितव्याप्तेः पश्चात् पक्षे संदेहापादकं वचनं संशयसमा जातिरिति वचनात्। ततः क्रत्वन्तःपातिनी हिंसा पापहेतुरेवेति निश्चीयते। तथा च पापहेतोर्हिंसायाः स्वर्गादिसाधनत्वप्रतिपादकं वचनमप्रमाणमेवेति निश्चीयते। एवं वेदस्याप्रामाण्यनिश्चये तदङ्गानां[9] तन्मूलस्मृतिपुराणादीनां च अप्रामाण्यं निश्चितमेव। तथा

अतः यज्ञ में अन्तर्भूत हिंसा भी पाप का कारण होती है। उसे ही वेदों में स्वर्ग का साधन माना है। इस लिए वेद अप्रमाण हैं। वेद ही प्रमाण नही हों तो उन पर आधारित वेदाग, स्मृति, पुराण आदि प्रमाण कैसे हो सकते है? इस लिए '(४) वेद, (६) वेदाग तथा पुराण, न्याय, मीमासा एवं धर्मशास्त्र ये धर्म तथा विद्या के चौदह स्थान हैं' यह याज्ञवल्क्य स्मृति का कथन हमे प्रमाण प्रतीत नही होता।

---

१ अङ्गीक्रियते तथा। २ व्याप्यम्। ३ श्येनयागादौ तत्र तद्व्यापक निषिद्धत्वं कथं नाङ्गीक्रियते। ४ पापहेतुत्वव्याप्यस्य। ५ साध्ये दृष्टान्तादनिष्टधर्मप्रसङ्ग उत्कर्षसमः। यथा यदि कृतकत्वात् घटवत् अनित्यः शब्दः तदा घटवदेव सावयवः स्यात्। ६ इष्टधर्मनिवृत्तिरपकर्षः। यथा अश्रावणश्च घटो दृष्टः शब्दोऽपि श्रावणो न स्यादविशेषात्। ७ द्वयोः पक्षयोर्मध्ये। ८ साधर्म्यजातिवत्। यथा साधर्म्यवैधर्म्याभ्यामुपसंहारे तद्धर्मविपर्ययोपपत्तेः साधर्म्यवैधर्म्यसमौ यथा नित्यः शब्दः कृतकत्वात् घटादिवदित्युक्ते जातिवाद्याह यद्यनित्यघटसाधर्म्यात् कृतकत्वात् अनित्यः शब्द इष्यते तर्हि नित्याकाशसाधर्म्यादमूर्तत्वान्नित्यः प्राप्नोति। ९ शिक्षा कल्पो व्याकरणमित्यादीना षण्णाम्।

पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः ।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश ॥
(याज्ञवल्क्यस्मृति १-१-३)

इति याज्ञवल्क्यप्रतिपादिता स्मृतिरुन्मत्तवचनवत् तिष्ठति, न तु प्रामाणिकवचनमिवास्ते।

[३६. वेदानां स्वतःप्रामाण्यनिषेधः ।]

अथ मतं मिथ्याज्ञानदुष्टाभिप्रायवद्वक्तुः सकाशाद् वचनस्य प्रमितिजनकत्वाभावेनाप्रामाण्यं भवति। 'अप्रामाण्यं परतो दोषवशात्' इति वचनात्। वेदे तु मिथ्याज्ञानदुष्टाभिप्रायवद्वक्तुरभावेन दोषाभावात् प्रामाण्यं स्वत एवावतिष्ठते। तथा चोक्तं—

शब्दे दोषोद्भवस्तावद् वक्त्रधीन इति स्थितः।
तदभावः क्वचित् तावद् गुणवद्वक्तृकत्वतः॥
तद्गुणैरपकृष्टानां[1] शब्दे संक्रान्त्यसंभवात्।
यद् वा वक्तुरभावेन न स्युर्दोषा निराश्रयाः॥
(मीमासाश्लोकवार्तिक पृ. ६५)

इति तदयुक्तम्। वेदे वक्तृसद्भावस्य प्रागेव प्रमाणेन प्रतिपादितत्वात्। तस्य च वक्तुः किंचिज्ज्ञत्वेन मिथ्याज्ञानदुष्टाभिप्रायसंभवात् कथं वेदस्य स्वतः प्रामाण्यमवतिष्ठते। वक्तुः पुरुषस्य ऋज्वभिप्रायतत्त्वज्ञानादिगुणै-

३६. वेदोंके स्वतः प्रामाण्य का निषेध—यहां मीमासकों का कथन है कि मिथ्या ज्ञान से या दूषित अभिप्राय से किसी वक्ता द्वारा कहा हुआ वचन अप्रमाण होना है किन्तु वेद ऐसे किसी दूषित वक्ता द्वारा नही कहे गये हैं अतः वेद स्वयं प्रमाण हैं – जैसे कि कहा है – 'शब्द में दोष की उत्पत्ति वक्ता के कारण होती है तथा वक्ता गुणवान हो तो शब्द निर्दोष होते हैं। गुणों के कारण दोष दूर हो जाने पर शब्द में वे दोष नही आ सकते। अथवा वक्ता ही न हो तो कोई दोष अपने आप उत्पन्न नही होता।' किन्तु इस के उत्तर में हमने पहले ही स्पष्ट किया है कि वेद विना वक्ता के (अपौरुषेय) नही हो सकते तथा वेद के वक्ता सर्वज्ञ भी नही हो सकते. अतः उन्हें निर्दोप कैसे कहा जा सकता है? दूसरी बात यह है

[1] निषेधिताना दोषाणाम्।

र्वाक्येषु प्रामाण्याङ्गीकारात्। अथ ऋज्वभिप्रायतत्त्वज्ञानादिगुणै र्दुष्टाभिप्रायमिथ्याज्ञानादिदोषनिवृत्तिः तन्निवृत्तौ प्रामाण्यं स्वत एव भवतीति चेन्न। प्रामाण्यस्यैव स्वतस्त्वासंभवात्। कुतः ऋज्वभिप्रायतत्त्वज्ञानादयो गुणाः दुष्टाभिप्रायमिथ्याज्ञानादिदोषान् तिरस्कृत्य स्वयं स्थित्वा प्रामाण्योत्पादने व्याप्रियन्ते, यथा प्रकाशः अन्धकारं तिरस्कृत्य स्वयं स्थित्वा रूपज्ञानोत्पादने व्याप्रियते। तस्माद् वक्तुर्दुष्टाभिप्रायमिथ्याज्ञानादिदोषैरागमे अप्रामाण्योत्पत्तिः। ऋज्वभिप्रायतत्त्वज्ञानादिगुणैः प्रामाण्योत्पत्ति[1]रुभयैश्च[2] संविन्मात्रोत्पत्ति[3]रित्यङ्गीकर्तव्यम्। अनुमानेऽपि पक्षधर्मत्वादिगुणसद्भावे प्रामाण्यमुत्पद्यते। असिद्धत्वादिदोषसद्भावे अप्रामाण्योत्पत्तिरुभयत्र[4] ज्ञानमात्रोत्पत्तिरित्यङ्गीकर्तव्यम्। अथ रूपादयश्चतुर्विंशतिगुणाः इत्युक्तत्वात् पक्षधर्मत्वादीनां कथं गुणव्यपदेश इति चेन्न। दोषप्रतिपक्षाणां गुणव्यवहारसद्भावेन असिद्धत्वादिदोषप्रतिपक्षत्वेन पक्षधर्मत्वादीनां गुणव्यपदेशोपपत्तेः। तथा च अनुमानेऽपि पक्षधर्मत्वादयो गुणा असिद्धत्वादिदोषान् तिरस्कृत्य स्वयं स्थित्वा प्रमां जनयन्त्येवेति प्रामाण्यस्य गुण-

कि किसी वचन की प्रमाणता स्वयसिद्ध नही होती। सरल आशय तथा यथार्थ ज्ञान से युक्त पुरुष के ही वचन प्रमाण होते हैं। गुणों से दोष दूर होते है किन्तु वचन स्वतः प्रमाण होते है यह कथन उचित नही। प्रकाश अन्धकार को दूर करता है, साथ ही रूप के ज्ञान मे सहायक होता है। उसी प्रकार गुण दोषों को दूर करते हैं, साथ ही प्रामाण्य भी उत्पन्न करते हैं। अतः वक्ता के दोष से वचन अप्रमाण होता है, वक्ता के गुण से वचन प्रमाण होता है, तथा दोनों अवस्थाओं में ज्ञान उत्पन्न करता है यह मानना चाहिये। इसी प्रकार अनुमान मे पक्षधर्मता आदि गुण हों तो वह प्रमाण होता है, असिद्ध आदि दोष हों तो अप्रमाण होता है तथा दोनों अवस्थाओं मे ज्ञान उत्पन्न करता है। यहां पक्षधर्मता आदि को जो गुण कहा है वह दोष के विरुद्धार्थक शब्द के रूप में कहा है अतः रूपादि चौवीस गुणों मे इन के अन्तर्भाव का प्रश्न नही उठता। तात्पर्य यह है कि वचन या अनुमान में प्रामाण्य की उत्पत्ति यथार्थ वक्ता अथवा पक्षधर्मता आदि गुणों से ही

१ इति सति प्रमाणस्योत्पत्तिः परत एव। २ दोषगुणैः। ३ ज्ञानमात्रोत्पत्तिः। ४ गुणदोषसद्भावे।

जन्यत्वसिद्धेः कथं स्वतस्त्वं स्यात्। प्रत्यक्षेऽपि तिमिरकाचकामलाशुभ्रमणनौयानदूरदेशादिदोषसद्भावे अप्रामाण्योत्पत्तिरिन्द्रियनैर्मल्यसमीपदेशसुखासमावस्थादिगुणसद्भावे तत्प्रामाण्योत्पत्तिरुभयत्र[1] ज्ञानमात्रोत्पत्तिरिति। अथ इन्द्रियादिनैर्मल्यमिन्द्रियादिस्वरूपमेव। प्रामाण्यं विज्ञानसामग्रीमात्रादुत्पद्यते इति प्रामाण्यस्य स्वतस्त्वमुच्यते इति चेन्न। नैर्मल्यादेरेव गुणत्वेन ततः प्रामाण्योत्पत्तौ प्रामाण्यस्य स्वतस्त्वासंभवात्। अथ मलाद्यभाव एव नैर्मल्यादि स कथं गुण इति चेन्न। निषिद्धपरिवर्ज्यस्याभावस्यापि दुराचारप्रतिपक्षत्वेन सदाचारवत् मलाद्यभावस्य दोषप्रतिपक्षत्वेन गुणत्वसंभवात् किं च। आगमानुमानप्रत्यक्षेषु पापोदयेऽप्रामाण्योत्पत्तिः पुण्योदये प्रामाण्योत्पत्तिरुभयत्र[2] ज्ञानमात्रोत्पत्तिरिति प्रामाण्याप्रामाण्ययोरुभयोरप्युत्पत्तिः परत एवेति स्थितम्। तथा च प्रयोगाः। विज्ञानप्रामाण्ये भिन्नकारणजन्ये भिन्नकार्यत्वात् पयःपावकवत्। ननु ज्ञानप्रामाण्ययोर्भिन्नकार्यत्वमसिद्धमिति चेन्न। प्रामाण्याभावेऽपि ज्ञानस्य सद्भावेन भिन्नकार्यत्वसिद्धेः। तथा प्रामाण्यं विज्ञानकारणादन्य-

होती है – स्वतः प्रामाण्य उत्पन्न नही होता। प्रत्यक्ष प्रमाण के विषय में भी यही तथ्य है – अन्धकार, चक्षुदोप, दूर का अन्तर, भ्रमण आदि से इन्द्रियों में दोप उत्पन्न होते हैं उन के कारण वह प्रत्यक्ष अप्रमाण होता है। इन्द्रिय निर्मल होना, समीपता, चित्त सुखी होना आदि गुणों से युक्त प्रत्यक्ष प्रमाण होता है। तथा इन दोनों अवस्थाओं में ज्ञान साधारण है। इन्द्रियों का निर्मल होना यह इन्द्रियों का स्वरूप ही है अतः ज्ञान और प्रामाण्य एक ही सामग्री से उत्पन्न होते हैं यह कथन ठीक नही। इन्द्रियों की निर्मलता स्वाभाविक होने पर भी गुण है – उसी प्रकार जैसे दुराचार का अभाव ही सदाचाररूपी गुण है। इस गुण से ही प्रामाण्य उत्पन्न होता है – सिर्फ ज्ञान से उत्पन्न नही होता। अतः प्रामाण्य की उत्पत्ति स्वतः मानना उचित नही। अप्रमाण ज्ञान पाप का फल है तथा प्रमाणभूत ज्ञान पुण्य का फल है – यह भी प्रामाण्य के स्वतः उत्पन्न होने में बाधक है। ज्ञान और उस का प्रामाण्य ये जल और अग्नि के समान भिन्न कार्य हैं अतः उन का कारण भी भिन्न होना चाहिये। ज्ञान और प्रामाण्य को भिन्न कार्य कहने का कारण यह है

१ प्रत्यक्षप्रामाण्योत्पत्तिः। २ पुण्यपापोदये सति।

कारणजन्यं कार्यत्वे सति ज्ञानधर्मत्वात् अप्रामण्यवदिति च। तत्र ज्ञानधर्मत्वादित्युक्ते ज्ञानत्वसामान्येन व्यभिचारस्तद्व्यवच्छेदार्थं[1] कार्यत्वे सतीति विशेषणोपादानम्। कार्यत्वादित्युक्ते ज्ञानेनैव व्यभिचारः[2] तद्व्यपोहार्थं ज्ञानधर्मत्वादिति विशेष्यमुपादीयते। तथा प्रामाण्यं ज्ञानकारणादन्यकारणजं संविदन्यत्वे सति कार्यत्वात् अप्रामाण्यवदिति च। अत्रापि कार्यत्वादित्युक्ते संविदा व्यभिचारः तद्व्यपोहार्थं संविदन्यत्वे सतीति विशेषणम्। संविदन्यत्वादित्युक्ते नित्यपदार्थैर्व्यभिचारः[3] तद्व्यवच्छेदार्थं कार्यत्वादिति विशेष्यमुपादीयते। ननु तथापि प्रामाण्यस्य संविदन्यत्वाभावाद् विशेषणासिद्धो हेत्वाभासः इति चेन्न। प्रामाण्याभावेऽपि संविदः सद्भावात् तस्य ततोऽन्यत्वसिद्धेः। तथा प्रामाण्यं न ज्ञानकारणजं संविद्विशेषित्वात् अप्रामाण्यवत्। तथा प्रामाण्यं विशिष्टकारणप्रभवं विशिष्टकार्यत्वात् तद्वदिति च। प्रामाण्यमुत्पत्तौ परत एवेति स्थितम्। अप्रामाण्यमपि परत एवोत्पद्यत इति बौद्धान् प्रत्यपि[4] एतान् हेतून् प्रयोजयेत्। अन्येषां[5]मप्रामाण्यं परत एवोत्पद्यत इत्यत्र विप्रतिपत्तेरभावात्। एवमुत्पत्तिपक्षे प्रामाण्यमप्रामाण्यं च परत एवोत्पद्यत इति स्थितम्॥

कि कहीं कहीं ज्ञान तो विद्यमान होता है किन्तु प्रामाण्य नहीं होता। तथा जिस प्रकार अप्रामाण्य ज्ञान की एक विशेषता है उसी प्रकार प्रामाण्य भी ज्ञान की एक विशेषता है। अतः अप्रामाण्य के समान प्रामाण्य की उत्पत्ति का कारण भी ज्ञान की उत्पत्ति के कारण से भिन्न होता है। प्रामाण्य और ज्ञान एकही हैं यह कहना तो सम्भव नही है क्यो कि प्रामाण्य न होने पर भी ज्ञान विद्यमान रहता है। अतः ज्ञान और प्रामाण्य की उत्पत्ति भिन्न कारणों से होती है। इस लिये प्रामाण्य की उत्पत्ति स्वतः न मान कर परतः माननी चाहिये। अप्रामाण्य की उत्पत्ति भी परतः मानना उचित है। जिस तरह से मीमांसक प्रामाण्य को स्वतः मानते हैं उसी प्रकार बौद्ध अप्रामाण्य को स्वतः मानते हैं। उन का निरसन भी इसी प्रकार किया जा सकता है।

१ ज्ञानत्वसामान्यस्य ज्ञानधर्मत्वेऽपि कार्यत्वाभावः। २ ज्ञानस्य कार्यत्वेऽपि विज्ञानकारणादन्यकारणजन्यत्वाभावः अत उक्तं ज्ञानधर्मत्वात्। ३ नित्यपदार्थे कार्यत्वाभावः। ४ यथा मीमांसकमते प्रामाण्यं स्वतः अप्रामाण्यंपरतः तथा बौद्धमतेप्येवं। ५ मीमासकानाम्।

[३७. प्रामाण्यज्ञप्तिविचारः]

ज्ञप्तिपक्षे[1] प्रामाण्यं परत एव ज्ञायत इति नैयायिकादयः। तेऽपि न युक्तिवादिनः। परेण प्रामाण्यप्रतिपत्तौ तस्यापि परेण प्रामाण्यं प्रतिपत्तव्यं तस्यापि परेण प्रामाण्यं प्रतिपत्तव्यमित्यनवस्थाप्रसंगात्। ननु त्रिचतुरादिज्ञानानन्तरमपेक्षापरिक्षयान्नानवस्थेति चेन्न। चरम[2]ज्ञानप्रामाण्यप्रतिपत्त्यभावे द्विचरम[3]ज्ञानप्रामाण्यप्रतिपत्त्यभावः तदभावे त्रिचरमज्ञान प्रामाण्यप्रतिपत्त्यभावः इत्येवं क्रमेण प्रथमज्ञानस्यापि प्रामाण्यप्रतिपत्त्यभावप्रसंगात्। तस्मात् सर्वत्र परत एवेति न वाच्यम् अपि तु क्वचित् स्वतोऽपि। तथा च प्रयोगः। स्वकीयकरतलज्ञानप्रामाण्यं विज्ञानज्ञापकेन ज्ञायते विज्ञानज्ञप्तिकाले ज्ञातत्वात् व्यतिरेके[4] जलमरीचिकासाधारणप्रदेशे जलज्ञानप्रामाण्यवत्।

ननु अस्तु विज्ञानं येन ज्ञायते तेनैव तत्प्रामाण्यपि ज्ञायत इति ज्ञप्तिपक्षेऽपि प्रामाण्यं स्वत एवेति मीमांसकाः प्रत्याचक्षते। तेऽपि न

३७. **प्रामाण्य के ज्ञानका विचार**—प्रामाण्य का ज्ञान स्वतः नही होता – दूसरों द्वारा ही होता है ऐसा नैयायिकों का मत है। किन्तु यह अनुचित है। यदि एक के ज्ञान का प्रामाण्य दूसरा जाने तो इस दूसरे के प्रामाण्यज्ञान का प्रामाण्य जानने के लिये तीसरे की जरूरत रहेगी और इस तीसरे के ज्ञान के प्रामाण्य को चौथा जानेगा – इस प्रकार अनवस्था होती है। जब तक दूसरा व्यक्ति अपने ज्ञान के प्रामाण्य के बारे मे नही जानता तबतक वह पहले व्यक्ति के ज्ञान के प्रामाण्य को कैसे समझ सकता है? अतः कुछ प्रसंगों में ज्ञान के प्रामाण्य का ज्ञान स्वतः होता है यह स्पष्ट हुआ। अपने हाथ को कोई देखता है तो उस हाथका ज्ञान और उस ज्ञान के प्रामाण्य का ज्ञान एक ही साथ होता है – यही प्रामाण्य के स्वतः ज्ञात होने का उदाहरण है।

नैयायिकों के विरोध में मीमासक यह मानते हैं कि प्रामाण्य का ज्ञान स्वतः ही होता है किन्तु यह आग्रह हमें उचित प्रतीत नही होना।

१ अज्ञातपरिच्छित्तिः ज्ञप्तिः। २ अन्तिम। ३ अन्तिमसमीप। ४ यत्तु विज्ञानज्ञापकेन न ज्ञायते तत्तु विज्ञानज्ञप्तिकाले ज्ञातं न भवति यथा जलमरीचिकासाधारणप्रदेशे जलज्ञानप्रामाण्यम्।

विचारकाः। जलमरीचिकासाधारणप्रदेशे जलज्ञानप्रामाण्यस्य रज्जुसर्पादिसाधारणप्रदेशे सर्पादिज्ञानप्रामाण्यस्यापि संदेहाभावप्रसंगात् अस्त्वेवमिति चेन्न संदेहसद्भावात्। ननु प्रमाणान्तरेण संदेहापनये प्राक्तनज्ञानस्य[१] प्रामाण्यं स्वत एव निश्चीयत इति चेन्न। प्रमाणान्तरप्रामाण्यस्यापि संदेहे अपरेण प्रमाणान्तरेण संदेहापनयस्तत्प्रमाणप्रामाण्येऽपि संदेहे अपरेण संदेहापनय इत्यनवस्थाप्रसंगात्। आकांक्षापरिक्षयाद् यत्र क्वापि परिसमाप्तौ तच्चरमस्य प्रामाण्यं संदिशतस्तत्प्रामाण्यसंदेहे द्विचरमादारभ्य प्रथमपर्यन्तं संदेह इत्येवं प्रथमज्ञानप्रामाण्यसंदेहोऽपि तदवस्थ एव स्यात्। तथा च जलसर्पादौ[२] प्रवृत्तिनिवृत्तिव्यवहारो दुर्घट एव स्यात्। ननु आद्यजलादिज्ञानप्रामाण्यसंदेहे तु अनुमानज्ञानेन अर्थक्रियाज्ञानेन वा स्वतःसिद्धप्रामाण्येन[३] संदेहापनये प्राक्तनज्ञानस्य प्रामाण्यं स्वत एवावतिष्ठते ततो नानवस्थादिदोषप्रसङ्ग इति चेन्न। तत्ज्ञानोत्पत्तिसमये अनन्तरसमये वा स्वसंवेदनेन अर्थप्राकट्येन वा तत्ज्ञान[४]स्वरूपनिश्चयेऽपि तदानीं[५] तत्प्रामाण्यस्य ताभ्यां[६] निश्चयाभावेन तस्य स्वतस्त्वासंभवात्।

जब रेगिस्तान में जल का ज्ञान होता है तब यह जल है या मृगजल है ऐसे सन्देह के कारण उस ज्ञान के प्रामाण्य का निर्णय स्वतः नही होता। इसी प्रकार रस्सी के स्थान मे साप का ज्ञान होने पर उस ज्ञान के प्रामाण्य का निर्णय स्वतः नही होता। ऐसे स्थानों में सन्देह दूरकर प्रामाण्य का ज्ञान किसी दूसरे साधन द्वारा होता है। दूसरे साधन से सिर्फ सन्देह दूर होता है किन्तु पहले ज्ञान का प्रामाण्य तो स्वतः ही होता है यह कहना उचित नहीं। जब तक पदार्थ के स्पष्ट ज्ञान से या स्वसंवेदन से सन्देह दूर नही होता तब तक प्रामाण्य का ज्ञान कैसे हो सकता है? अतः कुछ प्रसगों में प्रामाण्य के सन्देह को दूर करने के लिये किसी दूसरे साधन की जरूरत होती है अर्थात प्रामाण्य का ज्ञान परतः होता है यह मानना चाहिये।

१ मूलजलादिज्ञानस्य। २ जलमरीचिका सर्परज्जुः। ३ अनुमानज्ञानेन अर्थक्रियाज्ञानेन वा कथंभूतेन स्वतःसिद्धप्रामाण्येन। ४ आद्यजलादिज्ञानम्। ५ ज्ञानोत्पत्तिसमये अनन्तरसमये वा। ६ स्वसंवेदनेन अर्थप्राकट्येन।

तस्मादभ्यासदशायां विज्ञानस्वरूपं येन निश्चीयते तेनैव तत्प्रामाण्यं निश्चीयते यथा स्वकीयकरतले रेखात्रयपञ्चाङ्गुलज्ञाने। अनभ्यासदशायां तु विज्ञानं[1] येन ज्ञायते ततोऽन्येन प्रमाणेन तत्प्रामाण्यं निश्चीयते। यथा जलमरीचिकासाधारणप्रदेशे जलज्ञानोत्पत्तौ इदं सत्यं जलं घटचेटिकापेटकवत्त्वात् दर्दुरारावत्त्वात् सरोजगन्धवत्त्वात् परीतशाड्वलादिमत्त्वाच्च परिदृष्टजलवत्। यथा च रज्जुसर्पसाधारणप्रदेशे सर्पज्ञानोत्पत्तौ अयं सर्प एव आतानवितानरेखाकृतपाण्डुराकारत्वात् हीयमानदीर्घपुच्छवत्त्वात् फूत्कारवत्त्वात् प्रसरत्स्फटादिमत्त्वाच्च परिदृष्टसर्पवत् इति स्वतःसिद्धप्रामाण्यादनुमानात्। अथवा स्नानपानावगाहनादिविनोदाद्यर्थक्रियाज्ञानात् स्वतःसिद्धप्रामाण्यात् प्राक्तनज्ञानस्य[2] प्रामाण्यं निश्चीयत इति अङ्गीकर्तव्यम्। तथा च प्रयोगः। जलमरीचिकासाधारणप्रदेशे जलज्ञानप्रामाण्यं विज्ञानज्ञापकेन न ज्ञायते[3] विज्ञानज्ञप्तिकालेऽज्ञातत्वात्। कुतः विज्ञानोत्पत्तिकाले स्वसंवेदनेनाज्ञातत्वात्। अनन्तरसमये अर्थप्राकट्येन ज्ञातत्वाच्च। व्यतिरेके[4] स्वकरतलज्ञानप्रामाण्यवत्। ननु अनभ्यस्तदशायां

तात्पर्य यह है कि जो सुपरिचित वस्तुएं है – जैसे कि हाथ की अंगुलिया या सरल रेखाएं – उन के ज्ञान के साथ ही उस ज्ञान का प्रामाण्य स्वतः ज्ञात होता है। किन्तु अपरिचित स्थिति में वस्तु के ज्ञान से प्रामाण्य के ज्ञान का साधन भिन्न होता है – यह ज्ञान परतः होता है। उदाहरणार्थ–रेगिस्तान में जल का ज्ञान होने पर यह ज्ञान प्रमाण है – मृगजल नही है – यह जानने के लिये पानी भरनेवाली दासिया मेंढकों का आवाज, कमलों का सुगन्ध, समीप मे होना आदि साधन सहायक होते है। तथा यह रस्सी है या साप है ऐसा सन्दिग्ध ज्ञान होने पर यह साप ही है ऐसे प्रामाण्य के ज्ञान के लिये सर्प का लम्बा उजला आकार, छोटी होते जानेवाली पूंछ, फूत्कार, फैली हुई फणा आदि सहायक साधन होते हैं। अथवा जल में स्नान आदि क्रियाओं द्वारा जल के ज्ञानका प्रामाण्य निश्चित होता है। तात्पर्य यह है कि जल का ज्ञान तथा प्रामाण्य का ज्ञान एक साथ नही

१ जलादिज्ञानम्। २ आद्यजलादिज्ञानस्य। ३ अतः परतः सिद्धा। ४ यच्च विज्ञानज्ञापकेन ज्ञायते तच्च विज्ञानज्ञप्तिकाले ज्ञातं भवति यथा स्वकरतलज्ञानप्रामाण्यम्।

परतः प्रामाण्यनिश्चयेऽप्यनवस्था भविष्यतीति चेन्न। परस्य[1] स्वतः प्रामाण्याङ्गीकारात्। एवमनुमानागमादीनामपि अभ्यासदशायां स्वतः प्रामाण्यनिश्चयः अनभ्यासदशायां परतः प्रामाण्यनिश्चय इति निरूपितं वेदितव्यम्। अप्रामाण्यपरिच्छित्तिस्तु सर्वेषां परत एव[2]। शुक्तिरजतादिज्ञानस्य बाधकप्रत्यक्षेणैव अप्रामाण्यनिश्चयात्। एवं बहिर्विषयापेक्षया प्रामाण्याप्रामाण्योत्पत्तिपरिच्छित्ती न्यरूरुपाम[3]।

[३८. ज्ञानस्य स्वसंवेद्यत्वम्।]

स्वरूपविषयापेक्षया सकलज्ञानानामप्रामाण्यं नास्त्येव। प्रामाण्योत्पत्तिपरिच्छित्ती तु स्वत एव भवतः। सकलज्ञानानां स्वसंवेदनत्वेन स्वरूपे संशयविपर्यासानध्यवसायाभावात्। ननु ज्ञानस्य स्वसंवेद्यत्वं नास्ति अनुमानविरोधात्। तथा हि। ज्ञानं न स्वसंवेद्यं शरीरात्मकत्वात् चर्मादिवदिति चेन्न। ज्ञानस्य शरीरात्मकत्वाभावेन हेतोरसिद्धत्वात्। तत् कथमिति चेत् ज्ञानं शरीरात्मकं न भवति चेतनत्वात् अमूर्तत्वात्

होते अतः यह प्रामाण्यज्ञान स्वतः नही होता -- परतः होता है। इसी प्रकार अनुमान तथा आगम का प्रामाण्य भी सुपरिचित अवस्था में स्वतः तथा अपरिचित अवस्था में परतः ज्ञात होता है। अप्रामाण्य का ज्ञान सिर्फ परतः ही होता है -- सींप को रजत मान लेने पर बाद में भ्रम दूर होने से उस ज्ञान का अप्रामाण्य ज्ञात होता है। इस प्रकार बाह्य विषयों की दृष्टि से प्रामाण्य के उत्पत्ति तथा ज्ञान का विचार किया।

३८. ज्ञान का स्वसंवेदन—अपने आत्मा के विषय में विचार किया जाय तो कोई भी ज्ञान अप्रमाण नही होता -- आत्मा के विषय के ज्ञान के प्रामाण्य की उत्पत्ति और उस का ज्ञान स्वतः ही होता है। स्वसंवेदन में संशय या विपर्यास या अनिश्चय सम्भव नही होता। ज्ञान शरीरात्मक है अतः त्वचा आदि के समान वह भी स्वसंवेद्य नही है यह अनुमान युक्त नही -- ज्ञान चेतन, अमूर्त, निरवयव, बाह्य इन्द्रियों से

१ अनुमानादेः। २ अप्रामाण्यपरिच्छित्तिस्तु अभ्यासदशाया स्वतः अनभ्यासदशाया परतः एव इति प्रमेयरत्नमालायामुक्तम्। ३ भावप्रमेयापेक्षाया प्रमाणाभासनिह्नवः। बहिःप्रमेयापेक्षाया प्रमाणं तन्निभं च ते॥

निरवयवत्वात् अनणुकत्वे सति बाह्येन्द्रियाग्राह्यत्वात् अजडत्वात् अर्थावबोधकत्वात् व्यतिरेके चर्मादिवत्[1]। ननु ज्ञानं न स्वसंवेद्यं शरीरकार्यत्वात् उच्छ्वासवदिति चेन्न। एतस्य हेतोरपि पूर्ववद्[2]सिद्धत्वात्। कुतः ज्ञानं शरीरकार्यं न भवति इत्यत्रापि उक्तहेतूनां समानत्वात्। ननु ज्ञानं न स्वसंवेद्यं शरीरगुणत्वात् रूपादिवदिति चेन्न। ज्ञानस्य शरीरगुणत्वासिद्धेः। कुतः ज्ञानं न शरीरगुणः चेतनत्वात् अणुद्व्यणुकानाश्रितत्वे[3] सति बाह्येन्द्रियाग्राह्यत्वात् अजडत्वात् स्वप्रतिबद्धव्यवहारे संशयादिव्युदासाय परानपेक्षत्वात् अर्थावबोधरूपत्वाच्च व्यतिरेके शरीररूपवदिति[4]। तस्मात् ज्ञानं स्वसंवेद्यम् अर्थसंवेदनरूपत्वात् स्वप्रतिबद्धव्यवहारे संशयादिव्युदासाय परानपेक्षत्वात् अजडत्वात् चिद्रूपत्वात् च व्यतिरेके पटादिवदिति[5] चार्वाकं प्रति ज्ञानस्य स्वसंवेदनत्वसिद्धिः।

ननु[6] ज्ञानं न स्वसंवेद्यं प्रकृतिपरिणामत्वात्[7] पटादिवदिति चेन्न। ज्ञानस्य प्रकृतिपरिणामत्वासिद्धेः। अथ ज्ञानं प्रकृतिपरिणामः उत्पत्तिमत्त्वात् पटादिवदिति[8] ज्ञानस्य प्रकृतिपरिणामत्वसिद्धिरिति चेन्न। अनु-

अग्राह्य है तथा शरीर अचेतन, मूर्त, सावयव, बाह्य इन्द्रियों से ग्राह्य है इस प्रकार इन दोनों की भिन्नता पहले स्पष्ट की है। इसी प्रकार ज्ञान को शरीर का कार्य अथवा शरीर का गुण मानने का भी पहले खण्डन किया है। अतः ज्ञान के स्वसंवेद्य होने मे यह कोई बाधा नही है। ज्ञान के विषय में कोई सन्देह हो तो उस का निराकरण ज्ञान द्वारा ही होता है – किसी दूसरे द्वारा नही होता अतः ज्ञान को स्वसंवेद्य मानना चाहिये – इस प्रकार चार्वाकों की आपत्ति का निराकरण हुआ।

अब सांख्यों की आपत्ति का विचार करते हैं। ज्ञान प्रकृति का परिणाम है (अतः जड है इस लिए)– वह वस्त्र आदि के ही समान

१ यच्छरीरात्मकं भवति तच्चेतनं न भवति यथा चर्मादि। २ ज्ञानं शरीरात्मकं न भवति चेतनत्वादित्यादयः। ३ अणुद्व्यणुकव्यतिरिक्ते सति। ४ यस्तु शरीरगुणः स न चेतनः यथा शरीररूपम्। ५ यत् स्वसंवेद्यं न भवति तत् अर्थवेदनरूपं न भवति यथा पटः। ६ अथ सांख्यः प्रत्यवतिष्ठते। ७ प्रकृतिरचेतनाज्ञानमपि सांख्यमते अचेतनम्। ८ यस्तु उत्पत्तिमान् स प्रकृतिपरिणामः यथा पटादिः।

भयेन हेतोर्व्यभिचारात्। कथम्। तस्योत्पत्तिमत्त्वेऽपि प्रकृतिपरिणामत्वाभावात्[1]। ननु ज्ञानं प्रकृतिपरिणामः अनुभवान्यत्वे सत्युत्पत्तिमत्त्वात् पटादिवदिति चेन्न। ज्ञानस्यानुभवान्यत्वासिद्धेः। तथा हि। ज्ञानमनुभवादन्यन्न भवति चेतनत्वात् व्यतिरेके पटादिवदिति। अथ ज्ञानस्य चेतनत्वमसिद्धमिति चेन्न। ज्ञानं चेतनम् अजडत्वात् स्वप्रतिबद्धव्यवहारे संशयादिव्युदासाय परानपेक्षत्वात् अर्थावबोधरूपत्वात् व्यतिरेके पटादिवत्[2] इति ज्ञानस्य चेतनत्वसिद्धेः। ननु ज्ञानं स्वसंवेद्यं न भवति प्रकृतिविकृतित्वात् रूपादिवदिति चेन्न। ज्ञानस्य प्रकृतिविकृतित्वाभावात्। कथं ज्ञानं न प्रकृतिविकृतिः चेतनत्वात् अजडत्वात् स्वप्रतिबद्धव्यवहारे संशयादिव्युदासाय परानपेक्षत्वात् अनुभववदिति। रूपादेरपि प्रकृतिविकृतित्वाभावात् साधनविकलो दृष्टान्तश्च। कुतस्तेषामहंकारजन्यत्वनिराकरणात् पञ्चभूतजनकत्वनिराकरणाच्च[3]। तस्मात् ज्ञानं स्वसंवेद्यं

स्वसंवेद्य नही है यह कहना उचित नही। ज्ञान को प्रकृति का परिणाम मानना ठीक नही। ज्ञान उत्पत्तियुक्त है अतः प्रकृति का परिणाम है यह कथन योग्य नही – साख्य मत मे अनुभव को उत्पत्तियुक्त तो माना है, किन्तु प्रकृति का परिणाम नही माना है। ज्ञान और अनुभव भिन्न नही हैं अतः ज्ञान को भी प्रकृति का परिणाम नही माना जा सकता। ज्ञान और अनुभव एकही है – वह चेतन है तथा उस के विषय के संशय को वही दूर कर सकता है। इसी प्रकार रूप आदि के समान ज्ञान को प्रकृति का विकार भी नही माना जा सकता क्यों कि वह चेतन है। दूसरे, रूप आदि भी प्रकृति के विकार-अहंकार से उत्पन्न या पंच महाभूतों के जनक नही है यह हम आगे स्पष्ट करेंगे। अतः ज्ञान के स्वसंवेद्य होने में साख्यों की आपत्ति युक्त नही है।

१ साख्यमते अनुभव उत्पत्ति मानस्तिपरंतु प्रकृतिपरिणामो नास्ति। २ यच्चेतनं न भवति तदजडं न भवति यथा पटादि। ३ रूपादीना प्रकृतेर्महांस्ततोहंकारः तस्मात् गुणश्च षोडशकः षोडशात् पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि इत्युक्तत्वात् तच्च निराकरणम् अग्रे प्रतिपादितमस्ति।

चेतनत्वात् अजडत्वात् स्वप्रतिबद्धव्यवहारे संशयादिव्युदासाय परानपेक्षत्वात् अनुभववत् अर्थावबोधरूपत्वात् व्यतिरेके पटादिवदिति[1] साख्यं प्रति ज्ञानस्य स्वसंवेदनत्वसिद्धिः।

ननु ज्ञानं स्वातिरिक्तवेदनवेद्यं[2] वेद्यत्वात् कलशवदिति चेन्न। तस्यापि विचारासहत्वात्। तथा हि। धर्मिग्राहकज्ञानं स्वसंवेद्यं परसंवेद्यं वा। स्वसंवेद्यत्वे तेनैव हेतोर्व्यभिचारः[3]। परसंवेद्यत्वेन तत्परस्यापि तथैवत्यनवस्था स्यात्। आकांक्षापरिक्षयान्नानवस्थेति चेत् तर्हि यत्र क्वापि विश्रान्तिस्तच्चरमज्ञानस्याप्रतिपत्तिस्तद[4]प्रतिपत्तौ द्विचरमादारभ्य धर्मिज्ञानपर्यन्तमप्रतिपत्तिरेव प्रसज्यते। तथा च धर्मिप्रतिपत्त्यभावादाश्रयासिद्धो हेत्वाभासः स्यात्। हेतुग्राहकस्याप्येवं विकल्पे हेतुरज्ञातासिद्धोऽपि स्यात्। तस्मात् ज्ञानं स्वयंप्रकाशकं[6] ज्ञानत्वात् अव्यव-

अब नैयायिकों की आपत्तियों का विचार करते हैं। इन के मतानुसार कलश आदि जो वस्तुएं ज्ञेय है वे किसी दूसरे ज्ञान द्वारा जानी जाती हैं, ज्ञान भी एक ज्ञेय है अतः उस का ज्ञान किसी दूसरे ज्ञान को होगा – उसी को नही हो सकेगा। किन्तु यह आपत्ति ठीक नही है। जब किसी अनुमान मे वादी धर्मी का वर्णन करता है या हेतु का प्रयोग करता है उस समय वह अपने इस धर्मि-ज्ञान या हेतु-ज्ञान को जानता है या नही? यदि जानता है तो यह स्वसंवेदन से भिन्न नही है। यदि कहें कि वादी के इस ज्ञान का ज्ञाता कोई दूसरा है तो इस दूसरे के ज्ञान का ज्ञाता कोई तीसरा और तीसरे के उस ज्ञान का ज्ञाता कोई चौथा मानना होगा – और यह अनवस्था दोष होता है। फिर यह सरलसी बात है कि जो अपने धर्मि-वर्णन या हेतु-प्रयोग को नही जानता वह अनुमान का प्रयाग नही कर सकेगा। अतः ज्ञान

१ यत् स्वसंवेद्यं न भवति तत् चेतनं न भवति। २ ज्ञानान्तरवेद्यम्। ३ धर्मिग्राहकज्ञानस्य वेद्यत्वेऽपि स्वातिरिक्तवेदनवेद्यत्वाभावः। ४ यतः परवेद्यं कथ्यते ततः अप्रतिपत्तिः अपरिच्छित्तिः। ५ हेतुग्राहकं ज्ञानं स्वसंवेद्यं परसंवेद्यं वा स्वसंवेद्यत्वे तेनैव हेतोर्व्यभिचारः इत्यादि सर्वं ज्ञेयम्। ६ स्वस्य प्रकाशकम्।

घानेन अर्थप्रकाशत्वात् ईश्वरज्ञानवत् ज्ञप्तित्वात् प्रमाणत्वात् व्यतिरेके चक्षुरादिवत्[1]। तथा ज्ञानं स्वसंवेद्यम् अस्मदादिप्रत्यक्षात्मगुणत्वात् व्यतिरेके संस्कारवत्[2]। अथ सुखादिभिर्हेतोर्व्यभिचार इति चेन्न[3]। तेषामपि तेनैव हेतुना[4] स्वसंवेदनत्वसिद्धेः। तथा हि सुखादिकं स्वसंवेद्यम् अस्मदादिप्रत्यक्षात्मगुणत्वात् व्यतिरेके संस्कारवदिति। ननु बुद्धयादीनां स्वसंवेद्यत्वेन प्रत्यक्षत्वाभावः किंतु अनुव्यवसायेनै[5]वेति चेन्न। अनुव्यवसायस्यान्येन प्रत्यक्षत्वं तस्याप्यन्येनेत्यनवस्थाप्रसंगात्। अनुमानबाधितत्वाच्च। तथा हि। आद्यं घटज्ञानं घटविषयज्ञानविष[6]यं घटविषयत्वात् घटस्मरणवदिति नैयायिकवैशेषिकान् प्रति ज्ञानस्य स्वसंवेद्यत्वसिद्धिः।

ननु वीतं ज्ञानं न स्वसंवेद्यं करणत्वा[7]च्चक्षुरादिवदिति चेन्न। अर्थप्राकट्येन हेतोर्व्यभिचारात्। तत्कथमिति चेत् करणज्ञानविषयानु-

स्वयंप्रकाशी है – खुद को जान सकता है। नैयायिक ईश्वर के ज्ञान को स्वयंप्रकाशी मानते ही हैं उसी प्रकार सभी के ज्ञान को स्वसंवेद्य मानना चाहिए। ज्ञान ऐसा गुण है जिसे हम प्रत्यक्ष से ही जानते हैं अतः वह स्वसंवेद्य है। आत्मा के सुख आदि गुण स्वसंवेद्य हैं उन्हीं में ज्ञान का भी अन्तर्भाव होता है। इस के विपरीत संस्कार आदि गुण स्वसंवेद्य नही हैं उन का प्रत्यक्ष से ज्ञान भी नही होता। बुद्धि से किसी ज्ञान का स्वसंवेदन नही होता – सिर्फ अनुव्यवसाय होता है – पूर्ववर्ती ज्ञान उत्तरवर्ती ज्ञान से जाना जाता है – यह कथन भी युक्त नही क्यों कि इस अनुव्यवसाय से ज्ञान के प्रत्यक्ष जाने जाने का स्पष्टीकरण नही होता। प्रत्युत पहला ज्ञान दूसरे द्वारा, दूसरा तीसरे द्वारा तथा तीसरा चौथे द्वारा जाना जाता है – यह अनवस्था दोष ही होता है। घट और घट का ज्ञान ये दोनों एक ही द्वारा जाने जाते हैं अतः ज्ञान का स्वसंवेद्य होना सिद्ध है।

१ यत् स्वयप्रकाशकं न तत् ज्ञानं न यथा चक्षुरादिः। २ स्वयंवेद्यो न भवति स अस्मदादिप्रत्यक्षात्मगुणोऽपि न भवति यथा सस्कारः। ३ सुखादीना अस्मदादिप्रत्यक्षात्मगुणत्वेऽपि स्वसंवेद्यत्वाभावादिति चैन्न। ४ सुखादिकं स्वसवेद्यम् अस्मादादिप्रत्यक्षात्मगुणत्वात्। ५ उत्तरघटज्ञानेन पूर्वघटज्ञानस्या प्रत्यक्षत्वम् अनुव्यवसायः। ६ यः घटज्ञाने न विषयः। ७ आह मते करणज्ञानं परोक्षं फलज्ञानं प्रत्यक्षम्।

मितघुत्पत्तौ अर्थप्राकट्यस्य करणत्वेऽप्यस्वसंवेद्यत्वाभावात्। तस्मात् करणज्ञानं स्वसंवेद्यम् अव्यवधानेनार्थप्राकट्यजनकत्वात् अव्यवधानेन ज्ञप्तिकरणत्वात् परनिरपेक्षतया आत्मप्रकाशत्वात् व्यतिरेके चक्षुरादिवदि[1]ति भाट्टं प्रति ज्ञानस्य स्वसंवेदनत्वसिद्धिः। अन्येषां[2] तत्स्वसंवेदनज्ञाने विप्रतिपत्त्यभावात् तान् प्रति न किंचिदुच्यते।

एवं ज्ञानस्य स्वसंवेद्यत्वात् स्वरूपे अप्रामाण्याभाव एव। तत्र प्रामाण्योत्पत्तिपरिच्छित्ती अपि स्वत एवेति स्थितम्। तदुक्तं समन्तभद्रस्वामिभिः

भावप्रमेयापेक्षायां प्रमाणाभासनिह्नवः।
बहिःप्रमेयापेक्षायां प्रमाणं तन्निभं च ते ॥ इति।
(आप्तमीमांसा का. ८३)

ज्ञान करण है – जानने का साधन है – अतः चक्षु आदि के समान वह भी अपने आप को नही जान सकता – यह मीमांसकों का आक्षेप है। किन्तु यह अयोग्य है। किसी पदार्थ का स्पष्ट ज्ञान होता है और फिर इस ज्ञान का अनुमान में उपयोग किया जाता है उस समय यह ज्ञान करण तो होता है – अनुमान का साधन होता है – किन्तु स्वसंवेद्य भी होता है – यदि उस का वक्ता को संवेदन न हो तो अनुमान मे उस का प्रयोग सम्भव नही होगा। अतः करण होने और स्वसंवेद्य होने में विरोध नही है। ज्ञान करण होने पर भी उसे जानने के लिये किसी दूसरे सहायक की जरूरत नही होती अतः यह स्वसंवेद्य है।

इस प्रकार ज्ञान अपने स्वरूप के विषय में हो तो कभी अप्रमाण नही होता। तथा स्वरूप-विषयक ज्ञान का प्रामाण्य भी स्वतः ही ज्ञात होता है। इसी लिए समन्तभद्र स्वामीने कहा है – 'भावप्रमेय (स्वरूप के विषय) की अपेक्षा से प्रमाणभास का अस्तित्व नही होता। बाह्य प्रमेय की अपेक्षा से प्रमाण तथा प्रमाणाभास दोनों का अस्तित्व मान्य है।'

१ यत् स्वसंवेद्यं न तत् अव्यवधानेनार्थप्राकट्यजनकं न यथा चक्षुरादि। २ बौद्धादीनाम्।

घानेन अर्थप्रकाशत्वात् ईश्वरज्ञानवत् ज्ञप्तित्वात् प्रमाणत्वात् व्यतिरेके चक्षुरादिवत्[1]। तथा ज्ञानं स्वसंवेद्यम् अस्मदादिप्रत्यक्षात्मगुणत्वात् व्यतिरेके संस्कारवत्[2]। अथ सुखादिभिर्हेतोर्व्यभिचार इति चेन्न[3]। तेषामपि तेनैव हेतुना[4] स्वसंवेदनत्वसिद्धेः। तथा हि सुखादिकं स्वसंवेद्यम् अस्मदादिप्रत्यक्षात्मगुणत्वात् व्यतिरेके संस्कारवदिति। ननु बुद्ध्यादीनां स्वसंवेद्यत्वेन प्रत्यक्षत्वाभावः किंतु अनुव्यवसायेनैवेति चेन्न। अनुव्यवसायस्यान्येन प्रत्यक्षत्वं तस्याप्यन्येनेत्यनवस्थाप्रसंगात्। अनुमानबाधितत्वाच्च। तथा हि। आद्यं घटज्ञानं घटविषयज्ञानविष[5]यं घटविषयत्वात् घटस्मरणवदिति नैयायिकवैशेषिकान् प्रति ज्ञानस्य स्वसंवेद्यत्वसिद्धिः।

ननु वीतं ज्ञानं न स्वसंवेद्यं करणत्वा[6]च्चक्षुरादिवदिति चेन्न। अर्थप्राकट्येन हेतोर्व्यभिचारात्। तत्कथमिति चेत् करणज्ञायविषयानु-

स्वयंप्रकाशी है – खुद को जान सकता है। नैयायिक ईश्वर के ज्ञान को स्वयंप्रकाशी मानते ही हैं उसी प्रकार सभी के ज्ञान को स्वसंवेद्य मानना चाहिए। ज्ञान ऐसा गुण है जिसे हम प्रत्यक्ष से ही जानते हैं अतः वह स्वसवेद्य है। आत्मा के सुख आदि गुण स्वसंवेद्य हैं उन्हीं में ज्ञान का भी अन्तर्भाव होता है। इस के विपरीत संस्कार आदि गुण स्वसंवेद्य नही हैं उन का प्रत्यक्ष से ज्ञान भी नही होता। बुद्धि से किसी ज्ञान का स्वसवेदन नही होता – सिर्फ अनुव्यवसाय होता है – पूर्ववर्ती ज्ञान उत्तरवर्ती ज्ञान से जाना जाता है – यह कथन भी युक्त नही क्यों कि इस अनुव्यवसाय से ज्ञान के प्रत्यक्ष जाने जाने का स्पष्टीकरण नही होता। प्रत्युत पहला ज्ञान दूसरे द्वारा, दूसरा तीसरे द्वारा तथा तीसरा चौथे द्वारा जाना जाता है – यह अनवस्था दोष ही होता है। घट और घट का ज्ञान ये दोनों एक ही द्वारा जाने जाते हैं अतः ज्ञान का स्वसंवेद्य होना सिद्ध है।

१ यत् स्वयंप्रकाशक न तत् ज्ञानं न यथा चक्षुरादिः। २ स्वयंवेद्यो न भवति स अस्मदादिप्रत्यक्षात्मगुणोऽपि न भवति यथा सस्कारः। ३ सुखादीना अस्मदादिप्रत्यक्षात्मगुणत्वेऽपि स्वसंवेद्यत्वाभावादिति चेन्न। ४ सुखादिक स्वसवेद्यम् अस्मादादिप्रत्यक्षात्मगुणत्वात। ५ उत्तरघटज्ञानेन पूर्वघटज्ञानस्या प्रत्यक्षत्वम् अनुव्यवसायः। ६ यः घटज्ञाने न विषयः। ७ आह मते करणज्ञानं परोक्षं फलज्ञान प्रत्यक्षम्।

भिरव्युत्पत्तौ अर्थप्राकट्यस्य करणत्वेऽप्यस्वसंवेद्यत्वाभावात्। तस्मात् करणज्ञानं स्वसंवेद्यम् अव्यवधानेनार्थप्राकट्यजनकत्वात् अव्यवधानेन ज्ञप्तिकरणत्वात् परनिरपेक्षतया आत्मप्रकाशत्वात् व्यतिरेके चक्षुरादिवदि[1]ति भाट्टं प्रति ज्ञानस्य स्वसंवेदनत्वसिद्धिः। अन्येषां[2] तत्स्वसंवेदनज्ञाने विप्रतिपत्त्यभावात् तान् प्रति न किंचिदुच्यते।

एवं ज्ञानस्य स्वसंवेद्यत्वात् स्वरूपे अप्रामाण्याभाव एव। तत्र प्रामाण्योत्पत्तिपरिच्छित्ती अपि स्वत एवेति स्थितम्। तदुक्तं समन्तभद्रस्वामिभिः

भावप्रमेयापेक्षायां प्रमाणाभासनिह्नवः।
बहिःप्रमेयापेक्षायां प्रमाणं तन्निभं च ते ॥ इति।
(आप्तमीमांसा का. ८३)

ज्ञान करण है – जानने का साधन है – अतः चक्षु आदि के समान वह भी अपने आप को नही जान सकता – यह मीमांसकों का आक्षेप है। किन्तु यह अयोग्य है। किसी पदार्थ का स्पष्ट ज्ञान होता है और फिर इस ज्ञान का अनुमान में उपयोग किया जाता है उस समय यह ज्ञान करण तो होता है – अनुमान का साधन होता है – किन्तु स्वसंवेद्य भी होता है – यदि उस का वक्ता को संवेदन न हो तो अनुमान मे उस का प्रयोग सम्भव नही होगा। अतः करण होने और स्वसंवेद्य होने मे विरोध नही है। ज्ञान करण होने पर भी उसे जानने के लिये किसी दूसरे सहायक की जरूरत नही होती अतः वह स्वसंवेद्य है।

इस प्रकार ज्ञान अपने स्वरूप के विषय में हो तो कभी अप्रमाण नही होता। तथा स्वरूप-विषयक ज्ञान का प्रामाण्य भी स्वतः ही ज्ञात होता है। इसी लिए समन्तभद्र स्वामीने कहा है – ‘भावप्रमेय (स्वरूप के विषय) की अपेक्षा से प्रमाणभास का अस्तित्व नही होता। बाह्य प्रमेय की अपेक्षा से प्रमाण तथा प्रमाणाभास दोनों का अस्तित्व मान्य है।’

१ यत् स्वसंवेद्यं न तत् अव्यवधानेनार्थप्राकट्यजनकं न यथा चक्षुरादि।
२ बौद्धादीनाम्।

[३९. माध्यमिकानां बाह्यपदार्थाभाववादः तन्निरासश्च ।]

अथ[1] मतं बहिःप्रमेयापेक्षायां प्रमाणं तन्निभं च ते इति कथंकारं[2] कथ्यते । बहिःप्रमेयस्यै[3]वासंभवात् । तथाहि । घटोऽस्तीति केन ज्ञायते । ज्ञानमात्रेण घटज्ञानेन वा । ज्ञानमात्रेण चेदतिप्रसंगः पटलकुटशकटादिज्ञानेन घटाभावज्ञानेनापि[4] घटोऽस्तीति निश्चयप्रसंगात् । अथ घटज्ञानेन घटोऽस्तीति निश्चीयत इति चेन्न । इतरेतराश्रयप्रसंगात् । ज्ञानस्य घटनिश्चायकत्वे सति घटनिश्चयः घटज्ञानत्वे सति घटनिश्चायकत्वमिति । तस्मात् घटादिबहिरर्थनिश्चायकप्रमाणाभावात् बहिः प्रमेयाभाव एव । तथा च प्रयोगः । वीताः प्रत्ययाः निरालम्बनाः प्रत्ययत्वात् शुक्तौ रजतप्रत्ययवत्[5] । अथ शुक्तौ रजतप्रत्ययस्य निरालम्बनत्वाभावात् साध्यविकलो दृष्टान्त इति चेन्न । वीतो विषयः असन्नेव भ्रान्तिविषयत्वात् स्वप्नव्योमभक्षणवत् । तथा वीतो विषयः असन्नेव अर्थक्रियासमर्थत्वात् तत्राविद्यमानत्वात् खपुष्पवत् । तथा नेदं रजतमिति ज्ञानं प्रागप्यसत्त्वावेदकम् अबाधितप्रतिषेधप्रत्ययत्वात् निर्विषाणं खरमस्तकमिति

३९. माध्यमिकों का निराकरण— माध्यमिक बौद्धों का कथन है कि विश्व मे बाह्य पदार्थ ही नही हैं अतः उन के विषय मे प्रमाण या प्रमाणाभास का प्रश्न नही उठता । वे प्रश्न करते है कि घट का ज्ञान सिर्फ ज्ञान से होता है या विशिष्ट घटज्ञान से होता है ? यदि सिर्फ ज्ञान से घट का ज्ञान होता है तो पट-ज्ञान से भी घट का ज्ञान होना चाहिये किन्तु ऐसा होता नही है । घटज्ञान से घट का ज्ञान होता है यह कहना परस्पराश्रय है क्यों कि घट को जाने विना घटज्ञान का अस्तित्व सम्भव नही है । अतः घट आदि बाह्य पदार्थों का निश्चय किसी प्रमाण से नही हो सकता । घट आदि का जो ज्ञान प्रतीत होता है वह सब सींप मे प्रतीत होनेवाली चादी के समान अथवा स्वप्न मे आकाश के भक्षण के समान निराधार है ! ये सब पदार्थ आकाश के फूल के समान या गर्दभ के सींग के समान शून्यरूप हैं क्यों कि इन से कोई अर्थक्रिया सम्भव नही

१ विज्ञानाद्वैतवादी । २ कथमित्यर्थः । ३ बहिःप्रमेयं घटपटादिकम् । ४ तत्रापि ज्ञानमात्रं वर्तते । ५ शुक्तौ रजतज्ञान निरालम्बनम् ।

ज्ञानव[1]दित्यसत्ख्यातिसमर्थनेन शुक्तौ रजतज्ञानस्य निरालम्बनत्व-सिद्धेः। तथा च सर्वप्रत्ययानां निरालम्बनत्वसिद्धौ बहिःप्रमेयस्याभावात् कथं विश्वतत्त्वप्रकाशायेति नमस्कारश्लोकस्याद्यविशेषणं जाघटयत इति माध्यमिकाः[2] प्रत्यवोचन्।

तदयुक्तं विचारासहत्वात्। व्याप्तिबलमवलम्ब्य परस्यानिष्टापादनं तर्कः। स च आत्माश्रय इतरेतराश्रयः चक्रकाश्रयः अनवस्था अतिप्रसंग इति पञ्चधा भिद्यते। तत्र मूलशैथिल्यं मिथो[3] विरोधः इष्टापादनं विपर्यये अपर्यवसानमिति तर्कदोषाश्चत्वारः। प्रमाणे असिद्धादिदोषवत्। तथा च घटोऽस्तीति केन निश्चीयते ज्ञानमात्रेण घटज्ञानेन वा, प्रथमपक्षे अतिप्रसंगः, द्वितीयपक्षे इतरेतराश्रयप्रसंग इति वदता वादिना[4] तर्काभासावेवोपन्यस्तौ। विपर्यये अपर्यवसानमित्येतद् दोषदुष्टत्वात्। अथ प्रथमपक्षे तस्माद्-घटज्ञानेन घटोऽस्तीति निश्चीयते इति विपर्यये पर्यवसानं क्रियत[5] इति

है। जब विश्व मे पदार्थ ही नही है तब 'सब तत्त्वों के प्रकाशक' यह इस ग्रन्थ के मंगलाचरण का शब्द निरर्थक सिद्ध होता है।

माध्यमिकों का यह कथन हमे अयुक्त प्रतीत होता है। उन्हों ने तर्क से प्रतिवादी के मत का विरोध किया है। व्याप्ति के आधार से प्रतिवादी को अनिष्ट बात सिद्ध करना तर्क कहलाता है। आत्माश्रय, इतरेतराश्रय, चक्रक, अनवस्था तथा अतिप्रसग ये तर्क के पाच प्रकार है। किन्तु तर्क के भी चार दोष होते हैं – मूल प्रतिपादन शिथिल होना, कथन में परस्पर विरोध होना, प्रतिवादी को इष्ट बात स्वीकार करना तथा उस के प्रतिकूल बात सिद्ध न करना। माध्यमिकों ने उपर्युक्त कथन मे 'पट-ज्ञान से घट का ज्ञान होगा' यह अतिप्रसंग तथा 'घटज्ञान से घटका ज्ञान होगा' यह इतरेतराश्रय ऐसे दो तर्क प्रस्तुत किए है। ये दोनों तर्क दूषित हैं क्यों कि इन से प्रतिवादी के विरुद्ध तत्त्व सिद्ध नही होता। 'पट-ज्ञान से घट है यह प्रतीत होगा' यह कथन विरुद्ध तत्त्व को

१ यथा निर्विषाणं खरमस्तकमिति ज्ञानम् असत्त्वावेदकं तथा। २ अर्थो ज्ञान-समन्वितो मतिमता वैभाषिकेणादृतः, प्रत्यक्षं न हि बाह्यवस्तुविषयं सौत्रान्तिकेणादृतम्। यौगाचारमतानुसारिमतयः साकारबुद्धिं परे मन्यन्ते खलु मध्यमा जडधियः। ३ परस्परम्। ४ विज्ञानाद्वैतवादिना। ५ पटज्ञानेनैव लकुटज्ञानेनैव इति पर्यवसानं नास्ति।

चेन्न। तथापीष्टापादनमि[1]त्येतद्दोषदुष्टत्वेन अतिप्रसंगस्य तर्काभासत्वात्। तथा द्वितीयपक्षेऽपि[3] तस्मादितरज्ञानेन[4] घटोऽस्तीति निश्चीयत इति विपर्यये पर्यवसानं कर्तव्यं तथा सति प्रत्यक्षबाधितत्वेन विपर्यये[5] पर्यवसानासंभवात् तर्काभासत्वमेव भवदुक्तेतरेतराश्रयस्येति। किं च। ज्ञानेन ज्ञेयं निश्चीयते प्रकाशकप्रदीपादिना प्रकाश्यप्रकाशवत्[6]। न च तस्य घटादिविशेषणतया[7] प्रकाशनमस्ति। तद्वदुत्पन्नं ज्ञानमपि घटादिविशेषणमन्तरेणैव[8] योग्यदेशकालावस्थितानेकार्थान् निश्चिनोतीति एकज्ञानेनैकार्थग्रहणाभाव[9] एव। तत् कथमिति चेत् एकद्रव्यग्रहणेऽपि सत्तादिजातीनां संख्यादिगुणानां देशकालादीनां च ग्रहणात् एकगुणादिग्रहणेऽपि तदाश्रयाश्रितादीनामपि ग्रहणाच्च। ननु एवं चेदेकज्ञानेन सकलार्थग्रहणं प्रसज्यत इति चेत् तदस्त्येव केवलज्ञानेनैकेन

सिद्ध नही करता क्यों कि ‘ घट है ’ यह हमे अमान्य नही है। दूसरे, ‘ पट-ज्ञान से घट का ज्ञान होता है ’ यह विरुद्ध तत्त्व प्रत्यक्ष से ही बाधित है अतः माध्यमिक उस का सहारा नही ले सकते। (यह तान्त्रिक विवाद छोडकर विचार करे तो) तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार प्रकाश साधारण रूप से सभी वस्तुओं को प्रकाशित करता है उसी प्रकार ज्ञान साधारण रूप से सब वस्तुओं को जानता है। जैसे घट का प्रकाश, पट का प्रकाश यह भेद करना सम्भव नही वैसे घट का ज्ञान, पट का ज्ञान ये भिन्न मानना योग्य नही। एक ही ज्ञान योग्य समय तथा प्रदेश में स्थित अनेक पदार्थों को जानता है। एक घट के ज्ञान में भी अस्तित्वादि सामान्य, संख्यादि गुण तथा स्थान, समय आदि कई बातों का ज्ञान समाविष्ट रहता है। तब एक ही ज्ञान सब पदार्थों को क्यों नही जानता यह आक्षेप योग्य नही क्यों कि सब पदार्थों को जाननेवाले एक केवल ज्ञान का अस्तित्व जैन दर्शन को मान्य ही है। फिर सभी

१ अघटज्ञाने घटोऽस्तीति विपर्ययः। २ घटोऽस्तीति अस्माकं जैनानामिष्टमेव। ३ घटज्ञानेन वा इति। ४ अघटज्ञानेन। ५ अघटज्ञानेन घटोऽस्तीति विपर्यये। ६ यथा प्रदीपादिना प्रकाश्यवस्तुनः प्रकाशः निश्चीयते। ७ प्रदीपः घटप्रकाशकः प्रदीपः पटप्रकाशकः इति नियमो नास्ति। ८ ज्ञानं घटविषय वा पटविषय वा इति विशेषणमन्तरेण। ९ घटज्ञानेन घट एव गृह्यते पटज्ञानेन पट एव गृह्यते इति नियमाभावः।

सकलार्थग्रहणम्। अथ तथा सकलात्मज्ञानानामनियतविषयत्वेन[1] सकलार्थग्रहणप्रसंगात् सर्वस्य सर्वज्ञतापत्तिरिति चेन्न। स्वावरणविगमानुरूपयोग्यतया सकलज्ञानानां प्रतिनियतार्थव्यवस्थोपपत्तेः। आवरणं च अज्ञानकारणं सुप्रसिद्धमेव। तथा च घटज्ञानेनान्यज्ञानेन वा घटो गृह्यते इति विकल्पस्यावकाश एव न स्यात्।

यदप्यन्यदनुमानम् अचर्चत्-वीताः प्रत्ययाः निरालम्बनाः प्रत्ययत्वात् शुक्तौ रजतप्रत्ययवदिति-तदचार्चिताभिधानं विचारासहत्वात्। तथा हि स्वसंवेदनप्रत्ययेन व्यभिचारस्तावत्[2]। धर्मिग्राहकं प्रमाणं निरालम्बनं सालम्बनं वा। सालम्बनत्वे तेनैव हेतोर्व्यभिचारः[3]। निरालम्बनत्वे हेतोः स्वरूपासिद्धत्वम्। दृष्टान्तग्राहकस्यापि[4] सालम्बनत्वे तेनैव हेतोर्व्यभिचारः निरालम्बनत्वे आश्रयहीनो दृष्टान्तः स्यात्। शुक्तौ रजतज्ञानस्य निरालम्बनत्वाभावात् साध्यविकलो दृष्टान्तश्च। तथा हि। वीतं रजतज्ञानं निरालम्बनं न भवति। पुरोवर्तिचकचकायमानशुक्लभासुररूपवस्तुविषय-

आत्माओं को सब पदार्थों का ज्ञान क्यों नही होता इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जिस ज्ञान का आवरण जितना दूर होता है उतने ही पदार्थों का उसे ज्ञान होता है। विभिन्न आत्माओं के अज्ञान-आवरण विभिन्न हैं अत: उन्हें विभिन्न संख्या मे पदार्थों का ज्ञान होता है। अतः घट का ज्ञान सिर्फ ज्ञान से होता है या घटज्ञान से होता है ये विकल्प करना व्यर्थ है।

सींप में चादी का ज्ञान निराधार है उसी प्रकार सब ज्ञान निराधार है यह अनुमान भी योग्य नही। स्वसंवेदन ज्ञान का अस्तित्व इस के विरुद्ध है। वादी अनुमान में धर्मी का वर्णन करता है यह धर्मी का ज्ञान भी यदि निराधार हो तो अनुमान व्यर्थ होगा। यदि यह ज्ञान साधार है तो सब ज्ञानों को निराधार कैसे कह सकते हैं? दृष्टान्त का ज्ञान भी यदि निराधार हो तो अनुमान-प्रयोग असम्भव होगा। दूसरे, सींप मे चादी

१ एकज्ञानेन घट एव गृह्यते इति नियतविषयत्वम् एकज्ञानेन बहूना विषयत्वम् इति अनियतविषयत्वम। २ स्व वेदयतीति स्वसवेदनम् इत्युक्ते स्वम् आलम्बनं जातम्। ३ धर्मिग्राहकस्य प्रमाणस्य प्रत्ययत्वेऽपि निरालम्बनत्वाभाव। ४ दृष्टान्तग्राहक प्रमाणं सालम्बन निरालम्बन वा सालम्बनत्वे इत्यादि।

त्वात्[1] संप्रतिपन्नज्ञानवदिति[2]। यदप्यत्राभ्यधायि वीतो विषयः असन्नेव भ्रान्तिविषयत्वात् स्वप्नव्योमभक्षणवदिति शुक्तौ रजतज्ञानस्य निरालम्बनत्वसिद्धेर्न साध्यविकलो दृष्टान्त इति तदसत्। धर्मिणः[3] प्रमाणगोचरत्वे हेतोः स्वरूपासिद्धत्वात्। कथं प्रमाणगोचरे वस्तुनि भ्रान्तिविषयत्वाभावात् धर्मिणः प्रमाणगोचरत्वाभावे हेतोराश्रयासिद्धत्वाच्च। एतेन यदप्यन्यदनुमानद्वयमभ्यधायि-वीतो विषयः असन्नेव अर्थक्रियायाम् असमर्थत्वात्[4] तत्राविद्यमानत्वात् खपुष्पवदिति-तदपि निरस्तम्। धर्मिणः प्रमाणगोचरत्वे तदगोचरत्वे चोक्तदोषस्य एतदनुमानद्वयेऽपि समानत्वात्। किं च शुक्तिरजतद्रष्टुः पुरुषस्य संतोषेष्टसाधनानुमानतद्देशोपसर्पणाद्यर्थक्रियाकारित्वसद्भावेन अर्थक्रियायाम् असमर्थत्वादित्यसिद्धो हेत्वाभासः। तत्राविद्यमानत्वादित्ययमपि हेतुः साध्यसमत्वेनासिद्ध[5] एव स्यात्। यदप्यन्यदनुमानं प्रत्यपादि – तथा नेदं रजतमिति ज्ञानं प्रागभ्यसत्त्ववेद-

का ज्ञान निराधार नही होता अतः इस अनुमान का उदाहरण भी दोषयुक्त है। सामने पडी हुई चमकीली सफेद तेजस्वी रंग की वस्तु (सीप) आधारभूत होने पर ही यह चादी का ज्ञान होता है अतः यह निराधार नही है। स्वप्न मे आकाश के भक्षण के समान ये विषय भ्रममूलक है यह कथन भी योग्य नही। यदि सभी विषय भ्रममूलक हों तो अनुमान मे धर्मी का वर्णन भी भ्रममूलक होगा – फिर उसे प्रमाणसिद्ध नही कह सकेंगे। तदनुसार सब अनुमान भी भ्रमजनक ही होंगे। ये विषय अर्थक्रिया मे असमर्थ है अतः असत् है यह कहना भी ठीक नही क्यों कि सीप मे चादी के ज्ञान से भी चादी देख कर प्रसन्न होना, उस के समीप जाना, उसे उठा कर देखना आदि अर्थक्रिया होती है। ये विषय अविद्यमान है अत असत् है यह कथन भी उपयुक्त नही। अविद्यमान होना और असत् होना ये दोनों एकही है अतः एक को दूसरे का कारण बतलाना

१ शुक्तिलक्षणवस्तु तदेव विषयो यस्य रजतज्ञानस्य। २ यथा संप्रतिपन्नज्ञानस्य पुरोवर्तिपदार्थः विषयः स तु आलम्बनं। ३ वीतो विषयः इति धर्मी स तु प्रमाणगोचरः अप्रमाणगोचरो वा। ४ शुक्तौ रजतज्ञानं वर्तते तत् किं अर्थक्रियासमर्थम् अपि तु न तस्मात् अर्थक्रिया-असमर्थत्वात्। ५ असन् इति साध्यम् अविद्यमानत्वमपि असत् इति साध्यसमत्वम्।

कम् अबाधितप्रतिषेधप्रत्ययत्वात् निर्विषाणं खरमस्तकमिति प्रत्ययवत्[1] इत्यसत्ख्यातिसमर्थनेन शुक्तौ रजतज्ञानस्य निरालम्बनत्वसिद्धिरिति तदप्यसमञ्जसं[2] सिद्धसाध्यत्वेन हेतोरकिंचित्करत्वात्। कुतस्तथाविधासत्ख्यातेरस्माभिरङ्गीकृतत्वात्। एवं चेत्[3] शुक्तिरजतज्ञानस्य निरालम्बनत्वसिद्धिरिति चेन्न। पुरोवर्तिचकचकायमानशुक्लभासुररूपविशिष्टपदार्थस्य[4] तदालम्बनत्वेन[5] प्रतीयमानत्वात्। तथा हि। वीतं ज्ञानं निरालम्बनं न भवति प्रतीयमानविषयत्वात् संप्रतिपन्नज्ञानवत्। तथा वीतो विषयः असन् न भवति प्रतिभासमानत्वात् जिघृक्षाविषयत्वात् प्रवृत्तिविषयत्वाच्च व्यतिरेके खपुष्पवदिति[6] शुक्तिरजतादिज्ञानस्यापि सालम्बनत्वसिद्धिः। तस्मात् घटशब्दः तत्स्वाभिधेयवाचकः अखण्डपदत्वात् ज्ञानशब्दवदिति पृथिव्यप्तेजोवायुकालाकाशादिबहिःप्रमेयस्य प्रमाणप्रसिद्धत्वात् विश्वतत्त्वप्रकाशायेति नमस्कारश्लोकस्याद्यं विशेषणं सुखेन जाघट्यते। ततश्च 'बहिःप्रमेयापेक्षायां प्रमाणं तन्निभं च ते' इति युक्तमेवोक्तमाचार्यवर्येण[7]।

उचित नही। 'यह चादी नहीं है' यह बाद में उत्पन्न होनेवाला ज्ञान पहले भी उस विषय के अभाव को सूचित करता है यह कथन तो ठीक है क्यों कि यहा चादी का अभाव हमें भी मान्य है। किन्तु इस से इस ज्ञान को निराधार नही कहा जा सकता – सामने पडी हुई तेजस्वी चमकीली सफेद चीज (सीप) इस ज्ञान का आधार विद्यमान ही है। इसे उठाने की इच्छा तथा तदनुसार प्रवृत्ति होना इस बात का स्पष्ट गमक है कि यह ज्ञान निराधार नही है तात्पर्य यह है कि घट आदि शब्द अपने अपने अर्थ के वाचक हैं। अतः ज्ञान के समान ही पृथिवी, जल, वायु, तेज, आकाश, काल आदि बाह्य पदार्थ भी प्रमाणसिद्ध हैं। अत एव आचार्य का यह कथन – 'बाह्य प्रमेय की अपेक्षा प्रमाण तथा प्रमाणाभास दोनों का अस्तित्व मान्य है' तथा मंगलाचरण का 'सब तत्त्वों के प्रकाशक' यह विशेषण ये दोनों उचित सिद्ध होते है।

१ असत्त्वावेदकम्। २ न साधु। ३ असत्ख्यातिरङ्गीक्रियते युष्माभिर्जैनैरिति चेत्। ४ शुक्तिलक्षणस्य। ५ रजतज्ञान। ६ यः असन् भवति स प्रतिभासमानो न भवति यथा खपुष्पम्। ७ समन्तभद्रेण।

[४०. योगाचारमंमता आत्मख्यातिः तन्निरासश्च ।]

ननु[1] तदयुक्तमेवोक्तमाचार्यवर्येण बहिःप्रमेयस्यैवासंभवात्। कुत इति चेत् ज्ञानाकारस्यैव अनादिवासनावशाद् बहिराकारोपेतत्वेन प्रतीयमानत्वात्। तथा च प्रयोगः। वीताः पृथिव्यादयः ज्ञानाद्व्यतिरिक्ताः[2] प्रतिभासमानत्वात् शुक्तिरजतवदिति। तत्र शुक्तौ रजतं विद्यते चेत् तद्देशोपसर्पणे तदर्थिभिस्तदुपलभ्येतैव न बाध्येत तत्र रजताभावेन प्रतिभासेत खरविषाणवत्। तथा च पुरोदेशे अभावेऽपि प्रतिभासमानं रजतं कुतस्त्यमिति विचारे ज्ञानाकारमेव अनादिवासनावशाद् बहिराकारोपेतं सत् पुरोदेशे प्रतीयत इति जाघटीति। शङ्खे चक्षुर्गते पित्तपीतिमारोपवत्, क्षीरे जिह्वागततिक्तारोपवत्। तथैव प्रयोगः। वीतं रजतं संविदाकारम्[3] इन्द्रियसंप्रयोगमन्तरेणापरोक्षत्वात् संवेदनस्वरूपवत्। तथा वीतं रजतं ज्ञानादव्यतिरिक्तं प्रतिभासमानत्वात् संवेदनस्वरूपवदिति योगाचाराः आत्मख्यातिं प्रत्यवातिष्ठिपन्।

तेप्यऽतत्त्वज्ञाः तदुक्तस्य सर्वस्य विचारासहत्वात्। तथा हि। बहिरर्थाभावे सम्यग्ज्ञानमिथ्याज्ञानविभागो न स्यात्। संवादविसंवाद-

४०. योगाचार मत का निरास—अब बाह्य पदार्थों के अभाव के समर्थक योगाचार बौद्धों के मत का विचार करते है। इन के मतानुसार अनादि वासना के वश से ज्ञान के ही विभिन्न आकार बाह्य रूप धारण करते प्रतीत होते है। सीप को देख कर 'यह चादी है' इस प्रकार ज्ञान का ही आकार प्रतीत होता है – क्यों कि समीप जाने पर चादी प्राप्त नही होती। चादी न होते हुए भी प्रतीत होती है इस का स्पष्टीकरण यही है कि यह वासना के वश से ज्ञान को प्राप्त हुए आकार से भिन्न नही है। जैसे आख मे शंख रोग होने पर बाहर के पदार्थ पीले दिखाई देते है अथवा जीभ कडवी होने पर दूध कडवा लगता है उसी प्रकार वासना के वश से बाह्य पदार्थ प्रतीत होते हैं – वास्तव में उन का अस्तित्व नही होता। जो भी प्रतीत होता है वह सब ज्ञान से अभिन्न है।

योगाचार दार्शनिकों का यह प्रतिपादन अयुक्त है। यदि बाह्य पदार्थों का अभाव माना जाय तो सम्यक ज्ञान और मिथ्या ज्ञान मे कोई

१ विज्ञानाद्वैतवादी। २ अभिन्नाः। ३ संविदः आकारो यस्मिन्।

विभागासंभवात्। कुतः। ज्ञानानां स्वस्वरूपे विसंवादासंभवात्। किं च पृथिव्यादीनां संविदाकारत्वे इदंतया प्रतिभासो न स्यात् किंतु अहमहमिकया प्रतिभास एव स्यात्। न चैवं, तस्मान्न संविदाकाराः पृथिव्यादयः। यदप्यनुमानमवोचत्-वीताः पृथिव्यादयः ज्ञानादव्यतिरिक्ताः प्रतिभासमानत्वात् शुक्तिरजतवदिति तदसमञ्जसं प्रतिभासमानत्वस्य हेत्वाभासत्वात्। तथा हि। पृथिव्यादीनां प्रतिभासमानत्वं स्वतः परतो वा। प्रथमपक्षे असिद्धो हेतुः। पृथिव्यादीनां जडत्वेन स्वतः प्रतिभासासंभवात्। द्वितीयपक्षे विरुद्धो हेतुः पृथिव्यादीनां परतो ज्ञानात् प्रतिभासमानत्वस्य हेतुत्वाङ्गीकारे तस्माद्धेतोः पृथिव्यादीनां ज्ञानादतिरिक्तत्वसिद्धेः। शुक्तिरजतस्य ज्ञानाकारत्वाभावात् साध्यविकलो दृष्टान्तश्च। अत्र यदपि प्रत्यवादि-वीतं रजतं संविदाकारं इन्द्रियसंयोगमन्तरेणापरोक्षत्वात् संवेदनस्वरूपवदिति रजतस्य संविदाकारत्वसिद्धेर्न साध्यविकलो दृष्टान्त इति तदयुक्तम्। बाह्यत्वजडत्वादिना हेतोर्व्यभिचारात्। कथम्। बाह्यत्वजडत्वादेः इन्द्रियसंप्रयोगमन्तरेणापरोक्षत्वसद्भावेऽपि संविदाकारत्वाभावात्। तथा यदप्यन्यदनुमानमभ्यधायि-वीतं रजतं ज्ञानादव्यतिरिक्तं प्रतिभा-

अन्तर नही रहेगा। जो ज्ञान वस्तु के अनुरूप है वह संवादी कहलाता है तथा जो ज्ञान वस्तु के विपरीत है वह विसंवादी कहलाता है। यदि बाह्य वस्तु ही नही है तो संवाद या विसंवाद कैसे होगा? अपने ही स्वरूप के विषय मे ज्ञान में विसंवाद नही हो सकता। दूसरे, पृथ्वी आदि यदि ज्ञान के ही आकार है तो ज्ञान मे 'यह पृथ्वी' इस प्रकार भिन्नतादर्शक प्रतीति क्यों होती है? 'मै पृथ्वी' इस प्रकार एकतासूचक प्रतीति क्यों नही होती? पृथ्वी आदि प्रतीत होते हैं अतः ज्ञान से अभिन्न हैं यह कथन भी अयुक्त है। पृथ्वी अपने आपको तो प्रतीत नही होती क्यों कि वह जड है। दूसरे किसी के ज्ञान को पृथ्वी प्रतीत होती है यह इसी का गमक है कि पृथ्वी से ज्ञान भिन्न है। सींप के स्थान में प्रतीत होनेवाली चादी ज्ञान का आकार है क्यों कि इन्द्रिय संप्रयोग के विना उस का अपरोक्ष ज्ञान होता है — यह कथन भी युक्त नहीं। बाह्यता, जडता आदि का भी इन्द्रिय-संप्रयोग के विना अपरोक्ष ज्ञान होता है किन्तु वे ज्ञान के आकार नही है। अतः चादी की प्रतीति का उदाहरण प्रस्तुत अनुमान में उपयुक्त नही है। यह चादी प्रतीत होती

समानत्वात् ज्ञानस्वरूपवदिति-तदप्यसांप्रतम्। तस्य रजतस्यापि प्रतिभासमानत्वं स्वतः परतो वा। प्रथमपक्षे असिद्धो हेतुः। रजतस्य जडत्वेन स्वतः प्रतिभासमानत्वासंभवात्। अथ रजतस्य संविदाकारत्वात् स्वतः प्रतिभासमानत्वं संभवतीति चेन्न। तस्य संविदाकारत्वासिद्धेः। अथ स्वतः प्रतिभासमानत्वात तस्य संविदाकारत्वसिद्धिरिति चेन्न। इतरेतराश्रयप्रसंगात्। तत् कथमिति चेत् स्वतः प्रतिभासमानत्वात् रजतस्य संविदाकारत्वं संविदाकारत्वात् तस्य स्वतः प्रतिभासमानत्व-मिति। द्वितीयपक्षे विरुद्धो हेतुः। परस्मात् संवेदनात् प्रतिभासमानत्वस्य हेतुत्वाङ्गीकारे संवेदनाद् रजतस्य व्यतिरिक्तत्वप्रसाधनात्। तस्मात् पृथिव्यादयः संवेदनात् व्यतिरिक्ता एव अहमहमिकया अप्रतीयमानत्वात् इदंतया प्रतिभासमानत्वात् बाह्यतया अवभासमानत्वात् बहिःप्रवृत्ति-विषयत्वाच्च व्यतिरेके[1] संवित्स्वरूपवत्। रजतस्यापि संविदन्यत्वे[2] साध्ये अमून् हेतून् प्रयुञ्जीत।

यदप्यन्यदवूचुदत्-पुरोदेशे अभावेऽपि प्रतीयमानं रजतं कुतस्त्य-मिति विचारे ज्ञानाकारमेवेत्यादि-तदप्यनुचितम्। ज्ञानस्य रजताद्या-

है अत: ज्ञान से अभिन्न है यह कथन पूर्वोक्त प्रकार से ही दूषित है — चादी स्वतः तो प्रतीत नही होती क्यों कि वह जड है, दूसरे किसी ज्ञान को वह प्रतीत होती है इस से यही स्पष्ट होता है कि वह ज्ञान से भिन्न है। यह चादी ज्ञान का ही आकार है अतः स्वत प्रतीत होती है यह कथन परस्पराश्रय का सूचक है — पहले कहा है कि यह प्रतीत होती है अतः ज्ञान का आकार है तथा अब कहते है कि ज्ञान का आकार है अतः स्वतः प्रतीत होती है। इस लिए चांदी की प्रतीति को ज्ञान से अभिन्न होने का कारण नही माना जा सकता। किसी को 'मैं पृथ्वी हूं' इस प्रकार एकत्वसूचक प्रतीति नही होती, 'यह पृथ्वी है' इस प्रकार भिन्नतादर्शक प्रतीति ही होती है तथा यह प्रतीति बाह्य प्रवृत्ति का कारण होती है अतः पृथ्वी आदि पदार्थ ज्ञान से भिन्न है।

सींप मे प्रतीत होनेवाली चादी विद्यमान न होते हुए भी प्रतीत होती है अतः वह ज्ञान का आकार है यह कथन ठीक नही। क्यों कि

१ यत् संवेदनात् व्यतिरिक्त न भवति तत् बाह्यतया अवभासमानं न भवति यथा संवित्स्वरूपम्। २ रजत संविदः अन्यत् इति।

कारत्वासंभवात्। तथा हि। ज्ञानं न रजताकारवत् चिद्रूपत्वात् स्वसंवेद्यत्वात् प्रमाणत्वात् अमूर्तत्वात् बाह्येन्द्रियाग्राह्यत्वात् अजडत्वात् रूपादिरहितत्वात् व्यतिरेके[1] दर्पणवदिति। तस्मात् ज्ञानस्य रजताद्याकारवत्त्वं नाङ्गीकर्तव्यम्। तथाङ्गीकारे प्रमाणविरोधात्। तत् कथम्। वीतं रजतादिकं ज्ञानाकारं न भवति पुरोदेशे जिघृक्षाविषयत्वात् इदंतया प्रतिभासमानत्वात् अहमहमिकया अप्रतिभासमानत्वात् बाह्यतया अवभासमानत्वात् पुरोदेशे प्रवृत्तिजनकत्वात् व्यतिरेके[2] ज्ञानस्वरूपवदिति। तथा च पृथिव्यादीनां रजतादीनां च संविदन्यत्वसिद्धेः बहिःप्रमेयत्वसिद्धिः।

ननु तथापि बाह्योऽर्थः स्वयं संवेदनमुत्पाद्य स्वाकारं समर्प्य तदाकारसंवेदनेन गृह्यत इति सौत्रान्तिको व्याचष्टे। तदप्ययुक्तम्। नीलादिबाह्योऽर्थः अतदाकारज्ञानेन गृह्यते ज्ञानादर्थान्तरत्वात् जडत्वावत् तथा नीलाद्याकारः ज्ञाने न समर्प्यते अर्थाकारत्वात् जडाकारवदित्यादिप्रमाणैर्बाधितत्वात्। किं च ज्ञाने नीलाद्याकारार्पणाङ्गीकारे जडाद्याकारार्पणप्रसंगश्च। तथा हि। जडाकारः ज्ञाने समर्प्यते अर्थाकारत्वात् नीलाकारवत्। तथा

चांदी ज्ञान का आकार नही हो सकती। ज्ञान चैतन्यरूप है, स्वसंवेद्य है, अमूर्त है, प्रमाणरूप है, जड नही है, बाह्य इन्द्रियों से ज्ञात नही होता तथा रूपादि गुणों से रहित है। (इस के विपरीत चांदी अचेतन, मूर्त, जड, बाह्य इन्द्रियों से ग्राह्य, रूपादि सहित है।) अतः ज्ञान चांदी का आकार धारण नही कर सकता। ज्ञान के विषय में 'यह आगे पडा है, इसे उठा लेना चाहिए' यह भावना नही होती किन्तु चांदी के विषय में होती है। अतः चांदी ज्ञान का आकार नही है। इस प्रकार ज्ञान से भिन्न बाह्य पदार्थों का अस्तित्व सिद्ध होता है।

सौत्रान्तिक बौद्धों का मत है कि बाह्य पदार्थ ज्ञान में अपना आकार बनाते हैं अतः ज्ञान के ही विभिन्न आकारों की प्रतीति ज्ञाता को होती है। किन्तु यह कथन युक्त नही। नीले पदार्थ को जानते समय ज्ञान नीला नही होता – पदार्थ का आकार धारण नही करता। यदि ज्ञान पदार्थों का आकार धारण करेगा तो जड भी हो जायगा

१ यत् रजताद्याकारवत् भवति तत् चिद्रूपं न भवति यथा दर्पणः इत्यादि।
२ यत् ज्ञानाकारं भवति तत् पुरोदेशे जिघृक्षाविषयो न भवति यथा ज्ञानस्वरूपम्।

ज्ञानं जडं नीलाद्याकारधारित्वात् पटादिवदित्यतिप्रसंगः स्यात्। तस्मात् ज्ञानस्य निराकारत्वं[1] बहिःप्रमेयसद्भावश्च अङ्गीकर्तव्यः॥

[४१. प्राभाकरसंमतभ्रान्तिस्वरूपनिरासः।]

अत्र प्राभाकरः प्रत्यवतिष्ठते। ननु तथैवाङ्गीक्रियते[2] पृथिव्यादीनां शुक्तिरजतादीनां च सत्यत्वाभ्युपगमात्[3]। अथ शुक्तिरजतादेः कथं सत्यत्वमिति चेत् वीताः प्रत्यया यथार्थाः प्रत्ययत्वात् संप्रतिपन्नसमीचीनप्रत्ययवदिति[4] प्रमाणसिद्धत्वात्। तर्हि भ्रान्तिव्यवहारः कथमिति चेत् विज्ञानानां तज्ज्ञेयानां च विवेकाग्रहणात्र भ्रान्तिरित्युच्यते[6]। तद् यथा।

क्यों कि बाह्य पदार्थों में बहुत से जड भी हैं। अतः ज्ञान को पदार्थों का आकार धारण करना सम्भव नही है। ज्ञान निराकार है तथा बाह्य पदार्थों का अस्तित्व उस से भिन्न है।

४१. प्राभाकर मत का निरास—अब प्रस्तुत विषय में प्राभाकर मीमासकों के मत की चर्चा करते हैं। इन के मतानुसार पृथ्वी आदि की प्रतीति के समान सीप में प्रतीत होनेवाली चांदी भी सत्य ही है। ज्ञान सब सत्य ही होता है – भ्रान्त नही होता। फिर भ्रान्ति कैसे उत्पन्न होती है इस प्रश्न का उत्तर वे इस प्रकार देते हैं। पदार्थ तथा उस का ज्ञान इनमे विवेक का ग्रहण न होना भ्रान्ति है। उदाहरणार्थ—सीप को देखने पर 'यह कुछ है' ऐसा साधारण ज्ञान होता है, 'यह सीप है' ऐसा विशिष्ट ज्ञान नही होता, तथा सीप के सफेद रंग आदि के देखने से पहले कभी देखी हुई चादी का स्मरण होता है, किन्तु मन के दोष से इस स्मरण को ही वर्तमान ज्ञान मान लिया जाता है। 'यह कुछ है' यह प्रत्यक्ष ज्ञान तथा चादी का स्मरण इन दोनों मे भेद प्रतीत

१ नीलाद्याकारार्पणरहितत्वम्। २ ज्ञानस्य निराकारत्व बहिःप्रमेयसद्भावश्च। ३ प्राभाकरमते मिथ्याज्ञान नास्ति किंतु सर्वं ज्ञानं सत्यभूतमेव अतः प्राभाकरो वदति शुक्तिरजतादिज्ञानानामपि सत्यत्वम्। ४ अङ्गीकृतघटादिज्ञानवत्। ५ शुक्तिरजतादेः सत्यत्वे भ्रान्तिव्यवहारः कथमिति चेत्। ६ विज्ञान सम्यक् न गृह्यते तथा तज्ज्ञेयं न गृह्यते ज्ञेयं ज्ञानं कृत्वा गृह्यते ज्ञान ज्ञेयं कृत्वा गृह्यते इति भ्रान्तिः। न तु शुक्तिरजतज्ञान भ्रान्तं ज्ञानस्य सत्यत्वात् तर्हि शुक्तिरजतज्ञान भ्रान्त नो चेत् तर्हि किम् इति चेत् तत् तु स्मरणज्ञानमेवोच्यते प्राभाकरेण।

इदमिति[1] साधारणाकारग्रहे शुक्तित्वादिविशेषाग्रहे शुक्ल[2]भासुरतादि-सादृश्यसंदर्शनात् समुद्बुद्धसंस्कारो रजतगोचरं स्मरणं जनयति तच्च गृहीतग्रहणस्वभावमपि मानसदोषेण तदंश[3]मोषात् ग्रहणस्वरूपमेवाव[4]-तिष्ठते। तथा च इदमंशग्रहणरजतांशस्मरणयोः स्वरूपतो विषयतश्च भेदप्रतीत्यभावात् अभेदव्यवहारः समानाधिकरणव्यपदेशश्च[5] प्रवर्तते। रजतज्ञानस्य स्मरणरूपत्वं पारिशेषप्रसिद्धं पुरोदेशनिवेशिपदार्थस्य रजत-ज्ञानालम्बनत्वासंभवात्। तथा हि। पुरोदेशे निवेशि वस्तु न रजतज्ञाना-लम्बनं रजतत्वासमवायित्वात्[6] शुक्तित्वात् प्रसिद्धशुक्तिवदिति। तस्माद् चीतं रजतज्ञानं स्मरणमेव रजतसंस्कारान्यत्वे सत्यगृहीतरजतस्या[7]नु-त्पद्यमानत्वात् सादृश्यसंदर्शनादुत्पद्यमानत्वात् संस्कारोद्बोधमन्तरेणा-नुत्पद्यमानत्वात् प्रसिद्धस्मरणवदिति। अथ नयनदोषवशात् पुरोवर्ति-शुक्तिशकलमेव रजतत्वेन प्रतिभासत इति न रजतज्ञानं स्मरणमिति चेन्न। शुक्तिर्न रजतत्वेनावभासते तद्रूपेणासत्त्वात् पाषाणवदिति प्रमाण-विरोधात्। तस्मादिदमंशग्रहणरजतांशस्मरणयोः स्वरूपेण विषयेण च

न होने से 'यह चादी है' इस प्रकार व्यवहार होता है। यहा चादी का स्मरण होता है यह कहने का कारण यह है कि चादी वस्तुतः विद्यमान तो नही है, वस्तुतः सींप विद्यमान है तथा सींप चादी के ज्ञान का आधार नही हो सकती। अतः चादी के न होते हुए, चादी जैसे गुणों के देखने से पहले के सस्कार का उद्बोधन होने से, चादी का ज्ञान होता है वह स्मरण ही हो सकता है। आख के दोष से सींप ही चादी के रूप मे ज्ञात होती है यह कहना ठीक नहीं क्यों कि सींप और चादी में स्पष्ट अन्तर है – सींप चादी नही हो सकती अतः चादी के रूप में प्रतीत भी नही हो सकती। इस लिए वर्तमान ज्ञान तथा पुरातन ज्ञान का स्मरण इन दोनों मे भेद का ज्ञान न होना ही 'यह चादी है' इस भ्रम का कारण है। जब ज्ञान तथा स्मरण मे भेद प्रतीत होता है तब यह भ्रम दूर हो जाता है।

---

१ इदमिति प्रत्यक्षं तदिति स्मृतिः। २ शुक्तिरजतयोः शुक्लत्वं सामान्यम्। ३ रजतांश। ४ रजतग्रहणस्वरूपमेव। ५ एकविभक्त्यन्तपदवाच्यत्वं समानाधिकरणत्वम्। ६ रजताभावे रजतज्ञानम् अतः स्मरणम्। ७ पुंसः।

भेदाग्रहणादिदं रजतमिति पुमान् प्रवर्तते। तयोर्भेदग्रहणादिदं न रजतमिति निवर्तत इति। सोऽपि न युक्तवादी। तदुक्तस्य विचारासहत्वात्।

तथा हि। यदप्यनूद्य निरास्थत्-शुक्तिरजतादेः कथं सत्यत्वमिति चेत् वीताः प्रत्ययाः यथार्थाः प्रत्ययत्वात् संप्रतिपन्नसमीचीनप्रत्ययवदिति प्रमाणसिद्धत्वादिति-तदसमञ्जसं हेतोः कालात्ययापदिष्टत्वात्। कुतः शुक्ताविदं रजतमिति प्रत्ययस्य नेदं रजतमित्युत्तरकालीननिर्बाधनिषेधप्रत्यक्षेणायथार्थत्वनिश्चयात्। किं च। मिथ्याज्ञानमस्तीति प्रत्ययः यथार्थोऽयथार्थो वा यथार्थश्चेत् मिथ्याज्ञानसद्भावात् तेनैव हेतोर्व्यभिचारः स्यात्। अयथार्थश्चेदनेनैव प्रत्ययेन हेतोर्व्यभिचार इति। अपि च। पराभ्युपगतं[1] मिथ्याज्ञानं पक्षीक्रियते इदमंशग्रहणं वा रजतांशस्मरणं वा। अथ पराभ्युपगतं मिथ्याज्ञानं धर्मीक्रियते चेत् धर्मी[2] प्रमाणप्रसिद्धः अप्रसिद्धो वा। प्रथमपक्षे पक्षस्य धर्मिणो ग्राहकप्रमाणबाधितत्वात् कालात्ययापदिष्टो हेतुः स्यात्। द्वितीयपक्षे धर्मिणः प्रमाणप्रतिपन्नत्वाभावादाश्रयासिद्धो हेत्वाभासः स्यात्। अथ इदमंशग्रहणं धर्मीक्रियते चेत् तर्हि इदमंशग्रहणस्य यथार्थत्वमस्माभिरप्यङ्गीक्रियत इति सिद्धसाध्यत्वेन

प्राभाकर मीमासकों का यह सब कथन हमें ठीक प्रतीत नहीं होता। सब ज्ञान यथार्थ है यह कथन तो प्रत्यक्षबाधित है – एक ही वस्तु के विषय में 'यह चादी है' तथा 'यह चादी नही है' ऐसे दो ज्ञान होते है – इन मे दोनों यथार्थ नही हो सकते अतः पहले ज्ञान को अयथार्थ मानना ही होगा। प्रकारान्तर से यह स्पष्ट करते हैं – 'यह ज्ञान मिथ्या है' यह प्रतीति यथार्थ है या अयथार्थ है ? यदि यथार्थ है तो मिथ्या ज्ञान का अस्तित्व मान्य होता है, यदि अयथार्थ है तो 'सब ज्ञान यथार्थ होते हैं' यह कथन गलत सिद्ध होता है।

'यह चादी का ज्ञान सत्य है' इस कथन में 'यह मिथ्या ज्ञान' धर्मी है। यहा प्रतिवादी जिसे मिथ्या ज्ञान कहते हैं उससे तात्पर्य है अथवा 'यह कुछ है' इतने ज्ञान से तात्पर्य है अथवा चादी के स्मरण से तात्पर्य है ? इनमें पहला पक्ष उचित नही। प्रतिवादी जिसे मिथ्या ज्ञान कहते है उसे यदि मीमासक प्रमाणसिद्ध मानते है तो यह प्रमाण-

१ प्राभाकरमते मिथ्याज्ञानं नास्ति अतः पराभ्युपगतमङ्गीकरोति। २ मिथ्याज्ञानम्।

हेतोरकिंचित्करत्वं स्यात्। अथ रजतस्मरणं धर्मीक्रियते चेत् तर्हि तत्र रजतविषयस्मरणाभावादाश्रयासिद्धो हेत्वाभासः स्यात्। अथ वीतं रजतज्ञानं स्मरणमेव रजतसंस्कारान्यत्वे सत्यगृहीतरजतस्या[1]नुत्पद्यमानत्वात् प्रसिद्धस्मरणवदिति तत्र रजतविषयस्मरणसद्भावात् नाश्रयासिद्धो हेतुरिति चेन्न। रजतविषयसमीहितसाधनानुमानेन हेतोर्व्यभिचारात्। कुतः तस्य संस्कारान्यत्वे सत्यगृहीतरजतस्यानुत्पद्यमानत्वसद्भावेऽपि स्मरणत्वाभावात्। अथ वीतं रजतज्ञानं स्मरणमेव सादृश्यसंदर्शनादुत्पद्यमानत्वात् प्रसिद्धस्मरणवदिति चेन्न। हेतोरुपमाप्रमाया व्यभिचारात्[2]। ननु वीतं रजतज्ञानं स्मरणमेव संस्कारोद्बोधमन्तरेणानुत्पद्यमानत्वात् प्रसिद्धस्मरणवदिति चेन्न। हेतोरसिद्धत्वात्। कथमिति चेत् अक्षिविस्फालनानन्तरमिदमंशग्रहणसंस्कारोद्बोधमन्तरेणैव रजतांशग्रहणस्याप्युत्पत्तिदर्शनात्। प्रत्यभिज्ञानेन व्यभिचारश्च। कुतस्तस्य

बाधित होगा। यदि प्रमाणसिद्ध नही मानते हैं तो उस के सत्यत्व की चर्चा व्यर्थ होगी। 'यह कुछ है' इतने ज्ञान को सत्य कहना हो तो इस मे कुछ विवाद नही हो सकता। किन्तु यह ज्ञान चादी का स्मरण है यह कथन युक्त नही। जिसने पहले चादी नही देखी हो उसे ऐसा ज्ञान नही होता अतः यह स्मरण ही है – यह मीमासकों की युक्ति है। किन्तु चादी के विषय में कोई अनुमान भी चादी के विना देखे सम्भव नही है। अतः ऐसा ज्ञान अनुमान भी हो सकता है – स्मरण ही हो यह आवश्यक नही। इसी तरह समानता के देखने से यह ज्ञान उत्पन्न होता है अतः स्मरण है यह कथन भी दूषित है – उपमान भी समानता के देखनेसे उत्पन्न होता है किन्तु वह स्मरण नही होता। चादी के संस्कार के उद्बोधन के विना यह ज्ञान नही होता अतः यह चादी का स्मरण है – यह कथन भी ठीक नही। एक तो प्रस्तुत प्रसंग में चादी के संस्कार का उद्बोधन होता है यह कथन ही ठीक नही – जब पुरुष सींप को देखता है तभी 'यह चादी है' ऐसा ज्ञान उसे होता है –

१ पुंसः। २ उपमाप्रमायाः सादृश्यसदर्शनादुत्पद्यमानत्वेऽपि स्मरणत्वाभावः।

संस्कारोद्‌बोधमन्तरेणानुत्पद्यमानत्वेऽपि स्मरणत्वाभावात्[१]।

तस्माद् वीतं रजतज्ञानं स्मरणं न भवति चक्षुर्व्यापारान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात् विशदावभासित्वात् पुरोवर्तिशुक्लभासुररूपवस्तुविषयत्वात् तदंशरहितत्वात्[२] संप्रतिपन्नप्रत्यक्षवत्। ननु पदश्रवणात् पदार्थस्मरणे इह घटो नास्तीत्यत्र प्रतियोगिस्मरणे च तदंशरहितत्वेऽपि[३] स्मरणत्वसद्भावात् ताभ्यां[४] हेतोर्व्यभिचार इति चेन्न। तत्रापि तदंशज्ञानसद्भावात्। तथा हि। अनेन शब्देनायमर्थो वाच्य इति प्राक्संकेतितशब्दश्रवणात् अनेन शब्देन सोऽर्थो अभिहित इति प्राक्संकेतिते एवार्थे तदंशग्रहणत्वेनैव स्मरणस्योत्पत्तिदर्शनात्। इह भूतले घटो नास्तीत्यत्रापि प्रागुद्दृष्टघटसजातीयघटो नास्तीति तदंशग्रहणत्वेनैव स्मरणस्योत्पत्तिदर्शनाच्च। केवलं तच्छब्दोच्चारणं न श्रूयते। किं च।

'यह कुछ है' तथा 'यह चादी है' ऐसे दो भागों में यह ज्ञान नही होता। दूसरे, संस्कार के उद्‌बोधन से होनेवाला ज्ञान स्मरण ही हो यह आवश्यक नही – प्रत्यभिज्ञान भी हो सकता है – (यह वहीं है इस प्रकार पहचानने मे भी संस्कार का उद्‌बोधन होता ही है)।

'यह चादी है' ऐसा ज्ञान स्मरण नही हो सकता क्यों कि चक्षु के प्रयोग से यह ज्ञान प्राप्त होता है, स्पष्टता से प्रतीत होता है, सामने पडी हुई चमकीली वस्तु (सींप) ही इस का विषय है तथा 'वह वस्तु' इस प्रकार का यह ज्ञान नही है – (ये सब बाते स्मरण मे सम्भव नही है)। शब्द के सुनने पर पदार्थ का स्मरण होता है अथवा 'यहा घट नही है' इस प्रकार अभावरूप ज्ञान में जो स्मरण होता है इन मे भी 'वह वस्तु' इस प्रकार का ज्ञान नही होता – यह स्पष्टीकरण भी उचित नहीं। 'इस शब्द का यह अर्थ है' ऐसा संकेत ज्ञान होने पर उस शब्द के सुनने से 'इस शब्द से वह अर्थ कहा गया' ऐसा ज्ञान होता है – इस स्मरण में 'वह अर्थ' यह भाग विद्यमान ही है। इसी तरह 'यहा घट नही है' इस ज्ञान में भी 'पहले वह घट देखा वैसा यहा यहीं है' इस प्रकार 'वह 'घट' यह भाग विद्यमान ही है – 'यह वह है' ऐसा स्पष्ट नही कहा जाता इतना ही

१ तादृशं रजतम् इति प्रत्यभिज्ञानमेव न तु स्मरणम्। २ स्मरणांशरहितत्वात्। ३ घटांशं। ४ पदार्थस्मरणप्रतियोगिस्मरणाभ्याम्।

मूकादीनां स्मरणेऽपि तच्छ[1]ब्दोच्चारणं न श्रूयते इत्येतावता तेषामपि[2] तदंश[3]ज्ञानं न स्यात्। तथा च मूकादीनां दत्तनिक्षेपादिषु प्रवृत्त्यभाव एव स्यात्। न चैवं तस्मात् स्मरणं सर्वमपि तदंशग्रहणत्वेनैवोत्पद्यत इति अङ्गीकर्तव्यम्।

यदप्यन्यदचूचुदत्–रजतज्ञानस्य[4] स्मरणरूपत्वं पारिशेषप्रसिद्धं पुरोदेशे निवेशिपदार्थस्य[5] रजतज्ञानालम्बनत्वासंभवात्। तथा हि–पुरोदेशे निवेशि वस्तु रजतज्ञानालम्बनं न भवति रजतत्वासमवायित्वात् शुक्तित्वात् प्रसिद्धशुक्तिवदिति–तदप्ययुक्तमेव। हेतोः कालात्ययापदिष्टत्वात्। कुतः एतावत्कालपर्यन्तमिदं शुक्तिशकलमेव रजतत्वेन प्रत्यभादिति प्रत्यभिज्ञानप्रत्यक्षेण पक्षस्य बाधितत्वात्। तस्माद् वीतं रजतज्ञानं पुरोवर्तिवस्तुविषयं पुरोवर्तिवस्तुनैव पुरुषस्य प्रवर्तकत्वात् सत्यरजतज्ञानवत्। तथा वीता प्रवृत्तिः पुरोवर्तिरजतज्ञानपूर्विका रजतेच्छाधीनपुरोवर्ति[6]प्रवृत्तित्वात् संप्रतिपन्न[7]प्रवृत्तिवत्। तथा वीता प्रवृत्तिः[8] एकानुभवपूर्विका[9] प्रवृत्तित्वात् प्रसिद्धप्रवृत्तिवत्। तथा इदं रजतमिति व्यवहारः एकानुभवपूर्वकः[10] समानाधिकरण[11]व्यवहारत्वात् नीलमुत्पलमितिव्यवहारवत् इति प्रतिपक्षसिद्धिः। यदप्यन्यदनूद्यापास्थत्–अथ नयनदोषवशात् शुक्तिशकलमेव रजतत्वेन प्रतिभासते इति न रजतज्ञानं स्मरणमिति चेन्न शुक्तिर्न रजतत्वेनावभासते तद्रूपेणासत्त्वात् पाषाणवदिति प्रमाण-

अन्तर है। गूंगे लोग भी 'यह वह है' ऐसा कह तो नही सकते किन्तु जान सकते है। इसी प्रकार शब्द से अर्थ के स्मरण मे तथा अभावरूप स्मरण मे 'वह वस्तु' यह अंश अवश्य होता है – (ऐसा अंश प्रस्तुत चांदी के ज्ञान में नही होता अतः यह ज्ञान स्मरण नही है)।

आगे पडी हुई वस्तु सींप है – चांदी नही है, अतः यह वस्तु चादी के ज्ञान का आधार नही हो सकती – इसलिए चादी के ज्ञान को स्मरणरूप मानना चाहिए – यह कथन भी उचित नही। जब 'यह सींप है' ऐसा ज्ञान हो जाता है तब पुरुष को यह भी प्रतीत होता है कि 'यही सींप अबतक चादी प्रतीत हो रही थी'–इस प्रतीति से स्पष्ट है कि चांदी के ज्ञान का आधार यह सींप ही है। यदि सींप इस ज्ञान

१ घटादि। २ मूकादीनाम्। ३ पदार्थांश। ४ शुक्तौ। ५ शुक्तिलक्षणस्य। ६ वस्तुनि। ७ घटादिप्रवृत्तिवत्। ८ इदं रजतम् इति। ९ न स्मरणं प्रत्यक्षमेव। १० रजतानुभवपूर्वकः। ११ शुक्ताविदं रजतम्।

विरोधादिति–तदप्यनुचितम्। हेतोः कालात्ययापदिष्टत्वात्। तत् कथम्। इदं शुक्तिशकलमेव एतावत्कालपर्यन्तं रजतत्वेन प्रत्यभादिति प्रत्यभिज्ञा-प्रत्यक्षेण पक्षस्य बाधितत्वात्। तस्मात् पुरोदेशे निवेशि वस्तु रजतत्वेन प्रतिभासते रजतार्थिनो नियमेन प्रवृत्तिविषयत्वात् पुरोदेशे रजतेच्छा-जनकत्वात् समन्तरजतवत्। तथा पुरोवर्ति रजतत्वेन प्रत्यभात् नेदं रजतमिति बाधकस्यान्यथानुपपत्तेरिति च।

यदप्यन्यदवोचत्–तस्मादिदमंशग्रहणरजतांशस्मरणयोः स्वरूपेण विषयेण च भेदाग्रहणादिदं रजतमिति पुमान् प्रवर्तते तयोर्भेदग्रहणान्नेदं रजतमिति निवर्तत इति–तदप्यनात्मज्ञभाषितम्। ग्रहणस्मरणयोर्भेदस्य अग्रहणासंभवात्। कुतः स्वयंसंवेद्यमानग्रहणस्मरणयोस्तद्विषयभूततया प्रतीयमानयोरिदमंशरजतांशयोश्च स्वरूपभूतभेदस्यापि स्वत एव प्रतिभास-

---

का आधार नही होती तो उसे उठाने की इच्छा तथा समीप पहुंचने की प्रवृत्ति क्यों होती? स्मरणरूप ज्ञान से ऐसी प्रवृत्ति सम्भव नही है। यह प्रवृत्ति ठीक वैसे ही है जैसे चादी के प्रत्यक्ष ज्ञान से होती है – अतः उस का आधारभूत ज्ञान भी चादी का ज्ञान ही समझना चाहिए – स्मरण नही। जिस तरह ‘यह कमल नीला है’ इस ज्ञान में कमल और नीला ये दोनों अंश एक ही त्रिभक्ति में होते हैं उसी तरह ‘यह वस्तु चादी है’ इस ज्ञानमें वस्तु और चादी ये दोनों अंश एकही विभक्ति में होते है – ये दोनों ज्ञान वर्तमान विषय के हैं – भूतपूर्व ज्ञान के स्मरण नही हैं। ‘यह सींप ही अबतक चादी प्रतीत हो रही थी’ इस भ्रमनिरास से स्पष्ट है कि सींप और चांदी–दोनों ज्ञानों का आधार सींप ही है।

‘यह कुछ है’ इस वर्तमान ज्ञान से चादी के स्मरण का भेद ज्ञात न होने से पुरुष सींप को चादी समझता है तथा यह भेद ज्ञात होने पर उस का भ्रम दूर होता है – यह कथन भी उचित नही। ‘यह कुछ है’ इस ज्ञान का जिसे संवेदन होता है उसे ही चादी के स्मरण का भी संवेदन होता है – ये दोनों ज्ञान स्वसंवेद्य हैं। अतः यदि

सद्भावात्। तथाहि विज्ञानानां तज्ज्ञेयानां च विवेकाग्रहमात्रं भ्रान्तिरित्युच्यते तद्यथेत्यादि कथनं खपुष्पसौरभव्यावर्णनमिव आभासते। किं च।

सामानाधिकरण्यस्य[1] प्रवृत्तेर्बाधकस्य[2] च।
वैतथ्यस्याप्ययोगेन नाख्याति[3]र्वृद्धसंमता॥

तथा हि। रजतज्ञानस्य स्मरणत्वे इदं रजतमिति सामानाधिकरण्यं नोपपनीपद्यते। कुतः। नियतदेशकालवर्तीदमंशस्य देशकालानवच्छिन्नत्वेन[4] स्मर्यमाणरजतविशेषणानुपपत्तेः। अथ तयो[5]र्भेदाग्रहणात् सामानाधिकरण्यं भविष्यतीति चेन्न। तयोर्देशकालाकारग्राहकज्ञानानां च भेददर्शनेन तद्भेदस्यापि गृहीतत्वात्। अथ इदमंशरजतांशयोर्देशकालग्राहकज्ञानभेदो न दृश्यत इति चेत् तर्हि एतद्देशकाले इदमंशग्राहकेणैव[6] रजतांशोऽपि गृह्यत इत्यङ्गीकर्तव्यम्। तथा चान्यथाख्यातिरेव[7] स्यात्

उन में भेद होता तो उस का भी संवेदन पुरुष को अवश्य होता। अपने ही दो ज्ञानों में भेद की प्रतीति न होना सम्भव नही है। इन सब दोषो को देख कर कहा गया है – 'समान विभक्ति का प्रयोग, बाधक ज्ञान, प्रवृत्ति तथा भ्रम का व्यवहार इन सब का कोई स्पष्टीकरण अख्याति पक्ष (भ्रम का अभाव मानने) में सम्भव नही अतः यह पुरातन आचार्यों को मान्य नही है।' इसी का पुनः स्पष्टीकरण करते हैं। 'यह चांदी है' यह ज्ञान वर्तमान समय तथा प्रदेश का है, चांदी के स्मरण में वर्तमान समय तथा प्रदेश की मर्यादा नही होती, अतः इन दोनों (यह कुछ तथा चादी) का एक ही विभक्ति में प्रयोग सम्भव नही है। दोनों के भेद का ज्ञान न होने से एक विभक्ति में प्रयोग होता है यह कहना भी ठीक नही क्यों कि देश, काल तथा आकार का भेद अज्ञात नही रहता। देश, काल के ज्ञान में भेद नही होता इसी का तात्पर्य है कि 'यह कुछ' तथा 'चांदी' ये दोनों ज्ञान एक ही वस्तु के विषय के हैं – यह अन्यथा ख्याति ही है (सींप को चादी मानना

१ इदं शुक्तिशकलं रजतमिति सामानाधिकरण्यम्। २ इदं रजतं न तत्रैव। ३ सामानाधिकरण्येपि अख्यातिर्न, सर्वथाभावः अख्यातिः, शुक्तिशकले सर्वथा रजतनिषेधो न। ४ अनियतत्वेन। ५ इदमंशरजतांशस्मरणयोः। ६ इदमंशग्राहकं प्रत्यक्षं तेनैव रजतांशो गृह्यते न तु स्मरणेन। ७ शुक्तौ रजतं प्रतिभातं प्रत्यक्षेण परन्तु इदं ज्ञानं अयथार्थमेव।

नाख्यातिः। तस्मादख्यातिपक्षे सामानाधिकरण्यानुपपत्तिः। तथा तत्र प्रवर्तमानो रजतार्थी कुत्र प्रवर्तते स्मर्यमाणरजतांशे इदमंशे वा। न तावदाद्यो विकल्पः अनियतदेशकालाकारतया स्मर्यमाणरजते प्रवृत्त्यदर्शनात्[1]। नापि द्वितीयो विकल्पः इदमित्यनिर्दिष्टविशेष[2]स्येच्छाप्रवृत्तिविषयत्वानुपपत्तेः। अथ स्मर्यमाणरजतस्येदमंशेन भेदाग्रहणात् तत्र[3] प्रवर्तत इति चेन्न। तयोर्देशकालग्राहकज्ञानानां भेददर्शनेन तद्भेदस्यापि गृहीतत्वात्। ननु तयो[4]र्देशकालग्राहकज्ञानेन भेदो न दृश्यत इति चेत् तर्हि एतद्देशकाले इदमंशग्राहकेणैव रजतांशो गृह्यत इत्यङ्गीकर्तव्यम्। तथा चान्यथाख्यातिरेव स्यान्नाख्यातिः[5]। तस्मादख्यातिपक्षे प्रवृत्ति[6]रपि नोपपनीपद्यते।

तथा[7] नेदं रजतमिति बाधकप्रत्ययेन किं निषिध्यते स्मर्यमाणरजतांश इदमंशो वा। न तावदाद्यः पक्षः देशकालाकारानवच्छिन्नतया स्मर्यमाणस्य रजतस्य निषेधायोगात्। कुतस्तस्य[8] क्वापि सद्भावसंभवात्। नापि द्वितीयः पक्षः इदमंशस्यापि निषेधायोगात्। कुतः बोधोत्तरकालेऽपि तस्य तत्र सद्भावदर्शनात्। ननु पुरोदेशे निवेशितवस्तुन्यारोपितं रजतं

ही है), अख्याति नही (मिथ्या ज्ञान का अभाव नही)। इस चादी के विपय मे जो प्रवृत्ति (उठाने की इच्छा) होती है वह भी 'यह कुछ है' इस अस्पष्ट ज्ञान से सम्भव नही है, तथा चादी के स्मरण से भी सम्भव नही है – स्मरण भूतकाल की वस्तु का होता है अतः उस से वर्तमान काल मे प्रवृत्ति सम्भव नही। प्रवृत्ति होती है इस से स्पष्ट है कि 'यह कुछ' तथा 'चादी' ये दोनो एक ही देशकाल में स्थित वस्तु के बोधक है। यह तथ्य भी अख्याति पक्ष के विरुद्ध है।

भ्रम दूर होने पर 'यह चादी नही थी' यह जो निषेधरूप ज्ञान होता है उस से चादी के स्मरण का तो निषेध नही होता क्यो कि स्मरण भूतकालीन चादी का है – उस मे वर्तमानकाल की मर्यादा नही है। तथा 'यह कुछ है' इस अंश का भी निषेध नही होता क्यों कि

१ इदमिति प्रवृत्त्यदर्शनात्। २ रजतमेव इति निश्चयो न। ३ इदमंशे। ४ इदमंशरजतांशयोः। ५ सर्वथा शुक्तौ रजताभावो न, प्राभाकरः सर्वथाभावं कथयति। ६ शुक्तौ इदं रजतमिति। ७ प्रवृत्त्यन्तरम्। ८ स्मरणांशस्य।

निषिध्यत इति चेत् तर्हि अन्यथाख्यातिरेव[1] स्यान्नाख्यातिः। तस्मात् अख्यातिपक्षे बाधकोऽपि न जाघटयते।

तथा वितथज्ञानाभावे कस्य मिथ्याव्यपदेशः स्यात्। अथ अयथार्थ-व्यवहारस्यैव मिथ्याव्यपदेश इति चेत् तर्हि द्विचन्द्रादिप्रतिपत्तौ व्यवहारा-भावात् कस्य मिथ्याव्यपदेशः स्यात्। ननु तत्रापि शब्दप्रयोगलक्षण-व्यवहारोऽस्ति तस्यैव मिथ्याव्यपदेश इति चेन्न। जातिवधिरमूकादीनां दोषदुष्टेन्द्रियत्वेन द्विचन्द्रप्रतिपत्तौ शब्दप्रयोगलक्षणव्यवहारस्याप्यसंभ-वेन कस्यापि मिथ्याव्यपदेशानुपपत्तेः। अत्र द्वौ चन्द्रौ न स्तः किंतु एक एवायं चन्द्र इत्युत्तरकालीनबाधकप्रत्ययेन प्राक्तनज्ञानस्य मिथ्याव्यपदेशः क्रियत इति चेत् तर्हि अन्यथाख्यातिरेव त्वया[2] ऽङ्गीक्रियते। तस्माद-ख्यातिपक्षे वैतथ्यस्याप्यनुपपत्तिरेव। तथा च प्रभाकरपरिकल्पितस्मृति-प्रमोषो न वृद्धसंमतो युक्तिरहितत्वादिति स्थितम्।

यह अंश ' यह सांप है ' इस ज्ञान मे भी विद्यमान है। अतः यह निषेधरूप ज्ञान तभी सम्भव है जब ' यह कुछ ' तथा ' चादी ' ये दोनो एक ही वस्तु के बोधक हो। यह तथ्य भी अख्याति पक्ष के विरुद्ध है।

भ्रमपूर्ण ज्ञान का अस्तित्व न हो तो मिथ्याज्ञान शब्द का प्रयोग किसी ज्ञान के लिये क्यों होता है ? भ्रमजनक व्यवहार के (उदाहरणार्थ— चादी को उठाने की इच्छा) कारण ज्ञान को मिथ्या कहा जाता है यह उत्तर उचित नही। ' आकाश में दो चन्द्र है ' यह भ्रम किसी व्यवहार पर आधारित नही है फिर इसे मिथ्या ज्ञान क्यो कहा जाता है ? यहां (दो चन्द्र है) यह शब्द का प्रयोग ही भ्रमजनक व्यवहार है यह कथन सम्भव नही। बहरे-गूगे आदि जो शब्द का प्रयोग नही कर सकते उन को भी ऐसा भ्रमयुक्त ज्ञान होता है। अतः यह मिथ्या ज्ञान शब्दप्रयोग पर या व्यवहार पर आधारित नही है। भ्रम दूर होने पर ' यह एक ही चन्द्र है ' इस ज्ञान से पहले के ' दो चन्द्र हैं ' इस ज्ञान को मिथ्या ज्ञान कहते हैं यह उत्तर हो सकता है। किन्तु इस मे मिथ्या ज्ञान के अस्तित्व को स्पष्टही स्वीकार किया गया है। अतः प्राभाकरो का यह स्मृतिप्रमोषवाद अयुक्त है।

१ मिथ्याज्ञानाङ्गीकार एव स्यात्। २ प्राभाकरेण।

[४२. भ्रान्तिविषयकमतान्तरनिरासः ।]

ननु[1] पुरोवर्तिनि शुक्तिस्वरूपं न प्रतिभासते तत्प्रतिभासे रजतार्थिनः पुरोवर्तिनि प्रवृत्त्यसंभवात्, रजतस्वरूपमपि न प्रतिभासते तत्राविद्यमानत्वात्, ततश्चात्राख्यातिरेवेति चार्वाकः प्रत्यवतिष्ठते । सोऽप्ययुक्तवादी प्रतीतिविरुद्धवादित्वात् । कुतः । इदं रजतमिति पुरोदेशे चकचकायमानशुक्लभासुररूपविशिष्टवस्तुविषयतया प्रतिभासस्योत्पत्तिदर्शनात् । तदभावे इदं रजतमिति रजतार्थिनः पुरोदेशे प्रवृत्तिर्नोपपद्यते । नेदं रजतमिति प्रतीत्युत्तरकालीननिषेधप्रत्ययोऽपि न जाघटयते । अथ तत् सर्वं मा घटिष्टेति चेन्न । तथा प्रतिभासप्रवृत्तिनिषेधप्रत्ययानां सकलजनसाक्षिकत्वेन प्रतीयमानत्वात् । ततश्चार्वाकपरिकल्पिताख्यातिपक्षोऽपि न श्रेयान् ।

ननु[2] मरीचिकाचक्रादौ प्रसिद्धमेव जलादिकं प्रतिभासते । तर्हि सर्वेऽपि तथा कुतो न पश्येयुरिति चेत् अन्ये तु स्वेषां तदुपलब्धिसामग्र्यभावान्न पश्यन्ति । तर्हि यः पश्यति तस्य तद्देशोपसर्पणे तत्प्राप्तिः

४२. भ्रान्तिविषयक अन्य मतों का निरास—अब भ्रान्ति के विषय मे चार्वाक मत का विचार करते हैं । इन के अनुसार सींप में चादी का ज्ञान वास्तव मे विद्यमान ही नही होता । यह सींप का ज्ञान नही है क्यों कि सींप के ज्ञान से चादी को उठाने की इच्छा होना सम्भव नही है । यह चादी का भी ज्ञान नही हो सकता क्यों कि यहा चादी विद्यमान ही नही है । इस तरह अख्याति (दोनों प्रकार के ज्ञान का अभाव) पक्ष ही यहा ठीक है । किन्तु चार्वाकों का यह मत उचित नही । सामने पडी हुई चमकीली सफेद चीज को देख कर यह चादी है ऐसा ज्ञान होना, उसे उठाने की प्रवृत्ति होना तथा बाद में यह चादी नही है ऐसा भ्रमनिरास होना – ये सब बातें सब लोगो के अनुभव से सिद्ध हैं । इस प्रत्यक्ष प्रतीति का अभाव कहना अनुचित है ।

अब भ्रान्ति के विषय मे सांख्यों का मत प्रस्तुत करते है । इन के मतानुसार मृगजल के रूप में प्रतीत होनेवाला जल वास्तविक रूप में विद्यमान ही होता है । फिर सब लोग उसे क्यों नही देख सकते –

१ चार्वाकः । २ सांख्यः अर्थख्यातिमंगीकरोति ।

स्यादिति चेन्न। तस्य जलादेराशुतरविनाशित्वेन प्राप्यत्वासंभवात्। तर्हि तस्यासत्यत्वव्यवहार कथमिति चेत् आशुतरविनाशित्वादेव तत्र[1] असत्यव्यवहारो लोकस्येति ब्रूमः इति सांख्यः प्रत्यवातिष्ठिपत्। सोऽप्ययुक्तिज्ञः तदुक्तेर्विचारासहत्वात्। तथा हि यदुक्तमन्ये तु स्वेषां तदुपलब्धिसामग्र्यभावान्न पश्यन्तीति तदयुक्तम्। नदनदीसरस्तटाकादौ प्रसिद्धजलाद्युपलब्ध्यर्थं प्रतिपुरुषं चक्षुरादिव्यतिरेकेण सामग्र्यन्तरानुपलम्भात्। यदप्यन्यदचर्चत्–आशुतरविनाशित्वादेव तत्र असत्यव्यवहारो लोकस्येति तदसत्। आशुतरविनाशिनि विद्युज्जलधरादौ लोकस्यासत्यव्यवहाराभावात्। जातितैमिरिकस्य यावज्जीवं द्विचन्द्रादिप्रतिपत्तौ सत्यां द्विचन्द्रादेराशुतरविनाशित्वाभावेऽपि लोकस्य मिथ्याव्यवहारसद्भावाच्च। किं च। प्रसिद्धजलादीनां तत्र प्रतीयमानानामाशुतरविनाशेऽपि कर्दम-

इस प्रश्न के उत्तर में वे कहते है कि जिन्हे उस ज्ञान के सहायक कारण प्राप्त नही होते वे उसे नही देख पाते। जिसे मृगजल दिखाई देता है उसे भी पास जाने पर वह प्राप्त क्यों नही होता – इस प्रश्न का उत्तर वे यह देते हैं कि पास पहुंचने तक वह जल नष्ट हो जाता है। बहुत शीघ्र नष्ट होने के कारण ही लोग इसको मिथ्या कहते हैं। किन्तु सांख्यों का यह मत उचित नहीं। जिन्हें मृगजल के ज्ञान के सहायक कारण प्राप्त नही होते वे उसे नही देख पाते – यह उनका कथन व्यर्थ है क्यों कि सब लोगों को तालाब, नदी आदि का जल सिर्फ आखों से ही दिखाई देता है – उस में किन्ही ‘सहायक कारणों’ की जरूरत नही होती। यह जल शीघ्र नष्ट होता है अतः इसे मिथ्या कहते हैं यह कथन भी ठीक नही – बिजली, मेघ आदि भी शीघ्र नष्ट होते हैं किन्तु उन्हे मिथ्या नही कहा जाता। दूसरे, किसी को ‘आकाश में दो चन्द्र हैं’ यह भ्रम दीर्घकाल तक बना रहता है – ये दो चन्द्र शीघ्र नष्ट नही होते – फिर भी इसे मिथ्या ही कहा जाता है। फिर यह सरल बात है कि यदि मृगजल नष्ट भी हो जाता है तो उस के प्रदेश में गीलापन, कीचड आदि कुछ चिन्ह विद्यमान रहते। ऐसे कोई चिन्ह

१ मरीचिकाचक्रादौ।

भूद्रवादिकं तद्देशगतैरुपलभ्येत। न चैवमुपलभ्यते। तस्मात् सांख्यपरिकल्पितप्रसिद्धार्थख्यातिपक्षोऽप्ययुक्त एव।

ननु[1] तत्र प्रतीयमानं जलादिकं सद्रूपं न भवति आत्मवद्बाध्यत्वप्रसंगात्, असद्रूपं न भवति खरविषाणवदप्रतिभासप्रसंगात्, किंतु तत्र तदलौकिकं जलादिकं प्रतिभासते। किमिदमलौकिकत्वमिति चेत् स्नानपानावगाहनाद्यर्थक्रियाऽयोग्यत्वमित्यवोचाम इति भास्करीयवेदान्ती प्रत्यवोचत्। सोऽप्यतत्त्वज्ञानी। तस्य तत्र प्रतीयमानं जलादिकं प्रवृत्तेः पूर्वं लौकिकत्वेन प्रतीयते अलौकिकत्वेन वा। प्रथमपक्षे अलौकिकं जलादिकं लौकिकत्वेन प्रतिभासीति अन्यथाख्यातिरेव स्यात्। द्वितीयपक्षे प्रवृत्तिरेव न स्यात्। अलौकिकत्वेन स्नानपानावगाहनाद्यर्थक्रियायाः अयोग्यत्वेन प्रतिभासमानत्वात्। तस्माद् भास्करीयवेदान्तिपरिकल्पितालौकिकार्थख्यातिरपि न युक्तिमध्यास्ते।

नही रहते इसी से स्पष्ट है कि वहा जल का अस्तित्व ही नही था। अतः साख्यों का प्रसिद्धार्थख्यातिपक्ष भी अनुचित है।

भास्करीय वेदान्तियों के अनुसार यह मृगजल अलौकिक है — यह सत् रूप नही क्यों कि यह सत् होता तो आत्मा के समान ही अबाध्य रहता; यह असत् रूप भी नही क्यों कि यह असत् होना तो गधे के सींग के समान इसका ज्ञान असम्भव होता। अतः इस मृगजल को सत् और असत् दोनों से भिन्न अलौकिक मानना चाहिये। अलौकिक कहने का तात्पर्य यह है कि इस जल से स्नान, पीना आदि कोई अर्थक्रिया नही हो सकती। इस मत का निरसन इस प्रकार है — यह जल लौकिक रूप से प्रतीत होता है या अलौकिक रूप से? यह लौकिक रूप से प्रतीत होता हो तो उसे अलौकिक नही कह सकेंगे — अलौकिक हो कर भी वह लौकिक रूप में प्रतीत होता है यह अन्यथाख्याति ही होगी। यदि अलौकिक रूप मे प्रतीत होता है तो उस से कोई प्रवृत्ति नही होगी — इस जल से स्नान नही किया जा सकता यह ज्ञात हो तो समीप पहुंचने आदि की इच्छा ही नही होगी। अतः दोनों प्रकार से इस मृगजल का अलौकिक होना उचित सिद्ध नही होता।

[1] भास्करीयवेदाती।

[४३. भ्रान्तिविषयकवेदान्तमतनिरासः ।]

ननु[1] शुक्तिकादौ प्रतीयमानं रजतादिकं सद्रूपं न भवति आत्मवद्-वाध्यत्वप्रसंगात्, असद्रूपमपि न भवति खरविषाणवदप्रतिभासप्रसंगात् अपि तु सदसद्विलक्षणमनिर्वाच्यमिति प्रतीतिबाधाभ्यां[2] परिकल्पते। सा[3] च अविद्यैव वेद्यैः रजतादिभिः सह भ्रम इत्युच्यते। तथा चोक्तम्—

सत्त्वेन वाध्यते तावन्नासत्त्वे ख्यातिसंभवः।
सदसद्भ्यामनिर्वाच्याऽविद्या वेद्यैः सह भ्रमः॥ इति।

तच्चानिर्वाच्यरजतं अधिष्ठानभूतशुक्त्यज्ञानादुपादानकारणभूतादुत्पद्यते। अधिष्ठानभूतशुक्तिज्ञानात् सोपादानं रजतं विनश्यतीति तदेव वाध्यते नान्यदिति तावन्मात्रस्य भ्रान्तत्वं नान्यस्य। तदुक्तं—

यावत्तु वाध्यते[4] तावद् भ्रान्तं सर्वं[5] न वाध्यते।
साधिष्ठानो भ्रमस्तस्माद् युक्तो वाधो हि सावधिः॥ इति।

४३. भ्रान्तिविषयक वेदान्त मत का निरास—मायावादियों के मतानुसार भ्रमज्ञान का विषय सत् तथा असत् दोनों से विलक्षण अनिर्वाच्य है – यह सत् होता तो आत्मा के समान अवाध्य होना तथा असत् होता तो गधे के सींग समान इस का ज्ञान ही नही होता। इस सदसद्विलक्षण अविद्या को वेद्य (ज्ञान के विषय) चांदी आदि साथ होने पर भ्रम कहा जाता है। कहा भी है – ‘सत्त्व हो तो बाध नही होगा, असत्त्व हो तो ज्ञान नहीं होगा; अतः अविद्या सत् और असत् दोनों से भिन्न अनिर्वाच्य है, इसी को वेद्य के साथ होने पर भ्रम कहते है।’ इस अनिर्वाच्य चादी का उपादान कारण सीप का अज्ञान है – सीप का अज्ञान नष्ट होते ही यह चादी भी नष्ट होती है। अतः इतने बाधित अंश को ही भ्रान्त कहना चाहिये। कहा भी है – ‘जितना ज्ञान बाधित होता है उसे भ्रान्त कहते हैं, सब ज्ञान बाधित नही होता। अतः भ्रम को अधिष्ठानसहित कहा है तथा बाध को मर्यादित कहा है।’ अतः मायावादियों के अनुसार प्रस्तुत प्रसंग में चांदी को अनिर्वाच्य मानना चाहिए अन्यथा उस के ज्ञान और बाध की

१ मायावादी। २ इदं रजत नेदं रजतम् इति। ३ शुक्तिकादौ रजतप्रतीति। ४ शुक्तौ रजतम्। ५ घटपटादिप्रपंचः।

तस्माद् विवादपदं रजतम् अनिर्वाच्यमेव ख्यातिबाधान्यथानुपपत्तेरिति मायावादिनः प्रत्याचक्षते[१]।

सति चैवं प्रपञ्चोऽपि स्यादविद्याविजृम्भितः।
जाड्यदृश्यत्वहेतुभ्यां रजतस्वप्नदृश्यवत्[२]॥

तेऽप्यतत्त्वज्ञाः। तदुक्तार्थापत्तेः कल्पकाभावात्[३] असिद्धत्वादिति यावत्। तथा हि। विवादास्पदं रजतं ख्यातिबाधारहितं[४] प्रमातुरवेद्यत्वात् परमात्मवत्। न चायमसिद्धो हेतुः। तस्य प्रमातृवेद्यत्वे विवादपदं रजतं शुक्त्यज्ञानादनुत्पन्नं शुक्तिज्ञानादनिवर्त्यं सत्यं च प्रमातृवेद्यत्वात् सम्यग्रजतवदिति स्वयमेवेष्टसिद्ध्यादौ बाधकोपन्यासात्। तथा वीतं रजतं ख्यातिबाधारहितम् अविद्यमानबाधकत्वात् परमात्मवत्। अथात्र अविद्यमानबाधकत्वमसिद्धमिति चेन्न। वीतं रजतम् अविद्यमानबाधकं प्रमातुरवेद्यत्वात् परमात्मवदिति तत्सिद्धेः। तथा वीतं रजतं ख्यातिबाधारहितम् अबाध्यत्वात् परमात्मवत्। अथास्याबाध्यत्वमसिद्धमिति चेन्न। वीतं रजतम् अबाध्यं प्रमातुरवेद्यत्वात् परमात्मवदिति तत्सिद्धेः। तस्माद्

उपपत्ति नही होगी। इसी के आधार पर वे आगे कहते हैं, 'चादी अथवा स्वप्न के समान प्रपंच भी जड और दृश्य है अतः वह भी अविद्या से निर्मित है।'

मायावादियों का यह प्रतिपादन उचित नही। उन्होंने स्वयं प्रस्तुत चादी को प्रमाता के द्वारा अवेद्य माना है – इष्टसिद्धि आदि ग्रन्थों में कहा है कि यदि प्रस्तुत चादी प्रमाता के द्वारा जानी जाय तो वह सत्य होगी, सीप के अज्ञान से उत्पन्न या सीप के ज्ञान से निवृत्त नही होगी। जो चादी प्रमाता के द्वारा जानी ही नही जाती उस की ख्याति (ज्ञान) या उस का बाध सम्भव नही है। इसी प्रकार जो प्रमाता के द्वारा जानी नही जाती उस चादी का बाधक होना भी सम्भव नही है। जिस तरह परमात्मा प्रमाता के द्वारा ज्ञेय नही है उसी तरह यह चादी भी है अतः इसको भी परमात्मा के समान अबाध्य समझना चाहिए। इस तरह ज्ञान

१ मायावादिमते पारमार्थिकसत्ता ब्रह्म व्यावहारिकसत्ता घटपटादि प्रतिभासिकसत्ता शुक्तौ रजतज्ञानं। २ शुक्तौ रजतवत् स्वप्ने पदार्थवत्। ३ अर्थापत्तेः प्रामाणस्य कल्पकाभावात् सामर्थ्याभावात्। ४ अनिर्वाच्यम्।

विवादाध्यासितं रजतं नानिर्वाच्यं ख्यातिबाधारहितत्वात् परमात्मवदिति प्रतिपक्षसिद्धेः।

यच्चान्यद्वादि-अधिष्ठानभूतशुक्तिज्ञानात् सोपादानं रजतं विनश्यतीति-तदप्यनुचितम्। शुक्तिज्ञानात् सोपादानस्य रजतस्य विनाशानुपपत्तेः। तथा हि। वीतं रजतं शुक्तिज्ञानान्न निवर्तते कार्यत्वात् रजतत्वाच्च[1] प्रसिद्धरजतवत्। तथा शुक्तिज्ञानं रजतनिवर्तकं न भवति ज्ञानत्वात् पटज्ञानवत्, शुक्तिव्यतिरिक्तत्वात् प्रसिद्धशुक्तिज्ञानवत्। तथा अधिष्ठानभूतयाथात्म्यज्ञानं न रजतबाधकं वस्तुयाथात्म्यवित्तित्वात् अर्थान्तरावभासत्वात् रजतासत्त्वावेदकत्वात् च पटयाथात्म्यवित्तिवत्। विनाशकत्वात् प्रहरणवदिति[2] रजतस्य शुक्तिज्ञाननिवर्त्यत्वं शुक्तिज्ञानस्य वा रजतनिवर्तकत्वं न जाघटयते। तथैव रजतोपादानस्यापि शुक्तिज्ञाननिवर्त्यत्वं शुक्तिज्ञानस्य वा रजतोपादाननिवर्तकत्वं नोपपनीपद्यते। तत् कथमिति चेदुच्यते। रजतोपादानं शुक्तिज्ञानान्न निवर्तते उपादानत्वात् वस्त्रोपादानवत्। शुक्तिज्ञानं रजतोपादाननिवर्तकं न भवति ज्ञानत्वात् पटज्ञानवत्। शुक्तिसंवेदनत्वात् प्रसिद्धशुक्तिसंवेदनवत्। तथा शुक्तिज्ञानम् अविद्यानिवर्तकं न भवति जडत्वात्[3] पटवत्। अथ शुक्तिज्ञानस्य जडत्वमसिद्ध-

और बाध दोनों के अभाव में इसे अनिर्वाच्य नही कहा जा सकता।

सींप के ज्ञान से प्रस्तुत चांदी अपने उपादानकारण अज्ञान के साथ नष्ट होती है यह कथन भी अनुचित है। ज्ञान किसी पदार्थ का नाशक नही होता। अतः सींप के ज्ञान से चांदी नष्ट होती है यह कहना सम्भव नही। सींप के ज्ञान से सींप का अस्तित्व प्रमाणित होता है – चांदी का अभाव उस से प्रमाणित नही होता। सींप का ज्ञान किसी आयुध के समान विनाशक नही है, अतः उस से चांदी का नाश सम्भव नही है। इस चांदी का उपादान कारण सींप के ज्ञान से नष्ट होता है यह कथन भी इसी प्रकार अनुचित है। ज्ञान किसी वस्तु के उपादान का नाशक नही होता। दूसरे, सींप का ज्ञान उत्पत्तियुक्त है, विनाशशील है, संवेद्य है अतः वह जड है ऐसा मायावादी मानते है। फिर ऐसे जड ज्ञान से चांदी के उपादानरूप अविद्या की निवृत्ति

१ शुक्तेः यदि भिन्नं रजतमुत्पद्यते तर्हि निवर्त्यते। २ शुक्तिज्ञानं रजतनिवर्तकं न भवति नाशकत्वात् प्रहरणवत्। ३ शुक्त्यादिज्ञानं जडं मायावादिमते।

मिति चेन्न। शुक्तिज्ञानं जडम् उत्पत्तिमत्त्वात् विनाशित्वात् संवेद्यत्वात् घटवदिति शुक्तिज्ञानादेर्जडत्वस्य स्वयमेवाभिधानात्[1]। तथा विवादपदा अविद्या अधिष्ठानयाथात्म्यज्ञानान्न निवर्तते प्रागभावान्यत्वे सति[2] अनादित्वात्[3] परमात्मस्वरूपवदिति बहूनां प्रयोगाणां सद्भावादिति।

यदप्यन्यदभ्यधायि–तच्चानिर्वाच्यं रजतम् अधिष्ठानभूतशुक्त्यज्ञानादुपादानकारणभूतादुत्पद्यत इति तदयुक्तम्। रजतस्याज्ञानोपादानकारणकत्वानुपपत्तेः। कुतः वीतं रजतम् अज्ञानोपादानं न भवति दृश्यत्वात् उत्पन्नत्वात् विनाशित्वात् जडत्वात् पटवत्। अज्ञानस्य रजतोपादानकारणत्वानुपपत्तेः। तथा हि। शुक्त्यज्ञानं रजतोपादानं न भवति शुक्त्यज्ञानत्वात् प्रसिद्धशुक्त्यज्ञानवत्। तथा हि। शुक्त्यज्ञानं न रजतोपादानकारणम् अज्ञानत्वात् निषेधत्वात् कुम्भाज्ञानवत्। तथा शुक्त्यज्ञानं रजतोपादानकारणं न भवति अद्रव्यत्वात् अभावत्वात् अन्योन्याभाववत् इति। नन्वज्ञानस्य अभावत्वमसिद्धं तत् कुत इति चेत् अज्ञानं धर्मि अभावो न भवतीति साध्यो धर्मः पदार्थावारकत्वात्[4] पटादिवदिति प्रमाणसद्भावादिति चेन्न। हेतोरसिद्धत्वात्[5]। तत् कथम्। अज्ञानस्य अर्थावारकत्वानुपपत्तेः। तथा हि। अज्ञानमर्थावारकं न भवति बाह्येन्द्रियाविषयत्वात् विज्ञानवत्। तथा अज्ञानमर्थावारकं न भवति प्रतिषेध-

कैसे सम्भव होगी? अविद्या को अनादि माना है। अतः किसी वस्तु के ज्ञान से उसकी निवृत्ति सम्भव नही है – जो अनादि है उसकी निवृत्ति नही होती।

इस चांदी की उत्पत्ति आधारभूत सींप के अज्ञान रूप उपादान कारण से होती है यह कथन भी ठीक नही। प्रस्तुत चांदी दृश्य है, उत्पन्न तथा विनष्ट होती है और जड है अतः यह अज्ञान से उत्पन्न नही हो सकती। इसी प्रकार सींप का अज्ञान निषेधरूप, अभावात्मक वस्तु है, द्रव्य नही, अतः यह किसी वस्तु का उपादान कारण नही हो सकता। अज्ञान पदार्थ का आच्छादक है अतः वह अभावात्मक नही यह कहना भी ठीक नही। अज्ञान यदि पदार्थ का आच्छादक होता तो

१ मायावादिना। २ प्रागभावः अनादिरस्ति परन्तु सान्तोऽस्ति अत उक्तं प्रागभावान्यत्वे सति। ३ अविद्या तु अनादिरूपा। ४ आच्छादकत्वात्। ५ आश्रयासिद्धो हेतुः।

स्वरूपत्वात्[1] प्रसिद्धाभाववदिति। अज्ञानं धर्मि अर्थावारकं न भवति अद्रव्यत्वात् विज्ञानवत्। ननु अज्ञानमभावो न भवति उपादानकारणत्वात् तन्त्वादिवदिति अज्ञानस्य अभावत्वाभाव इति चेन्न। अत्रापि हेतोरसिद्धत्वात्। तत् कुतः अज्ञानस्य उपादानकारणत्वानुपपत्तेः। तथा हि। वीतं रजतादिकम् अज्ञानोपादानकारणकं न भवति तदन्वयव्यतिरेकानुविधानरहितत्वात् पटादिवत्। तथा वीतं रजतादिकं नाज्ञानोपादानकारणकं तत्रासमवेतत्वात् पटादिवदिति। ननु पटस्याप्यज्ञानोपादानकारणत्वाभ्युपगमात् साध्यविकलो दृष्टान्त इति चेन्न। पटस्याज्ञानोपादानकारणत्वानुपपत्तेः। कुतः वस्त्रं धर्मि तन्तूपादानकारणमेव तदन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात् तत्रैव समवेतत्वात् व्यतिरेके संविदादिवदिति[2] प्रमाणद्वयसद्भावात्। तस्मादज्ञानं धर्मि अभावो भवतीति साध्यो धर्मः प्रतियोगिनिषेधरूपत्वात् नञ्पूर्वपदवाच्यत्वाच्च प्रसिद्धाभाववदिति तद्विपक्ष[3]सिद्धिः।

बाह्य इन्द्रियों से ज्ञान होता। वह अभाव के समान ही निषेधरूप है अतः अभावात्मक है। अज्ञान पदार्थ का आच्छादक नही हो सकता क्यों कि वह कोई द्रव्य नही है। अज्ञान चांदी का उपादान कारण नही है यह मानने का कारण यह भी है कि चांदी और अज्ञान मे अन्वयव्यतिरेक का कोई सम्बन्ध नही पाया जाता (अज्ञान हो तो चांदी होती है, न हो तो नही होती – ऐसा सम्बन्ध नही पाया जाता)। वस्त्र के समान चांदी भी अज्ञान मे समवेत नही है अतः वह अज्ञान से उत्पन्न नही हो सकती। मायावादी वस्त्र को भी अज्ञान से उत्पन्न माने यह भी उचित नही क्यों कि वस्त्र का उपादान कारण तन्तु है यह प्रसिद्ध है। तन्तु और वस्त्र में अन्वयव्यतिरेक सम्बन्ध पाया जाता है, वस्त्र तन्तुओं में ही समवेत है अतः तन्तु ही वस्त्र के उपादान कारण हैं। तात्पर्य यह है कि वस्त्र के समान प्रस्तुत चांदी भी अज्ञान से उत्पन्न नही हो सकती। अज्ञान निषेधरूप है अतः उसे अभावात्मक मानना चाहिए – अ-ज्ञान इस शब्द में ही ज्ञान का अभाव यह अर्थ स्पष्ट है।

१ अभावस्तु पदार्थरूपो न अतः आवारको न। २ यत्तु तंतूपादानकारणकं न भवति तत् तदन्वयव्यतिरेकानुविधायि न भवति यथा संविदादि। ३ अज्ञानं अभावो न भवति इति अनुमानस्य।

ननु ज्ञानं स्वप्रकाशाद् विनाश्यवत्[1] प्रकाशत्वात् प्रदीपवदिति। अत्र ज्ञानं विनाश्यवदित्युक्ते स्वोत्पत्त्या विनाश्यप्रागभाववत्त्वात् सिद्धसाध्यताप्रसंगः, तद्व्यवच्छेदार्थं स्वप्रकाशाद् विनाश्यवदित्युक्तम्। प्रदीपे यथा स्वोत्पत्त्या प्रागभावो विनाश्यते स्वप्रकाशादन्धकारो विनाश्यते तद्वदत्रापि ज्ञानोत्पत्त्या ज्ञानप्रागभावो विनाश्यते ज्ञानप्रकाशात् प्रागभावादन्या अविद्या विनाश्यते इति अविद्यायाः अभावादन्यप्रसिद्धिरिति[2] चेन्न। हेतो[3]र्विचारासहत्वात्। तथा हि। प्रकाशत्वं नाम अनुभवत्वं प्रकाशत्वमात्रं वा। प्रथमपक्षे[4] अनुभवस्य हेतोः सपक्षे[5]ऽभावेन पक्ष एव वर्तमानत्वात् अनध्यवसितत्वमेव स्यात्। साधनविकलो दृष्टान्तश्च। द्वितीयपक्षे पक्षीकृते ज्ञाने उद्योतत्वाभावात् स्वरूपासिद्धो हेत्वाभासः स्यात्। तृतीयपक्षो नोपपनीपद्यत एवाजडजडयोरनुभवोद्योतत्वयोः प्रकाशत्वस्यासामान्यसंभवात्[6]। किं च। ज्ञानं धर्मि तत्र नित्यानुभवः पक्षीक्रियते करणवृत्तिर्वा[7]। प्रथमपक्षे स्वप्रकाशाद् विनाश्यवदिति प्रसाध्यत्वे मायावादिनो अपसिद्धान्त एव स्यात्। तन्मते नित्यानुभवनिवर्त्याविद्याभावेन[8] स्वप्रकाशाद् विनाश्याभावाङ्गीकारात्। द्वितीय-

ज्ञान अपने प्रकाश से किसी वस्तु का नाश करता है वही अज्ञान है – जैसे दीपक के प्रकाश से अन्धःकार का नाश होता है वैसे ज्ञान के प्रकाश से अज्ञान का नाश होता है; ज्ञान की उत्पत्ति से ज्ञान के अभाव का तथा ज्ञान के प्रकाश से अज्ञान का नाश होता है अतः अज्ञान और अभाव भिन्न हैं – यह कथन भी ठीक नही। दीपक के प्रकाश और ज्ञान के प्रकाश में मौलिक अन्तर है। दीपक का प्रकाश तो जड है, ज्ञान का प्रकाश चेतन अनुभवरूप है अतः इन दोनों में उपमा द्वारा विनाश्य वस्तु का स्वरूप सिद्ध नही होता। इस प्रश्न का प्रकारान्तर से भी विचार करते हैं। यहा ज्ञान से अज्ञान का विनाश होता है इस विधान में ज्ञान का तात्पर्य नित्य अनुभव से है या साधनरूप ज्ञान से है? प्रथमपक्ष सम्भव नही क्यों कि मायावादियों के मत से नित्य

१ विनाशितुं योग्यं विनाश्यं विनाश्यमस्यास्तीति विनाश्यवत्। २ अविद्या अभावरूपा न भवति किंतु भावरूपा इत्यर्थः इति चेन्न। ३ प्रकाशत्वस्य हेतोः। ४ ज्ञानं स्वप्रकाशाद् विनाश्यवत् अनुभवत्वात् प्रदीपवत्। ५ दीपे। ६ सामान्यासंभवात् असामान्यमात्रम्। ७ नित्यानुभवः ज्ञानं करणवृत्तिर्वा ज्ञानम्। ८ नित्यायाः अविद्यायाः नित्यानुभवेन निवर्तितुं न शक्यते नित्यत्वात्।

पक्षोऽप्ययुक्त एव। करणवृत्तिरूपस्य ज्ञानस्य अविद्यानिवर्तकत्वासंभवात्। तथा हि। करणवृत्तिरूपं ज्ञानम् अविद्यानिवर्तकं न भवति जडत्वात् पटादिवदिति। ननु ज्ञानस्य जडत्वमसिद्धमिति चेन्न। करणवृत्तिरूपं ज्ञानं जडम् उत्पत्तिमत्त्वात् वेद्यत्वात् पटादिवदिति वेदान्तिभिरवाभिहितत्वात्। अथ ज्ञानं स्वप्रकाशाद् विनाश्यवत् तमोरित्वात् प्रदीपवदिति अज्ञानस्य अभावादन्यत्वसिद्धिरिति[1] चेन्न। अस्यापि हेतोर्विचारासहत्वात्। तथा हि तमोऽरित्वं नाम अज्ञानारित्वमन्धकारारित्वं तमोरित्वमात्रं वा। प्रथमपक्षे हेतोः सपक्षे सर्वत्राभावादनध्यवसितत्वं स्यात् साधनविकलो दृष्टान्तश्च[2]। द्वितीयपक्षे स्वरूपासिद्धो हेतुः पक्षीकृते ज्ञाने अन्धकारारित्वाभावात्। तृतीयपक्षो नोपपनीपद्यते अजडजडयोर्ज्ञानान्धकारारित्वयोस्तमोरित्वसामान्याभावात्। अन्यदधिकं पूर्ववत्। तस्मात् ज्ञानं स्वप्रकाशात् विनाश्यरहितम् इन्द्रियाविषयत्वात् रूपादिरहितत्वात् अद्रव्यत्वात् प्रमाणत्वात् निष्क्रियत्वात् अजडत्वात् विपक्षे प्रदीपवदिति[3]

अनुभव से नष्ट होनेवाली कोई अविद्या नही होती – नित्य अनुभव के प्रकाश से किसी अज्ञान का नाश नही होता। दूसरा पक्ष भी सम्भव नही क्यों कि साधनरूप ज्ञान को वेदान्ती जड मानते हैं तथा जड ज्ञान से अविद्या की निवृत्ति नही हो सकती। साधनरूप ज्ञान उत्पत्तियुक्त तथा ज्ञेय है अतः वह जड है यह वेदान्तियों का मत है। ज्ञान तम का विरोधी है अतः उस के द्वारा किसी का नाश होता है – वही अज्ञान है यह कथन भी उपर्युक्त प्रकार से ही दूषित है। ज्ञान चेतन है तथा अन्धकार जड है अतः उन में नाशक-नाश्य सम्बन्ध सम्भव नही है। ज्ञान किसी वस्तुको नष्ट नही करता क्यों कि वह इन्द्रियों से ज्ञात नही होता, रूपादि गुणों से रहित है, द्रव्य नही है (गुण है), निष्क्रिय है तथा चेतन है (जड नही है)। इस के प्रतिकूल दीपक जड है, क्रियायुक्त है, द्रव्य है, रूपादि गुणों से युक्त है तथा इन्द्रियों से ज्ञात होता है। अतः ज्ञान का अभाव ही अज्ञान है यह स्पष्ट हुआ। तदनुसार अज्ञान चांदी का उपादान कारण नही हो सकता यह भी स्पष्ट है।

१ ज्ञानप्रकाशात् यत् विनाश्यं भवति तत् अभावरूपं न, अभावस्य विनाशितुं अशक्यत्वात्। २ अज्ञानारित्वं प्रदीपे नास्ति। ३ यत्तु विनाश्यसहितं तत्तु इंद्रियविषयं इत्यादि यथा दीपः।

अज्ञानस्याभावादनन्यत्वम्[१]। तथा च शुक्त्यज्ञानं न रजतोपादानम् अभावत्वात् अन्योन्याभाववदिति समर्थितं भवति।

यदप्यन्यत् प्रथमतोऽभ्यधायि-शुक्तिकादौ प्रतीयमानं रजतादिकं सद्रूपं न भवति आत्मवदबाध्यत्वप्रसङ्गात् असद्रूपं न भवति खरविषाणवदप्रतिभासप्रसङ्गात् अपि तु सदसद्विलक्षणमनिर्वाच्यमिति प्रतीतिबाधाभ्यां[२] परिकल्पत इति-तदप्यसारम्। शुक्तिरजतादेः प्रमातृवेद्यत्वाभावेन प्रतिभासासंभवात्। बाधासंभवश्च कुतः? प्रमातृवेद्यत्वाभावेनैव। ननु शुक्तिरजतादेः[३] साक्षिवेद्यत्वात्[४] प्रतिभासोऽस्तीति चेत् तर्हि साक्षिण एव भ्रान्तिः स्यात्। न प्रमातृणाम्। एकस्य शुक्तौ रजतप्रतिभासे अन्यस्य भ्रान्तिरिति विप्रतिषेधात्[५]। ननु साक्षिणः सकाशात् प्रमातृणामन्यत्वाभावात्[६] न तद्विप्रतिषेध इति चेन्न। साक्षिपुरुषस्य ब्रह्मसाक्षात्कारसद्भावेन प्रमातृणामपि तत्प्रसंगात्। तथा च संसाराभाव एव स्यात्। न चैवं, तस्मात् साक्षिणः सकाशात् प्रमातृणां भेद एव। तथा च

इस चर्चा के पूर्वपक्ष मे जो यह कहा है कि यह चादी प्रतीत होती है यह सत् नही है क्यों कि सत् हो तो वह आत्मा के समान अबाधित रहेगी, तथा असत् भी नही है क्यों कि असत् हो तो गधे के सींग के समान प्रतीत ही नहीं होगी अतः वह सत् और असत दोनों से भिन्न अनिर्वाच्य है – यह कथन उचित नही है। वेदान्त मत मे इस चादी को प्रमाता द्वारा वेद्य नही माना है। जो प्रमाता द्वारा जानी नही जाती वह प्रतीत होती है या बाधित होती है यह कहना कैसे सम्भव है? यह चादी प्रमाता द्वारा वेद्य नही किन्तु साक्षी (परमात्मा) द्वारा वेद्य है अतः उस की प्रतीति और वाध सम्भव हैं यह कथन भी ठीक नहीं। यदि यह चादी साक्षी द्वारा वेद्य है तो भ्रम भी साक्षी को ही होगा – प्रमाता को भ्रम होना सम्भव नही। साक्षी और प्रमाता भिन्न नही है अतः यह आपत्ति नही आती – यह कथन भी ठीक नही। साक्षी और प्रमाता यदि भिन्न नही तो साक्षी के ब्रह्मसाक्षात्कार से प्रमाता को ब्रह्मसाक्षात्कार क्यों नही हो जाता? दोनों के ब्रह्मसाक्षात्कार में भेद है अतः दोनों

१ अज्ञानम् अभाव एव इति जैनैः स्थापितम्। २ इद रजतमिति प्रतीतिः नेदं रजतमिति बाधा। ३ अनिर्वाच्यस्य। ४ ब्रह्मणः वेद्यत्वं साक्षिवेद्यत्वं। ५ विरोधात्। ६ अभेदात्।

साक्षिणः शुक्तौ रजतप्रतिभासे प्रमातृणां तत्प्रतिभासाभावेऽपि भ्रान्तिरिति विप्रतिषिद्धमेव। तस्मात् शुक्तिरजतादेरनिर्वचनीयत्वपक्षोऽपि न जाघटीति।

सति चैवं प्रपञ्चोऽपि न चाविद्याविजृम्भितः।
नित्यानुभववेद्यत्वात् परब्रह्मस्वरूपवत् ॥

[४४. प्रपञ्चसत्यत्वसमर्थनम्।]

ननु प्रपञ्चस्य प्रमातृवेद्यत्वेन नित्यानुभववेद्यत्वाभावादसिद्धो हेत्वाभास इति चेन्न। तन्मते[1] प्रमातृप्रत्यक्षादिना[2] अर्थप्रकाशाभावात्। तत् कथमिति चेत् करणवृत्तिरूपज्ञानेन अर्थावारकमज्ञानमपसार्यते[3] तदपसारणे नित्यानुभवादेवार्थप्रकाश इति मायावादवेदान्ते प्रतिपादितत्वात्। तस्य भासा[4] सर्वमिदं विभातीत्यादि श्रुतेश्च। अथ परब्रह्मस्वरूपस्य स्वसंवेद्यत्वेन नित्यानुभववेद्यत्वाभावात् साधनविकलो दृष्टान्त[5] इति चेन्न। तस्य तथैव[6] नित्यानुभववेद्यत्वसंभवात्। तत् कथम्। परब्रह्मस्वरूप-

को भिन्न मानना आवश्यक है। तात्पर्य — साक्षीद्वारा जाने जाने से प्रमाता को भ्रम होना सम्भव नही, प्रमाता द्वारा चादी वेद्य नही अतः उसे उसकी प्रतीति या बाध नही हो सकते। अतः वेदान्त मत का अनिर्वचनीयवाद उचित नही है। 'तदनुसार प्रपंच भी अविद्यानिर्मित नही है क्यों कि परब्रह्म के समान प्रपंच का ज्ञान भी नित्य अनुभव से होता है।'

४४. प्रपञ्च सत्य है—वेदान्तदर्शन का मन्तव्य है कि प्रमाता के प्रत्यक्ष आदि द्वारा अर्थ का ज्ञान नही होता। प्रमाता के करण वृत्तिरूप (इन्द्रिय आदि से प्राप्त) ज्ञान से अर्थ का आच्छादक अज्ञान दूर होता है तथा उस के बाद नित्य अनुभव से अर्थ का ज्ञान होता है — इस आशय का उपनिषद् वचन भी है — 'उस (ब्रह्म) के प्रकाश से यह सब प्रकाशित होता है'। यदि इस मन्तव्य के अनुसार प्रपंच भी नित्य अनुभव से ही ज्ञात होता है तो उसे भी परब्रह्म के समान मानना चाहिए — अविद्या से निर्मित नही मानना चाहिए। प्रपंच नित्य अनुभव

१ मायावादिमते। २ इन्द्रियवृत्तिरूपप्रत्यक्षादिना। ३ निवार्यते। ४ ब्रह्मणः ज्ञानेन। ५ परब्रह्मस्वरूपवत् इति दृष्टान्तः। ६ प्रतिपादितप्रकारेण।

स्यैव नित्यानुभवत्वेन तस्य स्वसंवेद्यत्वाङ्गीकारे नित्यानुभववेद्यत्वसद्भावात्। तथा प्रपञ्चो धर्मी सत्यो भवतीति साध्यो धर्मः। अधिष्ठानयाथात्म्यप्रतिभासेऽपि[1] प्रतिभासमानत्वात् यः सत्यो न भवति सोऽधिष्ठानयाथात्म्यप्रतिभासेऽपि प्रतिभासमानो न भवतीति यथा रज्जुसर्पादिः[2] तथा चायं तस्मात् तथा[3]। अथ प्रपञ्चप्रतिभासकाले अधिष्ठानयाथात्म्यप्रतिभासाभावादसिद्धो हेतुरिति चेन्न। अधिष्ठानयाथात्म्यस्य[4] सर्वदा प्रतिभाससद्भावात्। कुतः। नित्यानुभवरूपस्य[5] ब्रह्मणोऽधिष्ठानरूपस्य नित्यस्वसंवेद्यत्वेन तद्याथात्म्यस्य नित्यप्रकाशसद्भावात्। तथा सत्यः प्रपञ्चः ब्रह्मस्वरूपत्वात् व्यतिरेके रज्जुसर्पादिवत्[6]। ननु प्रपञ्चस्य ब्रह्मरूपत्वमसिद्धमिति चेन्न। श्रुतिप्रमाणेन तस्य तत्स्वरूपत्वनिश्चयात्। तत् कथम्। 'सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म' (छान्दोग्य ३·१४·१), 'पुरुष एवेदं यद्भूतं

से ज्ञात होता है और परब्रह्म स्वसंवेद्य है अतः दोनों मे भेद है – यह कथन भी उचित नही। परब्रह्म का स्वरूप ही नित्य अनुभव है अतः परब्रह्म का स्वसंवेदन और नित्य अनुभव द्वारा जाना जाना एकही है। प्रपंच और परब्रह्म दोनों नित्य अनुभव से जाने जाते हैं अतः दोनों को समान रूप से सत्य होना चाहिए।

प्रपंच के सत्य होने का प्रकारान्तर से भी समर्थन होता है। प्रपंच यदि असत्य होता तो प्रपंच के अधिष्ठान परम ब्रह्म का ज्ञान हो जाने पर प्रपंच का ज्ञान नही होता। रस्सी का ज्ञान हो जाने पर सर्प का ज्ञान नही होता अतः रस्सी को सत्य और सर्प को असत्य कहा जाता है। किन्तु परब्रह्म व नित्य अनुभव से ज्ञान-स्वसंवेदन सर्वदा विद्यमान होने पर भी प्रपच की प्रतीति होती ही है – अतः प्रपंच असत्य नही हो सकता।

उपनिषद्वाक्यो में कई जगह प्रपंच को ब्रह्मस्वरूप ही कहा है इस से भी प्रपंच के सत्य होने का समर्थन होता है। जैसे कि कहा है – 'यह सब ब्रह्म ही है; जो हुआ और जो होगा वह सब पुरुष ही है।' प्रपंच ब्रह्मस्वरूप है और ब्रह्मस्वरूप सत्य है अतः प्रपंच

१ अधिष्ठानयाथात्म्यं किं परमब्रह्म एव। २ रज्जुः सर्पस्य अधिष्ठानयाथात्म्यभूता तस्याः प्रतिभासेपि सर्पः न प्रतिभासते। ३ प्रतिभासमानत्वात् सत्य एव। ४ परमब्रह्मणः। ५ नित्यज्ञानस्य। ६ यः सत्यो न भवति स ब्रह्मस्वरूपो न भवति यथा रज्जुसर्पादि।

यच्च भाव्यम्' (ऋग्वेद १०·९०·२) इत्यादीनां बहुलमुपलम्भात्। अथ रज्जुसर्पादेः ब्रह्मस्वरूपत्वात् साधनाव्यावृत्तो व्यतिरेकदृष्टान्त इति चेन्न। रज्जुसर्पादि न ब्रह्मस्वरूपं ब्रह्माधिष्ठानत्वेनानुत्पन्नत्वात् व्यतिरेके व्योमादिवदिति[1] प्रयोगसद्भावात्। ननु रज्जुसर्पादेर्ब्रह्माधिष्ठानत्वेनानुत्पन्नत्वमसिद्धमिति चेन्न। रज्जुसर्पादिकं ब्रह्माधिष्ठानत्वेन नोत्पद्यते ब्रह्मसाक्षात्कारपर्यन्तमस्थितत्वात् व्यतिरेके व्योमादिवदिति[2] तत्सिद्धेः। तथा वीतः प्रपञ्च सत्यः ब्रह्मोपादानकारणत्वात्[3] व्यतिरेके स्वप्नप्रपञ्चवत्[4]। अथ प्रपञ्चस्य ब्रह्मोपादानकारणत्वमसिद्धमिति चेन्न। श्रुतिस्मृतिभ्यां प्रपञ्चस्य ब्रह्मोपादानकारणकत्वसिद्धेः। ते कीदृश्यावित्युक्ते वक्ति। 'आत्मन आकाशः संभूतः' (तैत्तिरीय उपनिषत् २-१-१) इत्यादि श्रुतिः।

ऊर्णनाभ[5] इवांशूनां चन्द्रकान्त इवाम्भसाम्।
प्ररोहाणामिव प्लक्षः स हेतुः सर्वजन्मिनाम्॥

इत्यादि स्मृतिश्च। तथा प्रपञ्चो धर्मी सत्यो भवति अबाध्यत्वात् आत्म-

भी सत्य सिद्ध होता है। रस्सी में प्रतीत होनेवाले सर्प आदि जो वस्तुएं असत्य है वे ब्रह्मस्वरूप नही है – क्यों कि आकाश आदि के समान उन का अधिष्ठान ब्रह्म नही है। यदि रस्सी में प्रतीत होनेवाले सर्प का अधिष्ठान ब्रह्म होता तो ब्रह्मसाक्षात्कार तक उस सर्प का ज्ञान बना रहता – जैसे आकाश आदिका बना रहता है। किन्तु ऐसा ज्ञान बना नही रहता अतः वह ब्रह्म-अधिष्ठान से उत्पन्न नही है। प्रपंच ब्रह्म अधिष्ठानसे उत्पन्न है अतः वह सत्य है।

श्रुति-स्मृति में प्रपंच का उपादान कारण ब्रह्म कहा है इस से भी प्रपंच सत्य सिद्ध होता है। जैसे कि कहा है – 'आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ।'; 'तन्तुओं का जन्मकारण मकडी है, पानी का जन्मकारण चन्द्रकान्त रत्न है अथवा अंकुरों का जन्मकारण पिप्पलवृक्ष है उसी प्रकार सब प्राणियों का जन्मकारण वह (ब्रह्म) है।'

प्रपंच ब्रह्म के समान ही अबाध्य है अतः उसे सत्य मानना

१ यत् ब्रह्मस्वरूपं भवति तत् ब्रह्माधिष्ठानत्वेन अनुत्पन्नं न भवति यथा व्योमादि। २ यत्तु रज्जुसर्पादिकं न भवति तत्तु ब्रह्माधिष्ठानत्वेन उत्पद्यते यथा व्योमादि। ३ ब्रह्मैव उपादानकारणं यस्य स तस्य भावः तस्मात्। ४ यः सत्यो न भवति स ब्रह्मोपादानकारणको न भवति यथा स्वप्नप्रपञ्चः। ५ तन्तूनां कारणम्।

स्वरूपवत्। अथ प्रपञ्चस्याबाध्यत्वमसिद्धमिति चेन्न। वीतः प्रपञ्चः अबाध्यः बाधकेन विहीनत्वात् परमात्मस्वरूपवत् इति तत्सिद्धेः। ननु प्रपञ्चस्य बाधकेन विहीनत्वमसिद्धमिति चेन्न। प्रत्यक्षादिप्रमाणानां तद्बाधकत्वानुपपत्तेः[1]। तथा हि। अस्मदादीनां प्रत्यक्षं तावद् बाधकं न भवति अपि तु साधकमेव। यावज्जीवं सर्वैरपि पृथिव्यादिप्रपञ्चसत्यत्वस्यैव प्रत्यक्षेण ग्रहणात्। नानुमानमपि बाधकं तथाविधानुमानाभावात्। ननु प्रपञ्चो मिथ्या जडत्वात् रज्जुसर्पवदित्यस्तीति[2] चेन्न। हेतोर्भागासिद्धत्वात्। तत् कथम्। पक्षीकृतेषु प्रमिति[3]-प्रमाणप्रमातृषु जडत्वादिति हेतोरप्रवृत्तेः। कुतः अन्तःकरणावच्छिन्नं चैतन्यं प्रमातृ, प्रतिफलितविषयाकारमनोवृत्त्युपहितचैतन्यं प्रमाणं, मेयावच्छिन्नं[4] प्रमितिः, तेषां चैतन्यस्वरूपत्वेन जडत्वाभावात्। तथा प्रमित्यादिकम् अजडं स्वप्रतिबद्धव्यवहारे संशयादिव्यवच्छेदाय परानपेक्षत्वात् परमात्मस्वरूपवदिति प्रमाणसद्भावाच्च। ननु प्रमित्यादिकं जडं वेद्यत्वात् उत्पत्तिमत्त्वात् पटादिवदिति तेषां जडत्वसिद्धिरिति चेन्न।

चाहिए। प्रपंच के अबाध्य होने का स्पष्टीकरण इस प्रकार है – हमारे प्रत्यक्ष से तो प्रपच बाधित नही होता – सत्य ही सिद्ध होता है। सभी लोग पृथिवी आदि की सत्यता को प्रत्यक्ष से ही जीवनभर जानते हैं। अनुमान से भी प्रपंच बाधित नही होता। रस्सी मे प्रतीत साप के समान प्रपंच भी जड है अतः मिथ्या है – यह अनुमान वेदान्ती प्रस्तुत करते है। किन्तु प्रपंच मे प्रमाता, प्रमाण, प्रमिति इन का भी समावेश है – ये जड नही है अतः प्रपंच जड कैसे हो सकता है? वेदान्त में भी अन्तःकरण से अवच्छिन्न चैतन्य को प्रमाता माना है, प्रतिबिम्बित विषय के आकार की मनोवृत्ति से अवच्छिन्न चैतन्य को प्रमाण माना है तथा प्रमेय से अवच्छिन्न चैतन्य को प्रमिति माना है – ये सब चेतन है अतः उन्हें मिथ्या नही कहा जा सकता। प्रमिति आदि के विषय में संशय हो तो वह किसी दूसरे द्वारा दूर नही होता इससे भी इन का स्वसंवेद्य अतएव चेतन होना स्पष्ट है। प्रमिति आदि उत्पन्न होती है और ज्ञात होती है अतः वस्त्र आदि के समान जड है यह वेदान्तियों का

१ प्रपञ्चस्य। २ इति बाधकमनुमानमस्तीति चेन्न। ३ अज्ञानपरिच्छित्तिः। ४ चैतन्यम्।

प्रथमहेतोर्ब्रह्मणा व्यभिचारात्। कुतः 'सर्वप्रत्ययवेद्ये वा ब्रह्मरूपे व्यवस्थिते' (ब्रह्मसिद्धि ४-३) इति स्वयमेवाभिधानात्। तस्य वेद्यत्वेऽपि जडत्वाभावात्। द्वितीयहेतोरसिद्धत्वाच्च। कथम्। तच्चैतन्यस्योत्पत्तिमत्त्वाभावेन हेतोरसिद्धत्वात्। तदुत्पत्तिमत्त्वाभावः कथम्।–' नित्यं ज्ञानमानन्दं ब्रह्म '–इति श्रुतेः। प्रमित्यादिकं नोत्पत्तिमत् चिद्रूपत्वात् ब्रह्मस्वरूपवदित्यनुमानाच्च। जातिदूषणाच्च। कुतः प्रत्यनुमानेन प्रत्यवस्थानं प्रकरणसमा जातिरिति वचनात्[1]। अपि च। ' सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म ', ' पुरुष एवेदं यद् भूतं यच्च भाव्यम् ' इत्यादिभिः श्रुतिभिः प्रपञ्चस्य ब्रह्मात्मकत्वसिद्धिः। जडत्वादिति स्वरूपासिद्धो हेतुः स्यात्।

[४५ प्रपञ्चमिथ्यात्वनिषेधः।].

किं च। प्रपञ्चो मिथ्या इत्यसत्त्वं प्रसाध्यते अनिर्वचनीयत्वं वा। प्रथमपक्षे मायावादिनामपसिद्धान्तः[2] शून्यवादिमतप्रवेशश्च। द्वितीयपक्षे

अनुमान है। किन्तु यह उचित नही। प्रमिति के समान ब्रह्म भी ज्ञात होता है – जैसे कि कहा है – ' सब प्रत्ययों से ब्रह्मरूप ही ज्ञात होता है ', अतः ब्रह्म के समान प्रमिति को भी चेतन समझना चाहिए। प्रमिति आदि उत्पन्न होती हैं यह कथन भी ठीक नही क्यों कि चैतन्य कभी उत्पन्न नहीं होता, नित्य होता है – जैसे कि, कहा है – ' नित्य ज्ञान और आनन्द ही ब्रह्म का स्वरूप है '। प्रपंच को ब्रह्म का ही रूप बतलानेवाले उपनिषद्-वचन पहले उद्धृत किये हैं उन से भी प्रपंच का जड होना असत्य सिद्ध होता है। प्रपच जड नही है अतः वह मिथ्या भी नही है।

४५. **प्रपञ्च मिथ्या नही है**—वेदान्ती प्रपंच को मिथ्या कहते हैं तब उन का तात्पर्य प्रपंच को असत् कहने का है या अनिर्वचनीय कहने का है? वे प्रपंच को असत् नही मान सकते क्यों कि यह उन के मत के विरुद्ध – शून्यवाद का समर्थन होगा। रस्सी में साप की प्रतीति

१ जातिदूषणं कुतः प्रत्यनुमानात्। अस्मत्कृतानुमानं संगृह्य प्रत्यवस्थानं क्रियते यतः संशयादिव्यवच्छेदाय परानपेक्षत्वात् परेण प्रोक्त प्रमित्यादिकं जड वेद्यत्वात् इति प्रत्यनुमानं प्रकरणसमा जातिः। २ मायावादिमते प्रपञ्चस्य असत्त्वं न विद्यते।

रज्जुसर्पादेरनिर्वचनीयत्वाभावात् साध्यविकलो दृष्टान्तश्च[1]। तस्यानिर्वचनीयत्वाभावः प्रागेव समर्थित इति न पुनरत्रोच्यते। एतेन प्रपञ्चो मिथ्या अचेतनत्वात् अस्वसंवेद्यत्वात् स्वप्रतिबद्धव्यवहारे संशयव्यवच्छेदाय परापेक्षत्वात् रज्जुसर्पादिवदिति एतदपि निरस्तं वेदितव्यम्। एतेषां हेतूनामपि जडत्वाभिधानत्वेन तद्दोषेणैव दुष्टत्वात्[2]।

ननु प्रपञ्चो मिथ्या दृश्यत्वात् स्वप्नप्रपञ्चवदिति भविष्यतीति चेन्न। अस्यापि हेतोर्विचारासहत्वात्। तथा हि। दृश्यत्वं नाम नित्यानुभववेद्यत्वं तच्च परमात्मन्यपि विद्यत इति तेन हेतोर्व्यभिचारः स्यात्[3]। ननु नित्यानुभववेद्यत्वं न दृश्यत्वमपि तु प्रत्यक्षादिप्रत्ययवेद्यत्वं दृश्यत्वमुच्यत इति चेन्न। तथापि तेनैव परमब्रह्मणा हेतोर्व्यभिचारात्[4]। तत् कथमिति चेत्

'सर्वप्रत्ययवेद्ये वा ब्रह्मरूपे व्यवस्थिते।
प्रपञ्चस्य प्रविलयः शब्देन प्रतिपाद्यते॥' (ब्रह्मसिद्धि ४-३)

के समान प्रपंच भी अनिर्वचनीय नही हो सकता यह हमने पहले ही स्पष्ट किया है अतः दूसरा पक्ष भी सम्भव नही है। इसी प्रकार प्रपंच को अचेतन, अस्वसंवेद्य, अपने विषय मे संशय को दूर करने के लिये दूसरे की अपेक्षा रखनेवाला – आदि कहना भी अनुचित है – जैसे प्रपंच जड नही वैसे ही अचेतन आदि भी नही हो सकता।

स्वप्न के समान प्रपंच भी दृश्य है अतः वह मिथ्या है यह वेदान्तियों का अनुमान भी दूषित है। प्रपंच को दृश्य कहने का अर्थ यह है कि वह नित्य अनुभव से ज्ञात होता है – किन्तु परब्रह्म भी नित्य अनुभव से ज्ञात होता है और वह मिथ्या नही है। दृश्य कहने का तात्पर्य प्रत्यक्षादि से ज्ञात होना हो तो भी यही आपत्ति आती है – परब्रह्म भी प्रत्यक्षादि सभी प्रत्ययों का विषय है किन्तु वह मिथ्या नही है। ब्रह्मसिद्धि में कहा भी है – 'ब्रह्मरूप सब प्रत्ययों से ज्ञात होता है अतः प्रपंच का विलय शब्द द्वारा प्रतिपादित करते है।' दूसरे, स्वप्न

१ रज्जुसर्पादि अयं दृष्टान्तः अनिर्वचनीयो न भवेत्। २ जडत्वात् इत्यस्य हेतोः यो दत्तो दोषः तेन दोषेण दुष्टत्वात्। ३ परमात्मनि नित्यानुभववेद्यत्वेपि मिथ्यात्वासंभवः। ४ परमब्रह्मणि प्रत्यक्षादि प्रत्ययवेद्यत्वेपि मिथ्यात्वाभावः।

इति ब्रह्मसिद्धौ स्वयमेवाभिधानात्। किं च। स्वप्नादिभ्रान्तिविषयस्य प्रमातृवेद्यत्वाभावेन दृश्यत्वाभावात् साधनविकलो दृष्टान्तश्च स्यात्। एतेन[1] प्रपञ्चो मिथ्या ज्ञेयत्वात् वेद्यत्वात् मेयत्वात् विषयत्वात् अगम्यत्वात् ज्ञानगोचरत्वात् स्वप्नप्रपञ्चवदित्यादिकं निरस्तमवबोद्धव्यम्। एतेषां हेतूनामपि दृश्यत्वाभिधानत्वेन तद्दोषेणैव दुष्टत्वात्।

ननु प्रपञ्चो मिथ्या उत्पत्तिमत्त्वात् शुक्तिरजतादिवदिति चेन्न। हेतोर्भागासिद्धत्वात्। कुतः पक्षीकृतेषु परमाण्वाकाशादिषूत्पत्तिमत्त्व-हेतोरप्रवर्तनात्। अथ उत्पत्तिमन्तः परमाणवः स्पर्शादिमत्त्वात् पटादिवदिति परमाणूनाम्, आत्मनः आकाशः संभूतः इत्याकाशादीनां च प्रमाणादेवोत्पत्तिमत्त्वसिद्धेर्न भागासिद्धो हेतुरिति चेन्न। त्वदीयहेतोः कालात्ययापदिष्टत्वात्[2]। कथम्। यद् यत् कार्यद्रव्यं च विवादापन्नं तस्मात् स्वपरिमाणादल्पपरिमाणावयवारब्धम्[3] इति परमाणूनामकार्यत्वग्राहके-णोपजीव्यानुमानेन पक्षस्य[4] बाधितत्वात्। आत्मनः आकाशः संभूतः

को दृश्य कहना भी उचित नही – वह भ्रान्ति है अतः प्रमाणज्ञान नही है। दृश्य होने से प्रपंच मिथ्या सिद्ध नही होता इसी प्रकार ज्ञेय, वेद्य, मेय, विषय, अवगम्य, ज्ञानगोचर आदि होने से भी मिथ्या सिद्ध नही होता – ज्ञेय आदि शब्द दृश्य शब्द के ही रूपान्तर हैं।

सींप में प्रतीत चादी के समान प्रपंच भी उत्पन्न होता है अतः मिथ्या है यह अनुमान भी दूषित है। एक तो प्रपंच में सम्मिलित परमाणु, आकाश आदि तत्त्व नित्य हैं – वे कभी उत्पन्न नही होते, अतः प्रपंच उत्पन्न होता है यह कथन ही ठीक नही। परमाणु स्पर्शादियुक्त हैं अतः वे उत्पत्तियुक्त हैं यह अनुमान ठीक नही। प्रत्येक कार्य का कारण उस से अल्प आकार का होता है, परमाणु से अल्प आकार की कोई वस्तु नही अतः परमाणु का कोई कारण नही – परमाणु किसी से उत्पन्न नही होता यह पहले स्पष्ट कर चुके हैं। अतः परमाणु नित्य हैं। 'आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ' आदि उपनिषद्वचन अप्रमाण हैं यह भी पहले स्पष्ट किया है। अतः

१ ग्रन्थजातेन। २ प्रमाणबाधिते पक्षे प्रवर्तमानो हेतुः कालात्ययापदिष्टः। ३ द्व्यणुकं स्वल्पपरिमाणद्रव्यारब्धं कार्यद्रव्यत्वात्। ४ उत्पत्तिमन्तः इति।

इत्याद्यागमप्रामाण्याभावस्य प्रागेव प्रतिपादितत्वाच्च। किं च। शुक्तौ रजतस्योत्पत्तिसामग्र्यभावेन उत्पत्तिमत्त्वाभावात् साधनविकलो दृष्टान्तः स्यात्। अथ शुक्त्यज्ञानादुपादानकारणभूतात् तत्र रजतमुत्पद्यत इति चेन्न। शुक्त्यज्ञानस्य रजतोपादानकारणत्वानुपपत्तेः। शुक्त्यज्ञानं न रजतोपादानं शुक्त्यज्ञानत्वात् प्रसिद्धशुक्त्यज्ञानवत्, अज्ञानत्वात् निषेधत्वात् कुम्भाज्ञानवत्, अद्रव्यत्वात् अन्योन्याभाववदिति प्रमाणानां सद्भावात्।

ननु प्रपञ्चो मिथ्या उत्पत्तिमत्त्वात् यन्मिथ्या न भवति तदुत्पत्तिमन्न भवति यथा ब्रह्मस्वरूपमिति व्यतिरेकप्रयोगात् स्वेष्टसिद्धिर्भविष्यतीति चेन्न। ब्रह्मस्वरूपस्य प्रमाणगोचरत्वेन[1] दृश्यत्वेन मिथ्यात्वप्रसंगात्। प्रमाणगोचरत्वाभावे आश्रयहीनो दृष्टान्तः। तत्र[2] साध्यसाधनव्यावृत्तेर्निश्चयासंभवात्[3]। ततो न व्यतिरेकादपि स्वेष्टसिद्धिः। एतेन प्रपञ्चो मिथ्या कार्यत्वात् कादाचित्कत्वात् जन्यत्वात् विनाशित्वात् पूर्वान्तवत्त्वात्

आकाश को भी उत्पत्तियुक्त नही कहा जा सकता। इस अनुमान का उदाहरण भी सदोष है क्यों कि सींप में प्रतीत चादी कभी उत्पन्न ही नही होती – उस के उपादान आदि कारण ही नही है – अतः उस को उत्पत्तियुक्त कहना भी अनुचित है। इस चादी का उपादानकारण सींप का अज्ञान नही हो सकता यह पहले ही विस्तार से स्पष्ट किया है।

उपर्युक्त अनुमान को वेदान्ती प्रकारान्तर से उपस्थित करते हैं – ब्रह्मस्वरूप के समान जो वस्तु मिथ्या नही होती वह उत्पत्तियुक्त नही होती, प्रपंच उत्पत्तियुक्त है अतः वह मिथ्या है। किन्तु इस अनुमान में कई दोष हैं। इस में ब्रह्मस्वरूप को दृष्टान्त माना है अतः वह प्रमाण से ज्ञात होगा – दृश्य होगा, तथा जो दृश्य है वह मिथ्या होता है ऐसा वेदान्तियों ने ही कहा है। अतः ब्रह्म भी मिथ्या होगा। इस दोष को दूर करने के लिए यदि ब्रह्म को प्रमाण से अज्ञात मानें तो दृष्टान्त निराधार होता है। अतः उत्पत्तियुक्त होने से प्रपंच को मिथ्या नही माना जा सकता। कार्य,

१ ब्रह्मस्वरूप प्रमाणगोचरं प्रमाणागोचरं वा प्रमाणगोचरमिति चेत् प्रमाणगोचरत्वे न दृश्यत्वेन मिथ्यात्वप्रसङ्गः। २ दृष्टान्ते ब्रह्मस्वरूपे। ३ यत्र मिथ्यात्वं नास्ति तत्रोत्पत्तिमत्त्व नास्ति यथा ब्रम्हस्वरूपम् इत्यत्र साध्यसाधनव्यावृत्तेर्निश्चयासंभवात्।

उत्तरान्तवत्त्वात् शुक्तिरजतवदित्यादिकमपि निरस्तं ज्ञातव्यम्। एतेषामपि हेतूनामुत्पत्तिमत्त्वाभिधानेन तद्दोषेणैव दुष्टत्वात्। ननु प्रपञ्चो मिथ्या प्रपञ्चत्वात् स्वप्नप्रपञ्चवदिति चेत् प्रपञ्चत्वं नाम विभुत्वं[1] नानात्वाधिकरणत्वम् असत्यत्वं वा। प्रथमपक्षे भागासिद्धो हेतुः। ग्रामारामादिप्रपञ्चेषु विभुत्वाभावात्। अनैकान्तिकश्च सत्ये परमात्मनि विभुत्वसद्भावात्। द्वितीयपक्षेऽप्यनैकान्तिक एव हेतुः स्यात्। सत्ये परमात्मनि नानात्वाधिकरणसद्भावात्। कुतः दिक्कालाकाशात्ममनांसीति सर्वेषां नानात्वाधिकरणसद्भावात्। तृतीयपक्षे साध्यसमत्वादसिद्धो हेतुः। मिथ्या असत्यत्वमित्येकार्थत्वात्। एतेन प्रपञ्चो मिथ्या अनेकत्वात् नानात्वात् भिन्नत्वात् भेदित्वात् स्वप्नप्रपञ्चवदित्यादिकमपि प्रत्युक्तमवगन्तव्यम्। अत्रोक्तहेतूनामपि प्रपञ्चत्वहेतुपर्यायत्वेन[2] तत्रोक्तदोषेणैव दुष्ट

कादाचित्क, जन्य, विनाशी, पूर्वमर्यादायुक्त, उत्तरमर्यादायुक्त, आदि शब्द उत्पत्तियुक्त के ही पर्यायवाची है अतः उन के प्रयोग से भी प्रपच का मिथ्या होना सिद्ध नही होता।

प्रपञ्च सब मिथ्या हैं क्यों कि स्वप्नप्रपच के समान वे प्रपच हैं — यह कथन भी निरर्थक है। यहा प्रपच का तात्पर्य व्यापक होना, अनेक का आधार होना, अथवा असत्य होना इन में से एक हो सकता है। इन मे पहला पक्ष उचित नही क्यों कि प्रपंच मे सम्मिलित गाव, उद्यान आदि व्यापक नही होते — मर्यादित होते हैं अतः वे व्यापक हैं अतः मिथ्या हैं यह कथन सम्भव नही। दूसरा पक्ष भी दूषित है क्यों कि दिशा, काल, आकाश, आत्मा, मन ये सब अनेक के आधार होने पर भी सत्य है, मिथ्या नही। वेदान्त मत मे भी परमात्मा को अनेकत्व का आधार माना है किन्तु मिथ्या नही माना है। अतः अनेक का आधार होने से प्रपंच का मिथ्या होना सिद्ध नही होता। तीसरा पक्ष भी उचित नही क्यों कि असत्य होना और मिथ्या होना एकही बात है अतः एक को दूसरे का कारण नही बताया जा सकता। अतः प्रपच को मिथ्या सिद्ध करना संभव नही है। अनेक, नाना, भिन्न, भेदयुक्त ये सब शब्द अनेक के आधार के ही पर्यायवाची हैं अतः उन के प्रयोग से भी प्रपच मिथ्या

१ व्यापित्वम्। २ अनेकत्वात् नानात्वात् विभिन्नत्वात् इत्यादयः प्रपञ्चत्वपर्यायाः।

त्वात्। ततो नानुमानं प्रपञ्चसत्यत्वस्य बाधकमस्ति। ननु 'नेह नानास्ति किंचन' (बृहदारण्यक उपनिषत् ४-४-१९) इत्याद्यागमो बाधकः प्रपञ्चसत्यत्वस्येति चेन्न। तदागमप्रामाण्याभावस्य प्रागेव प्रतिपादितत्वात्।

[४६. ब्रह्मसाक्षात्कारविचारः।]

ननु ब्रह्मस्वरूपसाक्षात्कारो बाधको[1] भविष्यतीति चेन्न। स साक्षात्कारः स्वरूपस्य जायते प्रमातॄणां[2] वा। स्वरूपस्य जायते चेत् स च स्वयंप्रकाशरूपो वा स्यात् अन्तःकरणवृत्तिरूपो वा। अत्र आद्यपक्षे स च ब्रह्मसाक्षात्कारो न जायते स्वरूपे[3] स्वप्रकाशस्य सर्वदा विद्यमानत्वात्। तथाविध[4]ब्रह्मसाक्षात्कारात् प्रपञ्चबाध्यत्वाङ्गीकारे प्रपञ्चो न कदाचित् प्रतिभासते अनाद्यनन्तबाधितत्वात्[5] खपुष्पवदिति प्रपञ्चस्य कदाचनापि प्रतिभासो न स्यात्। द्वितीयपक्षोऽप्यनुपपन्न एव। स्वरूपस्यान्तःकरणरहितत्वेन अन्तःकरणवृत्तिरूप[6]साक्षात्कारोत्पत्तेरघटनात्।

सिद्ध नही होता। तात्पर्य – अनुमान से प्रपंच बाधित नही होता। 'इस जगत मे नाना कुछ नही है' आदि उपनिषद्वचन भी प्रपंच को बाधित नही कर सकते क्यों कि ये वचन प्रमाण नही हैं यह हम ने पहले ही स्पष्ट किया है।

४६. ब्रह्म के साक्षात्कार का विचार —ब्रह्म साक्षात्कार प्रपंच का बाधक है इस कथन का अब विचार करते है। प्रश्न होता है कि यह साक्षात्कार ब्रह्म को होता है या प्रमाताओं को होता है? यदि ब्रह्म को ही साक्षात्कार होता है तो स्वयं होता है या अन्तःकरण के द्वारा होता है? ब्रह्म को सर्वदा स्वयंप्रकाशरूप माना है अतः यदि ब्रह्म-साक्षात्कार स्वयंप्रकाशरूप है तो वह सर्वदा विद्यमान होगा – फिर उस से किसी समय प्रपंच का बाध होना कैसे संभव है? प्रपंच का प्रतिभास होना ही ऐसी स्थिति में संभव नही होगा। ब्रह्म के स्वरूप मे अन्तःकरण का कोई स्थान नही है अतः ब्रह्म को अन्तःकरण

१ प्रपञ्चस्य। २ अस्मदादीनाम्। ३ ब्रम्हस्वरूपे। ४ स्वयंप्रकाशरूप प्रकार। ५ अनाद्यनन्तेन स्वयंप्रकाशरूपेण ब्रम्हसाक्षात्काररूपेण प्रपञ्चस्य बाधितत्वात्। ६ अन्तःकरणे वृत्तिः सैव रूपं यस्य।

अथ प्रमातृणां[1] ब्रह्मसाक्षात्कारो जायते स एव प्रपञ्चस्य बाधको भविष्यतीति चेन्न। ब्रह्मस्वरूपस्य प्रमातृसाक्षात्कारगोचरत्वे दृश्यत्वेन मिथ्यात्वप्रसंगात्। किं च। स च ब्रह्मसाक्षात्कारः प्रमातृणां केन जायते। न तावदिन्द्रियान्तःकरणमात्रेण सकलप्रमातृणामिन्द्रियान्तःकरणसद्भावेऽपि ब्रह्मसाक्षात्कारस्याद्याप्युत्पत्तेरदर्शनात्। अथ मतं श्रवणमनननिदिध्यासनात् ब्रह्मसाक्षात्कारो जायते। तथा हि। 'द्रष्टव्यो रेऽयमात्मा श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' (बृहदारण्यक उ. ४-५-६) इति ब्रह्मसाक्षात्कारविधायकमुपनिषद्वाक्यं श्रुत्वा प्रमाता प्रवर्तते। तत्रोपनिषद्वाक्यानां ब्रह्मणि तात्पर्यावधारणं श्रवणम्। श्रुतार्थस्य युक्त्या विचारणं मननम्, श्रवणमननाभ्यां निश्चितार्थमनवरतं मनसा परिचिन्तनं निदिध्यासनम्। तत्र नित्यानित्यवस्तुविवेकः शमदमादिसंपत्तिः अत्रामुत्र च वैराग्यं मुमुक्षुत्वमिति साधनचतुष्टयसंपन्नस्य निदिध्यासनपरता नान्यस्य।

द्वारा अपना साक्षात्कार होता है यह मानना भी संभव नही है। तात्पर्य — ब्रह्म साक्षात्कार ब्रह्म को होता है यह कथन निराधार है।

प्रमाताओं को ब्रह्म साक्षात्कार होता है इस कथन में भी कई दोष है। एक दोष तो यह है कि प्रमाता द्वारा ज्ञान होने से ब्रह्म दृश्य सिद्ध होगा तथा दृश्य है वह मिथ्या है यह वेदान्तियों का मत है। दूसरे प्रकार से भी विचार किया जा सकता है। यह साक्षात्कार सिर्फ इन्द्रिय या अन्तःकरण द्वारा तो नही होता — सभी लोगों के इन्द्रिय और अन्तःकरण के होने पर भी उन्हें साक्षात्कार की प्रतीति नही होती। अतः वेदान्तियों ने साक्षात्कार के तीन मार्ग बतलाये हैं — श्रवण, मनन और निदिध्यासन। 'इस आत्मा को देखना चाहिए, सुनना चाहिये, विचारना चाहिये, उस का निदिध्यास करना चाहिये' ऐसे उपनिषद् वाक्यों को सुन कर श्रोता साक्षात्कार के विषय में प्रवृत्त होता है। ऐसे वाक्यों का ब्रह्म में तात्पर्य समझना यही श्रवण है। इस तात्पर्य का युक्तिपूर्वक विचार करना यह मनन है। श्रवण-मनन से निश्चित हुए अर्थ का मन द्वारा सतत चिन्तन करना यह निदिध्यासन है। यह निदिध्यासन उसी को सम्भव होता है

१ अस्मदादीनाम्।

तत् कुतः ' शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः[1] समाहितो भूत्वा ह्यात्मन्येवात्मानं पश्येत् ' (सुबालोपनिषत् ९-१४) इति श्रुतेः । तदुक्तम्–

श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः ।
ज्ञात्वा च सततं ध्येय एते दर्शनहेतवः[2] ॥

(उद्धृत न्यायसार पृ. ८३)

इति श्रवणमनननिदिध्यासनात् ब्रह्मसाक्षात्कारो जायते स एव प्रपञ्चस्य बाधक इति। तदयुक्तम् । व्यासपराशरशुकवामदेवादीनां श्रवणमनननिदिध्यासनेन ब्रह्मसाक्षात्कारेऽपि प्रपञ्चस्याद्यापि अबाध्यत्वेनावस्थानात्। तादृशा[3]श्रवणमनननिदिध्यासनात् ब्रह्मसाक्षात्काराभावे न कस्यापि प्रमातुः ब्रह्मसाक्षात्कारो जायेत। ननु तेषां ब्रह्मसाक्षात्कारात् तदविद्याकृत एव प्रपञ्चः सोपादानो विनष्टः ततोऽन्यप्रमातृणामविद्याकृतः प्रपञ्चः न नश्यतीति तदे[4]वाद्याप्यबाध्यत्वेन इदानीन्तनप्रमातृभिः दृश्यते, 'यस्य प्रमातुरविद्यया यः प्रपञ्चो विनिर्मितः स तस्यैव दृश्यो भवति तन्प्रमातुर्ब्रह्मसाक्षा-

जो चार साधनों से संपन्न हो। ये चार साधन है – नित्य और अनित्य वस्तुओं में विवेक, शम, दम आदि की प्राप्ति, इहलोक और परलोक के विषय में वैराग्य तथा मोक्ष की इच्छा। जैसा कि कहा है – ' शान्त, दान्त, विरक्त, सहनशील तथा सावधान होकर आत्मा में आत्मा को देखना चाहिए। ' और भी कहा है – ' श्रुतिवाक्यों से आत्मा को सुनना चाहिये, युक्तियों से विचारना चाहिये तथा उसे जान कर सतत ध्यान करना चाहिये – ये दर्शन (साक्षात्कार) के साधन हैं। ' इस प्रकार ब्रह्मसाक्षात्कार होने से प्रपंच बाधित होता है।

साक्षात्कार के साधनों का यह सब विवरण सुनने पर प्रश्न होता है कि व्यास, पराशर, शुक, वामदेव आदि ऋषियों ने इन सब साधनों का अनुष्ठान किया तथा उन्हे साक्षात्कार भी हुआ, फिर अभी तक प्रपंच कैसे विद्यमान है ? यदि साक्षात्कार से प्रपंच बाधित होता तो इस समय प्रपंच की प्रतीति ही नही होती। यदि ऐसे ऋषियों को भी साक्षात्कार न हुआ हो तो दूसरे सामान्य लोगों को कैसे हो सकेगा ? इस पर

१ क्षान्तुमिच्छुः । २ ब्रह्मदर्शनहेतवः । ३ व्यासादीनाम् । ४ प्रपञ्चादिकम् ।

त्कारात् स प्रपञ्चो विनश्यति' इत्यभिहितत्वात् इति चेन्न । व्यासपराशरशुकवामदेवादीनामविद्यानिर्मितत्वेन तद्दृश्यस्य प्रपञ्चस्य तद्ब्रह्मसाक्षात्कारात् विनाशाभावात् । तत् कथमिति चेत् तदविद्याकृतत्वेन तद्दृश्यादीनां भूमण्डलाचण्डरश्मिमार्तण्डाखण्डलदिगाद्याकाशगङ्गातुङ्गभद्रोत्तुङ्गहिमवदादीनामद्याप्यबाध्यत्वेन अस्मदादिप्रमातृभिर्दर्शनात् । प्रतिप्रमातृविभिन्नाविद्याविनिर्मितविभिन्नप्रपञ्चदर्शनानुपपत्तेश्च । कुतः एकेन[1] दृष्टभूमण्डलादीनामेवान्यैरनन्तप्रमातृभिरपि दर्शनात् अन्यस्यादर्शनाच्च[2] । अन्यथा[3] एकेन प्रदर्शितमन्यो न पश्येत् एकेन प्रेषितमन्यो न कुर्यादित्याद्यतिप्रसंगः स्यात् । तस्माद् व्यासपराशरशुकवामदेवादीनां श्रवणमनननिदिध्यासनैर्ब्रह्मसाक्षात्कारो न जायते इति श्रवणादीनां ब्रह्मसाक्षात्कारकारणत्वाभावात् अग्रेतनकालेऽपि प्रमातणां तेभ्यस्तत् साक्षात्कारो न जायते इति निश्चीयते । अथवा तेभ्य[4]स्तत् साक्षात्कारोत्पत्तावपि तेन साक्षात्कारेण प्रपञ्चस्य बाधः नास्तीति वा निश्चीयते । व्यासादिदृष्ट-

वेदान्तियों का उत्तर है – उन ऋषियों के साक्षात्कार से उनकी अविद्या से निर्मित प्रपंच बाधित हुआ, दूसरों की अविद्या से निर्मित प्रपंच बाधित नही हुआ अतः प्रपच का प्रतीति इस समय भी होती है। जैसे कि कहा है – 'जिस प्रमाता की अविद्या से जो प्रपंच उत्पन्न हुआ वह उसी प्रमाता को दृश्य होता है तथा उसे साक्षात्कार होने पर वही प्रपंच नष्ट होता है।' किन्तु यह कथन दोषपूर्ण है। व्यास आदि ऋषियों को जो वस्तुएं दृश्य थीं उन में पृथ्वी, चन्द्र, सूर्य, इन्द्र, दिशा, आकाश, गगा, तुगभद्रा आदि नदिया, हिमालय आदि ऊंचे पर्वत – इन सबका समावेश था। यदि उन के साक्षात्कार से ये सब नष्ट हो गये होते तो हमे कैसे दिखाई देते? सभी प्रमाताओ को ये सब एकसे ही दिखाई देते हैं। अतः प्रत्येक प्रमाता का प्रपंच अलग अलग होता है यह कथन ठीक नही। यदि प्रत्येक का प्रपंच अलग अलग होता तो कोई व्यक्ति दूसरे को कोई चीज बतला नही सकता, एक के कहने पर दूसरा कोई कार्य नही कर सकता। अतः व्यास आदि के साक्षात्कार

१ प्रमात्रा। २ प्रपञ्चस्यादर्शनात्। ३ अन्यप्रपञ्चस्य दर्शनं चेत्। ४ श्रवणादिभ्यः।

भूमण्डलादीनामेवेदानीन्तनप्रमातृभिर्दर्शनात्। ततः सिद्धं प्रपञ्चो अबाध्यः बाधकेन विहीनत्वात् परमात्मवदिति। तथा प्रपञ्चवेदनं सत्यम् अविसंवादित्वात् गृहीतार्थाव्यभिचारित्वात् अबाध्यत्वात् बाधकेन विहीनत्वात् ब्रह्मस्वरूपप्रतिपत्तिवदिति च।

[४७. अद्वैतवादनिरासः।]

अथ मतं प्रपञ्चस्य सत्यत्वेऽपि भेदग्राहकप्रमाणाभावादद्वैतमेव तत्त्वम्। ननु प्रत्यक्षं भेदग्राहकं प्रमाणमस्तीति चेत् तत् प्रत्यक्षं भेदमेव गृह्णाति वस्त्वपि[1]। यदि वस्त्वपि गृह्णीयात् तदा भेदग्रहणपूर्वकं वस्तु गृह्णीयात्, वस्तुग्रहणपूर्वकं भेदं गृह्णीयात् युगपदुभयं वा गृह्णीयात्। न तावदाद्यो विकल्पः संभाव्यते। एतस्मादस्य भेदोऽस्तीत्यवधिः अवधीयमानवस्तु[2]परिज्ञानमन्तरेण भेदज्ञानानुपपत्तेः। अत एवं भेदग्रहणपूर्वकं वस्तु गृह्णातीति द्वितीयविकल्पोऽपि नोपपद्यते। तथा तृतीयपक्षेऽपि वस्तुग्रहणसमये भेदग्रहणाभावादद्वैतसिद्धिरेव स्यात्। तथा च चतुर्थपक्षोऽपि न योयुज्यते। तयो[3]-

से प्रपच बाधित हुआ यह कहना ठीक नही। या तो उन्हे साक्षात्कार ही नही हुआ है, अथवा उस साक्षात्कार से प्रपंच बाधित नही हुआ है। जो पृथ्वी आदि व्यास के समय थे वे ही अब तक बने हुए देखे जाते है अतः प्रपंच का निर्बाध अस्तित्व सिद्ध होता है। प्रपंच का ज्ञान अविसंवादी है, ज्ञात अर्थ के स्वरूप के अनुकूल है तथा अबाधित है अतः वेदान्तियों के ब्रह्मज्ञान के समान ही प्रपंच का ज्ञान भी सत्य सिद्ध होता है।

४७. अद्वैतवाद का निरास —प्रपंच के सत्य सिद्ध होने पर भी भेद का ज्ञान किसी प्रमाण से नही होता अतः अद्वैत ही तत्त्व है यह वेदान्तियों का कथन है। इस का विवरण वे इस प्रकार देते हैं। प्रत्यक्ष से भेद का ज्ञान होना संभव नही। प्रत्यक्ष से सिर्फ भेद का ज्ञान होता है, या वस्तु का भी ज्ञान होता है? यदि वस्तु का भी ज्ञान होता है तो पहले भेद का ज्ञान होता है, पहले वस्तु का ज्ञान होता है, या दोनों का एकसाथ ज्ञान होता है? इन मे पहला पक्ष संभव नही क्यों कि जब तक वस्तु का ज्ञान नही होगा तबतक इस वस्तु से उस वस्तु में भेद है यह ज्ञान कैसे होगा? दूसरे पक्ष में पहले वस्तु का ज्ञान होता है —

१ वस्त्वपि गृह्णाति। २ मर्यादीक्रियमाणवस्तु। ३ वस्तुभेदयोः।

युगपद्ग्रहणानुपपत्तेः। कुतः एतस्मादस्य भेदोऽस्तीत्यवधिः अवधीयमानवस्तुग्रहणपूर्वकत्वेनैव भेदग्रहणं भवतीत्यङ्गीकारात्। तस्मात् प्रत्यक्षं भेदग्राहकं न भवति। तदुक्तम्—

आहुर्विधातृ प्रत्यक्षं[1] न निषेद्धृ विपश्चितः।
नैकत्वे आगम[2]स्तेन प्रत्यक्षेण प्रबाध्यते॥
(ब्रह्मसिद्धि २–१)

तथा प्रत्यक्षस्य भेदग्राहकत्वाभावे तत्पूर्वकानुमानादीनां नितरां भेदग्राहकत्वाभाव एव स्यात्। तस्माद् भेदसंवेदनं न प्रमाणनिबन्धनम् अनिरूपितप्रमाणकत्वात्[3] भेदसंवेदनत्वात् स्वप्नसंवेदनवदिति।

तदयुक्तम्। तदीयवचनस्य[4]प्रतीतिविरुद्धत्वात्। कुतः। भिन्ना एते[5] इति प्रतीतत्वात्। तथा हि। पायसं गृह्णत् प्रत्यक्षं पायसाभावं तदभावाश्रयान्[6] विड्गोमयादिपदार्थान् व्यवच्छिन्ददेव गृह्णाति। तद्व्यवच्छेदाभावे विड्गोमयादीन् परिहृत्य पायसे एव जीवानां प्रवर्तनासंभवात्[7]। तथा

भेद का ज्ञान नही होता यह माना है – इस से अभेदरूप तत्त्व ही सिद्ध होता है। वस्तु और भेद दोनों का एकसाथ ज्ञान भी संभव नही क्यों कि वस्तु के ज्ञान के विना भेद का ज्ञान नही होता यह अभी स्पष्ट किया है। तात्पर्य – प्रत्यक्ष से वस्तु मे भेद का ज्ञान संभव नही है। जैसे कि कहा है – 'विद्वानों ने प्रत्यक्ष को विधायक कहा है – निषेधक नही। अतः एकत्व का प्रतिपादन करनेवाले आगमवाक्य प्रत्यक्ष से बाधित नही होते।' अनुमान आदि प्रमाण प्रत्यक्षपर अवलम्बित होते हैं। अतः प्रत्यक्ष से अज्ञात भेद को अनुमानादि से नही जाना जा सकता। तात्पर्य -- भेद का ज्ञान प्रमाणसिद्ध नही है अतः स्वप्नज्ञान के समान ही अप्रमाण है।

वेदान्तियों का यह सब विवेचन अयोग्य है क्यों कि यह प्रतीति के विरुद्ध है। 'ये पदार्थ भिन्न हैं' ऐसी स्पष्ट प्रतीति विद्यमान होती है। जब खीर का ज्ञान होता है तब खीर के अभाव का तथा खीर का अभाव जिन में है उन पदार्थों – गोबर आदि के खीर से भेद का ज्ञान

१ सत् सत् इति। २ एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म इति। ३ न निरूपितं प्रमाणं यस्य साधनेतत्। ४ ब्रह्मवादिवचनस्य। ५ पदार्थाः। ६ पायसाभावाश्रयान्। ७ अत एव प्रत्यक्षं प्रमाण विधातृ न निषेधृ इति न घटते।

स्वभार्यां परिच्छिन्दत् प्रत्यक्षं भार्याभावं तदभावाश्रयं स्वजनन्यादिकं व्यवच्छिन्ददेव परिच्छिनत्ति। तद्व्यवच्छेदाभावे स्वजनन्यादिपरिहारेण भार्यायां पुंसः प्रवर्तनासंभवात्। अथ यथा स्वप्नावस्थायां विड्गोमयमूत्रादीन् परिहृत्य मोदकपायसक्षीरादौ जीवाः प्रवर्तन्ते तथा जाग्रद्दशायामपि प्रवर्तनायाः संभवान्न प्रमाणनिबन्धनेयं प्रवर्तनेति चेत् तर्हि स्वप्नावस्थायां भेदप्रतीतिसद्भावात् तथा जाग्रद्दशायामपि भेदप्रतिभासोऽस्तीति प्रतिपादितं स्यात्। ननु स्वप्नावस्थायां भेदप्रतिभाससद्भावेऽपि स्वप्नप्रपञ्चस्य भ्रान्तत्वात् तत्र प्रतीयमानभेदप्रवर्तनयो[1] र्यथा भ्रान्तत्वं तथा जाग्रद्दशायामपि प्रतीयमानभेदप्रवर्तनयोर्भ्रान्तत्वमित्यभिप्राय इति चेन्न। सत्यमबाध्यं बाध्यं मिथ्येत्यद्वैतवादिभिरेवाभिहितत्वात्। तथा च स्वप्नावस्थायां भेदप्रत्ययप्रवर्तनयोरुद्बोधो[2] बाधकोऽस्तीति अप्रमाणनिबन्धनत्वं युक्तम्। जाग्रद्दशायां तु भेदप्रत्ययप्रवर्तनयोर्बाधकाभावात् प्रमाणनिबन्धनत्वमेवेति नाप्रमाणनिबन्धनत्वं वक्तुं युक्तम्। ननु जाग्रद्दशायामपि भेद-

भी होना ही है। यदि ऐसा भेद का ज्ञान न होता तो गोबर छोडकर खीर के विषय मे लोगों कीप्रवृत्ति नही होती। इसी प्रकार पत्नी के ज्ञान मे माता से उस की भिन्नता का ज्ञान भी विद्यमान है। यदि यह भेद का ज्ञान न हो तो पत्नी के विषय में पुरुष की प्रवृत्ति होती है — माता के विषय में नही होती यह भेद संभव नही होगा। यह सब भेद स्वप्न में भी प्रतीत होता है किन्तु स्वप्न भ्रान्तिमय है — अतः उन के समान जागृत अवस्था की यह भेद-प्रतीति भी अप्रमाण है यह वेदान्तियों का कथन भी उचित नही। इस कथन मे तो यह स्पष्ट स्वीकार होता है कि (स्वप्न के समान) जागृत अवस्था में भी भेद का ज्ञान होता है। स्वप्न-ज्ञान के समान यह जागृत-ज्ञान भी भ्रान्त है — यह वेदान्तियों का तात्पर्य है। किन्तु यह उचित नही। भ्रान्त ज्ञान वह है जो बाधित होता है, जो ज्ञान बाधित नही होता वह सत्य होता है यह तो उन्हें भी मान्य है। स्वप्न-ज्ञान का बाधक जागृत-ज्ञान है अतः स्वप्न-ज्ञान मिथ्या है। किन्तु जागृत-ज्ञान का बाधक कौन है जो उसे मिथ्या कहा जाय ? जागृत अवस्था के प्रपंच-ज्ञान का

१ भेदज्ञानभेदसहितप्रवर्तनयोः। २ जागरणम्।

प्रत्ययप्रवर्तनयोर्बाधकाभावो असिद्ध इति चेन्न। प्रत्यक्षानुमानागमसाक्षात्काराणां बाधकत्वाभावस्य प्रागेव समर्थितत्वात्। तस्मादिदमिति[1] देशकालाकारनियतत्वेन प्रतीयमानं वस्तु अनिदं न भवतीति देशान्तरकालान्तरभावान्तरव्यावृत्तमेव[2] प्रत्यक्षेण प्रतीयत इति प्रत्यक्षं भेदग्राहकं प्रमाणमिति सिद्धम्।

तथा न केवलं प्रत्यक्षं शब्दोऽपि भेदं प्रतिपादयति। तथा हि। घट इत्ययं शब्द: घटाभावतदाश्रयभूतान् पटादिसकलपदार्थान् व्यवच्छिन्दन्नेव घटं प्रतिपादयति। तद्व्यवच्छेदाभावे घटप्रतिपादनाभावात्। कुत एतदिति चेत् घटस्य स्वाभावान्याशेष[3]पदार्थव्यवच्छेदाभावे अभावरूपत्वं सर्वात्मकत्वं[4] वा स्यादिति घटशब्दवाच्यत्वानुपपत्तेः। तस्मात् घटशब्दः घटाभावान्याशेषपदार्थान् व्यवच्छिन्दन्नेव घटं प्रतिपादयतीति शब्दादपि भेदसिद्धिः। तथा चोक्तं—

निरस्यन्ती परस्यार्थं स्वार्थं कथयति श्रुतिः।
तमो विधुन्वती भास्यं[5] यथा भासयति प्रभा॥

बाध प्रत्यक्ष अनुमान, आगम या आत्मासाक्षात्कार से नही होता यह पहले विस्तार से स्पष्ट किया है। अतः अबाधित जागृत-ज्ञान को प्रमाण मानना ही चाहिए। यह वस्तु इस देश, काल तथा स्वरूप मे है, इस से भिन्न देश, काल या स्वरूप में नही है इस प्रकार भेद का ज्ञान प्रत्यक्ष सिद्ध है यही इस विवेचन से स्पष्ट होता है।

प्रत्यक्ष के समान शब्द-प्रयोग द्वारा भी भेद का ज्ञान होता है। घट इस शब्द से घट का बोध होता है उसी प्रकार घट का अभाव तथा घट से भिन्न सब पदार्थों से उस के पृथक् होने का भी बोध होता है। यदि ऐसा नही होता तो ‘घट’ कहने से समस्त पदार्थों का बोध हो जाता अथवा किसी पदार्थ का बोध नही होता। अन्य सब पदार्थों से भिन्न एक ‘घट’ पदार्थ का ही घट शब्द से ज्ञान होता है यह भेद का ही समर्थक है। कहा भी है – ‘जिस तरह प्रकाश अन्धकार का नाश कर पदार्थ को प्रकाशित करता है उसी तरह श्रुति पर-अर्थ

---

१ भूमण्डलादिप्रपञ्चलक्षणम्। २ यत् तु यत्रैव देशे तत् तु तत्रैवेत्यर्थः। ३ घटस्य स्वस्य अभावः येषु ते स्वाभावास्ते च ते अन्याशेषपदार्थाश्च। ४ सर्वे पदार्थाः घट एव इति सर्वात्मकत्वम्। ५ पदार्थम्।

इति। तस्मात् घटाद्यभिधानप्रत्यक्षप्रत्ययप्रवृत्त्यादिप्रतिनियमात्[1] घटादिपदार्थानां परस्परं भेदसिद्धेरद्वैतमेवतत्त्वमिति वचनं कथं शोभेत। एतेन यदप्यवादि भेदसंवेदनं न प्रमाणनिबन्धनम् अनिरूपितप्रमाणकत्वात् स्वप्नसंवेदनवदिति–तदपि निरस्तम्। हेतोः स्वरूपासिद्धत्वात्। कुतः भेदग्राहकप्रत्यक्षशब्दप्रमाणनिरूपणादनिरूपितप्रमाणकत्वासिद्धेः। यदप्यन्यदभ्यधायि-भेदसंवेदनं न प्रमाणनिबन्धनं भेदसंवेदनत्वात् स्वप्नसंवेदनवदिति–तदप्यसत्। हेतोः कालात्ययापदिष्टत्वात्। कथम। भेदग्राहकप्रत्यक्षप्रमाणेनैव पक्षे साध्याभावस्य निश्चितत्वात्। तस्माद् भेदसंवेदनं प्रमाणम् अविसंवादित्वात् आत्मवित्तिवत्। अथ भेदसंवेदनस्याविसंवादित्वमसिद्धमिति चेन्न। भेदसंवेदनं अविसंवादि अबाधितविषयत्वात् आत्मसंवेदनवदिति तत्सिद्धेः। ननु भेदसंवेदनस्याबाधितविषयत्वमप्यसिद्धमिति चेन्न। भेदसंवेदनम् अबाधितविषयं स्वविषयबाधकरहितत्वात् आत्मसंवेदनवदिति तत्सिद्धेः। अयमप्यसिद्धो हेतुरिति चेन्न। प्रत्यक्षानुमानागमात्मसाक्षात्काराणां बाधकत्वानुपपत्तेरिति प्रागेव निरूपितत्वात्। तस्मात् प्रपञ्चभेदस्यापि सत्यत्वात् नाद्वैतं तत्त्वम्।

[४८. क्षेत्रज्ञभेदसमर्थनम्।]

तथा क्षेत्रज्ञ[2] भेदोऽपि प्रतिक्षेत्रं[3] प्रसज्यते।
अक्षूणलक्षणेनोपलक्षिताक्षादिमानतः॥

का निरसन कर स्व-अर्थ का प्रतिपादन करती है।' अतः घट शब्द का प्रयोग, प्रत्यक्ष ज्ञान तथा उस पर आधारित प्रवृत्ति इस सबके नियम से घट आदि पदार्थों का भेद सिद्ध होता है – अद्वैत तत्त्व सिद्ध नही होता। इस लिये भेद-ज्ञान अप्रमाण है, स्वप्न-ज्ञान जैसा है आदि कथन व्यर्थ है, भेद का ज्ञान प्रत्यक्ष तथा शब्द से सिद्ध है, अबाधित है, अविसंवादी है अतः आत्मा के ज्ञान के समान वह भी प्रमाण है। अतः प्रपंच के ज्ञान के समान भेद का ज्ञान भी सत्य है। इस से अद्वैत तत्त्व बाधित होता है।

४८. क्षेत्रज्ञ भेद-समर्थन —'प्रत्येक शरीर मे भिन्नभिन्न आत्मा है यह भी अबाधित प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध होता है।' यदि प्रत्येक शरीर मे अलग अलग आत्मा न होता – सब आत्माओं में अभेद होता –

१ घटाद्यभिधाने प्रत्यक्षप्रत्ययेन यः प्रवृत्त्यादिव्यवहारः तस्य प्रतिनियमस्तस्मात्। २ क्षेत्रज्ञ आत्मा पुरुषः। ३ शरीरं प्रति।

तथा प्रतिक्षेत्रं क्षेत्रज्ञभेदाभावे एकस्मिन् क्षेत्रज्ञे सुखिनि सर्वे क्षेत्रज्ञाः सुखिनो भवेयुः, एकस्मिन् दुःखिनि सर्वे दुःखिनः स्युः। न चैवं दृश्यते। ननु एकस्मिन्नपि शरीरे पाणिपाद्युपाधिनिबन्धना सुखदुःखादिव्यवस्था एकस्यैव देहिनः प्रतीयते तथा अनेकेष्वपि देहेषु एकस्यैव देहिनः उपाधि-निबन्धना सुखदुःखादिव्यवस्था सुखेन जाघटयत इति चेन्न। तथा सति यथा एकस्मिन् शरीरे एकस्य शरीरिणः पाणिपादशिरोजठराद्युपाधि-निबन्धनतया[1] प्रवर्तमानसुखदुःखादिष्वनुसंधानं[2] तथा देवमनुष्यमृग-पशुपक्षिकीटकवनस्पतिनारकादिशरीरोपाधिनिबन्धनतया[3] प्रवर्तमानसुख-दुःखादिषु एकस्यात्मनः अनुसंधानप्रसंगात्। ननु यथा एकस्मिन्नपि शरीरे बुद्धीन्द्रिय[4]कर्मेन्द्रिय[5]शिरोजठराद्युपहित[6]चित्प्रदेशानां परस्पर-मनुसंधानाभावस्तथा देवमनुष्यमृगपशुपक्षिकीटकवनस्पत्यादिशरीरोप-हितानां[7] परस्परमनुसंधानाभाव एव। अपि तु यथा तत्र[8] बुद्धीन्द्रिय-

तो एक आत्मा के सुखी होने पर सब सुखी होते तथा एक दुःखी होने पर सब दुःखी होते। किन्तु ऐसा होता नही है। जैसे एक ही शरीर में हाथ, पाव आदि के अलग अलग सुख-दुःख होते है, वैसे एकही आत्मा के अलग अलग शरीरों के अलग अलग सुखदुःख होते हैं – यह कथन भी अनुचित है। हाथ-पाव आदि के सुखदुःख का अनुसंधान (–संवेदन) एक ही आत्मा को होता है। किन्तु देव, मनुष्य, मृग, पशु, पक्षी आदि के सुख-दुःख का किसी एक आत्मा को अनुसंधान होता हो ऐसी प्रतीति नही होती। जैसे विभिन्न इन्द्रियों के चैतन्य-प्रदेशों को परस्पर के सुखदुःख की प्रतीति नही होती वैसे ही विभिन्न शरीरों में स्थित चैतन्य-प्रदेशों को परस्पर सुखदुःख की प्रतीति नही होती; किन्तु सब इन्द्रियों में व्याप्त चैतन्य को ही स्वरूप का संवेदन होता है उसी तरह सब शरीरों मे व्याप्त चैतन्य को ही स्व-रूप का संवेदन होता है – यह वेदान्तियों का कथन भी पर्याप्त नही है। सब इन्द्रियो में एक चैतन्य व्यापक है अतः पाव मे लगे काटे को निकालने में हाथ को

१ उपाधिरेव निबन्धनं तस्य भावः तया। २ पदाभ्यां गच्छामि इत्यादि। ३ शरीराण्येव उपाधिः स एव निबन्धनम्। ४ मनोनेत्रादि। ५ कर्मेन्द्रिय पाद्यादि वाक्पाणिपादपायूपस्थाः। ६ उपाधियुक्त। ७ चित्प्रदेशानाम्। ८ एकस्मिन् शरीरे।

कर्मेन्द्रियजठराद्युपाधिषु व्याप्य वर्तमानस्य स्वरूपस्यानुसंधानं तथात्रापि देवमनुष्यमृगपशुपक्षिवनस्पत्यादिसकलशरीरोपाधिषु व्याप्य वर्तमानस्य स्वरूपस्यानुसंधानमस्तीति चेन्न। तथा सति यथा पादतलादिलग्न-कण्टकाद्यपनयनार्थं पाणितलादीनां व्यापारः तथा चैत्रगात्रदुःखहेतु-परिहारार्थं मैत्रगात्रव्यापारप्रसंगस्य दुर्निवारत्वात्। ननु तत्र बुद्धीन्द्रिय-कर्मेन्द्रियशिरोजठराद्युपाधिषु व्याप्य वर्तमानस्यानुसंधातुर्भोक्तृत्वसद्-भावात् पादतलादिदुःखहेतु[1]परिहाराय पाणितलादिव्यापारः संभाव्यते। दुःखहेतुपरिहारस्य भोगप्रयोजनार्थत्वात्। अत्र तु देवमनुष्यमृगपशुपक्षि-वनस्पत्यादिशरीरोपाधिषु व्याप्य वर्तमानस्यानुसंधातुर्ब्रह्मस्वरूपस्य भोक्तृत्वाभावाच्चैत्रगात्रदुःखहेतुपरिहाराय मैत्रगात्रव्यापारो न प्रसज्यते। कुतः दुःखहेतुपरिहारस्य भोगप्रयोजनार्थत्वात्। अत्रत्यानुसंधातुर्ब्रह्मणो भोगोपभोगाभावोऽपि 'अनश्नन्न्यो अभिचाकशीति' इति श्रुतेर्निश्चीयत इति चेन्न। बाधितत्वात्। तथा हि। विवादाध्यासितं स्वरूपं[2] भोक्तृ भवति अनुसंधातृत्वात् जीवस्वरूपवदिति तस्य भोक्तृत्वसद्भावाच्चैत्र-गात्रदुःखहेतुपरिहाराय मैत्रगात्रव्यापारप्रसंगस्तदवस्थ एव। ननु आगम[3]-

प्रवृत्त किया जाता है। यदि सब शरीरों मे एक ही चैतन्य व्याप्त होता तो चैत्र के दुःख को दूर करने के लिए मैत्र को प्रवृत्त किया जाता — किन्तु ऐसा होता नही है। इस के उत्तर में वेदान्तियों का कथन है कि एक शरीर मे व्याप्त चैतन्य तो भोक्ता है अतः एक अवयव के दुःख को दूर करने मे वह दूसरे अवयव को प्रवृत्त करता है, किन्तु सब शरीरों में व्याप्त चैतन्य — ब्रह्म — भोक्ता नही है अतः एक शरीर के दुःख को दूर करने में दूसरे शरीर को प्रवृत्त नही करता। दुःख का परिहार ही भोग है, जो भोक्ता है वह भोग के लिए यत्न करता है, जो भोक्ता नही है वह भोग के लिये यत्न नही करता। ब्रह्म भोक्ता नही यह उपनिषद्वचन से भी स्पष्ट होता है। जैसे कि कहा है — 'वह दूसरा खाता नही है, केवल देखता है'। किन्तु वेदान्तियों का यह कथन अयोग्य है। जीव विभिन्न इन्द्रियों से ज्ञान प्राप्त करता है — अनुसंधाता है, वह भोक्ता भी है। इसी तरह ब्रह्म भी यदि अनुसंधाता हो तो भोक्ता भी होना चाहिये, अर्थात् एक व्यक्ति के दुःख को दूर करने के लिये

१ कण्टकादि। २ ब्रह्मस्वरूपम्। ३ अनश्नन्न्यो अभिचाकशीतीत्यादि।

बाधितविषयत्वेन हेतोः[1] कालात्ययापदिष्टत्वमिति चेन्न। तदागमप्रामाण्याभावस्य प्रागेव प्रमाणैः समर्थितत्वात्। उभयवाद्यभिमतागमो बाधको नान्यतरश्च। ननु जीवस्योपहितचैतन्यत्वेन[2] अङ्गुल्याद्यवयवावच्छिन्नचैतन्यवदनुसंधातृत्वाभावात् साधनविकलो दृष्टान्त[3] इति चेन्न। प्रतीतिविरोधात्। कुतः पादाभ्यां गच्छामि पाणिभ्यामाहरामि श्रोत्राभ्यां शृणोमि चक्षुर्भ्यां पश्यामि पादे मे वेदना शिरसि मे वेदना इति जीवस्यानुसंधानप्रतीतेः। तस्यानुसंधानाभावे भोक्तृत्वमपि न स्यात्। तथा हि। जीवो भोक्ता न भवति अनुसंधानरहितत्वात् उपहितचैतन्यत्वात् अङ्गुल्यग्रोपहितचैतन्यवदिति। जीवस्य भोक्तृत्वानुसंधातृत्वाभावे पादतलादिदुःखहेतुपरिहाराय पाणितलादिव्यापारः प्रतीयमानो हीयेत। तस्मात् जीवात्मन्यनुसंधातृत्वस्य भोक्तृत्वेन व्याप्तत्वनिश्चयात् स्वरूपस्यानुसंधातृत्वाङ्गीकारे भोक्तृत्वस्यावश्यंभावित्वेन चैत्रगात्रदुःखहेतुपरिहाराय मैत्रगात्रव्यापारस्त्ववश्यं भवेदेव। न चैवमुपलभ्यते। तस्मात् चैत्रमैत्र-

दूसरे व्यक्ति को वह अवश्य प्रेरित करेगा। ब्रह्म का भोक्ता होना आगम (उपनिषद्वचन) से बाधित है यह कथन भी ठीक नही क्यों कि वेद के प्रामाण्य का हम ने पहले ही विस्तार से खण्डन किया है। आगम वही बाधक होता है जो दोनों वादियों को मान्य हो। जीव का चैतन्य उपहित (आच्छादित) है अतः अंगुली में अवस्थित चैतन्य के समान यह भी अनुसंधाता नही है — अतः जो अनुसंधाता है वह भोक्ता है इस कथन का यह दृष्टान्त नही होगा — यह भी वेदान्ती नही कह सकते। मैं पाव से चल रहा हूं, हाथ से ले रहा हूं, कानों से सुन रहा हूं आदि प्रतीति से यह स्पष्ट है कि जीव को अनुसंधान होता है। यदि जीव अनुसंधाता नही होता तो भोक्ता भी नही होता — अंगुली में अवस्थित चैतन्य अनुसंधाता नही है, वह भोक्ता भी नही है। जीव यदि अनुसंधाता व भोक्ता नही होता तो एक अवयव की पीडा दूर करने के लिये दूसरे अवयव को प्रयुक्त नही कर सकता। तात्पर्य यह कि जो चैतन्य अनुसंधाता होता है वह भोक्ता अवश्य है। ब्रह्म यदि अनुसंधाता है तो वह भोक्ता भी अवश्य होगा। तदनुसार एक व्यक्ति के दुःख को

१ अनुसंधातृत्वात् इति। २ उपाधियुक्त चैतन्यत्वेन। ३ जीवस्वरूपवत् इति।

गात्रादिसकलदेवमनुष्यमृगपशुपक्षिवनस्पत्यादिशरीरेषु प्रवर्तमानसुखदुःखानामनुसंधाता कोऽपि नास्तीति निश्चीयते। ततश्च प्रतिक्षेत्रं क्षेत्रज्ञभेदः सुखेनावतिष्ठते।

[४९. प्रतिबिम्बवादनिरासः।]

ननु

एक एव हि भूतात्मा देहे देहे व्यवस्थितः।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्॥

(अमृतबिन्दूपनिषत् १२)

तथैव।

ब्राह्मयमेव परं ज्योतिर्मनसि प्रतिबिम्बितम्।
विशेषावस्थितो जीवः[1] सावित्र[2]मिव सन्मणौ॥

इत्यविद्याकार्याणि मनांस्यन्तःकरणाभिधानान्यनन्तानि तेषु ब्रह्मणः प्रतिबिम्बावस्थिता जीवा भवन्ति निर्मलमणिदर्पणजलपात्रादिषु सूर्यचन्द्र-

दूर करने के लिये वह दूसरे व्यक्ति को अवश्य प्रवृत्त करता। किन्तु ऐसा होता नही है। अतः मनुष्य, पशु, पक्षी आदि जीवों के सुखदुःख अलग अलग है – उन सब के सुखदुःख का किसी एक को अनुसधान नही होता यह स्पष्ट होता है। अतः प्रत्येक शरीर में भिन्न भिन्न जीवों का अस्तित्व सिद्ध होता है।

४९. प्रतिबिम्ब वादका निरास—वेदान्तियों का कथन है कि – 'चन्द्र एक होकर भी पानी में अलग अलग दिखाई देता है उसी प्रकार एक ही भूतात्मा अलग अलग शरीरों मे अवस्थित है। जिस तरह सूर्य का तेज रत्न मे प्रतिबिम्बित होता है उसी प्रकार मन मे प्रतिबिम्बित ब्रह्म के ही परम ज्योति को जीव कहा जाता है।' अतः मन, अन्तःकरण तो अनन्त हैं किन्तु उन सब मे एक ब्रह्म का ही प्रतिबिम्ब होता है। किन्तु यह कथन दोषपूर्ण है। एक का दूसरे में प्रतिबिम्ब होने के लिये यह आवश्यक है कि वे दोनों चक्षु से ग्राह्य हों तथा भिन्न भिन्न स्थान मे स्थित हों। चन्द्र तथा जल दोनों चक्षु से दिखाई देते हैं तथा अलग अलग स्थानों में हैं

१ भण्यते। २ सौर्यं परं ज्योतिः।

बिम्बादिप्रतिबिम्बवत्। तस्मात् वर्तमाननानादेहेष्वप्येक एव भूतात्मा तिष्ठतीति चेन्न। तदसंभवात्। तथा हि। लौकिकैः परीक्षकैश्चक्षुर्ग्राह्येष्वेव[1] चक्षुर्ग्राह्याणामन्यत्र स्थितेष्वितरत्र स्थितानां च प्रतिबिम्बो दृश्यते यथा मणिदर्पणजलपात्रादिषु सूर्यचन्द्रबिम्बादीनां नान्यथा। तथा च परं ज्योतिर्मनसि न प्रतिबिम्बते अचाक्षुषत्वात् अरूपित्वात् अमूर्तत्वात् विश्वव्यापित्वात् अन्यत्रास्थितत्वात् आकाशवत्। मनो वा न ब्रह्मप्रतिबिम्बवत्[2] अविद्याकार्यत्वात् जडत्वात् इन्द्रियत्वात् ब्रह्ममध्ये स्थितत्वात् चक्षुर्वत्। अन्यथा चक्षुरादिबुद्धीन्द्रियेषु वागादिकर्मेन्द्रियेषु शिरोजठराद्यङ्गोपाङ्गेष्वपि परंज्योतिषः प्रतिबिम्बं स्यात्। एवं च एकस्मिन्नपि शरीरे यावन्ति बुद्धीन्द्रियकर्मेन्द्रियाङ्गोपाङ्गानि तावन्तः प्रमातारः स्युः। तथा च विभिन्नाभिप्रायबहुप्रमातृभिः प्रेरितमेकं शरीरं सर्वदिक्क्रियमुन्मथ्येत[3] अक्रियं वा प्रसज्यते। तस्मात् परं ज्योतिर्मनसि न प्रतिबिम्बत इति निश्चीयते। जलचन्द्रादिदृष्टान्तोऽपि भेदमेव[4] निश्चिनोति अनुस्यूतत्वेना[5]-दृश्यत्वात् भिन्नदेशत्वात् भिन्नदेशतया[6] भिन्नाधिकरणत्वेन दृश्यत्वाच्च।

अतः एकका प्रतिबिम्ब दूसरे में हो सकता है। किन्तु प्रस्तुत प्रसंग में ब्रह्म चक्षु से ग्राह्य नही है, अमूर्त है, रूपरहित है, विश्वव्यापी है तथा मन एक जगह है और ब्रह्म दूसरी जगह है यह कहना सभव नही अतः मन मे ब्रह्म का प्रतिबिम्ब सभव नही। मन अविद्या का कार्य है, जडहै, इन्द्रिय है तथा ब्रह्म मे ही स्थित है अतः उसे ब्रह्म के प्रतिबिम्ब से युक्त नही माना जा सकता। यदि मन में ब्रह्मका प्रतिबिम्ब होता है तो चक्षु, वाक्, आदि इन्द्रियों एवं अवयवों मे भी ब्रह्म का प्रतिबिम्ब अवश्य होगा – तब तो एक ही शरीर मे बहुत से जीव होंगे, उन सब के प्रेरणा करने पर या तो शरीर निष्क्रिय होगा या टूट जायगा। अतः मनमें ब्रह्म का प्रतिबिम्ब मानना उचित नहीं है। यहा चन्द्र और जल में प्रतिबिम्ब का दृष्टान्त भी भेद का ही समर्थक है – चन्द्र और उसका प्रतिबिम्ब ये अभिन्न दिखाई नही देते, भिन्न स्थानों में तथा भिन्न आधारों में दिखाई देते हैं – चन्द्र तो ऊपर आकाश में वायुमण्डल में स्थित है तथा प्रतिबिम्ब नीचे जमीनपर पानी में स्थित है। बिम्ब और प्रतिबिम्ब

१ वस्तुषु। २ तदस्यास्तीति मत्वर्थीयवत् प्रत्ययः। ३ उन्मथनं प्राप्येत। ४ प्रतिशरीरम् आत्मभेदमेव। ५ अभिन्नतया। ६ जलचन्द्रादिकस्य।

तथा हि। ऊर्ध्वदेशे आकाशे वायुपाशाधिकरणत्वेन[1] विम्बस्याधोदेशे भूतलाद्यधिकरणत्वेन देशभेदेन पात्रभेदेन जलभेदेन प्रतिविम्बानां प्रदर्शनात् विम्बप्रतिविम्बाभिधानप्रत्ययव्यवहारभेदाच्च तद्भेदः[3]। अथ तेषां[4] समानाकारत्वादेकत्वमिति चेत् तर्हि नक्षत्रविम्बानां समानाकारत्वादेकत्वं स्यात्। तथा चाश्विन्यादिभेदो न स्यात्। न चैवम्। तद्भेदः तदुदयादि[5]प्रदर्शनात्।

ननु यथा प्रतिविम्बादीनां भ्रान्तत्वेनासत्यत्वात् विम्बमेव परमार्थसत् तथा प्रमातॄणामप्यसत्यत्वात् परं ज्योतिरेकमेव परमार्थसदिति चेन्न। प्रतिविम्बानां सत्यत्वप्रसाधकप्रमाणानां सद्भावात्। तथा हि। प्रतिविम्बमभ्रान्तम् अबाध्यत्वात् बाधकेन विहीनत्वात् रसचित्रवत्[6]। अथ अन्यदेशस्थितानां प्रतिविम्बदर्शनाभावाद् भ्रान्तत्वमिति चेत् तर्हि रसचित्राणामपि भ्रान्तत्वमस्तु अन्यत्र स्थितानामदर्शनाविशेषात्। तस्मा-

---

इन दो भिन्न शब्दों का प्रयोग भी भेद का ही सूचक है। सब प्रतिविम्ब समान है अतः उन्हें एक कहा जाता है – यह कथन भी सदोष है। इस तरह तो सब तारकाओं को एकही मानना होगा क्यों कि वे सब समान आकार की हैं। तब उन में अश्विनी, भरणी, आदि भेद करना सम्भव नहीं होगा। किन्तु तारकाओं का उदय आदि भिन्न-भिन्न होता है अत. उन्हे भिन्न भिन्न माना जाता है। उसी प्रकार विम्ब-प्रतिविम्बों को भी भिन्न ही मानना चाहिये।

प्रतिविम्ब भ्रान्त-असत्य होते हैं और विम्ब ही वास्तविक सत्य होता है उस प्रकार प्रमाता-जीव भ्रान्त-असत्य हैं तथा परंज्योति ब्रह्म ही वास्तविक सत्य है यह कथन भी सदोष है। प्रतिविम्बों का ज्ञान बाधित नही होता अतः उसे भ्रान्त कहना निराधार है। जिस तरह विभिन्न रस अबाधित अतएव सत्य है उसी तरह प्रतिविम्ब भी अबाधित अतएव सत्य होते हैं। एक प्रदेश में स्थित प्रतिविम्ब अन्यत्र नही दिखाई देता अतः वह भ्रान्त है यह कहना भी ठीक नही – एक स्थान का रस भी

---

१ कुत्सितो वायुर्वायुपाशः वायुविशेषः। २ चन्द्रादिविवस्य दर्शनात्। ३ विम्बप्रतिविम्बाना भेदः। ४ विम्बप्रतिविम्बानाम्। ५ आदिशब्देन स्वामिफलादिग्रहणम्। ६ यथा रस एक एव तस्य प्रतिविम्बः कटुतिक्तादयः ते न भ्रांताः तथा चित्रप्रतिविम्बाः अनेके ते न भ्रांताः।

जलचन्द्रादिदृष्टान्तेन आत्मैक्यप्रतिपादनं न योगुज्यते जलचन्द्रादीनाम-प्येकत्वाभावादिति स्थितम् ।

[५० आत्मबहुत्वसमर्थनम् ।]

तथा आत्मा अनेकः द्रव्यत्वव्यतिरिक्त[1]सत्तावान्तरसामान्यवत्त्वात् पयोवत् । ननु आत्मनो द्रव्यत्वव्यतिरिक्तसत्तावान्तरसामान्यवत्त्वमसिद्ध-मिति चेन्न । आत्मा द्रव्यत्वव्यतिरिक्तसत्तावान्तरसामान्यवान् स्वसंवेद्य-त्वात् रूपरसादिज्ञानवदिति आत्मनो द्रव्यत्वव्यतिरिक्तसत्तावान्तर-सामान्यवत्त्वसिद्धेः । ननु रूपरसादिज्ञानानां द्रव्यत्वव्यतिरिक्तसत्तावान्तर-सामान्यवत्त्वाभावात् साध्यविकलो दृष्टान्त इति चेन्न । रूपरसादिज्ञानानि द्रव्यत्वव्यतिरिक्तसत्तावान्तरसामान्यवन्ति असर्वगतत्वे सति परस्परं विभिन्नत्वात् खण्डमुण्डशाबलेयादिवदिति रूपरसादिज्ञानानां तत्सद्-भावसिद्धेः । ननु रूपरसादिज्ञानानां परस्परं विभिन्नत्वाभावात् विशेष्या-सिद्धो हेतुरिति चेन्न । रूपरसादिज्ञानानि परस्परं विभिन्नानि भिन्न-सामग्रीजन्यत्वात् गोमयमोदकादिवदिति तेषां परस्परं विभिन्नत्वसद्-भावात् । ननु रूपरसादिज्ञानानां विभिन्नसामग्रीजन्यत्वमप्यसिद्धमिति चेन्न । चक्षुषैव रूपज्ञानं रसनेनैव रसज्ञानं घ्राणेनैव गन्धज्ञानं स्पर्शनेनैव

अन्यत्र प्रतीत नही होता किन्तु इस से वह असत्य सिद्ध नही होता । अतः प्रतिबिम्ब सत्य हैं । तदनुसार चन्द्र और प्रतिबिम्ब के उदाहरण से आत्मा मे एकता का प्रतिपादन करना उचित नही है ।

५०. आत्मा के अनेकत्वका समर्थन —अब आत्मा के अनेकत्व का प्रकारान्तर से समर्थन करते हैं । आत्मा में सत्ता तथा द्रव्यत्व इन के अतिरिक्त एक सामान्य (आत्मत्व) पाया जाता है – यह तभी संभव है जब आत्मा अनेक हों । आत्मत्व का अस्तित्व रूपज्ञान, रसज्ञान आदि के समान स्वसंवेदन से सिद्ध होता है । रूपज्ञान, रसज्ञान आदि सर्वगत नहीं हैं, परस्पर विभिन्न हैं उसी प्रकार आत्मा भी परस्पर विभिन्न हैं । रूपज्ञान, रसज्ञान आदि भिन्न सामग्री से उत्पन्न होते हैं – रूप का ज्ञान चक्षु से होता है, रस का ज्ञान जिव्हा से होता है अतः ये गोबर और

१ द्रव्ये द्रव्यत्वमिति लक्षणं सामान्यम् एकं नित्यं वर्तते अत उक्तं द्रव्यत्व-व्यतिरिक्तम् ।

स्पर्शज्ञानं श्रोत्रेणैव शब्दज्ञानं जायत इति लौकिकैः परीक्षकैश्च निश्चितत्वात्। ननु अद्वैताङ्गीकारेण गोमयमोदकयोर्भेदाभावात् सर्वस्याविद्योपादानकारणत्वेन भिन्नसामग्रीजन्यत्वाभावाच्च उभयविकलो दृष्टान्त[1] इति चेन्न। भिन्नाभिधानप्रत्ययव्यवहारप्रतिनियमात् गोमयमोदकादीनां भेदस्य प्रागेव प्रमाणैः समर्थितत्वात्। गोमयस्य तृणादिविकारत्वेन गोगर्भादुत्पत्तेः यवकणिकाखलेन गुडमिश्रेण मोदकपिण्डस्योत्पत्तेः लौकिकैः परीक्षकैश्च निश्चितत्वाच्च। ननु रूपरसादिज्ञानानां करणवृत्तिरूपत्वेन[2] स्वसंवेद्यत्वाभावात् साधनविकलो दृष्टान्त इति चेन्न। रूपरसादिज्ञानं स्वसंवेद्यं चेतनत्वात् स्वरूपवदिति स्वसंवेदनत्वसिद्धेः। अथ रूपरसादिज्ञानस्य चेतनत्वमसिद्धमिति चेन्न। प्रतिफलितविषयाकार[3]मनोवृत्त्युपहितचैतन्यं प्रमाणमिति रूपादिज्ञानस्य चेतनत्वसिद्धेः। तथा रूपादिज्ञानं

मोदक के समान ही परस्पर भिन्न है। ये सब ज्ञान अविद्या से ही उत्पन्न है तथा अद्वैत तत्त्व के अनुसार गोबर, मोदक आदि मे कोई भेद नही है यह कथन भी उचित नही। अलग अलग शब्दों के प्रयोग से तथा प्रत्यय से पदार्थों मे भेद का अस्तित्व पहले विस्तार से स्पष्ट किया है। लौकिक दृष्टि से भी देखा जाय तो गाय के घास आदि खाने पर गोबर की उत्पत्ति होती है तथा जौ आदि गुड के साथ मिलाने पर मोदक बनता है – इस तरह इन का भेद स्पष्ट ही है। रूप, रस आदि का ज्ञान करणवृत्तिरूप (साधनभूत) है अतः स्वसवेद्य नही है यह आपत्ति भी ठीक नही। रूपज्ञान आदि चेतन है – जैसे कि वेदान्तियों ने भी माना है – प्रतिबिम्बित विपय के आकार की मनोवृत्ति से उपहित चैतन्य को प्रमाण कहते है; तथा जो चेतन है वह अवश्य ही स्वसंवेद्य होता है। रूपज्ञान आदि के बारे में संशय दूर करने के लिये किसी दूसरे की अपेक्षा नही होती इससे भी उनका चेतन तथा स्वसंवेद्य होना स्पष्ट होता है। स्वसवेदन से रूपज्ञान, रसज्ञान आदि की भिन्नता स्पष्ट होती है। उसी प्रकार आत्माओं की भिन्नता भी स्पष्ट होती है।

१ साध्यसाधनविकलो दृष्टान्तः परस्परं विभिन्नानि इति साध्यं विभिन्नसामग्रीजन्यत्वादिति साधनम्। २ ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानम्। इति करणवृत्तिरूपम्। ३ प्रतिफलितः विपयाकारः यस्या मनोवृत्तौ सा प्रतिफलितविषयाकारा मनोवृत्तिः तया।

स्वसंवेद्यं चेतनं च स्वप्रतिबद्धव्यवहारे संशयादिव्यवच्छेदार्थं परानपेक्षत्वात् स्वरूपवदिति च।

तथा आत्मा द्रव्यत्वव्यतिरिक्तसत्तावान्तरसामान्यवान् विशेषगुणवत्त्वात् घटादिवदित्यात्मनो नानात्वसिद्धिः। ननु आकाशस्य विशेषगुणवत्त्वेऽपि द्रव्यत्वस्यापरसामान्यवत्त्वाभावात् तेन हेतोर्व्यभिचार इति चेन्न। आकाशस्य विशेषगुणवत्त्वाभावात्। अथ आकाशविशेषगुणः शब्दोऽस्तीति चेन्न। शब्द आकाशगुणो न भवति अस्मदादिबाह्येन्द्रियग्राह्यत्वात् रूपादिवदिति। आकाशं बाह्येन्द्रियग्राह्यगुणवन्न भवति विभुत्वात् स्पर्शादिरहितत्वात् निरवयवत्वात् नित्यत्वात् अखण्डत्वात् कालवदिति शब्दस्य प्रमाणादेव आकाशगुणत्वनिषेधात्।

अथ आत्मनो नित्यानुभवस्वरूपत्वाद् विशेषगुणवत्त्वमसिद्धमिति चेन्न। ज्ञानादिविशेषगुणवत्त्वसद्भावात्। ननु ज्ञानादीनां करणवृत्तिरूपत्वेन गुणत्वमसिद्धमिति चेन्न। ज्ञानादयो गुणाः कर्मान्यत्वे सति निर्गुणत्वात्, अवयविक्रियान्यत्वे सत्युपादानाश्रितत्वात् रूपादिवदिति ज्ञानादीनां गुणत्वसिद्धेः। ननु ज्ञानादीनां गुणत्वेऽपि न तेऽप्यात्मविशेषगुणाः आत्मनो निर्गुणत्वात्, कुतो निर्गुणत्वमित्युक्ते 'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च' इति श्रुतेरिति चेन्न। आत्मा ज्ञानादिगुणवान् ज्ञातृत्वात् व्यतिरेके पटादि-

आत्मा (ज्ञान आदि) विशेष गुणों से युक्त है इस से स्पष्ट है कि उस मे द्रव्यत्व तथा सत्ता के अतिरिक्त एक सामान्य (आत्मत्व) है। आत्मत्व का अस्तित्व तभी संभव है जब आत्मा अनेक हों। आकाश में शब्द यह विशेष गुण है किन्तु आकाश अनेक नही हैं यह आपत्ति उचित नही। शब्द आकाश का गुण नही है क्यों कि यह बाह्य इन्द्रिय से ज्ञात होता है। आकाश व्यापक है, स्पर्श आदि से रहित है, निरवयव है, नित्य है, अखण्ड है अत: काल के समान आकाश के गुण भी बाह्य इन्द्रियों से ज्ञात नही हो सकते। अत: शब्द आकाश का गुण नही है।

नित्य अनुभव ही आत्मा का स्वरूप है, ज्ञान करणवृत्तिरूप है (साधनभूत है) अत: वह आत्मा का विशेष गुण नही – यह आपत्ति भी उचित नही है। ज्ञान आदि गुण है क्यों कि वे क्रिया से भिन्न हैं,

वदिति[1] ज्ञानित्वसिद्धेः। अथ आत्मनो ज्ञातृत्वाभावादसिद्धो हेतुरिति चेन्न। घटमहं जानामि पटमहं जानामीति ज्ञातृत्वस्य प्रतीतिसिद्धत्वात्। तथा आत्मा सुखःदुखवान् भोक्तृत्वात् व्यतिरेके पटादिवदिति[2] च। अथ आत्मनो भोक्तृत्वाभावादयमप्यसिद्धो हेतुरिति चेन्न। इष्टानिष्टविषयाणामनुभवेन स्वात्मनि वर्तमानसुखदुःखसाक्षात्कारात् सुख्यहं दुःख्यहमित्यात्मनो भोक्तृत्वप्रतीतेः। तथा आत्मा इच्छाप्रयत्नवान् कर्तृत्वात् व्यतिरेके पटादिवदिति[3] च। अथ आत्मनः कर्तृत्वाभावादयमप्यसिद्ध इति चेन्न। घटमहं चिकीर्षामि पटमहं करोमीति कर्तृत्वस्य प्रतीतिसिद्धत्वात्। तथा आत्मा संस्कारवान् स्मारकत्वात् व्यतिरेके पटादिवदिति[4] च। अथ आत्मनः स्मारकत्वाभावादसिद्धो हेतुरिति चेन्न। मम वित्तं तत्र निक्षिप्तं तस्मै दत्तमिति वा स्मृत्वा पुनर्ग्रहणेनात्मनः स्मारकत्वप्रतीतेः। तस्मादात्मनः ज्ञातृत्वभोक्तृत्वकर्तृत्वस्मारकत्वसद्भावात् तस्य बुद्ध्यादिविशेषगुणवत्त्वसिद्धिः। ननु अन्तःकरणस्यैव ज्ञातृत्वभोक्तृत्वकर्तृत्वस्मारकत्वसद्भावात् तस्यैव ज्ञानादिगुणवत्त्वं नात्मन इति चेन्न। अन्तःकरणस्य तदसंभवात्। तथा हि। अन्तःकरणं न ज्ञातृ जडत्वात् कार्यत्वात् चक्षुरा

स्वयं गुणरहित है, अवयवी की क्रिया से भिन्न तथा उपादान (द्रव्य) पर आश्रित है – ये सब विशेषताएं रूप आदि गुणों में ही होती हैं। आत्मा निर्गुण है यह सिद्ध करने के लिए 'वह साक्षी, चेतन, केवल तथा निर्गुण है' यह उपनिषद्वचन उद्धृत करना भी व्यर्थ है। मैं घट को जानता हूं, पटको जानता हूं – इस प्रतीति से ही स्पष्ट है कि आत्मा ज्ञाता है – ज्ञान गुण से युक्त है। इसी प्रकार मैं सुखी हूं, दुःखी हूं आदि प्रतीति से आत्माका सुखदुःख से युक्त – भोक्ता होना स्पष्ट होता है। तथा मैं घट बनाता हूं, पट बनाता हूं आदि प्रतीति से आत्मा का इच्छा और प्रयत्न से युक्त – कर्ता होना भी स्पष्ट है। आत्मा संस्कार से युक्त है क्यों कि मैंने वहा धन रखा, उसे दिया इस प्रकार स्मरण तथा उसके द्वारा धन वापस लेना यह आत्मा को ही संभव है। तात्पर्य – ज्ञान, भोक्तृत्व, कर्तृत्व, स्मरण आदि से आत्मा का विशेष गुणों से युक्त होना स्पष्ट है।

१ यः ज्ञानादिगुणवान् न भवति स ज्ञाता न भवति यथा पटः। २ यः सुखादिवान् न भवति स भोक्ता न भवति यथा पटः। ३ यः इच्छाप्रयत्नवान् न भवति स कर्ता न भवति यथा पटः। ४ यः संस्कारवान् न भवति स स्मारको न भवति यथा पटः।

दिवत्। तथा अन्तःकरणं भोक्तृ न भवति जडत्वात् करणत्वात् कार्यत्वात् चक्षुरादिवत्। तथा अन्तःकरणं कर्तृ न भवति जडत्वात् करणत्वात् कार्यत्वात् चक्षुरादिवदिति। अन्तःकरणस्य ज्ञातृत्वाद्यभावात् नान्तःकरणं ज्ञानादिगुणवत् जडत्वात् जन्यत्वात् चक्षुरादिवदिति अन्तःकरणस्य ज्ञानादिगुणवत्त्वासंभवात्। तथा चक्षुरादिकमपि न ज्ञातृत्वादिमत् जडत्वादिति हेतोः पटादिवदिति न दृष्टान्तदोषोऽपीति। तस्माज्जीवस्यैव ज्ञातृत्वभोक्तृत्वकर्तृत्वसद्भावेन ज्ञानादिविशेषगुणवत्त्वसिद्धिरिति।

तथा आत्मा द्रव्यत्वव्यतिरिक्तावान्तरसत्तासामान्यवान् शरीरात्मसंयोगसंयोगित्वात् शरीरवदित्यात्मनो नानात्वसिद्धिः। ननु आत्मनः संयोगित्वाभावादसिद्धो हेत्वाभास इति चेन्न। आत्मा संयोगी द्रव्यत्वात् परमाणुवदिति आत्मनः संयोगित्वसिद्धेः। अथ आत्मनो द्रव्यत्वाभावादयमप्यसिद्धो हेतुरिति चेन्न। आत्मा द्रव्यं गुणाधारत्वात् परमाणुवदिति द्रव्यत्वसिद्धिः। ननु 'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च' (श्वेताश्वतर ३०६–११) इति श्रुतेरात्मनो निर्गुणत्वाद् गुणाधारत्वमप्यसिद्धमिति चेन्न। आत्मा ज्ञानादिगुणवान् ज्ञातृत्वात् भोक्तृत्वात् कर्तृत्वात् स्मारकत्वात् व्यतिरेके पटादिवदिति आत्मनः प्रागेव गुणाधारत्वसमर्थनात्।

ज्ञातृत्व आदि सभी विशेषताएं अन्तःकरण की हैं – आत्मा की नही – यह कथन अनुचित है। अन्तःकरण जड है, कार्य है तथा करण है अतः उस में ज्ञाता, भोक्ता, कर्ता होना संभव नही है। अन्तःकरण तथा चक्षु आदि बाह्य इन्द्रिय भी जड और उत्पत्तियुक्त है अतः वस्त्र आदि के समान वे सब ज्ञानादि से रहित हैं। अतः ज्ञान आदि आत्मा के ही विशेष गुण हैं – अन्तःकरण के नही।

शरीर और आत्मा के संयोग से युक्त होना भी आत्मा में आत्मत्वसामान्य के अस्तित्व का द्योतक है। आत्मा द्रव्य है अतः परमाणु के समान वह भी संयोगी है। आत्मा ज्ञान आदि गुणों से युक्त है अतः उसे द्रव्य कहा है। इस के विरुद्ध 'आत्मा साक्षी, चेतन, केवल तथा निर्गुण है' यह उपनिषद्वचन उद्धृत करना व्यर्थ है क्यों कि ये आगमवचन अप्रमाण हैं। आत्मा शरीरसंयोग से युक्त तभी हो सकता है जब वह अनेक हो। अतः आत्मा को एक मानना प्रमाणविरुद्ध है।

[५१. प्रतिशरीर जीवपृथक्त्वम्।]

तथा क्षेत्रज्ञाः प्रतिक्षेत्रं विभिन्ना एव भवन्ति एकस्मिन्नेव काले एकस्मिन् वस्तुनि अयं तत्त्ववेदी अयं मिथ्याज्ञानी अयं रागी अयं विरक्त इत्यादिव्यवस्थान्यथानुपपत्तेः[1]। ननु प्रतिक्षेत्रं क्षेत्रज्ञभेदाभावेऽपि[2] अन्तःकरणानां प्रतिक्षेत्रं भेदसद्भावात् तदाश्रितत्वेनैव व्यवस्थोपपत्तेरर्थापत्तेरन्यथैवोपपत्तिरिति चेन्न। अन्तःकरणं धर्मि तत्त्ववेदि मिथ्याज्ञानि इत्यादि व्यवस्थाभाजनं न भवति जडत्वात् जन्यत्वात् करणत्वात् अविद्याकार्यत्वात् चक्षुरादिवदिति अन्तःकरणस्य प्रमाणादेव व्यवस्थाभाजनत्वानुपपत्तेरर्थापत्तेर्नान्यथोपपत्तिः। ननु मम श्रोत्रं सम्यग् जानाति चक्षुर्विपरीतं जानातीत्येकात्माधिष्ठितेषूपाधिषु[3] आत्मभेदाभावेऽपि व्यवस्थोपलभ्यत इति चेन्न। एकस्मिन् वस्तुनीत्युक्तत्वात्[4]। किं च। श्रोत्रादीनां ज्ञातृत्वाभावेन सम्यग्मिथ्याज्ञानित्वा[5]नुपपत्तेः। अथ श्रोत्रादीनां ज्ञातृत्वाभावः

५१. प्रत्येक शरीर में भिन्न आत्मा है —प्रत्येक शरीर में भिन्न भिन्न आत्मा है, आत्मा एक ही होता तो एक ही समय में यह तत्त्वज्ञ है तथा मिथ्या ज्ञानी है, यह आसक्त है तथा विरक्त है इस प्रकार परस्पर विरुद्ध व्यवहार संभव नहीं होता। तत्त्वज्ञ आदि सब भेद अन्तःकरण के हैं — प्रत्येक शरीर में भिन्न भिन्न अन्तःकरण हैं किन्तु आत्मा सब में एक ही है यह कथन भी अनुचित है। अन्तःकरण चक्षु आदि बाह्य इन्द्रियों के समान जड, उत्पत्तियुक्त, साधनभूत तथा अविद्या का कार्य है अतः यह तत्त्वज्ञ है या मिथ्याज्ञानी है यह व्यवहार अन्तःकरण के विषय में सम्भव नही। आत्मा के एक ही होने पर भी कान से यथार्थ ज्ञान हुआ, चक्षुसे गलत ज्ञान हुआ यह भिन्न व्यवहार संभव है उसी प्रकार तत्त्वज्ञ और मिथ्याज्ञानी यह व्यवहार भी एक ही आत्मा मे होता है यह कथन भी सदोष है। एक दोष तो यह है कि इस उदाहरण में कान और आख

१ एकस्मिन् आत्मनि अयं तत्त्ववेदी अयं मिथ्याज्ञानीति व्यवहारानुपपत्तेः। २ प्रतिक्षेत्रात्मभिन्नत्वमन्तरेण। ३ चक्षुःश्रोत्रादिषु। ४ सर्वत्र एकस्मिन् आत्मनि सति अयं तत्त्ववेदीत्यादि उक्तत्वात्। ५ सम्यग्ज्ञानित्वं मिथ्या ज्ञानित्वं च।

कथमिति चेत् श्रोत्रादिकं ज्ञातृ न भवति करणत्वात् जडत्वात् जन्यत्वात् अविद्याकार्यत्वात् इन्द्रियत्वात् पटादिवदिति। ततश्चक्षुरादीनामन्तःकरणस्य च ज्ञातृत्वाद्यभावेन सम्यग्मिथ्याज्ञानित्वाद्यनुपपत्तेः। क्षेत्रज्ञेष्वेव सम्यग्मिथ्याज्ञानित्वादिव्यवस्थासद्भावात् तस्या[1]श्चैकस्मैकस्मिन् वस्तुनी[2]त्युक्तत्वात् तेषां[3] प्रतिक्षेत्रं भेदसिद्धिः।

तथा विमतानि शरीराणि नैकात्मसंबन्धानि कालाव्यवधानेऽप्यन्योन्याननुसंधातृत्वात्[4] व्यतिरेके एकशरीरेन्द्रियवदिति[5] च। तथा अनेके आत्मानः अस्मादादिप्रत्यक्षद्रव्यत्वात् शरीरादिवत्। प्रत्यक्षद्रव्यत्वं कुतः। श्रवणमननादिनात्मसाक्षात्काराङ्गीकारात्। ज्ञानासमवाय्याश्रयत्वात्[6] मनोवदिति च। विवादापन्ने एककालीनसुखदुःखे विभिन्नाधिकरणे एककालीनत्वेऽप्यैकानुसंधानागोचरत्वात् व्यतिरेके एककालीनैकशरीर-

भिन्न है अतः उन के ज्ञान मे भिन्नता होती है किन्तु प्रस्तुत तत्त्वज्ञ और मिथ्याज्ञानी यह व्यवहार एक ही आत्मा के विषय में है। दूसरे, आख और कान करण है, जड हैं, उत्पत्तियुक्त है, अविद्या के कार्य इन्द्रिय हैं अतः उन्हे ज्ञाता कहना भी ठीक नहीं है। आख, कान के समान अन्तःकरण मे भी तत्त्वज्ञ, मिथ्याज्ञानी आदि व्यवहार सम्भव नही। यह व्यवहार शरीरस्थ आत्मा में ही सम्भव है तथा इस से प्रत्येक शरीर मे भिन्न भिन्न आत्मा का अस्तित्व स्पष्ट होता है।

एक ही समय में भिन्न भिन्न शरीरों में एक दूसरे का अनुसन्धान नही रहता — इस के विपरीत एक ही शरीर के इन्द्रियों मे परस्पर अनुसन्धान रहता है। इस से स्पष्ट है कि भिन्न भिन्न शरीरों मे एक ही आत्मा नही है। हमें शरीर का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है उसी प्रकार

१ सम्यग्ज्ञानित्वमिथ्याज्ञानित्वादिव्यवस्थायाः। २ ब्रह्मलक्षणे। ३ क्षेत्रज्ञाना। ४ एकस्मिन् काले भिन्नसंधातृत्वात्। ५ यत् तु एकात्मसम्बन्धि भवति तत् तु कालाव्यवधानेऽपि अननुसंधातृ न भवति किंतु अनुसंधातृ भवति यथा एक शरीरेंद्रियं अनुसंधातृ। ६ ज्ञानं च तत् असमवायिकारणं च तस्याश्रयत्वात्।

सुखदुःखवदिति[1] च। तथा अयं शरीरी अन्यशरीरकृतसुखदुःखाश्रयो न भवति तत्साक्षात्काररहितत्वात् व्यतिरेके तच्छरीरिवदिति च। तथा विमतानि शरीराणि स्वसंख्यासंख्येयात्मवन्ति[2] अस्मदादिप्रत्यक्षयोग्य जीवशरीरत्वात् संप्रतिपन्नशरीरवदिति। उक्तहेतूनां स्वरूपस्य प्रमाणसिद्धत्वान्न स्वरूपासिद्धत्वम्। पक्षे सद्भावान्न व्यधिकरणासिद्धत्वम्। पक्षे सर्वत्र प्रवर्तमानत्वात् न भागासिद्धत्वम्। पक्षस्य सर्वत्र प्रमाणप्रसिद्धत्वसमर्थनान्नाश्रयासिद्धत्वम्। पक्षे हेतोर्निश्चितत्वान्नाज्ञातासिद्धत्वं न संदिग्धासिद्धत्वं च। तत्तद्धेतोर्विशेष्यविशेषणानां साफल्यसमर्थनान्न विशेषणासिद्धत्वं न विशेष्यासिद्धत्वम्। पक्षे तेषां सद्भावान्न विशेष्यविशेषणासिद्धत्वम्। साध्यविपरीतनिश्चिताविनाभावाभावान्न विरुद्धत्वम्। थासंभवं विपक्षाद् व्यावृत्तत्वान्नानैकान्तिकत्वम्। यथासंभवं सपक्षेय सत्त्वान्नानध्यवसितत्वम्। पक्षे साध्याभावावेदकप्रत्यक्षोभयवादिसंप्रति-

स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से आत्मा का भी प्रत्यक्ष ज्ञान होता है -- इस ज्ञान से भी आत्मा के अनेक होने की पुष्टि होती है। वेदान्त मत में भी श्रवण-मनन आदि के द्वारा आत्मा का प्रत्यक्ष ज्ञान स्वीकार किया है। आत्मा ज्ञान का असमवायी आश्रय है इस से भी आत्मा का अनेक होना स्पष्ट होता है। एक ही समय में सुख और दुःख के भिन्न अनुभव एक ही आत्मा पर आधारित नही हो सकते -- इस से भी भिन्न-भिन्द आत्माओं का अस्तित्व स्पष्ट होता है। एक शरीरधारी जीव को दूसरे शरीर के सुखदुःख का अनुभव नही होता इस से भी दो शरीरों में दो आत्माओंका अस्तित्व स्पष्ट होता है। जितने शरीर है उतने ही जीव हैं क्यों कि प्रत्येक शरीर मे अलग जीव का अस्तित्व हमे प्रत्यक्ष से ही ज्ञात होता है। इस प्रकार निर्दोष अनुमानो से आत्मा का अनेकत्व सिद्ध होता है। (अनुमानो की निर्दोषता का विवरण मूल मे देखना चाहिए।)

१ ये विभिन्नाधिकरणे न भवतः ते एककालीनत्वेऽपि एकानुसंधानागोचरे न भवतः यथा एककालीनशरीरम्। २ शरीरसख्याप्रमाणात्मानः यावन्ति शरीराणि तावन्त: आत्मानः इत्यर्थः।

पन्नागमाभावान्न कालात्ययापदिष्टत्वम्। उक्तहेतूनां विपक्षे त्रैरूप्याभावान्न प्रकरणसमत्वं च। तत्रतत्रान्वयदृष्टान्तेषु यथोक्तसाध्यसाधनसद्भावात् व्यतिरेकदृष्टान्तेषु यथोक्तसाध्यसाधनानामभावाच्च न दृष्टान्तदोषोऽपीति।

ननु प्रतिपक्षप्रसाधकानुमानानां बहूनां सद्भावाद् विरुद्धाव्यभिचारित्व[1]मित्यपरो हेतुदोषः संपद्यते भवदुक्तहेतूनाम्। तथा हि। विवादाध्यासितानि शरीराणि उभयाभिमतेनैकात्मना[2]धिष्ठितानि जीवच्छरीरत्वात् संप्रतिपन्नशरीरवदिति चेत्। तत्र अधिष्ठितानीति कोऽर्थ उभयाभिमतेन आत्मना आश्रितानीति विवक्षितं तस्य भोगायतनानीति वा तेन संसृष्टानीति वा। न तावत् प्रथमपक्षः क्षेमकरः आत्मनो नित्यद्रव्यत्वेनान्याश्रितत्वानभ्युपगमात्। अभ्युपगमे वा अपसिद्धान्तप्रसंगात्। 'षण्णामाश्रितत्वमन्यत्र नित्यद्रव्येभ्यः' (प्रशस्तपादभाष्य पृ. १६) इति स्वयमेवाभिधानात्। नापि द्वितीयः पक्षः श्रेयस्करः। सकलशरीराणामुभयाभिमतस्यात्मनो भोगायतनत्वे यथा संमतशरीरगतेन्द्रियजनितवर्तमानसुखदुःखसाक्षात्कारः प्रतीयते तथा सकलशरीरगतेन्द्रियजनितवर्तमानसुखदुःखसाक्षात्कारो भवेदेव। न चैवं, तस्मात् सकलशरीरा-

उपर्युक्त विवरण के प्रतिकूल कुछ अनुमानों का अब विचार करते हैं। सब शरीर जीवत्-शरीर हैं अतः एक ही आत्मा द्वारा अधिष्ठित हैं – यह अनुमान उचित नही। यहा अधिष्ठित से तात्पर्य क्या है? आत्मा द्वारा आश्रित यह तात्पर्य संभव नही क्यों कि प्रतिपक्ष के मत के अनुसार नित्य द्रव्य आश्रित नही होते। जैसे कि कहा है – 'नित्य द्रव्यों को छोडकर छहों पदार्थ आश्रित होते हैं।' ये शरीर आत्मा के भोगायतन (उपभोग के स्थान) है यह तात्पर्य भी संभव नही क्यों कि एक ही आत्मा को सब शरीरों के सुखदुःखों का अनुभव नही होता यह पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं। इस आत्मा का सब शरीरों से सम्पर्क है यह तात्पर्य भी संभव नही क्यो कि ऐसा कथन प्रत्यक्षबाधित

१ विरुद्धेन सह अव्यभिचारित्वं किंनाम विरुद्धहेतुरित्यर्थः। २ आत्मा तु उभयवादिसंमतोऽस्ति वादस्तु एक एव अनेक एव आत्मा अत्र वर्तते।

णामेकात्मभोगायतनत्वं साध्यं स्वानुभवप्रत्यक्षबाधितमिति तत्र प्रवर्तमानस्य हेतोः कालात्ययापदिष्टत्वात्। तृतीयपक्षोऽपि न संभाव्यते। आत्मनः सकलशरीरसंसृष्टत्वस्य प्रत्यक्षबाधितत्वेन हेतोः कालात्ययापदिष्टत्वात्। कथम्। यथा संप्रतिपन्नशरीरे पादाभ्यां गच्छामि पाणिभ्यामाहरामि श्रोत्राभ्यां शृणोमि चक्षुर्भ्यां पश्यामि पादे मे वेदना शिरसि मे वेदना जठरे मे सुखमित्यादि सकलोपाधिषु स्वस्य संसर्गः स्वानुभवप्रत्यक्षेणैव प्रतीयते तथा सकलशरीरोपाधिसंसर्गोऽप्यस्ति चेत् तेनैव प्रत्यक्षेणैव प्रतीयेत। न च प्रतीयते। तस्मात् तन्नास्तीति स्वानुभवप्रत्यक्षेणैव निश्चीयत इति।

एतेन यदप्यनुमानमवादीत् वीतानि शरीराणि मत्संसर्गीणि शरीरत्वात् मच्छरीरवत् इति तदपि निरास्थत्। स्वात्मनः सकलशरीरसंसर्गस्य स्वानुभवप्रत्यक्षबाधितत्वेन हेतोः कालात्ययापदिष्टत्वाविशेषात्। ननु मम सकलशरीरेष्वनुसंधानसद्भावात् तत्संसर्गोऽस्तीति निश्चीयत इति चेत् तर्हि तव पादतललग्नकण्टकोद्धारणाय पाणितलव्यापारवत् सकलमृगपशुपक्षिमनुष्यादीनां दुःखहेतुपरिहाराय स्वस्य व्यापारप्रसंगात्। कुतः। सकलदुःखानां स्वानुसंधानगोचरत्वेन स्वकीयदुःखत्वात्। न चैवं दृश्यते। तस्मात् तव सकलशरीरसंसर्गो नास्तीति निश्चीयते।

[५२. आत्मनः एकत्वनिरासः।]

अथ आत्मा एक एव मनोऽन्यत्वे सति सदा स्पर्शरहितद्रव्यत्वात्

है। जैसे एक आत्मा को अपने शरीर के विषय में मैं पाव से चलता हूं, हाथ से लेता हूं, कानों से सुनता हूं आदि प्रतीति होती है वैसे अन्य शरीरों के विषय मे नही होती। अतः एक आत्मा का सब शरीरों से सम्पर्क मानना प्रत्यक्षबाधित है।

मेरे शरीर के समान सब शरीरों का मेरे आत्मा से सम्बन्ध है यह कथन भी उपर्युक्त प्रकार से ही दोषयुक्त है। यदि सब शरीरों का आप से सम्बन्ध हो तो उनके सुखदुःख की आपको प्रतीति होगी तथा उन सब के दुःख दूर करने के आप प्रयास करेंगे। किन्तु ऐसा होता नही है। अतः एक आत्मा का अनेक शरीरों से सम्बन्ध सिद्ध नही हो सकता।

५२. आत्माके एकत्वका निरास —आत्मा मन से भिन्न है तथा स्पर्शरहित द्रव्य है अतः वह आकाश के समान एक ही है यह

आकाशवदिति चेत् तत्र प्रमाता पक्षीक्रियते अन्यो वा। न तावदाद्यः प्रमातुरेकत्वस्य स्वानुभवप्रत्यक्षबाधितत्वेन हेतोः कालात्ययापदिष्टत्वात्। कुत इति चेत् एकानेकशरीरगतेन्द्रियजनितवर्तमानसुखदुःखप्रत्यक्षाभ्यां प्रमातृभेदस्य स्वानुभवप्रत्यक्षसिद्धत्वात्। किं च। प्रमातृन् पक्षीकृत्य एकत्वं प्रसाध्यते चेत् मृगपशुपक्षिमनुष्यादीनां मातृपितृपुत्रपौत्रभ्रातृकलत्रादीनां विभागाभावेन एक एव सकललोकेषु संकायः स्यादिति अतिप्रसज्यते। अपसिद्धान्तापातश्च। कुतः। अन्तःकरणावच्छिन्नं चैतन्यं प्रमातृ इत्यन्तःकरणानामनन्तत्वेन प्रमातृणामप्यनन्तत्वनिरूपणात्। द्वितीयपक्षे प्रमातुरन्यस्यात्मनः प्रमाणगोचरत्वाभावादाश्रयासिद्धो हेत्वाभासः स्यात्। वादिनो विशेष्यासिद्धश्च। वेदान्तपक्षे आत्मनो द्रव्यत्वाभावात्।

अथ आत्मा एक एव विभुत्वात् आकाशवदिति चेन्न। हेतोरसिद्धत्वात्। कथम्। अहं ज्ञानी अहं सुखी अहमिच्छाद्वेषप्रयत्नवान् इत्यहमहमिकया स्वानुभवप्रत्यक्षेण शरीरमात्र एव स्वात्मनः प्रतिभासमानत्वात्। ततो बाह्येऽप्रतिभासमानत्वाच्च। प्रागुक्तानेकत्वप्रसाधकानुमानानामसर्वगतत्वप्रसाधकत्वाच्च।

अनुमान भी उचित नही। यहा आत्मा एक है इस कथन में आत्मा का तात्पर्य प्रमाता हो यह संभव नही क्यों कि प्रत्येक शरीर के सुखदुःख का ज्ञाता जीव भिन्न है यह प्रत्यक्षसिद्ध है। सब प्रमाताओं को एक मानने से मृग, पशु, पक्षी, मनुष्य आदि का भेद तथा माता, पिता, भाई आदि का भेद लुप्त होगा (जो अनुचित है)। दूसरे, वेदान्त मत में अन्तःकरण से अवच्छिन्न चैतन्य को प्रमाता माना है, अन्तःकरण अनन्त हैं अतः प्रमाता भी अनन्त है। इस लिये सब प्रमाताओं को एक कहना वेदान्त मत के ही विरुद्ध है। प्रमाता से भिन्न किसी आत्मा का अस्तित्व ही प्रमाणसिद्ध नही है अतः उसे एक सिद्ध करना व्यर्थ है। तीसरे, वेदान्त मत में आत्मा द्रव्य नही है अतः आत्मा स्पर्शरहित द्रव्य है यह उन का कथन भी स्वमतविरुद्ध है।

आत्मा आकाश के समान व्यापक है अतः एक है यह अनुमान भी उचित नही। आत्मा व्यापक नही है क्यों कि मैं सुखी हूं, दुःखी हूं, ज्ञानी हूं आदि जितनी आत्मविषयक प्रतीति है वह सब अपने शरीर के भीतर ही होती है – बाहर नही। अतः आत्मा अपने शरीर में

ननु आत्मा एक एव अमूर्तत्वात् आकाशवदिति चेन्न। हेतोः क्रियाभिर्व्यभिचारात्[1]। अथ तद्व्यवच्छेदार्थम् अमूर्तद्रव्यत्वादित्युच्यत इति चेन्न। द्रव्यत्वस्य वाद्यसिद्धत्वेन[2] हेतोर्विशेष्यासिद्धत्वात्। अथ आत्मा एक एव नित्यत्वात् आकाशवदिति चेन्न। अपरसामान्यैर्हेतोर्व्यभिचारात्[3]। अथ तत् परिहारार्थं नित्यद्रव्यत्वादित्युच्यत इति चेन्न। परमाणुभिर्हेतोर्व्यभिचारात्। अथ तद्व्यपोहार्थम् अनणुत्वे सति नित्यद्रव्यत्वादित्युच्यत इति चेन्न। तथापि दृष्टान्तस्य[4] साधनविकलत्वात्। कुत इति चेत् 'आत्मन आकाशः संभूतः आकाशाद् वायुः वायोरग्निः' (तैत्तिरीय उ. २-१-१) इत्यादिना वेदेन आकाशस्योत्पत्तिविनाशकत्वेन कार्यद्रव्यत्वनिरूपणात्। तत्र एकत्वनित्यत्वनिरवयवत्वविभुत्वामूर्तत्वादेरसंभवात्। एतेन आत्मा एक एव अनणुत्वे सत्यकारणकत्वात्[5] अनणुत्वे सत्यकार्यत्वात्

मर्यादित है – व्यापक नही। पहले आत्मा के अनेकत्व का समर्थन जिन अनुमानों से किया है उन्हीं से आत्मा के सर्वगत न होने का भी समर्थन होता है।

आत्मा अमूर्त है अतः आकाश के समान एक है यह कथन ठीक नही। क्रिया अमूर्त तो होती है किन्तु अनेक होती है। अतः अमूर्तत्व और एकत्व का नियत सम्बन्ध नही है। आत्मा अमूर्त द्रव्य है अतः एक है यह कथन भी ठीक नही क्यों कि वेदान्त मत मे आत्मा को द्रव्य ही नही माना है। आत्मा नित्य है अतः एक है यह कथन भी अयोग्य है। (घटत्व, पटत्व आदि) अपर सामान्य नित्य तो होते है किन्तु अनेक होते है। अतः नित्यत्व और एकत्व मे कोई नियत सम्बन्ध नही है। आत्मा को नित्य द्रव्य कहने से भी यह दोप दूर नही होता – परमाणु नित्य द्रव्य होने पर भी अनेक हैं। परमाणु का अपवाद मानकर भी यह अनुमान सदोष ही रहता है क्यों कि इस अनुमान का उदाहरण आकाश नित्य नही है। वेदवचन के ही अनुसार 'आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ, आकाश से वायु तथा वायु से अग्नि उत्पन्न हुआ है'।

१ क्रिया अमूर्तास्ति परंतु अनेका न। २ आत्मद्रव्यस्य वेदान्तिमते निर्गुणत्वम्। ३ अपरसामान्यानि नित्यानि सन्ति परतु अनेकानि घटत्वपटत्वादीनि। ४ आकाशवत् इति। ५ अकारणकत्वात् इत्युक्ते अणौ व्यभिचारः कुत. अणौ अकारणकत्वसद्भावेऽपि अणूना वहूना सद्भावात् अत. उक्त अनणुत्वे सति इति।

नित्यत्वे सति द्रव्यारम्भकद्रव्यत्वात् अनणुत्वे सति निरवयवद्रव्यत्वात् आकाशवदित्यादिकं निरस्तम्। दृष्टान्तस्य साधनविकलत्वात्। तस्मात् प्रतिपक्षसाधकानुमानानामभावान्न विरुद्धाव्यभिचारित्वमस्माभिरुक्त-हेतूनां संपनीपद्यते। अपि तु प्रत्यनुमानेन प्रत्यवस्थानं[1] प्रकरणसमा जातिः इति तवोक्तादेव जात्युत्तरत्वेन असदुक्तित्वात् तवैव निरनुयोज्यानुयोगो नाम निग्रहस्थानं[2] स्यात्। ततश्च निर्दुष्टेभ्योऽस्मदनुमानेभ्योऽस्माकम-भीष्टसिद्धिर्भवत्येव।

[५३. भेदस्य अविद्याजन्यत्वनिषेधः।]

किं च।

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते[3]।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥
(मुण्डकोपनिषत् ३–१–१)

इत्यादिश्रुत्या एकैकस्मिन् शरीरे द्वौ द्वावात्मानौ निरूपितौ। तथा श्रुत्या सकलशरीरेष्वेकात्मसाधनं प्रबाध्येत। अथ मतम्-अविद्योपहितो[4] जीवो मायोपहितो[5] महेश्वर इति एकैकस्मिन् शरीरे एकैको जीवात्मा सुख-

अतः आकाश में एकत्व, नित्यत्व, निरवयत्व, व्यापकत्व, अमूर्तत्व आदि संभव नही है। इसी वेदवचन से आत्मा का कारणरहित, कार्यरहित, निरवयव द्रव्य, तथा द्रव्यारम्भक द्रव्य होना भी बाधित होता है अतः इन कारणों से भी आत्मा को एक सिद्ध करना सभव नही। तात्पर्य – आत्मा के अनेकत्व के विरोध मे किसी अनुमान को सिद्ध नही किया जा सकता।

५३. भेद अविद्याजन्य नहीं है —उपनिषद्वचनों से एक एक शरीर में दो दो आत्माओं का अस्तित्व प्रतीत होता है। जैसे कि कहा है – 'दो सहयोगी सखा पक्षी एक ही वृक्ष पर बैठते हैं, उनमे एक मीठे पीपल-फल को खाता है तथा दूसरा न खाते हुए सिर्फ देखता है।' इस के उत्तर मे वेदान्त मत का विवरण इस प्रकार है। अविद्या से उपहित चैतन्य जीव है तथा माया से उपहित चैतन्य महेश्वर

१ अनुमान प्रति पुनः अनुमान तेन स्वमतस्थापनम्। २ अनिग्रहस्थाने निग्रह-स्थानाभियोगो निरनुयोज्यानुयोगनिग्रहः इति न्यायसारे। ३ द्वौ पक्षिणौ सहायौ सखिनौ एकं शरीर तिष्ठतः तयोः परमात्मजीवात्मनोः। ४ अविद्योपाधियुक्तः। ५ मायोपाधियुक्त.।

दुःखादिकं भुञ्जानस्तिष्ठति सकलशरीरेषु एक एव महेश्वरः सुखदुःखादिकमभुञ्जानः केवलं साक्षित्वेनान्तर्यामीति व्यपदेशभाक् प्रकाशमानस्तिष्ठति इत्येकस्यैव परब्रह्मणः उपाधयो भेदकाः ।

कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः[१] ।
कार्यकारणतां हित्वा पूर्णबोधोऽवशिष्यते ॥

(शुकरहस्योपनिषत् ३-१२)

इत्यविद्ययैव प्रमातृभेद इति । तदयुक्तम् । अविद्यायाः प्रमातृभेदकत्वानुपपत्तेः । कुतः मायाव्यतिरिक्ताया अविद्याया अभावात् । अथ ज्ञानपुण्यपापवासनारूपसंस्काराविशिष्टायाः मायाया एव अविद्यारूपत्वं तया कृतः प्रमातृभेद इति चेत् तर्हि अविद्याभेदः कुतः स्यात् । अथ प्रमातृभेदादविद्याभेद इति चेन्न । इतरेतराश्रयप्रसंगात् । कुतः । यावत् प्रमातृभेदो न जाघटीति तावदविद्याभेदोऽपि नोपपनीपद्यते, यावदविद्याभेदो नोपपद्यते तावत् प्रमातृभेदो न जाघटीतीति । अथ ज्ञानपुण्यपापवासनारूपसंस्कार-

है – इन मे जीव तो प्रत्येक शरीर में एकएक होता है तथा सुखदुखःका अनुभव करता है; किन्तु महेश्वर सब शरीरों मे एक ही है तथा वह सुखदुःख का अनुभव नहीं करता – सिर्फ अन्तर्यामी साक्षी होता है । इस प्रकार एक ही परब्रह्म के दो उपाधियों से दो रूप होते है । जैसे कि कहा है – ' कार्यरूप उपाधि से युक्त चैतन्य जीव है तथा कारणरूप उपाधि से युक्त चैतन्य ईश्वर है, कार्य और कारण के दूर होने पर पूर्ण चैतन्य ही अवशिष्ट रहता है । ' तात्पर्य – प्रमाताओं में भेद अविद्यामूल है ।

वेदान्त मत का यह सब कथन उचित नही । माया और अविद्या में कोई अन्तर नही है अतः अविद्या से प्रमाताओं में भेद होता है यह कथन ठीक नही । पुण्य, पाप के वासनारूप संस्कार से विशिष्ट माया ही अविद्या है अतः उसके द्वारा प्रमाताओं में भेद होता है यह कथन भी पर्याप्त नही । इस पर प्रश्न होता है कि अविद्या मे भेद कैसे हुआ ? संस्कार के भेद से अविद्या में भेद होता है यह कहने पर प्रश्न रहता है कि संस्कार मे भेद कैसे हुआ ? प्रमाताओं के भेद से सस्कार में भेद

१ कार्यलक्षण उपाधिः कार्योपाधिः कारणलक्षण उपाधिः कारणोपाधिः ।

भेदादविद्याभेद इति चेत् तर्हि तत्संस्कारभेदः कुतो जायते। प्रमातृभेदादिति चेत् प्रमातृभेदोऽपि कुतो जायते। अविद्याभेदादिति चेत् अविद्याभेदोऽपि कुतो जायते। संस्कारभेदादिति चेन्न। चक्रकाश्रयप्रसंगात्। तथा हि। यावदविद्याभेदो नास्ति तावत् प्रमातृभेदाभावः। यावत् प्रमातृभेदो नास्ति तावत् संस्कारभेदाभावः। यावत् संस्कारभेदो नास्ति तावदविद्याभेदाभावः। यावदविद्याभेदो नास्ति तावत् प्रमातृभेदाभाव इति। अथ अविद्याया भेदाभावेन एकत्वेऽपि प्रमातृभेदो भविष्यति इति चेत् न। उपाधिभूताया अविद्याया एकत्वे उपाधीयमानस्यात्मनोऽप्येकत्वे प्रमातृभेदस्यानुपपत्तेः। ननु अविद्यायाः स्वभावतो भेद इति चेत् तर्हि प्रमातृणामपि स्वभावत एव भेदसद्भावे को विरोधः। अथ

सुपर्णं[1] विप्राः कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति।

(ऋग्वेद १०–११४–५)

इति श्रुतिविरोध इति चेन्न। तच्छ्रुतेः परमात्मैक्यप्रतिपादनपरत्वेन जीवात्मैक्यप्रतिपादनाभावात्। श्रुतेः प्रामाण्याभावस्य प्रागेव प्रमाणैः समर्थितत्वाच्च। अथान्तःकरणमेव प्रमातृभेदकं भविष्यतीति चेन्न। अन्तःकरणं न प्रमातृभेदकम् अविद्याकार्यत्वात् करणत्वात् जडत्वात् जन्यत्वात् चक्षु-

मानें तो यह चक्राश्रय होता है – प्रमाताओं में भेद अविद्या से, अविद्या में भेद संस्कार से तथा संस्कार में भेद प्रमाताओं के भेद से माना गया है। यदि अविद्या को भेदरहित माना जाता है तथा आत्मा भी भेदरहित है, तो प्रमाता-जीवों को ही भेदसहित मानना कैसे संभव होगा? अविद्या में स्वभावतः भेद मानें तो प्रश्न होता है कि जीवों में ही स्वभावतः भेद मानने में क्या हानि है? जीवों के भेद के विरुद्ध 'यह पक्षी एक है किन्तु विद्वान कवि उसकी बहुत प्रकारों से वचनों से कल्पना करते हैं' इस वेदवचन को उद्धृत करना भी पर्याप्त नही। एक तो यह वचन परमात्मा के एकत्व का सूचक है – जीवों के एकत्व का नही। दूसरे, वेदवचन अप्रमाण हैं यह भी पहले स्पष्ट किया है। अन्तःकरणों के भेद से प्रमाताओं मे भेद मानना उचित नही यह पहले स्पष्ट किया है – अन्तःकरण जड, करण, अविद्या का कार्य है अतः

१ आत्मानम्।

रादिवदिति प्रमाणविरोधात्। अन्यथा[1] चक्षुरादिबुद्धीन्द्रियवागादिकर्मेन्द्रियशिरोजठराद्यङ्गोपाङ्गादिभ्यः प्रमातृभेदः प्रसज्येत इत्येकं शरीरं बहुभिः प्रमातृभिरधिष्ठितं स्यात्। तथा च विभिन्नाभिप्रायानेकप्रमातृभिः प्रेरितं शरीरं सर्वदिक्क्रियमुन्मथ्येत अक्रियं वा प्रसज्येत। ननु अन्तःकरणमेव प्रमातृभेदकं न चक्षुरादय इति चेन्न। जडत्वजन्यत्वकरणत्वाविद्याकार्यत्वाविशेषेपि एकस्य प्रमातृभेदकत्वमन्यस्याभेदकत्वमिति नियामकाभावात्[2]। अथ संस्कारादीनां[3] प्रमातृभेदकत्वमिति चेन्न। संस्कारादयः प्रमातृभेदका न भवन्ति जडत्वात् जन्यत्वात् करणत्वात् अविद्याकार्यत्वात् पटादिवदिति बाधकसद्भावात्। ततः स्वभावतः एव प्रमातृभेदः स्वीकर्तव्यः।

[५४. प्रमाणप्रमेयभेदसमर्थनम्।]

तथा प्रमाणप्रमितिप्रमेयभेदोऽपि परमार्थ इत्यङ्गीकर्तव्यः। तथा

प्रमाणं प्रमितिर्मेयं प्रमातेति चतुष्टयम्।
विहायान्यत् कथं सिद्ध्येत् तत्सिद्धौ मानवर्जनात्[4] ॥

चक्षु आदि इन्द्रियो के समान वह प्रमाताओं मे भेद नही कर सकता। यदि अन्तःकरणों से जीवो में भेद होता हो तो चक्षु आदि इन्द्रियों से भी होगा – फिर प्रत्येक इन्द्रिय तथा अवयव में अलग अलग जीव का अस्तित्व मानना होगा जो असंभव है। अन्तःकरणो से तो जीवों मे भेद होता है और चक्षु आदि से नही होता ऐसा भेद करने का कोई कारण नही है। अन्तःकरण के समान संस्कार भी जड, करण, उत्पत्तियुक्त तथा अविद्या के कार्य हैं अतः वे भी प्रमाताओं में भेद के कारण नही है। तात्पर्य – प्रमाता जीवों में जो भेद है वह स्वाभाविक ही मानना चाहिए।

५४. प्रमाण प्रमेय का भेदसमर्थन—प्रमाता के समान प्रमाण, प्रमिति तथा प्रमेय का भेद भी वास्तविक है। ‘प्रमाण, प्रमिति, प्रमेय तथा प्रमाता इन चारोंको छोडकर कोई तत्त्व कैसे सिद्ध होगा? ऐसे तत्त्व की सिद्धि किसी प्रमाण से नही हो सकती।’ यदि ऐसा तत्त्व (ब्रह्म) प्रमाणसिद्ध माना जाता है तो वह दृश्य अतएव बाधित होगा।

१ प्रमाणविरोधो नो चेत्–अंतःकरणं प्रमातृभेदकं नो चेत्। २ निश्चयाभावात्। ३ पुण्यपापसंस्कारादीनाम्। ४ ब्रह्मसिद्धौ प्रमाणाभावात्।

तथा तस्य[1] प्रमाणगोचरत्वे दृश्यत्वाद् बाध्यता भवेत्। प्रमाणगोचरत्वाभावे तदस्तीति प्रमातृभिः कथं निश्चीयेत। अथ ब्रह्मस्वरूपस्य प्रमाणगोचरत्वाभावेऽपि तत् स्वत एव प्रकाशते इति चेत् तत् स्वतः प्रकाशत इत्येतदपि प्रमातृभिः कथं निश्चीयते। प्रमातॄणां तद्ग्राहकप्रमाणस्याप्यसंभवात्। किं च। 'सति धर्मिणि धर्माश्चिन्त्यन्ते' इति न्यायात् तद्ब्रह्मस्वरूपसद्भावः प्रमातृभिर्न निश्चीयते तद्धर्माः स्वतःप्रकाशमानत्वनित्यत्वैकत्वविभुत्वादयः कथं निश्चीयेरन्[2]। अथ स्वतःप्रकाशमानत्वनित्यत्वैकत्वविभुत्वादयोऽपि स्वत एव प्रसिद्धा न प्रत्यक्षादिप्रमाणगोचरा इति चेत् तर्हि तद्ग्राहकप्रमाणाभावात् तत् सर्वं प्रमातृभिः कथं ज्ञायेत। ननु 'नित्यं ज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इत्यादिश्रुत्या ज्ञायत इति चेत् तर्हि आगमप्रमाणगोचरत्वेन दृश्यत्वाद् बाध्यता भवेत्।

ननु तदुपनिषद्वाक्यस्य ब्रह्मस्वरूपोपलक्षकत्वमेव[3] न वाचकत्वं[4]

ब्रह्म का स्वरूप प्रमाण से सिद्ध नही होता किन्तु स्वतः प्रकाशमान है यह कहने पर प्रश्न होता है कि प्रमाता उस स्वरूप के प्रकाशमान होने को कैसे जानते हैं ? प्रमाता यदि प्रमाण से ब्रह्म के स्वरूप को नही जानते तो उस के स्वतः प्रकाशमान होने को भी नही जान सकते। यह साधारण न्याय है कि 'धर्मी हो तभी उस के धर्मों का विचार किया जाता है।' यहा प्रमाताओं को प्रमाण से ब्रह्म के स्वरूप के अस्तित्व का ही ज्ञान नही होता। अतः उस ब्रह्म के गुणधर्म – प्रकाशमान होना, नित्य होना, एक होना, व्यापक होना आदि का निश्चय कैसे होगा ? ये सब गुणधर्म भी स्वतः सिद्ध हैं यह मानने पर भी प्रश्न होता है कि प्रमाता किस प्रमाण से इन्हें जानेंगे ? 'ब्रह्म नित्य, ज्ञान तथा आनन्दरूप है' आदि वेदवचनों से यह ब्रह्मस्वरूप ज्ञात होता है यह कथन भी संभव नही। इस का तात्पर्य यह होगा की ब्रह्म आगमप्रमाण का विषय है तथा जो प्रमाणविषय है वह दृश्य तथा बाधित होता है यह वेदान्तमत है – इन में संगति नही होगी।

उपनिषद्वचन ब्रह्म के उपलक्षक हैं – वाचक नही; गंगा में घोष

१ ब्रह्मणः। २ धर्मिणः ब्रह्मणः अभावात् तद्धर्माः कथं निश्चीयंते। ३ द्योतकत्वम्। ४ अर्थप्रमितिजनकत्वम्।

गङ्गायां घोषः[1] अङ्गुल्यग्रे हस्तियूथशतमास्ते[2] इत्यादिवदिति चेत् न। संकेतवशात् सर्वत्र शब्दानामर्थप्रतिपत्तिजनकत्वस्यैव वाचकत्वात्[3]। गङ्गायां घोषः अङ्गुल्यग्रे हस्तियूथशतमास्ते इत्यादिष्वपि सामीप्यौपचारिकयो[4]रित्यधिकरणादिसंकेतादर्थप्रतिपत्तिजनकत्वेन वाचकत्वमेवोपलक्षकत्वेऽपि। ननु सामीप्यौपचारिकाद्यर्थानां प्रमाणगोचरत्वेन तत्र संकेतसंभवादर्थप्रतिप्रतिजनकत्वसंभवाद् वाचकत्वमस्तु, ब्रह्मस्वरूपस्य तु प्रमाणगोचरत्वाभावेन तत्र शब्दसंकेतासंभवादुपनिषद्वाक्यानामपि ब्रह्मस्वरूपप्रतिपत्तिजनकत्वं न जाघटघते। कुतः 'यतो[5] वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह[6]' (तैत्तिरीय उ. २-४-५) इति श्रुतेरिति चेत् तर्हि तदुपनिषद्वाक्यानां पठनश्रवणादिकमनर्थकमेव स्यात्। कुतः। तदर्थप्रतिपत्तेः केनापि प्रकारेणासंभवात्।

है, अंगुली पर सौ हाथियों के झुंड है आदि वाक्यो के समान ये वाक्य सूचक हैं – यह कथन भी उचित नही। संकेत के बल से शब्दों से अर्थ का ज्ञान होता है – इसे ही शब्दों का वाचक होना कहते है। गंगा मे घोप है इस वाक्य मे गंगा के समीप घोप है इस अर्थ की प्रतीति होती है तथा अंगुली पर सौ हाथियों के झुंड हैं इस वाक्य मे हाथियों पर अधिकार के उपचार का बोध होता है – अतः ये दोनों वाक्य उपलक्षक होने पर भी वाचक है ही। अतः उपनिषद्वाक्यों से ब्रह्म का ज्ञान होता हो तभी उन्हे उपलक्षक या वाचक कहा जा सकेगा। समीप होना अथवा उपचार से अर्थ प्रमाण से ज्ञात होते है अत शब्दों से ज्ञात होते है, किन्तु ब्रह्म का स्वरूप प्रमाण का विषय नहीं है अतः शब्दों से ज्ञात नही होता, कहा भी है – 'ब्रह्मस्वरूप से मन के साथ वाणी भी उसे पाये विना ही निवृत्त होती है' – यह कथन भी अयोग्य है। यदि ब्रह्म शब्दो–उपनिषद्वाक्यो से ज्ञात नही होता तो उपनिषदो का पढना, सुनना व्यर्थ ही है।

१ घोष आभीरपल्ली स्यात्। २ अत्र वाक्ये उपदर्शकत्वमेवास्ति न तु वाचकत्वम्। ३ अर्थप्रतीतिजनकत्वमेव वाचकत्वं कथ्यते। ४ गङ्गायां घोष इति सामीप्याधिकरणम् अङ्गुल्यग्रे हस्तियूथशतमास्ते इत्युपचारिकाधिकरणम्। ५ ब्रह्मणः। ६ ब्रह्मस्वरूपं मनसा अप्राप्यम्।

किं च। सर्वे शब्दाः दृष्टार्थे संकेतिता अपि दृष्टादृष्टसजातीयार्थेषु प्रतिपत्तिं जनयन्ति। न च प्रतिपदार्थं संकेतः क्रियते। पदार्थानामानन्त्येन प्रत्येकं संकेतयितुमशक्यत्वात्। तथा च ब्रह्मस्वरूपस्य प्रमाणगोचरत्वाभावेन दृष्टादृष्टसजातीयत्वाभावाच्छब्दात् तत्प्रतिपत्त्यसंभव एव स्यात्। श्रवणात् तत्प्रतिपत्त्यभावे तत्र मननस्याप्यसंभव एव श्रवणमननयोरगोचरत्वे च ध्येयत्वासंभवान्निदिध्यासनगोचरत्वमपि न स्यात्। तत्साक्षात्कारोऽपि कथं जायते। तत्साक्षात्काराभावे कथं सविलासाविद्यानिवृत्तिरूपो मोक्षः स्यात् यतस्तदर्थविचारकः प्रवर्तेत। अथवा ब्रह्मस्वरूपस्य श्रवणमनननिदिध्यासनसाक्षात्कारगोचरत्वे दृश्यत्वेन बाध्यता स्यात्[1]। तथाप्यबाध्यत्वे प्रपञ्चस्याप्यबाध्यत्वं स्यात्। तस्मात् प्रमातृप्रमाणप्रमितिप्रमेयमेव तत्त्वं ततोन्यत् तत्त्वं नास्तीति प्रमाणतयैव निश्चीयते।

[५५. वेदान्तमते प्रमातृस्वरूपायुक्तता ।]

तथापि तन्मते प्रमाता विचार्यमाणो न जाघटयते। तथा हि।

शब्दों मे देखे हुए पदार्थों का ही संकेत किया जाता है किन्तु उस संकेत से देखे हुए पदार्थों से समानता रखनेवाले नये पदार्थों का भी बोध होता है। पदार्थ अनन्त हैं अतः प्रत्येक पदार्थ के लिए स्वतन्त्र शब्द का संकेत नही होना – समानरूप कई पदार्थों के लिए एक शब्द का संकेत होना है। किन्तु ब्रह्मस्वरूप प्रमाण से ज्ञात ही नही होता अतः उस के समान कोई पदार्थ है यह कहना भी संभव नही – इस लिए उस के विषय मे किसी शब्द का संकेत नही हो सकता। शब्द से ब्रह्म का ज्ञान नही होता – श्रवण नही होता अतः उस का मनन और निदिध्यासन भी असंभव है। इन के अभाव में साक्षात्कार, अविद्या की निवृत्ति, मोक्ष, मोक्ष के लिये प्रयत्न – ये सब निराधार सिद्ध होते हैं। अतः प्रपंच को अबाधित मानना चाहिए। तथा प्रमाण, प्रमाता, प्रमेय एवं प्रमिति इन से भिन्न किसी तत्त्व का अस्तित्व नही मानना चाहिए।

५५. वेदान्त में प्रमाता का स्वरूप—इतने विवेचन के अतिरिक्त वेदान्त मत मे प्रमाता का जो स्वरूप कहा है वह भी युक्ति-

१ प्रपञ्चो मिथ्या दृश्यत्वात् स्वप्नप्रपञ्चवदित्युक्तत्वात्।

पूर्णबोधस्वरूपस्य प्रमातृत्वम् उपाध्यवच्छिन्नप्रदेशमात्रस्य वा। प्रथमपक्षे लोके एक एव प्रमाता स्यात्, नान्यः प्रमाता प्रतीयेत। पूर्णबोधस्वरूपस्य एकत्वात्। न चैवं, मृगपशुपक्षिमनुष्यादीनां अनेकप्रमातॄणामुपलम्भात्। किं च। स्वरूपस्य प्रमातृत्वे कर्तृत्वं भोक्तृत्वं बाध्यत्वं च प्रसज्यते। तथास्तीति[1] चेन्न। अपसिद्धान्तप्रसंगात्। कथम्। 'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च' इत्यकर्तृत्वनिरूपणात्। 'अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति' इत्यभोक्तृत्वनिरूपणात्। 'नित्यं ज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इत्यबाध्यत्वनिरूपणाच्च। उपाध्यवच्छिन्नप्रदेशमात्रस्य प्रमातृत्वे स च उपाधिः सर्वगतः स्यादसर्वगतो वा। न तावत् प्रथमः पक्षः उपाधेरुपाधीयमानस्यात्मनोऽपि[2] सर्वगतत्वे ज्ञाताहं सुख्यहं दुःख्यहमित्येक एव जीवः सर्वलोके अहंप्रत्ययवेद्यत्वेन प्रतीयेत। न चैवं प्रतीयते। अपि तु शरीरमात्रे एव 'ज्ञाताहं सुख्यहं दुःख्यहम् इच्छाद्वेषप्रयत्नवानहमित्यहमहमिकया स्वानुभवप्रत्यक्षेण प्रतीयमानत्वादात्मनः सर्वगतत्वेऽपि उपाधिः[3] शरीरावच्छिन्नप्रदेशे एव नान्यत्रेत्यङ्गीकर्तव्यम्। तथा च शरीरस्यान्यत्र गमने तेन सह

युक्त नही है। प्रश्न होता है कि वे पूर्ण चैतन्य को प्रमाता मानते हैं अथवा उपाधि से आच्छादित प्रदेश को प्रमाता मानते है? पूर्ण चैतन्य स्वरूप को तो प्रमाता नही माना जा सकता क्यो कि पूर्ण चैतन्य एक है और प्रमाता बहुत है। दूसरे, प्रमाता कर्ता, भोक्ता, तथा बाध्य है जब कि पूर्ण चैतन्य को अकर्ता, अभोक्ता, अबाध्य माना है। जैसे कि कहा है – 'वह साक्षी, चेतन, केवल तथा निर्गुण है।'; 'वह दूसरा खाता नही है, देखता है।'; 'ब्रह्म नित्य, ज्ञान, आनन्द है।' उपाधि से आच्छादित चैतन्य प्रदेश को प्रमाता माने तो प्रश्न होता है कि उपाधि सर्वगत है या असर्वगत है? यदि उपाधि सर्वगत है और आत्मा भी सर्वगत है तो प्रमाता भी सर्वगत – एक ही होगा। किन्तु मैं सुखी हूं, दुःखी हूं आदि प्रमाता की प्रतीति अपने शरीर तक ही मर्यादित होती है अतः उपाधि को भी शरीर तक ही मर्यादित मानना चाहिए। उपाधि को शरीर तक मर्यादित मानने पर प्रश्न होता है कि जब शरीर एक

१ ब्रह्मस्वरूपस्य कर्तृत्वादिकमस्तीति। २ आत्मनः गुणादि. उपाधिः तत्सर्वगतत्वात्। ३ सुखदुःखादिरुपाधिः।

उपाधेरपि गमनात् पूर्वमुपाध्यवष्टब्धप्रदेशस्य प्रमातृत्वं विनश्यत्येव केवलम्। ननु प्रागुपाध्यवष्टब्धप्रदेशोऽपि तेनोपाधिना सहान्यत्र गच्छतीति तत्प्रदेशप्रमातृत्वं न विनश्यतीति चेन्न। तदसंभवात्। कुतः

वीतो देशो[1] न यात्येव चिद्रूपत्वात् स्वरूपवत्।
देशोऽयं न स्वयं याति प्रदेशत्वात् खदेशवत्॥

इति प्रमाणबाधितत्वात्[2]। तस्मादुपाधिरेव कायेन सह देशान्तरं गच्छति। तेनोपाधिना यावच्चैतन्यं व्याप्तं तावन्मात्रमेव चैतन्यं प्रमाता भवेत्। तथा च यस्मात् प्रदेशादुपाधिर्निवर्तते तत्प्रदेशस्य प्रमातृत्वविनाशः अपरं यं प्रदेशमुपाधिः प्राप्नोति तत्प्रदेशस्य प्रमातृत्वेनोत्पत्तिरिति यदा यदा शरीरस्य देशान्तरप्राप्तिस्तदा तदा पूर्वपूर्वप्रमातृत्वविनाशः अपूर्वापूर्वस्य प्रमातुरुत्पत्तिरित्येकस्मिन् देहे बहूनां प्रमातॄणां विनाशनात् अपरेषां च बहूनां प्रमातॄणामुत्पत्तेश्च कथमेको देहान्तरं व्रजेत्।

ततो देहान्तरप्राप्तिः प्रमातॄणां न विद्यते।
यतः पूर्वशरीरेण कृतकर्मफलं भजेत्॥

स्थानसे दूसरे स्थान को जाता है तब उपाधि भी साथ जायगा — अतः पहले स्थान में उपाधि के न रहने से प्रमाता का नाश होगा। उस स्थान का चैतन्य-प्रदेश भी उपाधि के साथ जाता है यह कथन संभव नही क्यों कि 'ब्रह्मस्वरूप में गमन संभव नही उसी प्रकार चैतन्यप्रदेशमे भी गमन संभव नही; आकाश-प्रदेश गमन नही करते उसी प्रकार चैतन्य-प्रदेश भी गमन नही करते।' उपाधि से युक्त चैतन्य प्रमाता है अतः शरीर के साथ उपाधि के स्थानान्तर होने पर पूर्व स्थान के प्रमाता का नाश होगा तथा नये स्थान में नया प्रमाता उत्पन्न होगा। इस प्रकार एक ही शरीर मे कई प्रमाताओं की उत्पत्ति तथा विनाश होगा। इस से प्रमाता एक शरीर छोडकर दूसरे शरीर को ग्रहण करता है इस कथन का कोई अर्थ नही होगा। इसी लिए कहते हैं कि 'प्रमाताओं को दूसरे शरीर की प्राप्ति नही होती, जिससे वे पहले शरीर द्वारा किये हुए कर्मों का फल भोगें।' जब एक

१ प्रागुपाध्यवष्टब्धप्रदेशः। २ उपाधिस्तु ब्रह्मवादिना सर्वगतः प्रतिपाद्यतेऽतः दूषणानि।

कथं धर्माद्यनुष्ठाने प्रमातुः स्यात् प्रवर्तनम्[1]।
स्वर्गापवर्गसंप्राप्तेरनुष्ठातुरसंभवात्[2] ॥

ननु

अदृष्टेन विशिष्टं यदन्तःकरणमेव तत्।
प्राप्य देहं कृतं स्वेन जीवं भोजयतीति चेत् ॥
यः कर्ता पुण्यपापस्य तं जीवं नैव भोजयेत्[3]।
तज्जीवस्य विनष्टत्वात् उपाधिविगमादिह ॥
अन्योत्पन्नप्रमातारं यदि भोजयते नदः।
कृतनाशाकृताभ्यागमाख्यदोषः प्रसज्यते ॥

ननु

अन्तःकरणमेवैतत् कर्त्रदृष्टस्य देहतः।
प्राप्य देहान्तरं भोक्तृ तत्फलस्य तदेव[4] चेत् ॥

न। आत्मकल्पनावैयर्थ्यप्रसंगात्। तथा हि। अन्तःकरणस्यैवादृष्टादिकर्तृत्वं तत्फलभोक्तृत्वं भवान्तरप्राप्तिश्च यदि संपद्यते तर्ह्यात्मा अपरः किमर्थं परिकल्प्यते। तेनान्तःकरणेनैव पर्याप्तत्वात्। किं च,

शरीर मे एक अनुष्ठाता ही नही है तो स्वर्ग या मोक्ष की प्राप्ति के लिए धर्माचरण में प्रमाता कैसे प्रवृत्त होगा ? अदृष्ट से विशिष्ट अन्तःकरण ही देह प्राप्त कर जीव को अपने द्वारा किये कर्मों का फल अनुभव कराता है यह कथन भी ठीक नही। पुण्य, पाप को करनेवाला जीव तो उपाधि के स्थानान्तर से नष्ट होता है अतः उसे उस पुण्यपाप का फल मिलना संभव नही है। यदि नये उत्पन्न हुए प्रमाता को पुराने प्रमाता के कर्मों का फल मिलना है तो यह कृतनाश तथा अकृतागम (किये का फल न मिलना तथा न किये का फल मिलना) दोप होगा। अन्तःकरण ही एक देह से दूसरे देह को प्राप्त कर अदृष्ट का कर्ता तथा भोक्ता होता है यह कथन भी ठीक नही क्यों कि ऐसा कहने पर आत्मा की कल्पना ही व्यर्थ होती है। यदि अन्तःकरण ही अदृष्ट का कर्ता, फल का भोक्ता तथा एक देह छोड कर दूसरे देह को प्राप्त करनेवाला है तो आत्मा का

१ यदि देहान्तरं प्रमाता न गच्छति तर्हि प्रमाता कथं धर्माद्यनुष्ठाने प्रवर्तते अपि तु न। २ स्वर्गादिप्राप्त्यर्थम् अनुतिष्ठति धर्ममाचरति एवं भूतस्यानुष्ठातुरसंभवात् प्रमाता देहान्तरं न व्रजति तर्हि किमर्थं धर्मः क्रियते इत्यभिप्रायः। ३ अन्तःकरणं कर्तृ सत्। ४ अन्तःकरणमेव।

न वीतमन्तःकरणं कर्तृ भोक्तृवित्करणत्वतः।
जाड्यादुत्पत्तिमत्त्वाच्च चक्षुरादिघटादिवत् ॥

इति प्रमाणसद्भावादन्तःकरणस्य धर्मादिकर्तृत्वं तत्फलभोक्तृत्वं च न जाघटयते। तथा तस्य भवाद् भवान्तरप्राप्तिरपि नोपपनीपद्यते इत्यावेदयति।

अन्तःकरणं विमतं परदेहं न गच्छति।
करणत्वाद् वित्पत्तौ[1] स्पर्शनं संमतं यथा ॥ इति।

अथ स्पर्शनादीन्द्रियाणामप्येतेषां भवान्तरप्राप्तिसद्भावात् साध्यविकलो दृष्टान्त इति चेन्न।

स्पर्शनादीन्द्रियं धर्मि परदेहं न गच्छति।
इन्द्रियत्वाद् विनाशित्वात् जन्मवत्त्वाच्च पाणिवत्[2] ॥

इति बाधकप्रमाणसद्भावात्।

ततः स्वर्गापवर्गाप्तिः प्रमातणां न विद्यते।
न चान्तःकरणस्यापि[3] तदर्थं कः प्रवर्तते ॥
प्रमातणां विनाशित्वादपरस्य[4] ह्यसंभवात्।
संभवेऽपि ह्यबद्धत्वात् कस्य मोक्षः प्रसज्यते ॥

क्या कार्य रहा? 'अन्तःकरण कर्ता या भोक्ता नही हो सकता क्यों कि वह ज्ञान का साधन है, जड है तथा उत्पत्तियुक्त है, जैसे कि चक्षु आदि इन्द्रिय और घट आदि पदार्थ होते हैं।' इसी प्रकार अन्तःकरण दूसरे शरीर को प्राप्त नही कर सकता – 'अन्तःकरण स्पर्शनेन्द्रिय आदि के समान ज्ञान का साधन है अतः वह दूसरे शरीर को प्राप्त नही कर सकता।' स्पर्शनादि इन्द्रिय भी दूसरे देह को प्राप्त करते हैं यह कथन ठीक नही – 'स्पर्शन आदि इन्द्रिय हाथ आदि के समान ही उत्पत्ति तथा विनाश से युक्त हैं अतः वे दूसरे शरीर को प्राप्त नही हो सकते।' तात्पर्य – 'प्रमाता को अथवा अन्तःकरण को स्वर्ग या मोक्ष की प्राप्ति होना संभव नही। अतः उस के लिए प्रयास कौन करेगा? प्रमाता विनष्ट होते हैं, अन्तःकरण को मोक्ष प्राप्त नही हो सकता तथा अन्तः-करण बद्ध भी नही है, फिर मोक्ष किसे प्राप्त होता है? आगम और युक्ति

१ ज्ञानोत्पत्तौ। २ कर्मेन्द्रियवत्। ३ स्वर्गादिप्राप्तिर्न। ४ अन्तःकरणस्य।

ततो वेदान्तपक्षेण मोक्षादीनामसंभवः।
तद्धेतुतत्त्वविद्यादेरभावाच्छास्त्रयुक्तितः ॥

[५६. आत्मनः सर्वगतत्वाभावः।]

ननु प्रमातृणां तथा स्वभावत एव भेदोऽस्तु तेषामनन्तत्वाङ्गीकारात्। तथा चोक्तम्—

अत एव हि विद्वत्सु मुच्यमानेषु संततम्।
ब्रह्माण्डोदरजीवानामनन्तत्वादशून्यता ॥ इति।

तथा तेषामनन्तत्वेन प्रतिशरीरं भेदेपि सर्वेषां सर्वगतत्वमेव, न शरीरमात्रत्वं नापि वटकणिकामात्रत्वम्। तथा हि। आत्मा सर्वगतः द्रव्यत्वे सत्यमूर्तत्वात् आकाशवदिति नैयायिकादयः प्रत्यवातिष्ठिपन्। तत्र मूर्तत्वं नाम किमुच्यते। अथ रूपादिमत्त्वं मूर्तत्वं तत्प्रतिषेधस्वरूपं रूपादिरहितत्वममूर्तत्वमिति चेत् तदा द्रव्यत्वे सति रूपादिरहितत्वादित्युक्तं स्यात्। तथा च मनोद्रव्येण हेतोरनेकान्तः[1] स्यात्। तत्र द्रव्यत्वे सति रूपादिरहितत्वस्य सद्भावेऽपि सर्वगतत्वाभावात्। ननु असर्वगतद्रव्यपरिमाणं मूर्तत्वं तत्प्रतिषेधेन सर्वगतद्रव्यपरिमाणममूर्तत्वमिति चेत् तदा द्रव्यत्वे सति सर्वगतत्वादित्युक्तं स्यात्। तथा च साध्यसमत्वेन

के अनुसार मोक्ष के कारण तत्त्वज्ञान का वेदान्त मत मे अभाव है अतः उस के अनुसरण से मोक्ष की प्राप्ति संभव नही है।'

५६. आत्मा सर्वगत नहीं है—नैयायिकों के मत में जीवों का भेद स्वाभाविक है तथा जीवों की संख्या अनन्त है। कहा भी है – 'ब्रह्माण्ड मे अनन्त जीव है इसी लिए विद्वानों के सतत मुक्त होते रहने पर भी ब्रह्माण्ड सूना नही होता।' किन्तु वे सभी जीवों को सर्वगत मानते हैं – शरीर से मर्यादित अथवा वटबीज जैसा सूक्ष्म नही मानते। उन का कथन है कि आत्मा आकाश के समान अमूर्त द्रव्य है अतः वह सर्वगत है। किन्तु यह अनुमान सदोष है। अमूर्त का तात्पर्य रूप आदि से रहित होना है। मन भी रूप आदि से रहित है किन्तु सर्वगत नही है। अतः अमूर्त और सर्वगत होने में नियत सम्बन्ध नही है। असर्वगत द्रव्य का आकार ही मूर्तत्व

१ नैयायिकमते मनसः अणुपरिमाणत्वम्।

स्वरूपासिद्धो हेत्वाभासः स्यात् । ननु आत्मा सर्वगतः नित्यत्वादाकाशवदिति चेन्न । हेतोः परमाणुभिर्व्यभिचारात्[1] । अथ तद्व्यवच्छेदार्थममूर्तत्वे सति नित्यत्वादिति विशेषणमुपादीयत इति चेन्न । तथा आप्यादिपरमाणुगतरूपादिभिर्व्यभिचारात् । तेषाममूर्तत्वे सति नित्यत्वसद्भावेऽपि सर्वगतत्वाभावात् । अथ तद्व्यवच्छेदार्थम् अमूर्तत्वे सति नित्यद्रव्यत्वादिति विशेष्यमुपादीयत इति चेन्न । तत्राप्यमूर्तत्वे सतीति कोर्थः । रूपादिरहितत्वे सतीति विवक्षितं सर्वगतत्वे सतीति वा । प्रथमपक्षे मनसा हेतोर्व्यभिचारः स्यात्[2] । द्वितीयपक्षे विशेषणासिद्धो हेत्वाभासः स्यात् । अथ आत्मा सर्वगतः स्पर्शादिरहितत्वात् आकाशवदिति चेन्न । गुणक्रियाभिर्हेतोर्व्यभिचारात् । अथ तद्व्यवच्छेदार्थं स्पर्शरहितद्रव्यत्वादित्युच्यत इति चेन्न । घटपटादिकार्यद्रव्याणामुत्पन्नप्रथमसमये स्पर्शादिरहितत्वेन हेतोर्व्यभिचारात् । अथ तद्व्यवच्छेदार्थं सदा स्पर्शरहितद्रव्यत्वादित्युच्यत

है – सर्वगत द्रव्य का आकार अमूर्तत्व है यह कथन भी योग्य नही। इस प्रकार तो सर्वगत होना और अमूर्त होना एकार्थक होगा अतः एक को दूसरे का कारण बतलाना व्यर्थ होगा। आत्मा आकाश के समान नित्य है अतः सर्वगत है यह कथन उचित नही। परमाणु नित्य हैं किन्तु सर्वगत नही हैं। आत्मा अमूर्त और नित्य है अतः आकाश के समान सर्वगत है यह कथन भी निरापद नही है – जलादि परमाणुओं के रूपादि गुण अमूर्त और नित्य हैं किन्तु वे सर्वगत नही हैं। आत्मा अमूर्त नित्य द्रव्य है – इस प्रकार सुधार करने से भी यह अनुमान निर्दोष नही होता। मन अमूर्त है किन्तु सर्वगत नही है। आत्मा स्पर्शादि से रहित है अतः आकाश के समान सर्वगत है यह कथन भी सदोष है। गुण और क्रिया भी स्पर्शादि से रहित होती हैं किन्तु सर्वगत नही होती। आत्मा स्पर्शादिरहित द्रव्य है यह कहने से भी यह अनुमान निर्दोष नही होता। न्यायमत के अनुसार घट, पट आदि सभी कार्य द्रव्य उत्पत्ति के प्रथम क्षण में स्पर्शादि से रहित ही होते हैं किन्तु

१ परमाणूनां नित्यत्वेऽपि सर्वगतत्वाभावः। २ मनसः रूपादिरहितत्वे सति नित्यद्रव्यत्वेऽपि सर्वगतत्वाभावः।

इति चेन्न। तथापि हेतोर्मनसा व्यभिचारात्[1]। अथ तद्व्यवच्छेदार्थं मनोन्यत्वे सति सदा स्पर्शरहितद्रव्यत्वादित्युच्यत इति चेन्न। तथापि हेतोः कालात्ययापदिष्टत्वात्।

तत् कुत इति चेत् पादाभ्यां गच्छामि पाणिभ्यामाहरामि चक्षुर्भ्यां पश्यामि श्रोत्राभ्यां शृणोमि पादे मे वेदना शिरसि मे वेदना जठरे मे सुखं ज्ञाताहं सुख्यहं दुःख्यहम् इच्छाद्वेषप्रयत्नवानहम इत्यहमहमिकया शरीरमात्रे एवाहं नतो वहिर्नास्मीति निर्दुष्टमानसप्रत्यक्षेण स्वयमेव निश्चितत्वात्। यदि शरीराद् वहिरप्यस्ति तर्हि स्वविशेषगुणविशिष्टतया[2] तथा प्रतीयेत। अथ यत्र शरीरेन्द्रियान्तःकरणसंवन्धस्तत्र मानसप्रत्यक्षेणात्मा तथा प्रतीयते नान्यत्रेति चेत् तर्हि सकलवनस्पतित्रसमृगपशुपक्षिदेवनारकमनुष्यशरीरादिष्वयमात्मा मानसप्रत्यक्षेण तथा प्रतीयेत। तत्तच्छरीरेन्द्रियान्तःकरणवत् तेषामपि[3] स्वात्मना संयोगसद्भावात्। ननु तेषां स्वात्मना संयोगेऽपि स्वकीयत्वाभावात् तत्र तथा न प्रतीयत

वे सर्वगत नही होते। आत्मा सर्वदा स्पर्शादिरहित द्रव्य है यह सुधार भी पर्याप्त नही है। मन सर्वदा स्पर्शादिरहित है किन्तु सर्वगत नही है।

मन का अपवाद कर के भी यह अनुमान सफल सिद्ध नही होगा क्यों कि इस का साध्य प्रतीतिविरुद्ध है। मैं सुखी हूं, दुःखी हूं आदि जितनी भी आत्म-विषयक प्रतीति है वह अपने शरीर में ही होती है – बाहर नही होती। यदि आत्मा का अस्तित्व बाहर भी होता तो ऐसी प्रतीति भी वहा होती। जहा शरीर, इन्द्रिय तथा अन्तःकरण का सम्बन्ध है वहीं आत्मविषयक प्रतीति होती है – अन्यत्र नही होती यह उत्तर भी समाधानकारक नही है। मनुष्य, पशु, पक्षी, वनस्पति आदि सभी जीवों के शरीर, इन्द्रिय, अन्तःकरण हैं, यदि एक आत्मा इन सब में व्यापक – सर्वगत है तो इन सब को एक आत्मा की प्रतीति होनी चाहिए। एक आत्मा इन सब में व्यापक होने पर भी उस का उन शरीरों आदि में स्वकीयत्व नही होता अतः उन मे एक आत्मा की प्रतीति नही होती यह उत्तर भी पर्याप्त नही है। प्रश्न होता है कि इस आत्मा का यह

१ मनसः सदा स्पर्शरहितत्वेऽपि सर्वगतत्वाभावः। २ बुद्धिसुखदुःखादि। ३ सकलवनस्पतित्रसादिशरीरेन्द्रियान्तःकरणानाम्।

इति चेत् तर्हि एतच्छरीरेन्द्रियान्तःकरणानां स्वकीयत्वं कौतस्कुतम्। स्वकीयादृष्टकृतत्वात् स्वकीयत्वमिति चेत् तर्हि तददृष्टस्यापि स्वकीयत्वं कौतस्कुतम्। स्वकीयशरीरेन्द्रियान्तःकरणव्यापारेण कृतत्वादिति चेत् तर्हि इतरेतराश्रयः। अथ तच्छरीरादिकं प्राक्तनस्वकीयादृष्टकृतं तदपि प्राक्तनस्वकीयशरीरादिकृतमित्याद्यङ्गीकारान्नेतरेतराश्रय इति चेन्न। तच्छरीरादिसंततेरदृष्टादिसंततेश्च अविशेषेण सर्वात्मसंबन्धे स्वकीयत्वानुपपत्तेः। स्वस्मिन् समवेतादृष्टादयः स्वकीया इति समवायात् स्वकीयत्वं भविष्यतीति चेन्न। तस्य नित्यसर्वगतैकत्वेन सर्वात्मसाधारणत्वात् तन्नियामकत्वानुपपत्तेः। तस्मादात्मनां सर्वगतत्वाङ्गीकारे शरीरेन्द्रियान्तःकरणानामदृष्टादीनां च स्वकीयपरकीयत्वविभागोपायाभावेन स्वात्मा सर्वत्र तथा प्रतीयेत। न चैवं प्रतीयते। तस्मात् स्वस्य सर्वगतत्वाभावो मानसप्रत्यक्षेणैव निश्चीयत इति कालात्ययापदिष्टो हेत्वाभासो निश्चितः स्यात्। एतेन आत्मा सर्वगतः अनणुत्वे सति नित्यद्रव्यत्वात् अनणुत्वे सति निरवयवद्रव्यत्वात् अनणुत्वे सत्यखण्डद्रव्यत्वात् नित्यत्वे सति द्रव्यानारम्भकद्रव्यत्वात् अनणुत्वे सत्यकारणकद्रव्यत्वात् अनणुत्वे सत्य-

~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~

शरीर स्वकीय है यह निश्चय कैसे होता है? अपने अदृष्ट से निर्मित शरीर स्वकीय कहलाता है यह उत्तर भी पर्याप्त नही। प्रश्न होता है कि अपना अदृष्ट किसे कहा जाय? अपने शरीर से किया हुआ अदृष्ट अपना है यह कहें तो परस्पराश्रय होगा – अदृष्ट के स्वकीय होने से शरीर स्वकीय माना और शरीर के स्वकीय होने से अदृष्ट स्वकीय माना। मूल प्रश्न यह है जब सभी अदृष्ट और सभी शरीरों में कोई आत्मा सम्बन्धित है – व्यापक है तब किसी एकही शरीर या अदृष्ट को उस का स्वकीय क्यों माना जाय? जिस आत्मा से जिस अदृष्ट और शरीर का समवाय सम्बन्ध है वह उस का स्वकीय है यह कथन भी ठीक नही। समवाय भी नित्य, सर्वगत, तथा एक है अतः किसी एक आत्मा का किसी एक शरीर से समवाय द्वारा सम्बन्ध मानना उचित नही – समवाय का सम्बन्ध सभी आत्माओं से है। अतः आत्मा यदि सर्वगत है तो किसी एक ही शरीर में उस की प्रतीति होती है, अन्यत्र नही होती इस तथ्य का कोई स्पष्टीकरण नही होता। अतः आत्मा को सर्वगत
~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~

कार्यद्रव्यत्वात् अनणुत्वे सत्यवयवैरनारब्धद्रव्यत्वात् आकाशवदित्याद्यनुमानानि निरस्तानि वेदितव्यानि। निर्दुष्टमानसप्रत्यक्षेण स्वात्मनः सर्वगतत्वाभावस्य निश्चितत्वेन तेषां हेतूनां कालात्ययापदिष्टत्वाविशेषात्।

[५७. सर्वगतत्वे संसारायुक्तता।]

अथ धर्माधर्मौ स्वाश्रयसंयुक्तक्रियाहेतू[1] एकद्रव्यसमवेतक्रियाहेतु[2]गुणत्वात् प्रयत्नवदिति चेन्न। हेतोः प्रतिवाद्यसिद्धत्वात्। कथम्। जैनैर्धर्माधर्मयोर्द्रव्यत्वसमर्थनात्।

अपि च। आत्मनः सर्वगतत्वे जन्ममरणव्यवस्था स्वर्गनरकादिगमनव्यवस्था च नोपपनीपद्यते। तथा हि। उत्पद्यमानशरीरे प्राक् तत्राविद्यमानस्यात्मनः प्रवेशो जन्म, आयुःपरिक्षयात् प्रागुपात्तशरीरादात्मनो

मानना प्रतीतिविरुद्ध है। इसी लिए आत्मा नित्य द्रव्य है, निरवयव है, अखण्ड है, द्रव्यों का आरम्भ न करनेवाला द्रव्य है, कारणरहित है, कार्यरहित है, अवयवों से आरब्ध नही है आदि कारण भी आत्मा को सर्वगत सिद्ध नही कर सकते।

५७. सर्वगत आत्मा का संसरण असंभव है—धर्म और अधर्म ऐसे गुण हैं जो एक द्रव्य मे समवेत क्रिया के हेतु हैं अतः प्रयत्न के समान वे आत्मा से संयुक्त शरीर की क्रिया के हेतु है (– अत· जहा धर्म, अधर्म है वहा आत्मा भी होना चाहिए, धर्म, अधर्म सभी जगह हैं अतः आत्मा भी सर्वगत है) यह कथन भी उचित नही। यहा धर्म और अधर्म को गुण माना है किन्तु हमारे मत से वे द्रव्य हैं। अतः इस अनुमान का आधार ही गलत है।

आत्मा को सर्वगत मानने से संसार का सभी वर्णन अयुक्त सिद्ध होता है। एक शरीर में आत्मा प्रवेश करता है यही जन्म है, उस शरीर को छोडकर आत्मा बाहर जाता है यही मरण है, छोडे हुए शरीर

---

१ धर्माधर्मयोराश्रयः आत्मा तेन सह सयुक्तं शरीरं तस्य क्रिया ता प्रति हेतू। नैयायिकः धर्माधर्मयोः गुणत्वं प्रतिपादयति कुतः द्रव्यगुणयोः संयोगप्रतिपादनार्थं, जैनस्तु द्रव्यत्वं प्रतिपादयति अतः संयोगो न भवति। २ एकं द्रव्यं शरीरं तत्र समवेता क्रिया तस्या हेतुरात्मा।

निर्गमनं मरणं, ततो निर्गतस्योपरिष्टादसंख्यातयोजनपर्यन्तमुत्क्षेपणं स्वर्गमनम् अधस्तादसंख्यातयोजनपर्यन्तमवक्षेपणं नरकगमनमित्यादिकं सर्वमात्मनः सर्वगतत्वे न जाघटयते। कुतः सर्वेषामात्मनां सर्वत्र सर्वदा सर्वात्मना सद्भावात्। अथ तत् सर्वं मा भूदिति चेन्न।

अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा ॥
(महाभारत, वनपर्व ३०-२८)

इति त्वयैव निरूपितत्वात्।

अथादृष्टविशिष्टान्तःकरणस्यैव जन्ममरणव्यवस्था स्वर्गनरकादिगमनव्यवस्था जन्तुरिति व्यपदेशश्च बोभूयत इति चेन्न। प्रमाणतर्कैर्बाधितत्वात्। तथा हि। वीतं करणं[1] नादृष्टविशिष्टम् अनात्मत्वात् अचेतनत्वात् विशेषगुणरहितत्वात् कालवत्। असर्वगतत्वात् सक्रियत्वात् अणुपरिमाणत्वात् परमाणुवत्। ज्ञानकरणत्वात् दुःखत्वात् इन्द्रियत्वात् अनित्यत्वात्

से असंख्यात योजन ऊपर जाकर आत्मा स्वर्ग में पहुंचता है तथा नीचे जाने से नरक मे पहुंचता है। यदि आत्मा सभी जगहों में है तो इन सब जन्म, मरण, स्वर्ग, नरक के कथन को कुछ अर्थ नही रहेगा। इस के प्रतिकूल न्यायमत में इन का अस्तित्व मान्य किया है। जैसे कि कहा है – 'यह प्राणी अज्ञानी है तथा अपने सुखदुःख का स्वामी नही है। ईश्वर की प्रेरणानुसार वह स्वर्ग में या नरक में जाता है।'

जन्म, मरण, स्वर्ग, नरक ये सब अदृष्ट से विशिष्ट अन्तःकरण के होते हैं – आत्मा के नही यह कथन संभव नही। अन्तःकरण कालके समान अचेतन है, आत्मा नही है, विशेष गुणों से रहित है अतः वह अदृष्ट से विशिष्ट नही हो सकता। अन्तःकरण परमाणु के समान सक्रिय है, अणु आकार का है, सर्वगत नही है तथा चक्षु के समान अनित्य है, इन्द्रिय है, दुःखरूप है एवं ज्ञान का साधन है अतः वह अदृष्ट से विशिष्ट नही हो सकना। अन्तःकरण को न्याय मत में नित्य माना है किन्तु यह उचित नही। अन्तःकरण चक्षु के समान ज्ञान का साधन, इन्द्रिय तथा दुःखरूप है अतः वह अनित्य सिद्ध होता है। इन्हीं अनुमानों को दूसरे रूप में भी रखा जा सकता है – अदृष्ट प्रयत्न के समान आत्मा का

१ मनः इन्द्रियादि।

चक्षुर्वत् । अथ अनित्यत्वमसिद्धमिति चेत् । अनित्यं मनः ज्ञानकरणत्वात् दुःखत्वात्[1] इन्द्रियत्वात् चक्षुर्वदिति ननुसिद्धेः। अदृष्टं वा न मनोविशेषणम्[2] आत्मविशेषगुणत्वात् प्रयत्नवत् सुखदुःखनिमित्तकारणत्वात् इन्द्रियविषयवत् । वीतं करणं न देहान्तरमेति ज्ञानकरणत्वात् दुःखत्वात् इन्द्रियत्वात् अनित्यत्वात् चक्षुर्वत् । अदृष्टं वा स्वयं देशान्तरं न गच्छति निष्क्रियत्वात् निष्क्रियद्रव्याश्रितत्वात्[3] अद्रव्यत्वात् गुणत्वात् बुद्धिवत् । अथ अदृष्टस्य गमनाभावेऽपि सर्वत्र विद्यमानत्वात् तत्र तत्र फलजनकत्वमिति चेत् न । नादृष्टं स्वाश्रयव्याप्यवृत्ति विभुविशेषगुणत्वात् आत्मविशेषगुणत्वात् प्रयत्नवदिति बाधितत्वात् । ननु विभुविशेषगुणत्वेऽपि व्याप्यवृत्तित्वे को विरोध इति चेत् ' विभुविशेषगुणानामसमवायिकारणानुरोधाद्[4] देशनियम' इति स्वागमविरोधः। वीतं करणं न जन्ममरणव्यवस्थाभाक् नित्यत्वात् विशेषगुणरहितत्वात् कालवत् , अणुपरिमाणत्वात् परमाणुवत् । वीतं

विशेष गुण है तथा इन्द्रियविषय के समान सुख-दुःख का निमित्तकारण है अतः वह मन का विशेष नहीं हो सकता । मन ज्ञान का साधन है, इन्द्रिय है, दुःखरूप है तथा अनित्य है अतः चक्षु आदि के समान वह भी दूसरे शरीर को प्राप्त नहीं हो सकता । अदृष्ट भी स्वयं दूसरे स्थान को नही जा सकता क्यों कि वह निष्क्रिय है, निष्क्रिय द्रव्य (आत्मा) पर आश्रित है, द्रव्य नहीं है, बुद्धि के समान गुण है । इस पर नैयायिक उत्तर देते हैं कि अदृष्ट एक स्थान से दूसरे स्थान को नहीं जाता किन्तु वह सर्वत्र विद्यमान होता है अतः दूसरे स्थान में फल दे सकता है । किन्तु यह उत्तर सदोष है । अदृष्ट प्रयत्न के समान आत्मा का विशेष गुण है तथा व्यापक का विशेष गुण है अतः वह अपने आश्रय (आत्मा) को व्याप्त कर नही रहता । अदृष्ट की वृत्ति आत्मव्यापी नही होती इस विषय में नैयायिकों ने ही कहा है — ' व्यापक के विशेष गुण असमवायी कारण के अनुसार विशिष्ट स्थान मे नियमित होते हैं ।' अतः अदृष्ट सर्वव्यापी नही हो सकता । नैयायिकों के ही कथना-

१ मनः दुःखरूपम् । २ मनो न अदृष्टवत् । ३ निष्क्रियद्रव्यमात्मा । ४ गुणाः सर्वे असमवायिकारणम् अतः व्याप्यवृत्ति न, व्याप्यवृत्ति तु समवायिकारणं यथा मृत्पिण्डो घटस्य ।

करणं न भोक्तृ ज्ञानरहितत्वात् अचेतनत्वात् अणुपरिमाणत्वात् परमाणुवत्, ज्ञानकरणत्वात् दुःखत्वात् इन्द्रियत्वात् चक्षुर्वत् इति। एवं लिङ्गशरीरस्यापि[1] अदृष्टविशिष्टत्वादिकं न संभवति। तथा हि लिङ्गशरीरं नादृष्टविशिष्टं शरीरत्वात् मूर्तत्वात् सावयवत्वात् स्पर्शादिमत्त्वात् पार्थिवशरीरवत् इत्यादिक्रमेण यथासंभवं प्रयोगाः कर्तव्याः। तयोस्तत् सर्वसंभवे[2] आत्मपरिकल्पनावैयर्थ्यप्रसंगात्।

अथवा आत्मपरिकल्पनायामपि ततो भिन्नस्यान्तःकरणस्य जन्ममरणस्वर्गनरकादिप्राप्तिस्तत् फलभुक्तिश्च यदि स्यात् तदा आत्मनः संसारित्वं न स्यात्। ननु तदन्तःकरणसंयोगादात्मनः संसारित्वमिति चेत् तर्हि मुक्तात्मनामपि तदन्तःकरणसंयोगसद्भावात्[3] संसारित्वं प्रसज्यते। ननु यस्य जीवस्यादृष्टेन यदन्तःकरणसंयोगो विधीयते तदन्तःकरणसंयोगात् तस्य जीवस्यैव संसारित्वं नान्यस्येति चेन्न। सर्वेषामात्मनां सर्वगतत्वे नित्यत्वे च सर्वमनोद्रव्याणामपि नित्यत्वे च सर्वेषामात्मनां सर्वान्तःकरणैः सर्वदा संयोगसद्भावात्। यस्यादृष्टेन यदन्तःकरणसंयोगो विधीयते तदन्तःकरणसंयोगात् तस्य जीवस्यैव संसारित्वं

नुसार मन नित्य है, अणु आकार का है तथा विशेष गुणों से रहित है अतः काल एव परमाणु के समान मनको भी जन्म, मरण नही हो सकते। मन ज्ञानरहित, अचेतन तथा अणु आकार का है अतः परमाणु के समान वह भी भोक्ता नही हो सकता। मन के समान लिगशरीर में भी अदृष्ट से युक्त होना, जन्म, मरण आदि संभव नही हैं। लिगशरीर मूर्त है, सावयव है, स्पर्श आदि से सहित है, पार्थिव है अतः वह अदृष्ट से युक्त नही हो सकता। यदि मन या लिगशरीर के जन्म, मरण आदि माने जाते हैं तो आत्मा की कल्पना व्यर्थ होती है।

अथवा आत्मा की कल्पना करने पर भी वह संसारी नही होगा, मनही समारी होगा। मन के संयोग से आत्मा को संसारी माना जाता है यह कथन भी ठीक नही। मन का संयोग मुक्त आत्मा में भी सभव है किन्तु मुक्त आत्मा संसारी नही होते। जीव के अदृष्ट से जिस मन का संयोग होता है उसी मन के संयोग से वह जीव संसारी होता है यह

१ जैनमते कार्मणशरीरम्। २ अतःकरणलिङ्गशरीरयोः स्वर्गगमननरकादिसर्वसंभवे। ३ व्यापकस्य आत्मनः अन्तःकरण मुक्ते पुंसि वर्तते व्यापकत्वात्।

नान्यस्येति विभागोपायाभावात्। तस्मादात्मनः कर्मोदयात् संसारित्व-मिच्छता जन्ममरणस्वर्गनरकादिप्राप्तिस्तत्फलभुक्तिश्च तस्यैवात्मनोऽभ्यु-पगन्तव्या। ततश्च आत्मा सर्वगतो न भवतीति निश्चीयते। तथा हि। आत्मा सर्वगतो न भवति जन्ममरणस्वर्गनरकादिप्राप्त्यन्यथानुपपत्तेः। तथा आत्मा सर्वगतो न भवति द्रव्यत्वस्यावान्तरसामान्यवत्त्वात्[1] अश्रा-वणविशेषगुणाधिकरणत्वात्[2], शरीरात्मसंयोगसंयोगित्वात् शरीरवत्, अस्मदादिमानसप्रत्यक्षग्राह्यत्वात् सुखादिवत्, ज्ञानासमवाय्याश्रयत्वात्[3] मनोवत्[4]।

[५८. मनसः विभुत्वाभावः।]

ननु मनोवदिति साध्यविकलो दृष्टान्तः, भाट्टपक्षे मनोद्रव्यस्य ज्ञाना-समवाय्याश्रयत्वेऽपि असर्वगतत्वाभावात्। कुतः। भाट्टैर्मनोद्रव्यस्य

कथन भी ठीक नही। जब न्याय मत में सभी आत्मा सर्वगत और नित्य माने हैं तथा सभी मन भी निन्य माने हैं तो सब आत्माओं का सब मनों से संयोग मानना ही होगा। एक आत्मा का मन से संयोग होता है और दूसरे का नही होता ऐसा भेद करने का कोई कारण नही है। तात्पर्य – यदि आत्मा को कर्मोदय से संसारी मानना हो तो जन्म, मरण, स्वर्ग, नरक आदि आत्मा के ही होते हैं ऐसा मानना चाहिए। यह तभी संभव है जब आत्मा सर्वगत न होकर शरीर-मर्यादित होगा। आत्मा सर्वगत नही हो सकता क्यों कि वह द्रव्यत्व से भिन्न सामान्य (आत्मत्व) से युक्त है, ऐसे विशेष गुणों से युक्त है जो श्रवणेन्द्रिय से ज्ञात नही होते, शरीर के संयोग से युक्त है, सुख आदि के समान हमें मानस प्रत्यक्ष से ज्ञात होता है तथा मन के समान ज्ञान का असमवायी आश्रय है।

५८. मन विभु नही है—उपर्युक्त अनुमान में आत्मा के सर्व-गत न होने में मन का जो उदाहरण दिया है उस पर भाट्ट मीमासक आपत्ति करते है। उनके कथनानुसार मन ज्ञान का असमवायी आश्रय तो

१ आत्मा आत्मत्वसामान्यवान्। २ विशेषगुणाधिकरणत्वात् इत्युक्ते आकाशेन व्यभिचारः तद्व्यपोहार्थम् अश्रावणपदोपादानम्। ३ ज्ञानमेव असमवायिकारणम्। ४ मनोऽपि ज्ञानासमवाय्याश्रयम् अतःसर्वगतं न।

विभुत्वाङ्गीकारात्। तथा हि। मनोद्रव्यं सर्वगतं सदा स्पर्शरहितद्रव्यत्वात् आकाशवदिति चेत् तदयुक्तम्। हेतोः प्रतिवाद्यसिद्धत्वात्। तत् कुत इति चेत् जैनानां मते मनो द्विविधं द्रव्यमनो भावमनश्चेति। तत्र द्रव्यमनो हृदयान्तर्भागे अष्टदलपद्मवदाकारेण श्रोत्रादिवच्छरीरावयवत्वेन तिष्ठति। तस्य स्पर्शरहितद्रव्यत्वाभावादसिद्धत्वं हेतोः स्यात्। भावमनसोऽपि नोइन्द्रियावरणक्षयोपशमरूपस्य नोइन्द्रियज्ञानरूपस्य[1] वा द्रव्यत्वाभावेन सदा स्पर्शरहितद्रव्यत्वादित्यसिद्धो हेत्वाभासः स्यात्।

किं च। न मनः सदा स्पर्शरहितद्रव्यं ज्ञानकरणत्वात् दुःखत्वात् इन्द्रियत्वात् चक्षुर्वदिति प्रयोगाच्च असिद्धत्वसमर्थनम्। ननु मनो विभु सर्वदा विशेषगुणरहितद्रव्यत्वात् कालवदिति चेन्न। तस्यापि प्रतिवाद्यसिद्धत्वाविशेषात्[2]। अथ मनो विभु नित्यत्वे सति द्रव्यानारम्भकद्रव्यत्वात् आकाशवदिति चेन्न। नित्यत्वे सतीति विशेषणस्यापि प्रतिवाद्यसिद्धत्वात्[3]। ननु मनो विभु ज्ञानासमवाय्याश्रयत्वात् आत्मवदिति चेन्न।

है किन्तु सर्वगत है। मन सर्वदा स्पर्शरहित द्रव्य है अतः आकाश के समान सर्वगत है यह उन का अनुमान है। किन्तु यह अनुमान युक्त नही। हमारे मत में मन दो प्रकार माना है — द्रव्यमन तथा भावमन। इन में द्रव्यमन हृदय के अन्तर्भाग मे स्थित आठ पांखुडियों के कमल के आकार का शरीर का अवयव है — यह कान आदि अवयवों के समान स्पर्शादिसहित है अतः उसे स्पर्शरहित नही कहा जा सकता। दूसरा भावमन नोइन्द्रियावरण के क्षयोपशम अथवा नोइन्द्रियज्ञान के स्वरूप का है — वह द्रव्य नही है अतः स्पर्शरहित द्रव्य शब्द से उस का प्रयोग नही हो सकता।

मन चक्षु आदि के समान ज्ञान का साधन, दुःखरूप, इन्द्रिय है अतः वह स्पर्शादिरहित नही हो सकता। मन काल के समान विशेष गुणोंसे रहित द्रव्य है अतः व्यापक है यह कथन भी ठीक नही। मन विशिष्ट आकार से युक्त है यह अभी कहा है अतः वह विशेष गुणोंसे रहित नही है। मन नित्य है और द्रव्य का आरम्भ न करनेवाला द्रव्य है अतः व्यापक है यह कथन भी ठीक नही। मन नित्य है यह प्रति-

१ नोइन्द्रियं मनः। २ जैनमते मनसः पद्मदलाकारत्वात्। ३ जैनमते मनसो नित्यत्वं न।

दृष्टान्तस्य साध्यविकलत्वात्। आत्मनो विभुत्वाभावस्येदानीमेव प्रमाणतः समर्थितत्वात्। किं च। मनोद्रव्यस्य विभुत्वे आत्ममनःसंयोगस्य इन्द्रियान्तःकरणसंयोगस्यापि[1] सर्वदा सद्भावात् बुद्ध्यादिकं सर्वं सर्वदा स्यात्। न चैवम्। तस्मान्मनो विभु न भवति द्रव्यत्वावान्तरसामान्यवत्त्वात् शरीरवत्, ज्ञानासमवाय्याश्रयत्वात् आत्मवदिति। ननु आत्मनो विभुत्वात् दृष्टान्तस्य साध्यविकलत्वमिति चेन्न। प्रागनन्तरमेवानेकप्रमाणैरात्मनोऽसर्वगतत्वस्य समर्थितत्वात्।

[५९ आत्मनः असर्वगतत्वसमर्थनम्।]

तथात्मा असर्वगतः स्यात् क्रियावत्त्वात् परमाणुवदिति। ननु आत्मनो विभुत्वात् क्रियावत्त्वमसिद्धमिति चेन्न। तद्विभुत्वग्राहकप्रमाणानां प्रागेव निराकृतत्वात्। तस्यैव स्वर्गनरकादिगमनसमर्थनेन क्रियावत्त्वस्यापि निरूपितत्वाच्च। ननु आत्मनोऽसर्वगतत्वे अनित्यत्वं प्रसज्यते। तथा हि।

वादी (जैनों) को मान्य नही अत. यह अनुमान सदोष है। मन ज्ञान का असमवायी आश्रय है अतः आत्मा के समान व्यापक है यह अनुमान भी ठीक नही। आत्मा व्यापक नहीं यही अबतक सिद्ध कर रहे हैं अतः उस के उदाहरण से मन को व्यापक कहना युक्त नही। मन को व्यापक मानने मे अन्य दोष भी है। यदि मन व्यापक है तो आत्मा और मन का सयोग तथा मन और इन्द्रियों का संयोग सर्वदा होना चाहिए – तदनुसार बुद्धि आदि का कार्य सर्वदा होना चाहिए। किन्तु ऐसा होता नहीं है। द्रव्यत्व से भिन्न सामान्य (मनस्त्व) से युक्त होना एवं ज्ञान का असमवायी आश्रय होना ये मन के व्यापक न होने के प्रमाण है। अतः मन अव्यापक सिद्ध होता है।

५९. आत्मा सर्वगत नहीं है—आत्मा के सर्वगत न होने का प्रकारान्तर से भी समर्थन करते है। आत्मा क्रियायुक्त है – स्वर्ग, नरक आदि में गमन करता है – अत· परमाणु के समान वह भी असर्वगत है। आत्मा व्यापक है अतः क्रियायुक्त नही यह कथन ठीक नही – आत्मा व्यापक नही है यही अब तक सिद्ध कर रहे हैं। आत्मा को

१ यथा आत्मना सह मनः संयोगि तथा अन्येन्द्रियाण्यपि इति मनसः नित्यत्वे सति अन्येन्द्रियाणामपि नित्यत्वमस्तु को विरोधः।

आत्मा अनित्यः असर्वगतत्वात् पटादिवदिति चेन्न। आप्यादिपरमाणुगुणैर्हेतोर्व्यभिचारात्[१]। अथ तत्परिहारार्थम् असर्वगतद्रव्यत्वादिति निरूप्यत इति चेन्न। तथापि परमाणुभिर्हेतोर्व्यभिचारात्[२]। अथ तद्व्यपोहार्थम् अनणुत्वे सत्यसर्वगतद्रव्यत्वादिति कथ्यत इति चेन्न। भूभुवनभूधरादिभिर्हेतोर्व्यभिचारात्[३]। अथ तेषामपि सावयवत्वेन अनित्यत्वं प्रसाध्यत इति चेन्न। तस्य पूर्वमेव निराकृतत्वात्। अपि च बाध्यसिद्धो हेत्वाभासः स्यात्। कुतः। नैयायिकादिभिरात्मनः असर्वगतत्वानङ्गीकारात्। अपसिद्धान्तश्च।

ननु इदं मया प्रमाणत्वेन न प्रतिपाद्यते किंतु प्रसंगसाधनत्वेन। तथा हि। प्रसिद्धव्याप्यव्यापकयोर्हि[४] व्याप्याङ्गीकारेण व्यापकाङ्गीकारप्रसञ्जनं प्रसंग इति प्रसंगसाधनस्य लक्षणम्। तथा च स्तम्भकुम्भादिषु अनणुत्वे सत्यसर्वगतद्रव्यत्वम् अनित्यत्वेन व्याप्तं दृष्ट्वा तदनणुत्वे सत्यसर्वगतद्रव्यत्वं व्याप्यं यद्यात्मद्रव्येऽप्यङ्गीक्रियते तर्हि अनित्यत्वं व्यापकमप्यङ्गीकर्तव्यमिति व्याप्याङ्गीकारेण व्यापकाङ्गीकार आपाद्यते इति चेत् तदयुक्तम्। तस्योत्कर्षसमजातित्वेन असद्दूषणत्वात्। कथ-

असर्वगत माने तो वस्त्र आदि के समान वह अनित्य सिद्ध होगा – यह नैयायिकों की आपत्ति है। किन्तु यह उचित नही। न्याय मत मे ही जलादि परमाणुओं के गुणों को नित्य भी माना है और असर्वगत भी माना है। असर्वगत द्रव्य अनित्य होते हैं यह कथन भी सदोष होगा – परमाणु असर्वगत द्रव्य हैं किन्तु नित्य है। परमाणु का अपवाद करे तो भी पृथ्वी, पर्वत आदि असर्वगत हैं और नित्य हैं अतः उपर्युक्त अनुमान सदोष ही रहेगा। पृथ्वी आदि सावयव हैं अतः अनित्य हैं यह कथन पहले ही गलत सिद्ध किया है।

नैयायिक आत्मा को असर्वगत तो नही मानते हैं किन्तु यदि वैसे माना तो क्या आपत्ति होगी यह बतला रहे है – प्रसंगसाधन के रूप मे प्रयोग कर रहे हैं। स्तम्भ, कुम्भ आदि परमाणु-भिन्न असर्वगत द्रव्य अनित्य हैं यह देख कर वे कहते हैं कि आत्मा भी असर्वगत द्रव्य

१ आप्यादिपरमाणुगुणानाम् असर्वगतत्वेऽपि नित्यत्वं प्रतिपादयति। २ परमाणूनाम् असर्वगतत्वेऽपि नित्यत्वमस्ति। ३ भूभुवनादीनाम् अनणुत्वे सति असर्वगतद्रव्यत्वेऽपि नित्यतास्ति। ४ अन्वये साधनं व्याप्यं साध्यं व्यापकमिष्यते।

मिति चेत् ' दृष्टान्ते दृष्टस्यानिष्टधर्मस्य दार्ष्टान्तिके योजनमुत्कर्षसमा जातिः ' इति वचनात् । तद् यथा । अनित्यः शब्दः कृतकत्वात् पटवदित्युक्ते पटे तावदनित्यत्वम् अश्रावणत्वेन व्याप्तं तदनित्यत्वं व्याप्यं शब्देऽपि यद्यङ्गीक्रियते तर्ह्यश्रावणत्वं व्यापकमप्यङ्गीकर्तव्यमिति तस्योदाहरणम् । एतेन आत्मा मूर्तोऽनित्यः सावयवश्च अनणुत्वे सति क्रियावत्त्वात् तथा अनणुत्वे सति असर्वगतद्रव्यत्वात् संहरणविसर्पणवत्त्वात् पटादिवदित्यादिकं निरस्तम् । बाध्यसिद्धापसिद्धान्तोत्कर्षाणामत्रापि समानत्वात् । तस्मादात्मनः सर्वगतत्वाभाव प्रमाणत एव निश्चितः स्यात् ।

[६०. आत्मनः अणुत्वनिषेधः ।]

ननु[1] आत्मनस्तथा सर्वगतत्वाभावोऽस्तु तदस्माभिरप्यङ्गीक्रियते तस्याणुपरिमाणत्वाभ्युपगमात् । तथा हि । आत्मा अणुपरिमाणाधिकरणः ज्ञानासमवाय्याश्रयत्वात् मनोवदिति अपरः कश्चिदचूचुदत् । सोऽप्यतत्त्वज्ञ एव । मनोद्रव्यस्याणुपरिमाणाधिकरणत्वाभावेन दृष्टान्तस्य साध्यविकल-

होगा तो अनित्य होगा । किन्तु इस प्रकार दृष्टान्त का कोई गुण दार्ष्टान्त में आवश्यक मानना दोषपूर्ण है – इसे उत्कर्षसमा जाति कहते हैं । इसी का दूसरा उदाहरण देते हैं । शब्द वस्त्र के समान कृतक है अतः अनित्य है यह अनुमान है । यहा वस्त्र यह दृष्टान्त अश्रावण है – कान से उस का ज्ञान नही होता । किन्तु इस से शब्द को भी अश्रावण माने तो यह दोषपूर्ण होगा । अतः आत्मा असर्वगत होगा तो अनित्य होगा आदि कथन निरुपयोगी है । इसी प्रकार आत्मा असर्वगत होगा तो मूर्त होगा, सावयव होगा, क्रियायुक्त होगा, संकोचविस्तार से युक्त होगा आदि आपत्तिया भी सदोष होगी । तात्पर्य – आत्मा सर्वगत नही है यही प्रमाणसिद्ध तथ्य है ।

६०. आत्मा अणुमात्र नही है—वेदान्तपक्ष के कोई दार्शनिक आत्मा को सर्वगत न मान कर अणु आकार का मानते है । उन का कथन है कि आत्मा मन के समान ज्ञान का असमवायी आश्रय है अतः वह मन के समान अणु आकार का सिद्ध होता है । किन्तु यह कथन अयोग्य है । मन अणु आकार का नही है क्यों कि वह चक्षु आदि के

१ रामानुजमतानुसारी ।

त्वात्। तत् कथमिति चेदुच्यते। मनो नाणुपरिमाणं ज्ञानकरणत्वात् इन्द्रियत्वात् दुःखत्वात् चक्षुर्वदित्यनुमानात्।

हिदि होदि हु दव्वमणं वियसियअट्ठच्छदारविंदं वा।
अंगोवंगुदयादो मणवग्गणखंददो णियमा ॥[1]

(गोम्मटसार, जीवकाण्ड ४४३)

इति वचनाच्च।

आत्मनो अणुपरिमाणत्वे पादाभ्यां गच्छामि पाणिभ्यामाहरामि चक्षुर्भ्यां पश्यामि श्रोत्राभ्यां शृणोमि पादे मे वेदना शिरसि मे वेदना जठरे मे सुखमिति बुद्धीन्द्रियकर्मेन्द्रियाङ्गोपाङ्गेषु युगपदनुसंधानं न स्यात्[2]। अथ यथा एकस्मिन् देशे एको राजा प्रादेशिकत्वेनैकत्र स्थित्वा स्वकीयवार्ताहरैः स्वदेशे इष्टानिष्टप्राप्त्यादिकं युगपत् ज्ञात्वा सुखदुःखादिकमपि युगपत् प्राप्नोति तथा एकस्मिन्नपि देहे एक एव जीवः प्रादेशिकत्वेनैकत्र स्थित्वा स्वकीयवार्ताहरैर्बुद्धीन्द्रियकर्मेन्द्रियैरिष्टानिष्टप्राप्त्यादिकं युगपत् ज्ञात्वा सुखदुःखादिकमपि युगपत् प्राप्नोतीति चेत् तदसत्। तत्रत्यवार्ताहराः[3] पृथक् सचेतनाः अत एव राजानं प्रत्यागत्य वार्ता

समान ज्ञान का साधन है, इन्द्रिय है तथा दुःखरूप है। इस विषय में आगम का वचन भी है – ' हृदय में द्रव्यमन होता है। यह फूले हुए आठ पाखुडियों के कमल जैसा होता है। अंगोपाग नाम कर्म के उदय से मनोवर्गणा के स्कन्धों से यह बनता है। '

यदि आत्मा अणु आकार का होता तो मैं पावसे चलता हूं, हाथ से लेता हूं, आखों से देखता हूं आदि भिन्न भिन्न प्रतीति एक समय न होती। इस के उत्तर में वेदान्तियों का कथन है – जैसे कोई राजा एक स्थान पर बैठकर अपने वार्ताहर जगह जगह नियुक्त करता है तथा उन से भिन्न भिन्न समाचार मिलने पर उसे एक साथ सुख और दुःख का अनुभव होता है उसी प्रकार जीव एक प्रदेश में रह कर विभिन्न इन्द्रियों द्वारा इष्ट-अनिष्ट को जानता है और सुखदुःख को प्राप्त करता है। किन्तु यह कथन अनुचित है। राजा के वार्ताहर सचेतन

---

१ हृदि भवति स्फुटं द्रव्यमनः विकसित-अष्टपत्रकमलं वा साङ्गोपाङ्गकर्मोदयात् मनोवर्गणासमूहात् नियमात् भवति। २ सर्वस्मिन् शरीरे सचेतनावष्टब्धम् अनुसंधानं न अस्ति स्यात् चानुसंधानम्। ३ राजसमीपस्थ।

विज्ञापयितुं समर्थाः। अत्रत्यास्तु[1] वार्ताहरा बुद्धीन्द्रियकर्मेन्द्रियाङ्गोपाङ्गाः सचेतना वा स्युरचेतना वा। सचेतनाश्चेदेकं शरीरं बहुभिश्चेतयितृभिर्जीवैरधिष्ठितं स्यात्। तथा च भिन्नाभिप्रायैर्बहुभिर्जीवैः प्रेरितं शरीरं सर्वदिक्क्रियमुन्मथ्येत अक्रियं वा प्रसज्येत। अपि च। बुद्धीन्द्रियकर्मेन्द्रियशिरोजठराद्यङ्गोपाङ्गा सर्वेऽपि सचेतनाश्चेदात्मा अणुपरिमाणाधिकरणो न स्यात् अपि तु शरीरपरिमाणाधिकरण एव स्यात्। अथ ते[2] अचेतनाश्चेत् तर्हि वार्ताहरा इवागत्य जीवं प्रतीष्टानिष्टप्राप्त्यप्राप्त्यादिकं विज्ञापयितुमसमर्था एव अचेतनत्वात् नखरोमादिवत्। किं च। बुद्धीन्द्रियकर्मेन्द्रियशिरोजठराद्यङ्गोपाङ्गानां जीवावस्थितप्रदेशं प्रति गमनाभावस्य प्रत्यक्षेण निश्चितत्वात् तेषां वार्ताहरत्वेन तं प्रति इष्टानिष्टप्राप्त्यप्राप्त्यादिविज्ञापनं न जाघटीत्येव। ननु तेषां जीवावस्थितप्रदेशं प्रति गमनाभावेऽपि जीवः स्वयमेव बुद्धीन्द्रियकर्मेन्द्रियशिरोजठराङ्गोपाङ्गान्युपेत्य तत्र तत्र प्राप्ताप्राप्तमिष्टानिष्टसाधनादिकं ज्ञात्वा निर्विशतीति चेन्न। सर्वाङ्गीणसुखस्य

और भिन्नभिन्न होते है अतः वे राजा के पास पहुंच कर समाचार दे सकते है; किन्तु इन्द्रिय और अंगोपाग सचेतन नही है। यदि वे सचेतन हों तो एक ही शरीर मे कई सचेतनों के – जीवों के अस्तित्व से दुरवस्था होगी – वे अलगअलग क्रिया करे तो शरीर भग्न हो जायगा अथवा निष्क्रिय होगा। दूसरे, ये सब अवयव सचेनन मानने का तात्पर्य आत्मा को ही शरीरव्यापी मानना होगा। यदि इन्द्रिय आदि अचेतन है तो वे जीव को इष्ट-अनिष्ट का ज्ञान कराये यह संभव नही है – वे नख, केश आदि की तरह इस कार्य में असमर्थ है। दूसरे, इन्द्रिय अपने प्रदेश से जीव के प्रदेश तक नही जाते यह प्रत्यक्ष से ही सिद्ध है। इन्द्रिय जीव के स्थान तक नही जाते किन्तु जीव ही इन्द्रियों के स्थान तक पहुंच कर इष्ट-अनिष्ट का ज्ञान कर लेता है यह कथन भी अनुचित है। ऐसा मानने पर सब शरीर में एक साथ सुख या दुःख का अनुभव संभव नही होगा। सब शरीर मे एक साथ सुख या दुःख का अनुभव नही होता यह कथन भी ठीक नही। कलाकुशल सुन्दर स्त्री के आलिंगन द्वारा

१ आत्मसमीपस्थ। २ बुद्ध्यादयः।

दुःखस्य वा युगपदुत्पत्तिपरिज्ञानानुभवासंभवात्। अथ सर्वाङ्गेषु युगपत् सुखं नोत्पद्यते दुःखमपि युगपत् सर्वाङ्गेषु नोत्पद्यते इति चेन्न। हावभावविलासविभ्रमशृङ्गारभङ्गीसुरूपसुरेखावत्सकलकलाप्रौढकफ प्र कृ ति स मप्रमाणश्यामाङ्गिन्याः समालिङ्गनसमयेषु युगपत्समुत्पन्नसर्वाङ्गीणसुखस्य स्वानुभवप्रत्यक्षप्रसिद्धत्वात्। तथा शिशिरकाले प्रातस्समये तडागादिशीतजलमवगाह्य वहिर्निर्गतस्य शीतवातोपघातेन युगपत् समुत्पन्नसर्वाङ्गीणदुःखस्यापि स्वानुभवमानसप्रत्यक्षप्रसिद्धत्वात्। तस्माज्जीवोऽणुपरिमाणाधिकरणोऽपि न भवति। तत्प्रसाधकप्रमाणाभावात्। अपि तु शरीरनामकर्मोदयजनितस्थूलसूक्ष्मशरीरमात्रपरिमाणाधिकरण एव पारिशेष्यादवतिष्ठते। तत्र सर्वत्रैव पादाभ्यां गच्छामि पाणिभ्यामाहरामि चक्षुर्भ्यां पश्यामि श्रोत्राभ्यां शृणोमि ज्ञाताहं सुख्यहं दुःख्यहम् इच्छाद्वेषप्रयत्नवानहमित्यहमहमिकया निर्दुष्टस्वानुभवमानसप्रत्यक्षेण प्रतीयमानत्वात्। तथा आत्मा अणुपरिमाणो न भवति स्ववर्तमानावासे युगपत् सर्वत्र स्वासाधारणगुणा[1]धारतया उपलभ्यमानत्वात् घटाद्यन्तर्गतप्रदीपभासुराकारवत्। तथा आत्मा अणुपरिमाणो न भवति ज्ञातृत्वात् भोक्तृत्वात् प्रयत्नवत्त्वात् सुखवत्त्वात् दुखित्वात् व्यतिरेके परमाणुवदिति[2]।

सब शरीर में एक साथ सुख का अनुभव होता है तथा शिशिरऋतु में ठंडे पानी में नहाने पर हवा के आघात से सब शरीर में एक साथ दुःख का अनुभव होता है – ये बातें प्रत्यक्ष प्रमाण से ही स्पष्ट हैं। अतः जीव को अणु आकार का मानना भी उचित नहीं है। शरीरनामकर्म के उदय से जैसा स्थूल या सूक्ष्म शरीर होता है उतना ही जीवका आकार होता है। मैं चलता हूं, लेता हूं, देखता हूं – आदि आत्माविषयक प्रतीति पूर्ण शरीर में होती है अतः जीव शरीरव्यापी सिद्ध होता है। जिस तरह घट मे दीपक का प्रकाश सर्वत्र समान रूप से प्रतीत होता है उसी तरह शरीर में सर्वत्र अपने असाधारण गुणों का आधार जीव प्रतीत होता है अतः जीव शरीरव्यापी है। जीव ज्ञाता है, भोक्ता है, सुखदुःख तथा प्रयत्न से युक्त है – ये सब बातें परमाणु में नही होतीं अतः जीव अणु आकार का नही है।

१ सुखदुःखादि। २ यस्तु अणुपरिमाणो भवति स ज्ञाता न भवति यथा परमाणुः इत्यादि।

[६१. सामान्य सर्वगतत्वाभावः ।]

यथा आत्मनः सर्वगतत्वम् अणुपरिमाणत्वं च नोपपनीपद्यते तथा सामान्यस्यापि सर्वगतत्वं[1] शून्यत्वं[2] च न जाघटयत इति निरूप्यते। तथा सत्ताद्रव्यत्वगुणत्वक्रियात्वादिजातीनां[3] सर्वत्र सर्वगतत्वे सकलव्यक्तिषु[4] व्यक्त्यन्तराले च सर्वासां जातीनामुपलम्भः स्यात्। न चोपलभ्यते। तस्मात् सर्वत्र सर्वगतत्वाभाव एव। तथा हि। भावसामान्यं सर्वत्र सर्वगतं न भवति सकलमूर्तिमत्द्रव्यसंयोगरहितत्वात् गन्धवत्। अथ सामान्यस्य सकलमूर्तिमतद्रव्यसंयोगरहितत्वमसिद्धमिति चेन्न। सामान्यं सकलमूर्तिमत्द्रव्यसंयोगि न भवति महापरिमाणानधिकरणत्वात् गन्धवदिति प्रमाणसद्भावात्। ननु सामान्यस्य महापरिमाणानधिकरणत्वमप्यसिद्धमिति चेन्न। सामान्यं महापरिमाणाधिकरणं न भवति अद्रव्यत्वात् आश्रितत्वात् परतन्त्रैकरूपत्वात् रूपवदिति प्रमाणसद्भावात्। तथा सामान्यं सर्वत्र सर्वगतं न भवति महापरिमाणानधिकरणत्वात

६१. सामान्य सर्वगत नही है—अब तक यह स्पष्ट किया कि जीव सर्वगत या अणु आकार का नही है। इसी प्रकार सामान्य भी सर्वगत या शून्यरूप नही हो सकता यह अब स्पष्ट करते है। यदि सत्ता, द्रव्यत्व, गुणत्व, क्रियात्व आदि जातिया सर्वगत होतीं तो सभी व्यक्तियों मे तथा व्यक्तियों के बीच के प्रदेश मे उनकी प्रतीति होती। ऐसी प्रतीति नही होती अतः जातिया सर्वगत नही हैं। भाव-सामान्य (अस्तित्व) सर्वगत नही है क्यों कि गन्ध आदि के समान यह सब मूर्त द्रव्यों के संयोग से रहित है। सामान्य महान् परिमाण का नही है अतः वह सब मूर्त द्रव्यों के संयोग से युक्त नही है। सामान्य द्रव्य नही है, आश्रित है तथा परतन्त्र है अतः वह रूप आदि के समान ही असर्वगत है – महान परिमाण का नही है।

इस पर वैशेषिकों का कथन है कि सामान्य सर्वत्र सर्वगत नही होता – अपनी सब व्यक्तियों में वह विद्यमान प्रतीत होता है अतः उसे सर्वगत कहते है। किन्तु यह कथन उचित नही। सब व्यक्तियों में

१ नैयायिकमते। २ बौद्धमते। ३ सत्तासामान्य द्रव्यसामान्य इत्यादि। ४ गोमहिषाश्वघटपटादिव्यक्तिषु।

अद्रव्यत्वात् आश्रितत्वात् परतन्त्रैकरूपत्वात् रूपादिवदिति च प्रमाण-सद्भावात् सामान्यं सर्वत्र सर्वगतं न भवतीति निश्चीयते।

ननु अत एव स्वव्यक्तिसर्वगतत्वमङ्गीक्रियते सर्वेषां सामान्यानां स्वव्यक्तिसंबद्धत्वेन प्रतीयमानत्वादिति चेन्न। व्यक्तीनां लोके सर्वत्र सद्भावेन तत्सर्वगतत्वेऽपि सर्वसर्वगतपक्षाद‌विशेषात्। किं च। स्वव्यक्तिसर्व-गतत्वे स्वव्यक्तीनामन्तरालेऽपि तत् सामान्यमुलपलभ्येत। न चोपलभ्यते, तस्मादन्तराले नास्तीति निश्चीयते। ननु अन्तराले व्यञ्जकव्यक्तीनाम[1]-भावान्नोपलभ्यते न त्वसत्त्वादिति चेन्न। वीतं सामान्यं व्यक्त्यन्तराले असदेव आश्रितत्वेनैव[2] प्रतीयमानत्वात् रूपवदिति प्रमाणसद्भावात्। व्यक्त्यन्तराले सामान्यस्य सद्भावे सामान्यानामनाश्रितत्वेनावस्थान-प्रसंगाच्च। सामान्यं नित्यद्रव्यम् अनाश्रितत्वेनावस्थितत्वात् आकाशवत्। किं च। व्यक्त्युत्पत्तौ तत्र स्थितं सामान्यं समवैति अन्यस्मादागतं वा व्यक्त्या सहोत्पद्यमानं वा। प्रथमपक्षे व्यक्त्युत्पत्तेः पूर्वं सामान्यस्य अना-श्रितत्वं स्यात्। तथा च सामान्यं नित्यद्रव्यम् अनाश्रितत्वात् परमाणुव-

---

व्याप्त होना तथा सर्वत्र व्याप्त होना इन में भेद करना उचित नही क्यों कि व्यक्तियां सर्वत्र होती हैं। सामान्य अपनी सब व्यक्तियों में व्याप्त है यह मानने पर भी यह प्रश्न बना रहता है कि उन व्यक्तियों के बीच के प्रदेश में उस की प्रतीति क्यों नही होती? उस प्रदेश में व्यक्तिया नही होतीं अतः सामान्य प्रतीत नही होता किन्तु फिरभी उस का अस्तित्व वहां होता ही है यह कथन भी ठीक नही। व्यक्तिया जहा नही होतीं वहां सामान्य का अस्तित्व मानने पर सामान्य आश्रित होता है यह न्याय-मत का कथन गलत सिद्ध होगा। यदि सामान्य आश्रयरहित भी रह सकता हो तो न्याय-मत के ही अनुसार वह नित्य द्रव्य सिद्ध होगा — नित्य द्रव्यों को छोडकर छहों पदार्थ आश्रित ही होते हैं यह उन का मत है।

इस विषय का प्रकारान्तर से विचार करते हैं। जब कोई व्यक्ति उत्पन्न होती है तो उसी प्रदेश का सामान्य उस से सम्बद्ध होता है अथवा दूसरे प्रदेश से वहा आता है अथवा व्यक्ति के साथ सामान्य भी

---

१ घटपटादीनाम्। २ षण्णामाश्रितत्वमन्यत्र नित्यद्रव्येभ्यः इति नैयायिकः।

दित्यतिप्रसज्यते। अथ अन्यस्मादागतं समवैतीति चेत् तर्हि सामान्यस्य सक्रियत्वमङ्गीकृतं स्यात्। तथा च सामान्यमसर्वगतद्रव्यं सक्रियत्वात् मेघादिवदित्यतिप्रसज्यते। अथ व्यक्त्या सहोत्पद्यमानं समवैति चेत् तर्हि सामान्यमनित्यम् उत्पद्यमानत्वात् विद्युदादिवदित्यतिप्रसज्यते। अथ सर्वोऽप्यतिप्रसंगः अङ्गीक्रियत इति चेन्न। अपसिद्धान्तापातात्। तथा व्यक्तिनाशे तद्गतं सामान्यं तत्रैव तिष्ठति अन्यत्र गच्छति व्यक्त्या सह विनश्यति वा। प्रथमपक्षे सामान्यस्यानाश्रितत्वादतिप्रसंगः[1] स्यात्। द्वितीयपक्षे सक्रियत्वेन असर्वगतद्रव्यत्वादतिप्रसंगः[2] स्यात्। तृतीयपक्षे सामान्यस्यानित्यत्वादतिप्रसंगः स्यात्। तस्मात् सामान्यं स्वव्यक्तिसर्वगतमपि नोपपनीपद्यते। तथा हि। सामान्यं व्यक्तिव्यतिरिक्तं[3] न भवति तदन्यत्वेनाप्रतीयमानत्वात्[4] व्यक्तिस्वरूपवत्। तथा पटोऽयं पटोऽयमित्यनुगतप्रत्यय नित्यव्याप्येकवस्तुविषयो न भवति। प्रतिपिण्डं कृत्स्न-

---

उत्पन्न होता है? व्यक्ति की उत्पत्ति के पहले भी वहां सामान्य का अस्तित्व माने तो सामान्य आश्रयरहित सिद्ध होगा – तदनुसार उसे नित्य द्रव्य मानना होगा। दूसरे प्रदेश से सामान्य वहा आता है यह कहें तो सामान्य सक्रिय सिद्ध होगा। जो सक्रिय होते हैं वे मेघ आदि पदार्थ सर्वगत नही होते अतः सामान्य भी सर्वगत नहीं हो सकेगा। सामान्य व्यक्ति के साथ उत्पन्न होता है यह कथन भी ठीक नही क्यों कि तब सामान्य बिजली आदि के समान अनित्य सिद्ध होगा। इसी प्रकार व्यक्ति के विनष्ट होने पर उस का सामान्य वहीं बना रहता है अथवा कहीं दूसरी जगह जाता है अथवा विनष्ट होता है? यदि सामान्य वहीं बना रहता है तो वह आश्रयरहित अतएव नित्य द्रव्य सिद्ध होगा। यदि वह दूसरी जगह जाता है तो सक्रिय अतएव असर्वगत होगा। यदि नष्ट होता है तो अनित्य सिद्ध होगा। इन सब पक्षों के विचार से स्पष्ट होता है कि सामान्य को अपनी व्यक्तियों में सर्वगत मानना भी सदोष है।

---

१ नित्यद्रव्यत्वं स्यात्। २ अनित्यत्वं स्यात्। ३ व्यक्तेः पृथग् न भवति। ४ व्यक्तिं विना।

स्वरूपपदार्थग्राहित्वात्[1] व्यक्तिविषयप्रत्ययवत्। तथा पटोऽयं पटोऽयमित्यनुगतप्रत्ययः नित्यव्याप्येकवस्तुविषयो न भवति अनुगतप्रत्ययत्वात् सदृशेष्वेव प्रवर्तमानत्वात् गेहोऽयं गेहोऽयमित्यनुगतप्रत्ययवदिति। ततश्च केनचित् सादृश्यव्यतिरेकेणापरं सामान्यं नास्त्येव। समानाभिधानसमानप्रत्ययसमानव्यवहारगोचराः समानाः, समानानां भावः सामान्यं, सदृशानां भावः सादृश्यमिति निरुक्तेः। केनचिदेकेन धर्मेण समानत्वसद्भावस्यैव सामान्यत्वात्। ननु अनुगतैकसामान्याभावे घटगवादिशब्दानां संकेतो न योयुज्यते व्यक्तीनामानन्त्येन संकेतयितुमशक्यत्वादिति चेन्न। यो यः कश्चन एवंविधपृथुबुध्नोदराद्याकारः पदार्थः स सर्वोऽपि घटशब्दवाच्य इति जानीहि, यो यः कश्चन एवंविधसास्नादिमान् पदार्थः स सर्वोऽपि गोशब्दवाच्य इति जानीहि इति संकेतयितुं शक्यत्वात् राशिग्रहादिशब्दसंकेतवत्।

सामान्य व्यक्ति से भिन्न नही होता क्यों कि व्यक्ति से पृथक रूप में सामान्य की प्रतीति नही होती। 'यह वस्त्र है' यह प्रतीति उस पूरे पदार्थ को देख कर होती है अतः इस प्रतीति का कारण कोई नित्य, व्यापक एक विषय (पटत्व सामान्य) नही है। भिन्न भिन्न वस्त्रों को देख कर उन की सदृशता का ज्ञान होता है — वह किसी एक नित्य व्यापक (सामान्य) का ज्ञान नही होता। भिन्न पदार्थों में समान शब्द, समान ज्ञान तथा समान व्यवहार होने से उन्हें समान कहते हैं — समान होना ही सामान्य है — इस से भिन्न वह कोई स्वतन्त्र पदार्थ नही है। यदि सब व्यक्तियों में एक सामान्य न हो तो एक शब्द से उन का बोध नही होगा क्यों कि व्यक्तिया अनन्त होती हैं — यह आपत्ति भी उचित नही। किसी घट का आकार देख कर ऐसा बडा गोल आकार जिस का होगा उसे घट कहते हैं ऐसा संकेत हो सकता है — इस के लिए सब घट देखने की जरूरत नही। इसी प्रकार सास्ना आदि अवयवों से युक्त प्राणी गाय होता है ऐसा संकेत हो सकता है। राशि, ग्रह आदि शब्दों के संकेत भी इसी प्रकार होते हैं। अतः शब्दप्रयोग के लिए सब व्यक्तियों में एक सामान्य का अस्तित्व जरूरी नही है।

१ घटोऽयम् इति अनुगतप्रत्ययः सामान्यग्राह्यो भवति चेत् तर्हि प्रतिघटं सकलस्वरूपग्राहो न भवति कुतः एकं सामान्यम् एकस्मिन् घटे स्थितं भवति तदा दृश्यते च घटं प्रति सकलस्वरूपग्राहित्वम्।

[६२. सामान्यसमवाययोः नित्यत्वनिरासः ।]

तथा सामान्यस्य नित्यत्वमपि न बोभूयते। तथाहि। सामान्यमनित्यम् उत्पत्तिविनाशवत्त्वात् पटादिवदिति । ननु सामान्यस्य उत्पत्तिविनाशवत्त्वमसिद्धमिति चेन्न। सामान्यं स्वाश्रयोत्पत्तौ उत्पद्यते आश्रितत्वात् अद्रव्यत्वात् परतन्त्रैकरूपत्वात् पटरूपादिवदिति। तथा सामान्यं स्वाश्रयविनाशाद् विनश्यति परतन्त्रैकरूपत्वात् आश्रितत्वात् अद्रव्यत्वात् गन्धवदिति सामान्यस्य नित्यत्वमपि न जाघटीति। ननु अद्रव्यत्वादिति हेतोः समवायेन व्यभिचारान्न ततः साध्यसिद्धिः[1]। कुतः। समवायस्य अद्रव्यत्वसद्भावेऽपि स्वाश्रयविनाशाद् विनाशाभावात् स्वाश्रयोत्पत्त्या उत्पत्त्यभावाच्च। तदपि कुतः। तस्य समवायस्य नित्यत्वसर्वगतत्वैकत्वाभ्युपगमादिति चेन्न। समवायस्य नित्यत्वैकत्व सर्वगतत्वानुपपत्तेः। तथा हि। समवायः नित्यो न भवति असंख्यापरिमाणत्वे[2] सति परतन्त्रैकरूपत्वात् रूपवत्। अथ समवायस्य परतन्त्रैकरूपत्वमसिद्धमिति चेन्न। समवायः परतन्त्रैकरूपः आश्रितत्वात् संबन्धत्वात् उत्पत्तिविनाशवत्त्वात् संयोगवदिति समवायस्य परतन्त्रैकरूपत्वसिद्धेः। ननु तथापि समवायस्य उत्पत्तिविनाशवत्त्वमप्यसिद्धमिति चेन्न। समवायः स्वाश्रयोत्पत्तावुत्पद्यते परतन्त्रैकरूपत्वात् आश्रितत्वात्

६२. सामान्य का अनित्यत्व—सामान्य सर्वगत नही है उसी प्रकार नित्य भी नही है। सामान्य अपने व्यक्तियों पर आश्रित है, सामान्य द्रव्य नही है तथा परतन्त्र है अतः रूप, गन्ध आदि के समान व्यक्ति के उत्पन्न-विनष्ट होने पर सामान्य भी उत्पन्न-विनष्ट होता है।

(इसी प्रकार वैशेषिको ने) समवाय को द्रव्य न मानते हुए एक, नित्य तथा सर्वगत माना है – व्यक्ति के उत्पन्न-विनष्ट होने पर वे समवाय को उत्पन्न-विनष्ट नही मानते। किन्तु उन का यह मत योग्य नही है। समवाय संख्या एवं परिमाण से भिन्न है तथा परतन्त्र है अतः रूप आदि के समान उसे भी अनित्य मानना चाहिए। समवाय को परतन्त्र इस लिए कहा है कि वह द्रव्य आदि पर आश्रित है, वह एक सम्बन्ध है तथा उत्पत्ति-विनाश से युक्त है। समवाय जिस द्रव्य पर आश्रित है उस की उत्पत्ति के समय समवाय की उत्पत्ति तथा विनाश के समय समवाय का विनाश

१ अनित्यत्वं साध्यम्। २ संख्यापरिमाणेनित्यगते वर्जयित्वा नित्यद्रव्यगता संख्या नित्यगतं परिमाणं नित्यम्।

रूपादिवत्, संबन्धत्वात् संयोगवत्। तथा समवायः स्वाश्रयविनाशाद् विनश्यति परतन्त्रैकरूपत्वात् आश्रितत्वात् संयोगवदिति समवायस्योत्पत्तिविनाशवत्त्वसिद्धेरनित्यत्वसिद्धिः॥ ननु संयोगस्य परतन्त्रैकरूपत्वासिद्धेः साधनविकलो दृष्टान्त इति चेन्न। संयोगः परतन्त्रैकरूपः गुणत्वात् आश्रितत्वात् रूपवदिति संयोगस्य परतन्त्रैकरूपत्वसिद्धेः।

तथा समवायः सर्वगतो न भवति सकलमूर्तिमद्द्रव्यसंयोगरहितत्वात् पटवत्। ननु समवायस्य सकलमूर्तिमद्द्रव्यसंयोगरहितत्वमप्यसिद्धमिति चेन्न। समवायः सकलमूर्तिमद्द्रव्यसंयोगरहितः महापरिमाणानधिकरणत्वात् पटादिवदिति तत्सिद्धेः। अथ समवायस्य महापरिमाणानधिकरणत्वमप्यसिद्धमिति चेन्न। समवायः महापरिमाणाधिकरणो न भवति अद्रव्यत्वात् आश्रितत्वात् परतन्त्रैकरूपत्वात् रूपादिवत् संबन्धत्वात् संयोगवदिति महापरिमाणानधिकरणत्वसिद्धेः॥ तथा समवायः सर्वगतो न भवति महापरिमाणानधिकरणत्वात् अद्रव्यत्वात् आश्रितत्वात् परतन्त्रैकरूपत्वात् रूपादिवत्, संबन्धत्वात् संयोगवदिति च। तथा समवायः एको न भवति सकलमूर्तिमद्द्रव्यसंयोगरहितत्वात् महापरिमाणानधिकरणत्वात् अद्रव्यत्वात् आश्रितत्वात् परतन्त्रैकरूपत्वात् रूपादिवत् संबन्धत्वात् संयोगवदिति समवायस्य नित्यत्वविभुत्वैकत्वानुपपत्तिरेव स्यात्। ननु सत्तासामान्यस्य परतन्त्रैकरूपत्वेऽप्यनेकत्वाभावादनैकान्तिको

मानना चाहिए क्यों कि समवाय आश्रित तथा परतन्त्र माना गया है। जिस तरह संयोग सम्बन्ध है, आश्रित है तथा परतन्त्र है उसी प्रकार समवाय भी है अतः संयोग के समान समवाय भी अनित्य – उत्पत्ति-विनाशयुक्त सिद्ध होता है।

समवाय सर्वगत भी नही है क्यों कि वह सब मूर्त द्रव्यों के संयोग से रहित है – महान परिमाण का नही है। समवाय रूप आदि के समान आश्रित, परतन्त्र तथा अद्रव्य है (द्रव्य नही है) तथा वह सयोग के समान एक सम्बन्ध है अतः वह महान परिमाण का – सर्वगत नही है। इन्हीं कारणों से समवाय का एक होना भी संभव नही है। सत्ता-सामान्य (अस्तित्व) सब पदार्थों में है अतः वह परतन्त्र होने पर भी एक है – अनेक नही – यह कथन भी अनुचित है। सामान्य स्वयं द्रव्य नही है, परतन्त्र, आश्रित, सब मूर्त द्रव्यों के संयोग से रहित एवं

हेतुरिति चेन्न। सत्तासामान्यम् अनेकं भवति अद्रव्यत्वात् आश्रितत्वात् सकलमूर्तिमद्द्रव्यसंयोगरहितत्वात् महापरिमाणानधिकरणत्वात् परतन्त्रैकरूपत्वात् रूपादिवदिति सत्तासामान्यस्यानेकत्वसिद्धेः। तथैवान्यसामान्यस्याप्यनेकत्वसिद्धिरिति नानैकान्तिको हेतुरिति निर्दुष्टेभ्यो हेतुभ्यः समवायस्यानित्यत्वासर्वगतत्वानेकत्वसिद्धिरेव स्यात्।

[६३. प्राभाकरसंमतसमवायस्वरूपनिषेधः।]

ननु तथैव समवायस्यानित्यत्वमसर्वगतत्वमनेकत्वमस्तु, अस्माभिरपि तथैवाङ्गीक्रियत इति प्राभाकराः प्रत्यवोचन्। तेऽप्ययुक्तिज्ञा एव। समवायस्यानित्यत्वे उत्पत्तिसामग्र्या असंभवात्[1]। कुत इति चेत् समवायस्योत्पत्तावुपादानसहकारिकारणानामसंभवात्। ननु अवयवावयविप्रभृति[2]समवायिभ्यां निमित्तकारणभूताभ्यां समवायः समुत्पद्यत इति चेन्न। भावरूपकार्याणां निमित्तकारणमात्रेण समुत्पत्तेरसंभवात्। तथा हि। विवादाध्यासितः संबन्धः[3] समवायिकारणमन्तरेण नोत्पद्यते भावत्वे सति[4] कार्यत्वात् पटादिवत्, संबन्धत्वात् संयोगवत्। तथा विवादापन्नः

महान परिमाण से रहित है अतः सत्ता-सामान्य को भी अनेक (प्रत्येक व्यक्ति में भिन्नभिन्न) ही मानना चाहिए। तात्पर्य – सामान्य तथा समवाय दोनों को अनित्य, अव्यापक एवं अनेक मानना आवश्यक है।

६३. प्राभाकर समवाय का निषेध—वैशेषिकों द्वारा माने हुए समवाय के स्वरूप मे उपर्युक्त सब दोष देख कर प्राभाकर मीमासकों ने समवाय को अनित्य, अव्यापक तथा अनेक माना है। किन्तु यह मत भी योग्य नही है। समवाय यदि अनित्य है तो उस की उत्पत्ति के योग्य कारण नही हो सकते – उपादान अथवा सहकारी कारणो का अभाव होता है। अवयव, अवयवी आदि निमित्त कारणो से समवाय की उत्पत्ति मानना उचित नही क्यो कि जो भावरूप कार्य हैं वे सिर्फ निमित्त कारणों से उत्पन्न नही होते (उनकी उत्पत्ति मे उपादानकारण होना जरूरी है)। समवाय यदि पट आदि के समान भावरूप (वस्तुतः

१ अनित्यत्वे सति उत्पत्तिमत्त्व भवति तदभाव। २ प्रभृतिशब्देन गुणगुणिनौ क्रियाक्रियावन्तौ जातिव्यक्ती। ३ समवायः। ४ द्रव्यसामान्यविशेषसामान्यसमवायाः इति पदार्थाः।

संबन्धः असमवायिकारणं विना नोत्पद्यते भावत्वे सति कार्यत्वात् घटवत्, संबन्धत्वात् संयोगवदिति च। तथा वीतः संबन्धः निमित्तकारणमात्रान्नोत्पद्यते भावत्वे सति कार्यत्वात् पटादिवत् संबन्धत्वात् संयोगवत् इति च। समवायस्यानित्यत्वाङ्गीकारे उत्पत्तिसामग्र्या असंभवात् तस्य समवायस्याप्यसंभव एवेति न प्राभाकराङ्गीकारोऽपि श्रेयान्।

[६४. समवायस्वरूपासंभवः।]

किं च। पराभ्युपगमेन समवायोऽस्तीत्यङ्गीकृत्य एतत् सर्वमुक्तम्। विचार्यमाणे तस्य समवायस्यैवासंभवात्। ननु अवयवावयविनोर्गुणगुणिनोः सामान्यविशेषयोः क्रियाक्रियावतोर्यः संबन्धः स समवाय इत्युररीकर्तव्यमिति चेत् तर्हि समवायिभ्यां[1] समवायः संबद्धः सन् प्रवर्तते असंबद्धो वा। असंबद्धश्चेदनयोरयं[2] समवाय इति व्यपदेशानुपपत्तिरेव स्यात् असंबद्धत्वात् सह्यविन्ध्यवदिति। अथ समवायः समवायिभ्यां संबद्धः सन् प्रवर्तते [illegible] तर्हि स्वतः संबन्धान्तरेण वा। अथ संबन्धान्तरेण संबद्धः सन् प्रवर्तत इति चेत् तदपि संबन्धान्तरं स्वसंबन्धिषु संबन्धान्तरेण संबद्धं सत् प्रवर्तते तदपि संबन्धान्तरं

विद्यमान) कार्य है और संयोग के समान एक सम्बन्ध है तो वह समवायी कारण के विना उत्पन्न नही हो सकता। इसी प्रकार इसको उत्पत्ति में असमवायी कारण भी होना जरूरी है। सिर्फ निमित्त कारण से इसकी उत्पत्ति नही हो सकती। अत: अनित्य रूप में समवाय का अस्तित्व मानना भी योग्य नही है।

६४. समवाय के स्वरूप का असंभवत्व—नैयायिक अथवा प्राभाकरों के कथनानुसार समवाय है यह मान कर उपर्युक्त चर्चा की है। किन्तु हमारा तात्पर्य यह है कि समवाय का अस्तित्व मानना ही व्यर्थ है। अवयव तथा अवयवी, गुण तथा गुणी, सामान्य तथा विशेष एवं क्रिया तथा क्रियावान् इन मे जो सम्बन्ध है उसे समवाय कहा है। प्रश्न होता है कि अवयव आदि से समवाय सम्बद्ध होता है या असम्बद्ध होता है? यदि वह असम्बद्ध हो तो यह अवयव-अवयवी का सम्बन्ध है यह कथन निराधार होगा – जैसे सह्याद्रि और विन्ध्याद्रि परस्पर

१ अवयवावयविभ्यां गुणगुणिभ्याम्। २ अवयवावयविनोः।

संबन्धान्तरेण संबद्धं सत् स्वसंबन्धिषु प्रवर्तेत इत्यनवस्था स्यात्। अथ समवायः समवायिभ्यां स्वतः संबद्धः एव प्रवर्तेत इति चेत् तर्हि यथा समवायः समवायिषु स्वतः संबद्ध एव प्रवर्तेत इति परिकल्प्यते तथा अवयवेषु अवयविनः गुणिषु गुणाः विशेषेषु सामान्यानि असर्वगतद्रव्येषु क्रियाश्च स्वत एव संबद्धाः प्रवर्तेरन्। किं समवायपरिकल्पनया प्रयोजनम्[1]। प्रयोगश्च। अवयविगुणसामान्यक्रियाः स्वाश्रयेषु[2] स्वतः संबद्धा एव प्रवर्तन्ते आश्रितत्वात् परतन्त्रैकरूपत्वात् समवायवदिति अवयवावयवि-प्रभृतीनामन्यनिरपेक्षतया[2] स्वभावसंबन्धः प्रमाणसिद्धः स्यात्।

ननु 'अयुतसिद्धानामाधार्याधारभूतानां य इहेदं[3] प्रत्ययहेतुः संबन्धः स समवायः' (प्रशस्तपादभाष्य पृ. ५८)। इति लक्षणलक्षितत्वात् समवायोऽस्तीत्यूरीकर्तव्यमिति चेत् न। तल्लक्षणस्य विचार्यमाणे असंभवदोष-दुष्टत्वात्। तथा हि। अयुतसिद्धानामिति कोऽर्थः। ननु पृथक् सिद्धाः युतसिद्धा इत्युच्यन्ते, अपृथक् सिद्धा अयुतसिद्धा इति कथ्यन्ते तेषामयुत-सिद्धानां संबन्धः समवाय इति चेन्न। अवयवावयविनोर्गुणगुणिनोः सामान्यविशेषयोः क्रियातद्वतोः पृथक् पृथक् निष्पन्नत्वेन युतसिद्धत्वा-

असम्बद्ध है वैसे ही समवाय और अवयव आदि होंगे। यदि यह सम्बद्ध है तो स्वतः सम्बद्ध है या किसी दूसरे सम्बन्ध से सम्बद्ध है? यदि दूसरे सम्बन्ध से सम्बद्ध हो तो उस दूसरे सम्बन्ध का समवाय से सम्बन्ध होने के लिए तीसरा सम्बन्ध मानना होगा तथा तीसरे सम्बन्ध का सम्बन्ध होने के लिए चौथा सम्बन्ध मानना होगा – यह अनवस्था दोष है। यदि समवाय का अवयव आदि से स्वतः सम्बन्ध मानें तो अवयव और अवयवी में, गुण और गुणी में, विशेष और सामान्य में तथा क्रिया और क्रियावान् में ही स्वतः सम्बन्ध मानने में क्या दोष है? जैसे समवाय को आश्रित, परतन्त्र माना है वैसे ही गुण आदि को आश्रित, परतन्त्र मानने से कार्य हो जाता है। अतः अवयव, अवयवी आदि का सम्बन्ध स्वभावतः ही मानना चाहिए – समवाय पर अवलम्बित नहीं मानना चाहिए।

समवाय का लक्षण वैशेषिक मत में इस प्रकार दिया है—आधार्य तथा आधारभूत अयुतसिद्ध पदार्थों में जो सम्बन्ध है, 'इस में यह है' इस प्रतीति

१ अवयवगुणिविशेषासर्वगतद्रव्येषु। २ समवायनिरपेक्षतया। ३ इह तन्तुषु अयं पटः।

दयुतसिद्धत्वासंभवात् । तथा हि । अवयवास्तन्तवः अंशुभ्यो निष्पन्नाः अवयवी पटस्तन्तुभ्यो निष्पन्न इति अवयवावयविनोः पृथग् निष्पन्नत्वेन युतसिद्धत्वादयुतसिद्धत्वासंभव एव । तथा पटे रूपादयो गुणाः समवायिकारणात् पटात् असमवायिकारणेभ्यस्तन्तुगतरूपादिभ्यः कुविन्दकरव्यापारादिनिमित्तकारणाच्च निष्पन्नाः । पटादयो गुणिनोऽपि समवायिकारणेभ्यस्तन्तुभ्यः असमवायिकारणेभ्यस्तन्तूनामातानवितानरूपविशिष्टसंयोगेभ्यः कुविन्दकरव्यापारनिमित्तकारणाच्च निष्पन्नाः । इति गुणगुणिनोः पृथग् निष्पन्नत्वेन युतसिद्धत्वाभावादयुतसिद्धत्वासंभव एव स्यात् । तथा सत्तादिसामान्यानां नित्यत्वेन सिद्धत्वात् द्रव्यादिविशेषाणां स्वकारणकलापान्निष्पन्नत्वाच्च सामान्यविशेषयोरपि पृथक् निष्पन्नत्वेन् युतसिद्धत्वात् अयुतसिद्धत्वासंभव एव स्यात् । तथा पटाद्यसर्वगतद्रव्यं तन्त्वाद्युपादानकारणादिना समुत्पद्यते पटादीनां क्रिया च पटाद्युपादानकारणादिना समुत्पद्यत इति क्रियातद्वतोरपि पृथग् निष्पन्नत्वेन युतसिद्धत्वादयुतसिद्धत्वासंभव एव स्यात् इति । किं च । अवयवावयविप्रभृतीनां भिन्नदेशभिन्नकालभिन्नकर्तृभिन्नोपादानादिकारणैर्निष्पन्नत्वाद्

का जो कारण है वही समवाय सम्बन्ध है । किन्तु यह लक्षण भी सदोष है। प्रश्न होता है कि अयुतसिद्ध पदार्थ किन्हे कहा जाय ? जो अलग सिद्ध हैं वे युतसिद्ध हैं, जो अलग सिद्ध नही हैं वे अयुतसिद्ध हैं, यह कथन ठीक नही । गुण, गुणी, अवयव, अवयवी, सामान्य, विशेष तथा क्रिया, क्रियावान्, ये पृथक-पृथक निष्पन्न होते है तब उन्हें अयुतसिद्ध कैसे कहा जाय ? वस्त्र अवयवी है वह तन्तुओं से बनता है, तन्तु अवयव हैं वे अशुओं (रेशो) से बनते हैं – अत: इन की निष्पत्ति भिन्न भिन्न है । इसी प्रकार वस्त्र गुणी है वह तन्तुओं से बना है तथा रूप आदि गुण हैं वे तन्तुओं के रूप आदि गुणों से बने है – अत: गुण और गुणी की निष्पत्ति भी भिन्न भिन्न है । इसी प्रकार सत्ता आदि सामान्य तो नित्य माने हैं तथा द्रव्य आदि विशेष अपने अपने कारणों से उत्पन्न माने हैं – अत: सामान्य और विशेष की निष्पत्ति भी भिन्न भिन्न है । इसी प्रकार वस्त्र क्रियावान् है वह तन्तुओं से उत्पन्न हुआ है तथा वस्त्र की क्रिया वस्त्र से उत्पन्न हुई है–अत: क्रिया और क्रियावान की निष्पत्ति भी भिन्न भिन्न है । तात्पर्य–अवयव, अवयवी आदि को अयुतसिद्ध कहना योग्य

युतसिद्धत्वमेव स्यात् नायुतसिद्धत्वम् । तथाविधानामाधार्याधारभूताना[1]-मिहेदंप्रत्ययहेतुः संबन्धः समवायश्चेदिह भूतले घटस्तिष्ठति इह पटे देवदत्त आस्ते इत्यादिप्रत्ययहेतुसंबन्धोऽपि समवायः स्यादित्यतिव्याप्तिः समवायलक्षणस्य स्यात् । तस्मात् समवायलक्षणस्यानुपपत्तेः समवाय-स्याप्यसंभव एव स्यात् ।

तथा आधार्यधारभूतानामिति कोऽर्थः । ननु आधारो नाम अधस्तन-भागे अवस्थितं द्रव्यम् आधार्यास्तस्योपरि वर्तमानाः अवयविगुणसामान्य-क्रियाः । तथा हि । इह तन्तुषु पटः, इह पटे रूपादयः, इह पटेषु पटत्वं सामान्यम् ,इह पटे उत्क्षेपणादिक्रियाः प्रवर्तन्त इति आधार्याधारभावप्रती-तिरिति चेन्न । तेषां भवदुक्ताधार्याधारभावाभावात् । कुत इति चेत् पट-स्योपरितनभागेऽपि तन्तूनां सद्भावदर्शनात् अधोभागेऽपि पटस्य सद्भा-वदर्शनात् । किं च । आतानवितानरूपेण विशिष्टसंयोगयुक्ततन्तूनामेव पटाभिधानप्रत्ययव्यवहारगोचरत्वेन ततोऽतिरिक्तस्य पटस्यानुपलब्धेश्च, तृणातिरिक्ततृणकूटानुपलब्धिवत् मापादिरिक्तराश्यनुपलब्धिवच्च । तथा[2] शाखासु वृक्ष इत्यत्रापि वृक्षस्याधोभागे शाखानामप्रतीतेः शाखानामुपरि वृक्षस्याप्रतीतेश्च अवयवा आधाराः अवयविनः आधार्या इत्यनुपपत्तेः अव-

नहीं । अवयव, अवयवो आदि के उपादान कारण, कर्ता, देश तथा काल भिन्न भिन्न होते है अतः इन्हें युतसिद्ध ही कहना चाहिये–अयुतसिद्ध नही ।' इसमे यह है ' इस प्रत्यय का कारण समवाय मानना भी दोषपूर्ण होगा । जमीन मे घट है, वस्त्र पर देवदत्त है आदि प्रत्यय भी होते हैं किन्तु जमीन और घट में तथा वस्त्र और देवदत्त मे समवाय नही माना जाता ।

आधार्य और आधार मे जो सम्बन्ध है वह समवाय है यह कथन भी सदोष है । जो द्रव्य नीचे है वह आधार है तथा जो गुण आदि ऊपर हैं वे आधार्य हैं अतः तन्तुओं मे वस्त्र है, वस्त्र में रूप आदि हैं, वस्त्र में वस्त्रत्व है, वस्त्र मे क्रिया है आदि व्यवहार होता है–यह कथन उचित नही । वस्त्र और तन्तु में एक ऊपर और एक नीचे है यह नही कहा जा सकता । सीधे-आडे विशिष्ट रूप में बुने हुए तन्तुओं को ही

१ पूर्वोक्ताना आधाराधेयत्व निराकृतम् । २ नैयायिकः ननु यथा इह तन्तुषु अवयवभूतेषु पटः उच्यते तथा एवमपि उच्यते शाखासु अवयवभूतासु वृक्षः इत्यादि ।

यवावयविनोराधाराधार्यभावाभावो विभाव्यते। तथा जम्बीरमातुलिङ्गादिद्रव्येषु रूपरसगन्धस्पर्शानां मध्याधःपार्श्वभागेष्वपि सद्भावात् आधार्या गुणाः आधारो द्रव्यम् इत्यप्यसंभवाद् गुणगुणिनोरप्याधार्याधारभावाभावो निश्चीयते। तथा जातिव्यक्तीनामपि[1] आधार्याधारभावो नोपपनीपद्यते। तन्मते जातीनां नित्यत्वेन अन्याश्रितत्वानुपपत्तेः। तथा हि। जातिरन्याश्रिता न भवति अगुणत्वे सति[2] नित्यत्वात् सर्वगतत्वाच्च आकाशवदिति जातीनामन्याश्रितत्वानुपपत्तेः जातिव्यक्तीनामपि आधार्याधारभावाभावोऽनुमन्तव्यः। तथा पटादिद्रव्याणां मध्याधःपार्श्वभागेऽपि क्रियाप्रवर्तनाप्रतीतेराधार्याः क्रियाः पटादिद्रव्यमाधार इत्यनुपपत्तेः क्रियातद्वतोरप्याधार्याधारभावाभावः स्यात्। अथ अधःपतनप्रतिबन्धहेतुराधार इति चेन्न। तन्तूनां पटस्याधःपतनप्रतिबन्धकत्वाभावेन आधारत्वाभावप्रसंगात्। गुणजातिक्रियाणामपि गुरुत्वाभावेन अधःपतनासंभवाद् गुणिव्यक्तिक्रियावतां तत्प्रतिबन्धकत्वानुपपत्त्याधारत्वाभावप्रसंगाच्च। ननु पृथक्क्रियाप्रतिबन्धक आधार इति चेत् तथापि गुणजातिक्रियाणामद्रव्यत्वेन क्रियारहितत्वाद् गुणिव्यक्तिक्रियावतां तत् प्रतिबन्धकत्वाभावेन

वस्त्र कहा जाता है– तन्तुओं से सर्वथा भिन्न कोई वस्त्र नहीं होता, घास की गड्डी घास से भिन्न नही होती उडदका ढेर उडद से भिन्न नही होता। वृक्ष अवयवी है, शाखाएं अवयव हैं इन मे भी वृक्ष ऊपर है, शाखाएं नीचे हैं यह कथन संभव नही है। जंबीर, मातुलिंग आदि फलों में रूप, रस, गन्ध, स्पर्श ये गुण हैं–इन में भी फल ऊपर है, गुण नीचे हैं यह कथन संभव नहीं है। न्यायमत में जाति (सामान्य) को नित्य माना है–वह किसी पर आश्रित नही हो सकती, वह गुण नही है, नित्य है तथा सर्वगत भी मानी गई है। अतः जाति और व्यक्ति मे भी आधार, आधार्य यह सम्बन्ध सम्भव नही है। वस्त्र आदि द्रव्य नीचे हैं, क्रिया ऊपर है यह कथन भी संभव नहीं है। तात्पर्य आधार नीचे होता है, आधार्य ऊपर होता है इस प्रकार से अवयव, अवयवी आदि मे कोई सम्बन्ध नही माना जा सकता। जो नीचे गिरने से रोके वह आधार है यह

१ गोत्वं जातिः गौर्व्यक्तिः। २ नित्याश्रितो गुणो नित्यः क्वचिदस्ति अतः अगुणत्वे सतीति।

आधारत्वाभावादव्यापकं लक्षणम्। तस्मादवयवावयविनोर्गुणगुणिनो. जातिव्यक्त्योः क्रियातद्वतोर्भवदुक्ताधार्याधारभावाभावादसंभवदोषदुष्टत्वं समवायस्य स्वरूपलक्षणप्रवृत्त्यसंभवात् तस्याभावो निश्चीयते।

तथा च अवयवावयविनोर्गुणगुणिनोः सामान्यविशेषयोः क्रियातद्वतोश्च स्वभावसंबन्धः कथंचिद् भेदाभेदश्च स्वीकर्तव्यः। अत्यन्तं भेदे तौ[1] देशभेदेनोपलभ्येयाताम् अत्यन्तं भिन्नत्वात् मेरुविन्ध्यवत्। तौ कालभेदेनोपलभ्येयाताम् अत्यन्तं भिन्नत्वात् रामशंखचक्रवर्तिवत्। इति बाधकसद्भावादत्यन्तं भेदो नाङ्गीकर्तव्यः। अत्यन्तमभेदे तयोरन्यतर एव[2] स्यान्न द्वयं व्यवतिष्ठते.। इति पक्षद्वयेऽपि बाधकसद्भावात् कथंचिद् भेदाभेदः समर्थितो भवति। एवं परपरिकल्पितसमवायपदार्थो नोपपन्नीपद्यते।

कथन भी उचित नही- तन्तु वस्त्र को नीचे गिरने से रोकते हैं यह नही कहा जा सकता। गुण, जाति, क्रिया इन मे वजन ही नही होता अतः इन के नीचे गिरने का प्रश्न ही नही उठता। जो पृथक क्रिया को रोके वह आधार है यह कथन भी उचित नही। गुण.जाति, क्रिया ये द्रव्य नही हैं, इन मे क्रिया ही सभव नही अतः क्रिया को रोकने का प्रश्न ही नही उठता। तात्पर्य-किसी भी प्रकार से आधार्य और आधार का सम्बन्ध समवाय संभव नही है।

उपर्युक्त सब विवेचन को देखते हुए अवयव, अवयवी आदि में स्वभावतः सम्बन्ध मानना चाहिए। तथा इन मे अंशतः भेद और अंशतः अभेद मानना चाहिए। यदि इनमें पूर्ण भेद माने तो मेरु और विन्ध्य पर्वतके समान उन का प्रदेश भी भिन्न प्रतीत होना चाहिए। तथा राम और शंख चक्रवर्ती के समान इन का काल भी भिन्न होना चाहिए। ऐसा होता नही है, अतः इन मे भेद अंशतः है -- पूर्णतः नही। इसी तरह पूर्णतः अभेद मानना भी उचित नही—यदि पूर्णतः अभेद हो तो ये दो वस्तुएं है यह कहना असंभव होगा अतः गुण, गुणी आदि मे अंशतः भेद और अंशतः अभेद मानना चाहिए। तथा उन मे स्वभावतः सम्बन्ध मानना चाहिए। इस से समवाय सम्बन्ध की कल्पना व्यर्थ सिद्ध होती है।

१ गुणगुणिनौ। २ एक एव।

[६५. संख्यादीनां गुणत्वनिरासः ।]

तथा संख्याया गुणत्वमपि नोपपनीपद्यते। तथा हि। संख्या गुणो न भवति गुणादिषु प्रवर्तमानत्वात् व्यतिरेके गन्धवत्[1]। ननु संख्यायाः गुणादिषु प्रवर्तमानत्वमसिद्धमिति चेन्न। चतुर्विंशति गुणाः पञ्च कर्माणि षट् पदार्था इति गुणादिषु संख्यायाः प्रवर्तनासद्भावात्। तथा पृथक्त्वमपि गुणो न भवति गुणाद्याश्रितत्वात् व्यतिरेके रूपवत्[2]। नायमसिद्धो हेतुः रसाद् गन्धः पृथक् उत्क्षेपणादवक्षेपणं पृथगिति तदाश्रितत्वसद्भावात्।

तथा अदृष्टमपि[3] गुणो न भवति पौद्गलिकत्वात् तिलकादिवत्। ननु अदृष्टस्य पौद्गलिकत्वमप्यसिद्धमिति चेन्न। अदृष्टं पौद्गलिकं पुद्गलसंबन्धेन विपच्यमानत्वात् व्रीह्यादिवत्[4] इति प्रमाणसद्भावात्। ननु अदृष्टस्य पुद्गलसंबन्धेन विपच्यमानत्वमप्यसिद्धमिति चेन्न। शुभा-

६५. संख्यादि गुण नही है—वैशेषिकों ने गुणों की जो गणना की है वह भी दोषपूर्ण है। वे संख्या को गुण मानते हैं किन्तु संख्या गुणों में भी पाई जाती है। न्यायमत में ही चौवीस गुण, पांच कर्म, छह पदार्थ आदि व्यवहार रूढ है। अतः गुणों पर आश्रित होने से संख्या गुण नही हो सकती (गुण द्रव्यों पर आश्रित होते हैं तथा स्वयं गुणरहित होते हैं)। इसी प्रकार न्यायमत में पृथक्त्व को गुण माना है किन्तु पृथक्त्व भी गुणों में विद्यमान है—रस से गन्ध पृथक् है, उत्क्षेपण से अवक्षेपण पृथक् है आदि व्यवहार रूढ है, अतः पृथक्त्व गुण नही हो सकता।

अदृष्ट तिलक आदि के समान पौद्गलिक है अतः अदृष्ट भी गुण नही हो सकता। अदृष्ट को पौद्गलिक कहने का कारण यह है कि उस का फल पुद्गल के सम्बन्ध से ही मिलता है—अदृष्ट के फलस्वरूप जीव को सुखदुःख का जो अनुभव होता है वह पुद्गलनिर्मित शरीर, इन्द्रिय,

१ यस्तु गुणो भवति स तु गुणादिषु न प्रवर्तते यथा गन्धः निर्गुणाः गुणाः इति वचनात। २ यस्तु गुणो भवति स गुणादिषु आश्रितो न भवति यथा रूपम्। ३ धर्माधर्मौ। ४ यथा व्रीह्यादिः जलादिपुद्गलसंबन्धेन विपच्यते।

शुभशरीरेन्द्रियान्तःकरणतदनुकूलप्रतिकूलपदार्थनिष्पादनप्रापणानुभावनप्रकारेण जीवे सुखदुःखमुत्पाद्य विपच्यमानत्वात्। तथा अदृष्टं पौद्गलिकं जीवस्याभिमतदेशे[1] गमनप्रतिबन्धकत्वात् पालिवत्[2]। अयमपि हेतुरसिद्ध इति चेन्न। सकलदुःख[3]परिक्षयेण परमानन्दपदप्राप्त्यर्थम् अभिमतसूर्यमण्डलभेदनादिगमनप्रतिबन्धकसद्भावात्। तथा अदृष्टं पौद्गलिकं ध्यानान्यत्वे सतीष्टपदार्था[4]कर्षकत्वात् उखादिवदिति[5]। अदृष्टस्य गुणत्वप्रतिषेधेन द्रव्यत्वं समर्थितम्। तस्माददृष्टम् आत्मविशेषगुणो न भवति असंस्कारजीवनहेतुप्रयत्नत्वे[6] सति मानसप्रत्यक्षागोचरत्वात् व्यतिरेके सुखादिवदिति च।

[६६. पौद्गलिकत्वविवरणम्।]

अथ पौद्गलिकत्वं नाम किमुच्यते। पुद्गलैरारब्धत्वं पौद्गलिकत्वमित्युच्यते। के पुद्गला इति चेत् 'स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः' (तत्त्वार्थसूत्र ५-२३) इत्युच्यते। तर्हि पार्थिवस्यैव पुद्गलत्वम् अप्तेजो-

अन्तःकरण की अनुकूलता या प्रतिकूलता द्वारा ही प्राप्त होता है। अदृष्ट जीव को इष्ट प्रदेश मे—सब दुःखों से रहित, परम आनन्द से युक्त सूर्यमण्डल आदि प्रदेशों में—जानेसे रोकता है अतः दीवार के समान अदृष्ट भी पौद्गलिक है। अदृष्ट ध्यान से भिन्न है तथा इष्ट पदार्थों को आकर्षित करता है अतः मन्त्र आदि के समान अदृष्ट भी पौद्गलिक है। अदृष्ट आत्मा का विशेष गुण नही है क्यों कि वह सुख आदि गुणों के समान मानस प्रत्यक्ष से ज्ञात नही होता तथा वह संस्कार तथा जीवनार्थ प्रयत्न से भिन्न है।

६६. पौद्गलिकत्व का विवरण—इस सम्बध मे प्रतिवादियों का प्रश्न है कि पौद्गलिक का तात्पर्य क्या है ? उत्तर है- जो पुद्गल से बनता हो वह पौद्गलिक है। पुद्गल वह है जिसमें स्पर्श, रस, गन्ध तथा वर्ण ये गुण होते हैं। न्याय मत मे सिर्फ पृथ्वी-परमाणुओं में स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण इन चारों गुणों का अस्तित्व माना है—जल में गन्ध का, तेज में गन्ध व रस का तथा वायु में गन्ध, रस व रूप का अभाव माना

१ स्वर्गादि। २ सेतुवत्। ३ षडिन्द्रियाणि षड्विषयाः षड्बुद्धयः सुखदुःखशरीराणि। ४ ध्यानं पौद्गलिकं नास्ति परंतु अभिमतगमनहेतु। ५ मन्त्र। ६ संस्कारजीवनहेतुप्रयत्नौ वर्जयित्वा मानसप्रत्यक्षागोचरत्वात् तयोः मानसप्रत्यक्षगोचरत्वेऽपि गुणत्वमस्ति।

वाय्वादीनां पुद्गलत्वं न स्यात् तेषु गन्धरसरूपादीना[1]मभावादिति चेन्न। तेषु गन्धरसरूपादीनामनुद्‌भूतानां प्रमाणप्रतिपन्नत्वेन सद्‌भावात्। तथा हि। आप्यं गन्धवद् भवति रसवत्त्वात् रूपवत्त्वात् स्पर्शवत्त्वाच्च पार्थिववदिति आप्यस्य गन्धवत्त्वसिद्धिः। तथा तेजोद्रव्यं गन्धरसवत् रूपवत्त्वात् स्पर्शवत्त्वात् पृथ्वीवदिति तेजोद्रव्यस्य गन्धरसवत्त्वसिद्धिः। तथा वायुद्रव्यं गन्धरसरूपवत् स्पर्शवत्त्वात् पार्थिववदिति वायोर्गन्धरसरूपवत्त्वसिद्धिः। तथा कार्मणद्रव्यादिकं[2] गन्धरसरूपस्पर्शवद् भवति पुद्गलद्रव्यत्वात् पृथिवीवदिति कर्मद्रव्यादीनामपि गन्धरसरूपस्पर्शवत्त्वसिद्धिरिति। ननु तेषां[3] गन्धरसरूपस्पर्शादिमत्त्वे क्वचित् कदाचिद् दर्शनादिगोचरत्वं स्यादिति चेन्न। सर्वदा अनुद्‌भूतरूपादिमत्त्वेन बाह्येन्द्रियग्राह्यत्वासंभवात् नयनरश्मिवत्। यथा नयनरश्मीनां तेजोद्रव्यत्वेन रूपस्पर्शसद्‌भावेऽपि क्वचित् कदाचिदपि दर्शनस्पर्शनगोचरत्वाभावः तथा कार्मणादिद्रव्याणां रूपादिसद्‌भावेऽपि न बाह्येन्द्रियग्राह्यत्वं प्रसज्यते। कर्मणां पौद्गलिकत्वं च प्रागेव प्रमाणात् समर्थितमेव। तथा च धर्माधर्मशब्दसंख्यापृथक्त्वव्यतिरिक्तरूपादीनां[4] बुद्ध्यादीनां च यथोक्तक्रमेण गुणत्वं बोभूयते।

हैं। तो क्या सिर्फ पृथ्वी-परमाणु ही पुद्‌गल हैं? उत्तर यह है कि हमारे मत के अनुसार स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण ये चारों गुण पृथ्वी, जल, तेज, वायु इन सभी के परमाणुओं में होते हैं, अन्तर सिर्फ इतना है कि जल आदि में गन्ध आदि गुण इन्द्रियग्राह्य नही होते। स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण ये चारों गुण सहभावी हैं— जहा एक होता है वहा सभी होते हैं। अतः जल आदि परमाणुओं में भी गन्ध आदि गुणों का अस्तित्व मानना चाहिए। इसी प्रकार कार्मण पुद्‌गलों में भी चारों गुणों का अस्तित्व मानना चाहिए। न्याय मत मे जिस प्रकार चक्षु के किरण अदृश्य माने हैं—यद्यपि तेज द्रव्य से निर्मित होने के कारण इन किरणों में रूप तथा स्पर्श गुण होते हैं—उसी प्रकार कार्मण पुद्‌गल आदि में ये गुण इन्द्रियग्राह्य नही होते ऐसा समझना चाहिए। इन के अतिरिक्त रूप आदि तथा बुद्धि आदि जो गुण न्यायमत में माने हैं उन के बारे मे हमारा कोई विवाद नही है।

१ यथासंख्यम्। २ अदृष्टद्रव्यम्। ३ कर्मद्रव्यादीनाम्। ४ एतैः पञ्चभिः विना।

[६७. मनःस्वरूपविचारे इन्द्रियस्वरूपविचारः ।]

द्रव्येष्वपि अणु मनः सक्रियं चेति मनोद्रव्यस्याणुमात्रत्वं स्पर्शादिरहितत्वं च परैरनुमन्यते[1] । तदयुक्तं मनसस्तदसंभवात् । तथा हि। मनोद्रव्यम् अणुपरिमाणं न भवति ज्ञानोत्पत्तौ कारणत्वात् चक्षुर्वत्, ज्ञानासमवाय्याश्रयत्वात् आत्मवत् । तथा मनोद्रव्यं स्पर्शादिमद् भवति असर्वगतद्रव्यत्वात् पटवत्, ज्ञानकरणत्वात् श्रोत्रवदिति च। ननु नाभसं[2] श्रोत्रमिति श्रोत्रस्य नाभसत्वेन स्पर्शादिसत्त्वाभावात् साध्यविकलो दृष्टान्त इति चेन्न। श्रोत्रस्य नाभसत्वासंभवात्। तथा हि। श्रोत्रं नाभसं न भवति बाह्येन्द्रियत्वात् चक्षुर्वत् ज्ञानोत्पत्तौ करणत्वात् मनोवत्। नभोऽपीन्द्रियप्रकृति न भवति विभुत्वात् अनणुत्वे सति नित्यत्वात् तथा निरवयवद्रव्यत्वात्, तथैवाखण्डत्वात्, द्रव्यानारम्भकद्रव्यत्वात् कालवदिति श्रोत्रस्य नाभसत्वासिद्धेः । तथा च नाभसं श्रोत्रं रसादीनां मध्ये शब्दस्यैवाभिव्यञ्जकत्वात् शंखादीनां शुषिर[3]वदित्याद्यनुमानं निरस्तम्। कुतः भेरीकोणसंयोगादिना हेतो-

---

६७. इन्द्रियस्वरूपका विचार—वैशेपिक मत में मन को अणु आकार का, स्पर्श आदि से रहित तथा सक्रिय माना है। किन्तु यह मत योग्य नही। मन चक्षु आदि के समान ज्ञान का साधन है, तथा आत्मा के समान ज्ञान का असमवायी आश्रय है अतः वह अणु आकार का नही हो सकता। मन वस्त्र आदि के समान असर्वगत द्रव्य है तथा कान के समान ज्ञान का साधन है अतः वह स्पर्शरहित नही है। न्याय मत में कर्ण-इन्द्रिय को आकाशनिर्मित अतएव स्पर्शरहित माना है। किन्तु यह मत उचित नही। कर्णइन्द्रिय भी चक्षु के समान एक इन्द्रिय है तथा ज्ञान का साधन है अतः वह आकाशनिर्मित नही हो सकता। इसी तरह आकाश व्यापक है, परमाणु से भिन्न है, नित्य निरवयव द्रव्य है, अखण्ड है, किसी द्रव्य का आरम्भ उस से नही होता, अतः कर्णेन्द्रिय आकाश से निर्मित हो यह संभव नही। रस, रूप आदि गुणों में सिर्फ शब्द की अभिव्यक्ति कान द्वारा होती है अतः शंखके छिद्रके समान कान को आकाशनिर्मित मानना गलत है—

---

१ नैयायिकादिभिः। २ नभसः सबन्धि। ३ छिद्रवत्।

र्व्यभिचारात्। तस्य रूपादीनां मध्ये शब्दस्यैवाभिव्यञ्जकत्वेऽपि नाभसत्वाभावात्। तथा वायवीयं स्पर्शनं रूपादीनां मध्ये स्पर्शस्यैवाभिव्यञ्जकत्वात् जलशैत्याभिव्यञ्जकव्यजनवायुवत् इत्यनुमानमप्यसत्। एलालवङ्गकर्पूरश्रीखण्डादिभिर्हेतोर्व्यभिचारात्। तेषां जलशैत्याभिव्यञ्जकत्वेऽपि वायवीयत्वाभावात्। कुतः तेषां पार्थिवत्वात्। पार्थिवं घ्राणं रूपादीनां मध्ये गन्धस्यैवाभिव्यञ्जकत्वात् कुंकुमगन्धाभिव्यञ्जकघृतवदित्यनुमानमप्यसमञ्जसम्। पाण्डुमृत्पिण्डशुष्कचर्मादिष्वभिषिक्तजलादेः तत्र गन्धस्यैवाभिव्यञ्जकत्वेऽपि पार्थिवत्वाभावात् तेन हेतोर्व्यभिचारः अनुलिप्तमृगस्वेदादिगन्धाभिव्यञ्जकशरीरोष्मणा व्यभिचाराच्च। तथा आप्यं रसनं रूपादीनां मध्ये रसस्यैवाभिव्यञ्जकत्वात् लालादिवदित्यनुमानमप्ययुक्तम्। भोज्यवस्तुषु सकलरसाभिव्यञ्जकलवणेन हेतोर्व्यभिचारात्। ननु लवणमाप्यम् अप्सु जातत्वात् करकादिवदिति लवणस्य आप्यत्वसिद्धेः हेतोर्न व्यभिचार इति चेन्न। लवणस्य आप्यत्वसिद्ध्यर्थं प्रयुक्तस्य हेतोः शंखशुक्त्यादिभिर्व्यभिचारात्। तेषामप्सु जातत्वेऽपि आप्यत्वाभावात्। लवणमाप्यं न भवति मधुररसरहितत्वात् हरीतकीवत्, लवणरसोपे-

भेरी और कोण का संयोग भी सिर्फ शब्द को व्यक्त करता है किन्तु वह आकाशनिर्मित नही है। इसी प्रकार सिर्फ स्पर्श को अभिव्यक्त करने से स्पर्शनेन्द्रिय को वायुनिर्मित मानना गलत है। इलायची, लौंग, कपूर आदि से जल का शीतस्पर्श व्यक्त होता है किन्तु ये पदार्थ वायुनिर्मित नही हैं। घ्राण इन्द्रिय से सिर्फ गन्ध की अभिव्यक्ति होती है अतः यह इन्द्रिय पृथ्वीनिर्मित है, केशर के गन्ध को व्यक्त करनेवाला घी पार्थिव होता है, यह कथन भी गलत है। सफेद मिट्टी अथवा सूखे चमडे पर पानी छिडकने से भी गन्ध व्यक्त होता है किन्तु पानी पृथ्वीनिर्मित नही है। इसी प्रकार शरीर की उष्णता से कस्तूरी आदि का गन्ध व्यक्त होता है किन्तु उष्णता पार्थिव नही होती। रसनेन्द्रिय रस को अभिव्यक्त करता है अतः लार आदि के समान वह जलनिर्मित है यह कथन भी ठीक नही। भोजन के पदार्थों में नमक सब रसों को व्यक्त करता है किन्तु वह जलनिर्मित नही है। नमक पानी से मिलता है अतः ओला आदि के समान वह जलनिर्मित है यह कथन भी ठीक नही। शंख, सीप आदि भी पानी से मिलते हैं किन्तु वे जलनिर्मित नही होते। नमक जलनिर्मित नही है

तत्वात् स्नुहीपत्रवत्, चूर्णीकर्तुं शक्यत्वात् लोष्टादिवदिति प्रमाणाल्लवणस्य आप्यत्वनिषेधात्। क्षारजलादिरसाभिव्यञ्जकपावकेन[1] हेतोर्व्यभिचाराच्च।

[६८. चक्षुषः प्राप्यकारित्वनिरासः।]

तथा तैजसं चक्षुः रूपादीनां मध्ये रूपस्यैवाभिव्यञ्जकत्वात् प्रदीपवदिति अनुमानमप्यसांप्रतम्। चक्षुर्गोलकदर्पणादिना हेतोर्व्यभिचारात्। तेषां रूपादीनां मध्ये रूपस्यैवाभिव्यञ्जकत्वेऽपि तैजसत्वाभावात्। तथा चक्षुषस्तैजसत्वाभावात् चक्षुः प्राप्तार्थप्रकाशकं तैजसत्वात् प्रदीपवदित्यसंभाव्यम्। चक्षुरिन्द्रियस्य प्रागुक्तानुमानेन तैजसत्वासिद्धेर्हेतोरसिद्धत्वात्। अथ चक्षुः संनिकृष्टार्थप्रकाशकम् इन्द्रियत्वात् त्वगिन्द्रियवदिति चक्षुषः प्राप्यकारित्वसिद्धिरिति चेन्न। काचकामलाद्युपहतचक्षुरिन्द्रियेण हेतोर्व्यभिचारात्। तस्य इन्द्रियत्वेऽपि असंनिकृष्टशुक्तिरजतप्रकाशकत्वात्। ननु चक्षुः संनिकृष्टार्थे प्रमितिं जनयति इन्द्रियत्वात् स्पर्शनेन्द्रियवदिति चेन्न। हेतोः पूर्ववद् व्यभिचारात्। कथम्। गोलकादीनामिन्द्रियत्वेऽपि संनिकृष्टार्थे प्रमितिजनकत्वाभावात्। कालात्ययापदिष्टत्वाच्च। कुतः चक्षुरिन्द्रियस्य घटपटादिपदार्थैः सह संनिकर्षाभावस्य प्रत्यक्षेण निश्चितत्वात्।

क्यों कि जल जैसी मधुर रुचि उस में नही होती, क्षाररुचि होती है, तथा उसे पीसा जा सकता है। नमक रस को व्यक्त करता है किन्तु जलनिर्मित नही है। उष्णता से खारे पानी का खारापन व्यक्त होता है किन्तु उष्णता जलनिर्मित नही है। अतः रसनेन्द्रिय को भी जलनिर्मित कहना अनुचित है।

६८. चक्षु के प्राप्यकारित्वका निषेध—चक्षु इन्द्रिय रूप की अभिव्यक्ति करता है अतः प्रदीप आदि के समान चक्षु भी तैजस तेजोनिर्मित है यह कथन भी ठीक नही। चक्षुगोलक तथा आईना भी रूप को व्यक्त करते हैं किन्तु वे तैजस नही होते। चक्षु तैजस नही है अतः वह प्राप्त पदार्थ को ही जानती है यह नियम भी नही है। त्वचा के समान चक्षु भी इन्द्रिय है अतः वह प्राप्त पदार्थ को ही जानती है यह अनुमान ठीक नही। काच, कामला आदि दोषों से दूषित चक्षु

१ क्षारजलादौ क्षारजलस्य प्राकट्यं पावकेन विशेषेण भवति।

अथ मतं–तेजोरूपा नयनरश्मयः अधिष्ठानभूताद् गोलकान्निर्गत्य धत्तूरकुसुमाकारेणोत्तरोत्तरं प्रसर्पन्तः पुरोऽवस्थितद्रव्येषु संयोगसंबन्धेन संबद्धाः सन्तो ज्ञानं जनयन्ति। तद्द्रव्यसमवेतगुणकर्मसामान्येषु संयुक्तसमवायेन संबन्धेन संबद्धाः सन्तो ज्ञानं जनयन्ति। गुणकर्मसमवेतसामान्येषु संयुक्तसमवेतसमवायसंबन्धेन संबद्धाः सन्तः संवित्तिं जनयन्ति। तथा नाभसं श्रोत्रमपि स्वस्मिन् समवेतशब्देषु समवायसंबन्धेन संबद्धं सद् विज्ञानं जनयति। शब्दसमवेतसामान्येषु समवेतसमवायसंबन्धेन संबद्धं सत् संवित्तिं जनयति। एवमिन्द्रियैः पञ्चविधसंबन्धेन संबद्धपदार्थानां विशेषणविशेष्यत्वेन प्रवर्तमानयोर्दृश्याभावसमवाययोः[1] संबद्धविशेषणविशेष्यभावसंबन्धेन संबद्धाः सन्तः[2] संवेदनं जनयन्तीतीन्द्रियाणामतीन्द्रियत्वेन[3] सर्वेषां संमतत्वात् कथं चक्षुरिन्द्रियस्य घटपटादिपदार्थैः सह संनिकर्षाभावः प्रत्यक्षेण निश्चीयत इति।

द्वारा सीप के स्थान मे रजत का ज्ञान होता है–यहा रजत और चक्षुका सम्बन्ध न होने पर भी ज्ञान होता है। चक्षु के गोलक से सटे हुए पदार्थ को वह नही जान पाता –अतः चक्षु प्राप्यकारी नही है। घट, पट आदि पदार्थों से चक्षु का सपर्क नही होता यह बात प्रत्यक्षसिद्ध है अतः चक्षु को प्राप्यकारी मानना गलत है। न्याय मत का कथन है कि चक्षु के गोलक से तेजोरूप चक्षुकिरण निकलते हैं तथा वे उत्तरोत्तर धतूरे के फूल जैसे फैलते जाते हैं एवं सन्मुख स्थित पदार्थों से उन किरणों का संबन्ध होने पर ज्ञान होता है। इन किरणों का द्रव्यों से तो संयोग सम्बन्ध होता है; द्रव्यों में समवेत गुण, कर्म तथा सामान्य से संयुक्त समवाय सम्बन्ध होता है ; गुण तथा कर्म में समवेत सामान्य से संयुक्त समवेत समवाय सम्बन्ध होता है। इसी प्रकार आकाशनिर्मित कर्णेन्द्रिय का शब्द से समवाय सम्बन्ध होता है तथा शब्दत्व सामान्य से समवेत समवाय सम्बन्ध होता है। इन पाच प्रकारोंसें सम्बद्ध पदार्थों के विशेषण विशेष्य रूप से दृश्याभाव तथा समवाय का ज्ञान होता है। इस प्रकार छह प्रकार का सम्बन्ध ही संनिकर्ष है। संनिकर्ष के विना इन्द्रियों से पदार्थों का ज्ञान नही होता।

१ घटरहितं भूतलमिति दृश्याभावः इह तन्तुषु पटसमवायः इति समवायः अयं तु विशेषणविशेष्यभावः संनिकर्षः षष्ठः। २ नयनरश्मयः। ३ इन्द्रियम् इन्द्रियं न जानाति अतः अतीन्द्रियम्।

तदेतत् सर्वं गगनेन्दीवरमकरन्दबिन्दुसंदोहव्यावर्णनमिवाभाति। तेषां नयनरश्मीनामधिष्ठानाद् बहिर्निर्गमनपदार्थप्रकाशनयोरसंभवात्। तथा हि। नयनरश्मयः अधिष्ठानान्न बहिर्निर्गच्छन्ति इन्द्रियत्वात् त्वगिन्द्रियवदिति प्रमाणात् तेषां बहिर्निर्गमनाभावो निश्चीयते। यदि बहिर्निर्गच्छेयुस्तर्हि चक्षुषा उपलभ्येरन्, न चोपलभ्यन्ते, तस्मान्न निर्गच्छन्ति। अथ तेषां बहिर्निर्गमनेऽपि अनुद्भूतरूपवत्त्वात् चक्षुषा नोपलभ्यन्त इति चेन्न। तेषामनुद्भूतरूपवत्त्वे अर्थप्रकाशकत्वानुपपत्तेः। कुतः। विमता रश्मयः अर्थप्रकाशका न भवन्ति अनुद्भूतरूपत्वात् उष्णोदकान्तर्गततेजोरश्मिवदिति प्रमाणसद्भावात्। किं च। चक्षुस्तैजसत्वे सिद्धे पश्चात् तद्रश्मीनां बहिर्निर्गमनमर्थसंयोगश्च परिकल्पयितुं शक्यते, न च तत्सिद्धिः कुतश्चिदपि संभवति। तैजसं चक्षुः रूपादीनां मध्ये रूपस्यैव प्रकाशकत्वात् प्रदीपवदिति तत्साधकानुमानस्य गोलकदर्पणादिभिः प्रागेव व्यभिचारप्रदर्शनेन निराकृतत्वात्। चक्षुस्तैजसं न भवति इन्द्रियत्वात् त्वगिन्द्रियवत्, ज्ञानोत्पत्तौ करणत्वात् मनोवदिति बाधकसद्भावाच्च। एतेन पटोऽयमिति चाक्षुषः प्रत्ययः इन्द्रियार्थसंयोगजः द्रव्यविषयत्वे सति बाह्येन्द्रियजत्वात् स्पर्शनपटप्रत्ययवदिति[1] तदनुमानमपि निरस्तम्। चक्षुरिन्द्रियार्थसंयोगाभावस्य प्रत्यक्षेण निश्चितत्वात्

न्यायमत का यह सब विवरण निराधार है। पहला दोष यह है कि चक्षुकिरण चक्षु को छोडकर पदार्थ तक जाये यह संभव नही क्यों कि त्वचा आदि कोई भी इन्द्रिय अपने स्थान को छोडकर बाहर नही जाता। यदि चक्षु किरण चक्षु से पदार्थ तक जाते तो दिखाई देते। ये किरण पदार्थ तक तो जाते हैं किन्तु उन का रूप अव्यक्त होता है अतः दिखाई नही देते यह कथन भी ठीक नही। यदि उन का रूप अव्यक्त हो तो उष्ण पानी मे स्थित अव्यक्त किरणों के समान ये किरण भी पदार्थ का ज्ञान नही करा सकते। दूसरा दोष यह है कि चक्षु तेजस नही है अतः उस से तेजोरूप चक्षुकिरण निकलना भी संभव नही है। चक्षु तैजस नही यह अभी स्पष्ट किया है। त्वचा से पट का ज्ञान इन्द्रिय और पदार्थ के संयोग से होता है उसी प्रकार चक्षु से होनेवाला ज्ञान भी इन्द्रिय-

१ यथा स्पर्शनेन्द्रियेण पटप्रत्ययः इन्द्रियार्थसंयोगजः।

तत् प्रत्ययस्येन्द्रियार्थसंयोगाभावोऽपि तेनैव निश्चित इति हेतोः कालात्ययापदिष्टत्वाविशेषात्। अथ चक्षुः संनिकृष्टेऽर्थे क्रियां जनयति बहिःकरणत्वात् कुठारवदिति चक्षुषः प्राप्यकारित्वसिद्धिरिति चेन्न। पूर्वोत्तर ..गशब्दादिभिर्हेतोर्व्यभिचारात्। कुतः तेषां बहिःकरणत्वेपि संनिकृष्टेऽर्थे क्रियाजनकत्वाभावात्। बहिर्विशेषणस्यानर्थक्येन व्यर्थविशेषणासिद्धत्वाच्च। ननु करणत्वादित्युक्ते मनसा हेतोर्व्यभिचारस्तन्निवृत्त्यर्थं बहिर्विशेषणमुपादीयत इति चेन्न। मनसोऽपि संनिकृष्टात्मादौ ज्ञप्तिक्रियाजनकत्वात् तेन करणत्वादित्येतावन्मात्रस्यापि व्यभिचाराभावात्। ननु चक्षुः प्राप्तार्थप्रकाशकं व्यवहितार्थाप्रकाशकत्वात् प्रदीपवदिति चेन्न। स्फटिककाचाभ्रकादिव्यवहितार्थप्रकाशकत्वदर्शनेन हेतोरसिद्धत्वात्। साधनविकलो दृष्टान्तश्च। तस्माच्चक्षुः प्राप्तार्थप्रकाशकं न भवति अधिष्ठानसंयुक्तार्थाप्रकाशकत्वात्, यत् प्राप्तार्थप्रकाशकं तदधिष्ठानयुक्तार्थप्रकाशकं यथा त्वगिन्द्रियमिति प्रतिपक्षसिद्धिः। अथासिद्धोऽयं हेतुरिति चेन्न। नयनस्य स्वसंयुक्तपित्तकाचकामलाञ्जनतृणादीनामप्रकाशकत्वेन तत्सिद्धेः। ततश्चक्षुरिन्द्रियं पुरोवस्थितद्रव्येषु संयोगसंबन्धेन संबद्धं तत्संवित्तिं जनयतीत्यसंभाव्यमेव।

और पदार्थ के संयोग से होता है यह कथन भी ठीक नही क्यों कि चक्षु और पट का संयोग नही होता यह प्रत्यक्ष से ही सिद्ध है। कुल्हाडी बाह्य साधन है, वह अपने लक्ष्य को प्राप्त कर के ही क्रिया करती है, उसी प्रकार चक्षु भी बाह्य साधन है अतः वह पदार्थ से संनिकर्ष होने पर ही क्रिया करती है यह अनुमान भी ठीक नही। (यहां एक वाक्य खण्डित प्रतीत होता है) इस अनुमान में 'बाह्य' साधन कहने का भी विशेष उपयोग नही है- सिर्फ साधन कहने से भी वही अर्थ व्यक्त होता। अन्तरंग साधन- अन्तःकरण का कार्य भी आत्मा से संनिकर्ष होने पर ही होता है यह न्यायमत कथन है। अतः बाह्य साधन ही संनिकर्ष से क्रिया करते है यह संभव नही। चक्षु और पदार्थ के बीच कोई व्यवधान हो तो चक्षु से पदार्थ का ज्ञान नही होता अतः चक्षु प्राप्त पदार्थ को ही जानती है-यह अनुमान भी ठीक नही। चक्षु और पदार्थ के बीच काच स्फटिक, अभ्रक आदि के होने पर भी चक्षु पदार्थ को जान सकती है अतः उक्त कथन सदोष है। यदि चक्षु प्राप्त पदार्थ को जानती तो

तस्य द्रव्यसंयोगाभावे च संयुक्तसमवायेन द्रव्यगतगुणकर्मसामान्यानां संयुक्तसमवेतसमवायेन गुणकर्मगतसामान्यानां च प्रकाशनं न जाघटयते। तथा श्रोत्रस्य नाभसत्वाभावात् शब्दस्य च आकाशगुणत्वाभावात् समवायसंबन्धेन श्रोत्रं शब्देपु समवेतसमवायसंबन्धेन शब्दगतसामान्येपु संवित्तिं जनयतीत्यसंभाव्यमेव। समवायसंबन्धस्य स्वरूपलक्षणप्रवृत्त्यनुपपत्त्या प्रागेव प्रमाणतो निराकृतत्वाच्च।

[६९. सनिकर्पस्वरूपनिपेधः ।]

यदप्यवोचत्-पञ्चविधसंबन्धेन संबद्धार्थानां विशेषणविशेष्यत्वेन प्रवर्तमानदृश्याभावसमवाययोः संबद्धविशेषणविशेष्यभावसंबन्धेन संबद्धाः सन्तः नयनरश्मयः संवेदनं जनयन्तीत्यादि तदप्यनुचितम्। दृश्याभावसमवाययोर्द्रव्यादिभिः सह संयोगसमवायसंबन्धरहितत्वेन विशेषणविशेष्यभावानुपपत्तेः। ननु तयोः संबन्धरहितत्वेऽपि विशेषणविशेष्यभावो जाघटीतीति चेन्न। संयोगसंबन्धेन संयुक्तस्यैव दण्डादेः समवायसंब-

चक्षु से सटे हुए पदार्थ को भी जान पाती, किन्तु ऐसा होता नही है—चक्षु गोलपर लगाये गये काजल आदि का चक्षु से ज्ञान नही होता। अतः चक्षु का द्रव्य से संयोग सम्बन्ध होता है आदि कथन ठीक नही। तथा समवाय सम्बन्ध के अस्तित्व का पहले निरसन किया है उस से संयुक्त समवाय आदि सम्बन्ध भी निराधार सिद्ध होते हैं। कर्णेन्द्रिय आकाशनिर्मित नही है अतः शब्द का समवाय सम्बन्ध से ज्ञान होता है यह कथन भी ठीक नही है।

६९. संनिकर्ष स्वरूपका निषेध—पाच प्रकारों से सम्बद्ध पदार्थों के विशेषण—विशेष्य रूप से दृश्याभाव तथा समवाय होते हैं उन का ज्ञान विशेषण—विशेष्यभाव सम्बन्ध से होता है यह कथन भी अनुचित है। दृश्याभाव तथा समवाय का द्रव्यों से संयोग या समवाय सम्बन्ध नही होता अतः उन का द्रव्यों से विशेषण-विशेष्य भाव होना संभव नही है। दण्ड आदि के संयोगसे अथवा रूप आदि के समवाय से ही दण्डवान्, रूपवान आदि विशेषणविशेष्य सम्बन्ध बतलाया जा सकता है। गोमान् धनवान् आदि उदाहरणों में गायों का अथवा धन का कोई सम्बन्ध न होने पर भी विशेषणविशेष्यभाव होता है यह कथन

न्धेन संबद्धस्यैव रूपादेः पुरुषादिपटादिविशेषणत्वदर्शनात्[1]। अथ गोमान् धनवानित्यादिषु गोधनादीनां संबन्धरहितानामपि विशेषणत्वं दृश्यत इति चेत् तर्हि तवैव तत्र विशेषणविशेष्यभावो दुर्घटः स्यात्।

विशेषणं विशेष्यं च संबन्धं लौकिकीं स्थितिम्।
गृहीत्वा संकलय्यै[2]तत् तथा प्रत्येति नान्यथा ॥ [प्रमाणवार्तिक ३-१४५]

इति स्वयमेवाभिधानात्। तस्मात् षोढासंनिकर्षकल्पनं खपुष्पपरिकल्पनमिव प्रतिभासते विचारासहत्वात्। तथा स्पर्शनं वायवीयं न भवति इन्द्रियत्वात् दुःखित्वात् चक्षुर्वत्, ज्ञानकरणत्वात् मनोवदिति च। तथा घ्राणं पार्थिवं न भवति इन्द्रियत्वात् चक्षुर्वत् ज्ञानकरणत्वात् मनोवदिति च। तथा रसनमाप्यं न भवति इन्द्रियत्वात् चक्षुर्वत् ज्ञानकरणत्वात् मनोवदिति च। तथा श्रोत्रं नाभसं न भवति इन्द्रियत्वात् चक्षुर्वत् ज्ञानकरणत्वात् मनोवदिति च सर्वेषां प्रतिपक्षसिद्धिः। तर्हि इन्द्रियाणां कुतो निष्पत्तिरिति चेत् तत्तदिन्द्रियावरणक्षयोपशमविशिष्टाङ्गोपाङ्गनामकर्मोदयादिति पुद्‌गलेभ्यस्तेषां निष्पत्तिरिति ब्रूमः। तस्मात् श्रोत्रेन्द्रियस्य नाभसत्वनिषेधेन पौद्‌गलिकत्वसमर्थनात् रूपादिमत्वसिद्धेः मनोद्रव्यं रूपादिमद् भवति ज्ञानकरणत्वात् श्रोत्रवदिति न साध्यविकलो दृष्टान्तः स्यात्। तथा च मनोद्रव्यस्य रूपादिमत्त्वेन पुद्‌गलत्वान्न भिन्नद्रव्यत्वम्।

संभव है। किन्तु यह वैशेषिक मत के ही अन्य कथन से विरूद्ध है। कहा भी है–‘ विशेषण, विशेष्य, सम्बन्ध तथा लौकिक स्थिति इन सबका ज्ञान तथा संकलन होनेपर ही वैसी प्रतीति होती है, अन्यथा नही। ’ अतः दृश्याभाव एवं समवाय का विशेषणविशेष्यभाव से सम्बन्ध होना सभव नही है। तात्पर्य, संयोग आदि छह प्रकारों से इन्द्रिय और पदार्थों के संनिकर्ष की कल्पना निराधार सिद्ध होती है। स्पर्शन आदि इन्द्रिय ज्ञान के साधन हैं, दुखःरूप हैं तथा इन्द्रिय हैं अतः मन के समान ये सब भी पृथ्वी आदि से उत्पन्न नही हो सकते। तब इन इन्द्रियों की उत्पत्ति कैसे होती है यह प्रश्न हो सकता है। उत्तर है–इन्द्रियों के ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से तथा अगोपाग नामकर्म के उदय से पुद्‌गलों से ये इन्द्रिय बनते हैं। कर्णन्द्रिय आकाशनिर्मित नही है, पुद्‌गलनिर्मित है, उसी प्रकार मन भी पुद्‌गलनिर्मित है–स्पर्शरहित द्रव्य नही है।

१ यथा पुरुषः दण्डी पटः रूपवान् इत्यादि। २ संकलनं कृत्वा।

[७०. दिग्द्रव्यनिषेधः।]

तथा दिग्द्रव्यमप्याकाशादतिरिक्तं न जाघटयते। सूर्योदयास्तमयादीनुपलक्ष्य आकाशे एव पूर्वपश्चिमदक्षिणोत्तरादिदिग्व्यपदेशव्यवहारप्रवृत्तेः। आकाशव्यतिरिक्तान्यदिग्द्रव्यप्रसाधकप्रमाणाभावात्। अथ आशाः ककुभः काष्ठा इत्याद्यभिधानानि विद्यमानाभिधेयवाचकानि अभिधानत्वात् भूम्याद्यभिधानवदिति दिग्द्रव्यसद्भावप्रसाधकप्रमाणमिति चेन्न। जगदुत्पादिका प्रकृतिः प्रधानं बहुधानकमित्याद्यभिधानैर्हेतोर्व्यभिचारात्। तेषामभिधानत्वेऽपि विद्यमानाभिधेयवाचकत्वाभावात्। भावे वा पदार्थानामियत्तावधारणानुपपत्तेः षडेव पदार्था इत्यसंभाव्यमेव स्यात्। किं च। अभिधानमस्तीत्यभिधेयसद्भावकल्पनायां पूर्वपश्चिमदक्षिणोत्तरादिदशप्रकाराभिधानसद्भावात् दश दिग्द्रव्याणि प्रसज्येरन्। तथैवास्तीति चेन्न। नवैव द्रव्याणीति संख्याव्याघातप्रसंगात्। दिग्द्रव्यस्य एकत्वसंख्याव्याख्यानविरोधाच्च। अथ दिग्द्रव्यस्यैकत्वेऽपि उदयास्तपर्वतादिभेदेन पूर्वपश्चिमाद्यभिधानभेदः प्रवर्तत इति चेत् तर्हि तथा एकस्यै-

---

७०. **दिग्द्रव्यका निषेध**—वैशेषिक मत मे दिशा को पृथक द्रव्य माना है। किन्तु यह आकाश द्रव्य से भिन्न नही है। सूर्य के उदय या अस्त के सम्बन्ध से आकाश के ही भिन्न भिन्न भागों को पूर्व पश्चिम आदि नाम दिये जाते हैं। अतः दिशा स्वतन्त्र द्रव्य नही है। आकाश वाचक शब्दों से भिन्न शब्दों—आशा, ककुभ, काष्ठा आदि के प्रयोग से दिशा द्रव्य का अस्तित्व सिद्ध करना उचित नही। प्रकृति, प्रधान आदि शब्दों का भी (सांख्यों द्वारा) प्रयोग होता है किन्तु इतने से उन तत्त्वों का अस्तित्व सिद्ध नही होता। यदि प्रत्येक शब्द के प्रयोग से स्वतन्त्र तत्त्व का अस्तित्व सिद्ध करें तब तो तत्त्व असंख्य होंगे फिर पदार्थ छह है इस प्रकार गणना करना संभव नही होगा। दूसरे, दिशा शब्द के समान पूर्व, पश्चिम आदि शब्दों का भी प्रयोग होता है। तो क्या इन सब को पृथक द्रव्य मानना होगा? यदि ऐसा माने तो द्रव्य नौ हैं यह कहना संभव नही है। तथा दिशा द्रव्य एक है यह कथन भी गलत सिद्ध होगा। दिशा द्रव्य तो एक है किन्तु सूर्योदय आदि की अपेक्षा से पूर्व, पश्चिम आदि भेद होते हैं यह कथन

चाकाशद्रव्यस्य उदयास्तपर्वताद्युपाधिभेदेन पूर्वपश्चिमाद्याभिधानप्रवृत्तौ किं न जाघट्यते येन दिग्द्रव्यं परिकल्प्येत।

ननु दिग्द्रव्यसद्भावे मानसप्रत्यक्षं प्रमाणं तेन निश्चितत्वात् परिकल्प्यत इति व्योमशिवः[1] प्रत्याचष्टे। सोऽप्यतत्त्वज्ञ एव। बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नतद्विशिष्टात्मव्यतिरिक्तपदार्थानां[2] मानसप्रत्यक्षत्वाभावात्। ननु स्वप्ने बुद्ध्यादिपदार्थातिरिक्तानामपि[3] मानसप्रत्यक्षत्वं दृश्यत इति चेत् तदस्त्येव दोषोपहतेन्द्रियान्तःकरणैरुत्पन्नमिथ्याज्ञानेन अविद्यमानपदार्थानामपि प्रत्यक्षत्वम्। तथा चोक्तम्–

कामशोकभयोन्मादचोरस्वप्नाद्युपप्लुताः[4]।
अभूतानपि पश्यन्ति पुरतोऽवस्थितानिव ॥

[प्रमाणवार्तिक ३-२८३]

इत्यसत्यानां दोषदूषितेन्द्रियान्तःकरणैः प्रत्यक्षत्वं विद्यत इव केशोण्डुकादिवत्। सत्यानां मध्ये बुद्ध्यादीनामेव मानसप्रत्यक्षत्वं नान्येषामिति

उचित नही। यदि पूर्व-पश्चिम आदि भेद सूर्योदय की अपेक्षा से ही हैं तो वे आकाश के ही भेद मानने मे क्या हानि है ?

मानस प्रत्यक्ष से दिशा द्रव्य का अस्तित्व निश्चित होता है–यह व्योमशिव आचार्य का कथन है। किन्तु यह उचित नही। मानस प्रत्यक्ष से आत्मा और उस के विशेष गुणों-बुद्धि आदि का ही ज्ञान होता है, दिशा आदि का नही। स्वप्न में आत्मा और बुद्धि आदि से भिन्न पदार्थों का भी मानस प्रत्यक्ष से ज्ञान होता है किन्तु यह ज्ञान मिथ्या होता है। सदोष इन्द्रिय और अन्तःकरण से उन पदार्थों का, भी ज्ञान होना है जो विद्यमान नही होते- यह मिथ्या ज्ञान होता है। कहा भी है 'काम, शोक, भय, उन्माद, चोर, स्वप्न आदि के कारण दूषित होने पर जो नही है वे पदार्थ भी सामने रखे से दिखाई देते है।' किन्तु मानस प्रत्यक्ष से जो सत्य ज्ञान होता है वह आत्मा और उस के गुणों का ही होता है। सिर्फ अपने ग्रन्थों मे किसी शब्द को सुनने से उस प्रकार के पदार्थ का मानस प्रत्यक्ष मानें तब तो 'यह वन्ध्या का पुत्र खरगोश

१ आचार्यः। २ बुद्ध्यादयः षड् मानसप्रत्यक्षाः तथा बुद्ध्यादिविशिष्ट आत्मा च मानसप्रत्यक्षः। ३ हस्त्यादीनाम्। ४ बाधिताः।

निश्चीयते। स्वशास्त्रशब्दश्रवणसंस्कारात् संकल्पमात्रेण तस्य मानसप्रत्यक्षत्वे

एष वन्ध्यासुतो याति शशशृङ्गधनुर्धरः।
मृगतृष्णाम्भसि स्नात्वा खपुष्पकृतशेखरः॥

इत्यादिशब्दश्रवणसंस्काराद् वन्ध्यासुतादयोऽपि मानसप्रत्यक्षगोचरत्वेन सत्यभूताः स्युरविशेषात्। अथ तद्वाक्यस्य बाधितविषयत्वेन तत्संस्कारजस्य मानसप्रत्यक्षस्य मिथ्याज्ञानत्वमिति चेत् तर्हि दिगभिधानश्रवणसंस्कारजस्य मानसप्रत्यक्षस्यापि मिथ्याज्ञानत्वं कुतो न स्यात्। तत्रापि निर्विषयत्वाविशेषात्। तस्माद् दिग्द्रव्यग्राहकप्रमाणाभावादाकाशातिरिक्तं दिग्द्रव्यं नास्तीति निश्चीयते।

[७१. वैशेषिकसमतपदार्थविचारोपसहारः।]

तथा 'नित्यद्रव्यवृत्तयोऽन्त्या विशेषाः' (प्रशस्तपादभाष्य पृ. ५५) इत्येतदपि न जाघटयते। द्रव्यगुणक्रियाव्यक्तिव्यतिरेकेणापरविशेषाणामनुपलब्धेः तत्साधकप्रमाणाभावात् तेषामप्यभाव एव। तथा उत्क्षेपणावक्षेपणाकुञ्चनप्रसारणगमनमिति पञ्चैव कर्माणीत्ययुक्तम्। चलनभ्रमणादीनामन्येषामपि कर्मणां सद्भावात्। अथ तेषां तत्रैवान्तर्भाव इति चेत् तर्हि सर्वेषां कर्मणां चलनात्मके कर्मण्यन्तर्भावो विभाव्यत इति एक एव कर्मपदार्थः स्यान्न पञ्च कर्माणि।

के सींग का धनुप ले कर, मृगजल मे नहा कर, तथा आकाश का फूल सिर पर रख कर जा रहा है' आदि कथन भी 'मानस प्रत्यक्ष से निश्चित' होगा। अत: मानस प्रत्यक्ष से दिशा का अस्तित्व मानना भी निराधार है।

७१ वैशेषिकोंके पदार्थोंका विचार –'जो नित्य द्रव्यों में रहते है वे अन्तिम विशेप होते है' यह वैशेपिक मत का कथन भी उचित नही। द्रव्य, गुण तथा क्रिया इन की व्यक्तियों से भिन्न विशेप नामक किसी पदार्थ का अस्तित्व प्रमाण से सिद्ध नही होता। उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुचन, प्रसारण तथा गमन ये पाच प्रकार के कर्म मानना भी अनुचित है–इन से भिन्न चलना आदि क्रियाएं भी होती हैं। चलने आदि का उक्त पाच कर्मों मे अन्तर्भाव होता है–यह समाधान भी पर्याप्त नहीं। वैसे उत्क्षेपण आदि का अन्तर्भाव भी चलन इस एक कर्म मे ही हो सकता है। अतः कर्म-पदार्थ की गणना उचित नही है।

तस्माद् द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाः षडेव पदार्थाः, तत्र पृथिव्यप्तेजोवायुदिक्कालाकाशात्ममनांसीति नवैव द्रव्याणि, तत्रापि पृथिव्यामेव गन्धः, अप्स्वेव रसः, तेजस्येव रूपं, वायावेव स्पर्शः, द्रव्यत्व-गुरुत्वस्नेहत्वबुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मसंस्कारशब्दसंख्यापरि-माणसंयोगविभागपरत्वापरत्वपृथक्त्वमिति चतुर्विंशतिर्गुणाः, उत्क्षे-पणावक्षेपणाकुञ्चनप्रसारणगमनमिति पञ्चैव कर्माणि, परापरभेदेन[1] द्विविधं सामान्यं, नित्यद्रव्यवृत्तयोऽन्त्या विशेषाः, अवयवावयविप्रभृतीनां सबन्धः समवाय इति साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां षट्पदार्थानां याथात्म्यतत्त्व-ज्ञानं निःश्रेयसहेतुरिति कथनं यत् किंचिदेव स्यात् वैशेषिकोक्तप्रकारेण पदार्थानां याथात्म्यतत्त्वानुपपत्तेः। तदनुपपत्तौ साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां षट्-पदार्थयाथात्म्यतत्त्वज्ञानं निःश्रेयसहेतुरिति कथनं वन्ध्यास्तनन्धयसौरू-प्यव्यावर्णनमनुकरोति निर्विषयत्वात्।

[७२. वैशेषिकमते मुक्तिसंभवाभावः।]

अथ मतं- दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तद-नन्तराभावादपवर्गः इति। अत्र तत्त्वज्ञानान्मिथ्याज्ञानं निवर्तते, मिथ्या-

इस प्रकार वैशेषिक मत की पदार्थ व्यवस्था का–द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष तथा समवाय ये छह पदार्थ है; पृथिवी, अप, तेज, वायु, दिशा, काल, आकाश, आत्मा, मन ये नौ द्रव्य हैं, पृथ्वी मे गन्ध गुण है, अप मे रस गुण है, तेज मे रूप गुण है, वायु मे स्पर्श गुण है; द्रवत्व, गुरुत्व, स्नेहत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार, शब्द, संख्या, परिमाण, सयोग, विभाग, परत्वापरत्व, पृथक्त्व आदि चौवीस गुण है; उत्क्षेपण आदि पाच कर्म है; पर और अपर यह दो प्रकारका सामान्य है; नित्य द्रव्यों में रहनेवाले अन्तिम विशेष हैं, अवयव, अवयवी आदि का सम्बन्ध समवाय है-इस विवरण का यथोचित निरसन किया। अतः इन पदार्थों का ज्ञान यथार्थ ज्ञान नहीं है–उस से निःश्रेयस (मुक्ति) की प्राप्ति भी संभव नही है।

७२. वैशेषिकमतमे मुक्ति असंभव है—वैशेषिक मतमें मुक्ति की प्रक्रिया इस प्रकार बतलाई है–तत्त्वों का ज्ञान होने से मिथ्या ज्ञान

१ परं सत्ता अपरं द्रव्यत्वादि। २ दृष्टान्ताभ्याम्।

ज्ञाननिवृत्तौ तज्जन्येच्छाद्वेषरूपदोषनिवृत्तिः, तद्दोषनिवृत्तौ तज्जन्यकायवाङ्मनोव्यापाररूपप्रवृत्तिर्निवर्तते, तत् प्रवृत्तिनिवृत्तौ तज्जन्यपुण्यपापबन्धलक्षणजन्मनिवृत्तिरित्यागामिकर्मबन्धनिवृत्तिस्तत्त्वज्ञानादेव भवति। प्रागुपार्जिताशेषकर्मपरिक्षयस्तु भोगादेव नान्यथा। तथा चोक्तम्—

नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि।
अवश्यमनुभोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्॥

(उद्धृत–व्योमवतीटीका पृ. २०)

इति। तत्रापि।

कुर्वन्नात्मस्वरूपज्ञो भोगात् कर्मपरिक्षयम्।
युगकोटिसहस्रेण कश्चिदेव विमुच्यते॥

इत्यनेकभवेषु क्रमेण प्रागुपार्जिताशेषकर्मफलभोगः इत्येकः पक्षः।

आत्मनो वै शरीराणि बहूनि मनुजेश्वर।
प्राप्य योगबलं कुर्यात् तैश्च सर्वां महीं भजेत्॥
भुञ्जीत विषयान् कैश्चित् कैश्चिदुग्रं तपश्चरेत्।
संहरेच्च पुनस्तानि सूर्यस्तेजोगणानिव॥

(उद्धृत-न्यायसार पृ.१०)

दूर होता है; मिथ्या ज्ञान के नाश से इच्छा और द्वेष ये दोष दूर होते हैं; इच्छा और द्वेष के न रहने से शरीर, वाणी तथा मन की क्रिया न होने से पुण्य, पाप का बन्ध और तदाश्रित आगामी जन्म नही होता—इस तत्त्वज्ञान से आगामी कर्मों की निवृत्ति होती है। पूर्वार्जित कर्म की निवृत्ति उन के फल मिलने से ही होती है। कहा भी है– 'सैंकडों करोड कल्प काल बीतने पर भी कोई कर्म फल दिये विना निवृत्त नही होता; जो शुभ या अशुभ कर्म किया है उस का फल अवश्य ही भोगना पडता है, और भी कहा है–' आत्मा के स्वरूप को जानने पर भी पूर्वार्जित कर्मों का फल भोग कर उन की निवृत्ति करने में हजारों करोड युग बीतने पर कोई एक मुक्त होता है।' इस विषय में मतान्तर भी है। 'योगबल प्राप्त कर आत्मा के बहुतसे शरीर हो सकते हैं तथा उन शरीरों से सारी पृथ्वी का उपभोग लिया जा सकता है। कुछ शरीरों से विषयों का उपभोग होता है, कुछ से उग्र तप होता है तथा अन्तमे जैसे सूर्य अपने किरणों को समेटता

इत्येकस्मिन्नेव भवे प्रागुपार्जिताशेषशुभाशुभकर्मफलभोग इत्यपरः पक्षः । ततश्च भोगात् प्रागुपार्जिताशेषकर्मपरिक्षय एकविंशतिभेदभिन्नदुःखनिवृत्तिरिति । तानि दुःखानि कानि इत्युक्ते वक्ति

संसर्गः सुखदुःखे च तथार्थेन्द्रियबुद्धयः ।
प्रत्येकं षड्विधाश्चेति दुःखसंख्यैकविंशतिः ॥

इति सकलपुण्यपापपरिक्षयात् तत्पूर्वकबुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नसंस्काराणामपि परिक्षय आत्मनः कैवल्यं मोक्ष इति असौ वैशेषिकः प्रत्यवातिष्ठिपत् ।

सोऽप्यतत्त्वज्ञ एव। कुतः। तथा देवार्चनातपोनुष्ठानविशिष्टध्यानादीनां मुमुक्षुभिरकरणप्रसंगात्। कुतः। तत्त्वज्ञानादागामिकर्मबन्धाभावे भोगात् प्रागुपार्जितकर्माभावे स्वयमेव मोक्षप्राप्तिसंभवात् । तदुक्तपदार्थानामसत्यत्वेन तद्विषयज्ञानस्य मिथ्याज्ञानत्वात् तत्त्वज्ञानानुपपत्तेश्च । तथा तन्मते तत्त्वज्ञानानुपपत्तौ तत्त्वज्ञानात् मिथ्याज्ञानं निवर्तते, मिथ्याज्ञाननिवृत्तौ तज्जन्येच्छाद्वेषरूपदोषनिवृत्तिः, तन्निवृत्तौ तज्जन्यकायवाङ्मनोव्यापाररूपप्रवृत्तिनिवृत्तिः, तत्प्रवृत्तिनिवृत्तौ तज्जन्यपुण्यपापबन्धलक्षणजन्मनिवृत्तिरित्यागामिकर्मबन्धनिवृत्तिस्तत्त्वज्ञानादेव भवतीत्येतत् तेषामसंभाव्यमेव तेषां मते पदार्थयाथात्म्यतत्त्वज्ञानानुपपत्तेः। कुतः। तच्छास्त्रप्रतिपादितपदार्थानां प्रमाणबाधितत्वेन सत्यत्वाभावात् ।

है वैसे इन शरीरों को भी समेट लिया जाता है' इस प्रकार एक जन्म में भी पूर्वार्जित कर्मों के फल भोगे जाते हैं। कर्मों की निवृत्ति होने पर सब दुःख दूर होते है । संसर्ग, सुख, दुःख, छह इन्द्रिय, उन के छह विषय तथा उन की छह बुद्धिया इस प्रकार दुःख इक्कीस प्रकार के हैं ।

इन सब के दूर होनेपर पुण्य पाप नही रहते तथा बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न एवं संस्कार का भी लोप होता है –इन सब से मुक्त ऐसे केवल आत्मा का स्वरूप ही मोक्ष है।

वैशेषिक मत की यह सब प्रक्रिया उचित नही । यदि आगामी कर्म तत्त्वज्ञान से निवृत्त होते है और पुराने कर्म फल भोगने से निवृत्त होते है तो देवपूजा, तप, ध्यान आदि का क्या उपयोग है? दूसरे, वैशेषिकों का पदार्थवर्णन ही यथार्थ नही है—तत्त्वज्ञान नही है, तब उस से मिथ्या ज्ञान दूर होना, इच्छा और द्वेष दूर होना आदि कैसे संभव होगा?

यदप्यन्यदवादीत् प्रागुपार्जिताशेषशुभाशुभकर्मणां परिक्षयस्तु भोगादेव नान्यथेति-तदप्यतत्त्वज्ञभाषितम्। ध्यानोत्कर्षान्निर्वाताचलप्रदीपावस्थानमिव चित्तस्य शुद्धात्मतत्त्वे अवस्थानं समाधिः इत्येवंविधसमाधेः सकाशात् प्रागुपार्जिताशेषकर्मपरिक्षयस्य सद्भावात्। अथ क्रमभाविनानाभवेषु एकस्मिन् भवे वा सकलकर्मणां फलभोगादेव परिक्षयो नान्यथेति नियमश्चेत् तर्हि कदाचित् कस्यचिदपि मोक्षो न स्यात्। कुत इति चेत् स्वात्मनि वर्तमानसुखदुःखसाक्षात्कारो भोगः स च इष्टानिष्टषट्प्रकारविषयानुभवादेव भवति। स विषयानुभवोऽपि कायवाङ्मनोव्यापारादेव भवति। सोऽपि व्यापार इच्छाद्वेषाभ्यां प्रवृत्तप्रयत्नाद् भवति। तत् कथमिति चेत्-

प्रयत्नादात्मनो वायुरिच्छाद्वेषप्रवर्तनात्।
वायोः शरीरयन्त्राणि वर्तन्ते स्वेषु कर्मसु ॥

(समाधितन्त्र १०३)

इति वचनात्। विवक्षाजनितप्रयत्नप्रेरितकोष्ठ्यवायुना कण्ठादिस्थाने अभिघात उच्चारणम् इति वचनात्। सुस्मूर्षाजनितप्रयत्नप्रेरितमनोद्रव्यसंस्कारसहितात्मनः प्रागनुभूतार्थे ज्ञानं चिन्ता इति वचनाच्च। कायवाङ्मनोव्यापारः इच्छाद्वेषाभ्यां विना न भवति। तौ च इच्छाद्वेषौ मिथ्याज्ञानमन्तरेण न भवतः इति मिथ्याज्ञानसद्भावो निश्चीयते, ततश्च तत्त्वज्ञानाभावोऽपि निश्चित एव स्यात्। तथा च उत्तरोत्तरकर्मबन्धप्रवाहो

पूर्वार्जित कर्मों का क्षय फल भोगने से ही होता है यह कथन भी ठीक नही। ध्यान के उत्कर्ष से निश्चल दीपकके समान निश्चल चित्त की शुद्ध आत्मा के विषय में जो स्थिरता होती है उस से-समाधि से पूर्वार्जित कर्मों का क्षय होता है। यदि भोग से ही कर्मों का क्षय माने तो किसी को मोक्ष प्राप्त नही हो सकेगा। आत्मा को सुख-दुःख का अनुभव होना ही भोग है- वह इष्ट, अनिष्ट विषयों से ही प्राप्त होता है। विषयों का अनुभव शरीर, वाणी तथा मन के कार्य के विना नही होता। ये कार्य इच्छा और ~ से प्रेरित प्रयत्न के विना नही होते। कहा भी है- 'इच्छा और द्वेष की प्रेरणा से आत्मा का प्रयत्न होता है-उस से वायु प्रवृत्त होता है है तथा वायु के द्वारा शरीर के अवयव अपने कार्यों में प्रवृत्त होते हैं।' इसी प्रकार वाणी का कार्य-शब्द का उच्चारण भी तभी

अनिवार्यो वोभूयते। तस्माद् भोगात् प्रागुपार्जिताशेषकर्मपरिक्षयाङ्गीकारे तत्कर्मफलभोगावसरे इच्छाद्वेषप्रयत्नैः कायवाङ्मनोव्यापारसद्भावात् अभिनवकर्मवन्धप्रवाहो दुरुत्तरः स्यात् इति कदाचित् कस्यापि तन्मते मोक्षो नास्तीति निश्चीयते। तस्मान्मोक्षाकांक्षिणां परीक्षकाणां वैशेषिकपक्ष उपेक्षणीय एव स्यात् नोपादेय इति स्थितम्।

[७३. न्यायदर्शनविचारे प्रत्यक्षलक्षणपरीक्षा।]

अथ मतं 'प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वाभासछलजातिनिग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः' (न्यायसूत्र १-१-१), इति नैयायिकपक्षो मुमुक्षूणामुपादेय इति-तदयुक्तम्। तदुक्तप्रकारेण षोडशपदार्थानां याथात्म्यासंभवात्। तथा हि। प्रमाणं नाम किमुच्यते। अथ सम्यगनुभवसाधनं प्रमाणम् (न्यायसार पृ. १) तत्र सम्यग्ग्रहणं संशयविपर्ययव्यवच्छेदार्थम्। अनुभवग्रहणं स्मरणनिवृत्त्यर्थम्। साधनग्रहणं प्रमातृप्रमेययोर्व्यवच्छेदार्थम्[1]। प्रकर्षेण

होता है जब बोलने की इच्छा से वायु को प्रेरित कर कण्ठ में लाया जाता है। तथा मन का कार्य-विचार तभी होता है जब स्मरण की इच्छा से मन तथा संस्कारों के साथ आत्मा जाने हुए पदार्थों का स्मरण करता है। तात्पर्य-सब कार्य इच्छा और द्वेष के बिना नही हो सकते। इच्छा और द्वेष तभी होते हैं जब मिथ्याज्ञान विद्यमान हो-तत्त्वज्ञान न हो। तात्पर्य यह हुआ कि कर्मों का फल भोग तभी संभव है जब मिथ्याज्ञान विद्यमान होता है। अतः उस से उत्तरोत्तर नये कर्मोका वन्ध होता रहेगा यह भी स्पष्ट है। अतः सिर्फ फलभोग से ही कर्मों का क्षय होता हो तो कर्मवन्ध की परम्परा कभी खण्डित नही होगी-मोक्ष प्राप्त होना संभव नही होगा। अतः मोक्ष के लिए वैशेषिक पक्ष का अनुसरण उपयोगी नही है यह स्पष्ट हुआ।

७३. न्यायदर्शन का प्रत्यक्ष लक्षण—न्यायदर्शन का प्रथम मन्तव्य है कि 'प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति, निग्रहस्थान इन पदार्थों का तत्त्वज्ञान होने से निःश्रेयस प्राप्त होता

१ प्रमाता प्रमेयं च प्रमाणं न भवति।

संशयादिव्यवच्छेदेन मीयते निश्चीयते वस्तुतत्त्वं येन तत् प्रमाणमिति व्युत्पत्तेश्च। तच्च प्रमाणं प्रत्यक्षानुमानागमोपमानभेदाच्चतुर्विधमिति चेत् तत् तथैवास्तु। तदस्माभिरप्यङ्गीक्रियते। तत्र प्रत्यक्षं नाम कीदृक्षमिति वक्तव्यम्। सम्यगपरोक्षानुभवसाधनं प्रत्यक्षम् (न्यायसार पृ. ७) तच्चायोगिप्रत्यक्षं योगिप्रत्यक्षमिति द्विविधम्। तत्रायोगिप्रत्यक्षं प्रकाशदेशकालधर्माद्यनुग्रहादिन्द्रियार्थसंबन्धविशेषात् स्थूलार्थग्राहकम्। तद् यथा चक्षुःस्पर्शनसंयोगात् पटादिद्रव्यज्ञानं, सयुक्तसमवायात् पटत्वादिसंख्यापरिमाणादिज्ञानं, संख्यादिष्वाश्रितानां सामान्यानां स्वाश्रयग्राहकैरिन्द्रियैः संयुक्तसमवेतसमवायाद् ग्रहणं, श्रोत्रे शब्दसमवायाच्छब्दग्रहणं तदाश्रितसामान्यग्रहण समवेतसमवायात्। तदेतत् पञ्चविधसंबन्धेन संबद्धपदार्थानां विशेषणविशेष्यत्वेन दृश्याभावसमवाययोर्ग्रहणम्। तद् यथा निर्घटं भूतलम्, इह भूतले घटो नास्तीति समवेतौ गुणगुणिनौ, इह पटे रूपादीनां समवाय इति। योगिप्रत्यक्षं तु देशकालस्वभावविप्रकृष्टार्थग्राहकम्। तद् द्विविधमपि प्रत्यक्षं सविकल्पकं निर्विकल्पकमिति प्रत्येकं द्विविधम्। तत्र संज्ञादिसंबन्धोल्लेखेन[1] ज्ञानोत्पत्तिनिमित्तं सविकल्पकम्। यथा देवदत्तोऽयं दण्डीत्यादि। वस्तुस्वरूपमात्रावभासकं निर्विकल्पकम्। यथा

है' किन्तु इन का पदार्थवर्णन भी उचित नही है। प्रथमतः उन के प्रमाणवर्णन का विचार करते हैं। सम्यक अनुभव का साधन प्रमाण है–यह उनका कथन है। इस में सम्यक कहने का तात्पर्य है कि अनुभव संशय या विपर्यय से रहित हो। अनुभव को प्रमाण कहने का तात्पर्य यह है कि स्मरण को प्रमाण न कहा जाय। साधन इसलिए कहा है कि प्रमाता और प्रमेय को प्रमाण से अलग रखा जाय। प्रमाण शब्द की व्युत्पत्ति भी ऐसी ही है–प्रकर्ष से संशयादि को दूर कर वस्तुतत्त्व का मान–निश्चय करे वह प्रमाण है। इस के चार प्रकार हैं–प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, तथा उपमान। इन में प्रत्यक्ष का लक्षण इस प्रकार है–सम्यक अपरोक्ष अनुभव का साधन हो वह प्रत्यक्ष प्रमाण है–इस के दो प्रकार हैं–योगिप्रत्यक्ष तथा अयोगिप्रत्यक्ष। अयोगिप्रत्यक्ष वह है जो प्रकाश, देश, काल आदि के सहयोग से इन्द्रिय और पदार्थों के सम्बन्ध से स्थूल पदार्थों को

---

1 उच्चारेण

प्रथमाक्षसंनिपातजं ज्ञानं युक्तावस्थायां योगिज्ञानं चेति । इति प्रत्यक्ष-प्रमाणलक्षणभेदसामग्रीस्वरूपमिति चेन्न । तस्य सर्वस्य विचारासहत्वात् ।

तथा हि । तत्र सम्यगपरोक्षानुभवसाधनमित्यत्र परोक्षानुभवप्रति-षेधेन अभावोऽङ्गीक्रियते प्रत्यक्षानुभवो वा[1] । प्रथमपक्षे सम्यगभावसाधनं प्रत्यक्षमित्युक्तं स्यात् । तथा च मुद्गरप्रहरणादीनां घटाद्यभावसाधनत्वेन

जानता हो। उदाहरणार्थ-वस्त्रादि द्रव्यों का ज्ञान चक्षु और स्पर्श के संयोग सम्बन्ध से होता है; पटत्व आदि का ज्ञान संयुक्त समवाय सम्बन्ध से होता है; संख्यात्व आदि का ज्ञान संयुक्त समवेत समवाय से होता है; शब्द का ज्ञान कर्णेन्द्रिय के समवाय सम्बन्ध से होता है तथा शब्दत्व का ज्ञान समवेत समवाय से होता है। इन पाच सम्बन्धों से सम्बद्ध पदार्थों के द्रव्याभाव तथा समवाय का ज्ञान विशेषणविशेष्यभाव नामक छठे सम्बन्ध से होता है—यह जमीन घटरहित है, यह वस्त्र रूपादि-सहित है आदि इस के उदाहरण है। योगिप्रत्यक्ष वह है जो देश, काल तथा स्वभाव से दूर के पदार्थों को भी जानता है। ये दोनों प्रत्यक्ष सविकल्पक तथा निर्विकल्पक दो प्रकार के होते हैं। संज्ञा आदि संबन्ध के उल्लेख के साथ जो ज्ञान होता है वह सविकल्पक है—उदा. यह देवदत्त दण्डयुक्त है आदि। सिर्फ वस्तु के स्वरूप का भान होना निर्विकल्पक प्रत्यक्ष है जो इन्द्रिय का पदार्थ से प्रथम सम्पर्क होते ही होता है तथा योगयुक्त अवस्था में योगी को होनेवाला ज्ञान भी इसी प्रकार का होता है।

यह सब प्रमाण-विवरण कई दृष्टियों से सदोष है। पहले प्रत्यक्ष के लक्षण का विचार करते हैं। अपरोक्ष अनुभव के साधन को प्रत्यक्ष कहा है। इस में अपरोक्ष शब्द का तात्पर्य परोक्ष ज्ञान के अभाव से है अथवा प्रत्यक्ष के अस्तित्व से है? यदि परोक्ष ज्ञान के अभाव से ही तात्पर्य हो तो वह मुद्गर, आयुध आदि में भी होता है अतः उन को प्रत्यक्ष प्रमाण मानना होगा। प्रत्यक्ष अनुभव का साधन प्रत्यक्ष प्रमाण है यह

---

१ अप्रधानं विधेयेऽत्र प्रतिषेधे प्रधानता । प्रसज्य प्रतिषेधोऽसौ क्रियया यत्र नञ् यथा ॥ ब्राह्मण नानय ॥ प्रधानत्वं विधेर्यत्र प्रतिषेधेऽप्रधानता । पर्युदासः स विज्ञेयो यत्रोत्तरपदेन नञ् ॥ यथा अब्राह्मणमानय ।

प्रत्यक्षत्वं प्रसज्यते इत्यतिव्यापकं लक्षणम् । द्वितीयपक्षे सम्यक्प्रत्यक्षानुभवसाधनं प्रत्यक्षमित्युक्तं स्यात् । तथा च सम्यक्प्रत्यक्षानुभवस्वरूपं निरूपणीयम् । अथ सम्यगपरोक्षानुभव एवेति चेत् तत्रापि परोक्षानुभवप्रतिषेधेन अभावोऽङ्गीक्रियते प्रत्यक्षानुभवो वा इत्याद्यावृत्त्या चक्रकप्रसंगः। अथ इन्द्रियार्थसंनिकर्षजं ज्ञानं प्रत्यक्षमिति चेन्न । षोढासंनिकर्षस्य प्रागेव निराकृतत्वात्। ततश्च असंभवदोषदुष्टं प्रत्यक्षलक्षणम्। यदप्यन्यत् प्रत्यपीपदत्-अत्रायोगिप्रत्यक्षं प्रकाशदेशकालधर्माद्यनुग्रहाद् इन्द्रियार्थसंबन्धविशेषात् स्थूलार्थग्राहकं तद् यथा चक्षुःस्पर्शनसंयोगात् पटादिद्रव्यज्ञानमित्यादि-तदप्यसत् । लक्षणस्यासंभवदोषदुष्टत्वात् । कुतः चक्षुरिन्द्रियार्थसंयोगस्य सर्वत्र समवायसंबन्धस्य च प्रागेव प्रमाणतो निषिद्धत्वेन षोढासंनिकर्षस्य प्रतिषिद्धत्वात् । यदप्यन्यदवोचत्-संज्ञादिसंबन्धोल्लेखेन ज्ञानोत्पत्तिनिमित्तं सविकल्पकमित्यादि-तदप्यनुचितम्। मौनिमूकबधिरबालानां सविकल्पकप्रत्यक्षाभावप्रसंगात् । कुतः। तेषां संज्ञादिसंबन्धोल्लेखेन ज्ञानोत्पत्तिनिमित्ताभावात्। यदप्यन्यदेवा-

---

कहने पर प्रश्न होता है कि प्रत्यक्ष अनुभव क्या है? अपरोक्ष अनुभव प्रत्यक्ष है यह कहें तो पुनः पूर्वोक्त दोष होगा। (तात्पर्य- जो परोक्ष नही है वह प्रत्यक्ष है यह निषेधरूप कथन पर्याप्त नही है, प्रत्यक्ष का कोई विधिरूप लक्षण बतलाना चाहिए।) इन्द्रिय और पदार्थों के संनिकर्ष से जो ज्ञान होता है वह प्रत्यक्ष है- यह लक्षण भी सदोष है। इन्द्रिय और अर्थों के संनिकर्ष का पहले विस्तार से खण्डन किया है अतः उस पर आधारित प्रत्यक्ष का लक्षण व्यर्थ होगा। अयोगिप्रत्यक्ष के वर्णन में भी इन्द्रिय और अर्थों के सम्बन्ध से स्थूल पदार्थों का ज्ञान होना आवश्यक कहा है-वह भी इसी प्रकार निराधार होगा। संज्ञा आदि सम्बन्धों के उल्लेख के साथ जो ज्ञान होता है वह सविकल्पक है यह कथन भी ठीक नही-ऐसा मानें तो मौन रखनेवाले, गूंगे अथवा बालकों को सविकल्पक प्रत्यक्ष से ज्ञान नही हो सकेगा। उन का ज्ञान शब्दप्रयोग से रहित होता है। इसी प्रकार सिर्फ वस्तु के स्वरूप को जानता है वह निर्विकल्पक प्रत्यक्ष है इस कथन में सिर्फ वस्तु कहने का तात्पर्य क्या है? अवस्तु से भिन्न वस्तु यह तात्पर्य है अथवा अन्य वस्तुओं से भिन्न एक

वादीत्- वस्तुस्वरूपमात्रावभासकं निर्विकल्पमित्यादि- तत्र मात्रशब्देन वस्तु गृहीत्वा अवस्तु व्यवच्छिद्यते एकवस्तु गृहीत्वा अन्यवस्तु व्यवच्छिद्यते वा। अथ वस्तु गृहीत्वा अवस्तु व्यवच्छिद्यत इति चेत् तर्ह्यवस्तु नाम किमुच्यते। अथ असद्वर्ग एव अवस्त्विति चेन्न। तद्व्यवच्छेदेन वस्तुग्रहणाभावात्। कुतः सर्वत्रान्याभावविशिष्टस्यैव वस्तुनो ग्रहणात्[1]। अथ मात्रशब्देन एकवस्तु गृहीत्वा अन्यवस्तु व्यवच्छिद्यत इति चेन्न। एकवस्तुग्रहणेऽपि सत्ताद्रव्यत्वादीनां[2] संख्यापरिमाणरूपादीनां[3] विशिष्टदेशकाललोकादीनां च ग्रहणादन्यवस्तुव्यवच्छेदानुपपत्तेः। ततो निर्विकल्पकप्रत्यक्षलक्षणमप्यसंभवदोषदुष्टं स्यात्। तस्मान्नापरोक्षं प्रत्यक्षं विचारं सहते।

[७४. तन्मते प्रमाणान्तरपरीक्षा।]

अनुमानमपि कीदृशम्। अथ सम्यक्साधनात् साध्यसिद्धिरनुमानं व्याप्तिमान् पक्षधर्म एव सम्यक् साधनमिति चेत् तदङ्गीक्रियत एव। तत्प्रपञ्चस्य कथाविचारे निरूपितत्वात्।

वस्तु यह अर्थ है ? अवस्तु से भिन्न वस्तु का ही ग्रहण होता है यह कथन ठीक नही क्यों कि वस्तु का ज्ञान अन्य पदार्थों के अभाव से सहित ही होता है (यह वस्त्र है इस ज्ञान में यह घट नही है आदि अंश संमिलित ही होता है)। अन्य वस्तुओं से भिन्न एक वस्तु के ज्ञान में भी उस वस्तु का अस्तित्व, द्रव्यत्व आदि का तथा संख्या, परिमाण, रूप आदि का एवं प्रदेश, समय आदि का ज्ञान होता ही है। अतः उसे एक ही वस्तुका ज्ञान कहना अथवा निर्विकल्पक प्रत्यक्ष कहना उचित नही। इस प्रकार नैयायिकों का प्रत्यक्ष प्रमाण का वर्णन कई प्रकारों से दोषपूर्ण है।

७४. अन्य प्रमाणों का विचार—नैयायिकों का दूसरा प्रमाण अनुमान है। योग्य साधन से साध्य को सिद्ध करना अनुमान है तथा व्याप्ति से युक्त पक्ष के धर्म को साधन कहते हैं। अनुमान का यह स्वरूप हमें प्रायः मान्य है तथा कथाविचार ग्रन्थ में हमने इस का विस्तार से वर्णन किया है।

---

१ घटः गृह्यते तर्हि पटाभावेन पटः गृह्यते तर्हि घटाभावेन इति। २ आदिशब्देन घटाद्यपेक्षया पार्थिवत्वं घटत्वमित्यादि। ३ आदिशब्देन रूपत्वमित्यादि।

अथ मतं 'समयबलेन[1] सम्यक्परोक्षानुभवसाधनमागमः (न्यायसार पृ. ९९)। स द्विविधः दृष्टादृष्टभेदात्। तत्र दृष्टार्थानां 'पुत्रकाम्येष्ट्या[2] पुत्रकामो यजेत, कारीरीं निर्वपेद् वृष्टिकामः' इत्यादीनां तत्तत्फलप्राप्त्या प्रामाण्यं[3] निश्चीयते। अदृष्टार्थानां 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' इत्यादीनामाप्तोक्तत्वेन प्रामाण्यं निश्चीयत इति। तदयुक्तम्। पुत्रकाम्येष्ट्यादीन् शतशः कुर्वाणानामपि फलप्राप्तेरदर्शनात्। तथा तन्मते समयज्ञाभावस्यापि प्रागेव प्रतिपादित्वेन वेदस्यान्यस्य वा आगमस्याप्तोक्तत्वाभावात् प्रागेव वेदस्याप्रामाण्यसमर्थनाच्च।

अथ उपमानं प्रसिद्धार्थसाधर्म्यात् साध्यसाधनं, गोसदृशो गवयः, अनेन सदृशी मदीया गौरित्यादि इति चेन्न। तस्य सादृश्यप्रत्यभिज्ञानत्वेन प्रमाणान्तरत्वाभावात्। यदि तत् प्रमाणान्तरमित्याग्रहश्चेत् तर्हि गोविलक्षणो महिषः, तस्मादयं दीर्घः, तस्मादिदं दूरं, तस्मादयं महा-

नैयायिकों का तीसरा प्रमाण आगम है। शास्त्र के आधार से योग्य परोक्ष अनुभव का साधन ही आगम प्रमाण है। इस के दो प्रकार हैं–दृष्ट तथा अदृष्ट। 'पुत्र की इच्छा हो तो पुत्रकाम्येष्टि यज्ञ करना चाहिए, वृष्टि की इच्छा हो तो कारीरी की बलि देना चाहिए' आदि वाक्यों का फल प्रत्यक्ष देखा जाता है अतः ये दृष्ट आगम हैं–इन का प्रामाण्य दृष्ट साधनों से निश्चित है। 'स्वर्ग की इच्छा हो तो ज्योतिष्टोम यज्ञ करना चाहिए' आदि वाक्यों को अदृष्ट आगम कहते हैं–इन का फल प्रत्यक्ष नही देखा जाता। आप्तों द्वारा कहे हैं इसलिए ये प्रमाण हैं। यह आगम-प्रमाण का वर्णन भी दोषपूर्ण है। पहला दोष यह है कि पुत्रकाम्येष्टि करने पर भी पुत्र नही होते ऐसे सैंकडो उदाहरण हैं। दूसरे, वेद अथवा अन्य आगम सर्वज्ञ प्रणीत नही हैं यह हमने पहले विस्तार से बतलाया है। अतः नैयायिकसम्मत आगम प्रमाण नही हो सकते।

चौथा प्रमाण उपमान है। प्रसिद्ध पदार्थ के साम्य से साध्य को जानना ही उपमान है, उदा.–यह गाय जैसा है अतः गवय है। इस प्रमाण का स्वरूप प्रत्यभिज्ञान से भिन्न नही है। यदि साम्य को प्रमाण मानें तो गाय से भैंस भिन्न है आदि भेद के ज्ञान को भी पृथक प्रमाण मानना

१ संकेतबलेन शास्त्रबलेन वा। २ यज्ञविशेषेण। ३ दृष्टार्थानाम्।

नित्यादीनां प्रमाणान्तरत्वं प्रसज्यते। तस्मादुपमानं प्रत्यभिज्ञानान्नार्थान्तर मित्यङ्गीकर्तव्यम्। दर्शनस्मरणकारणकं प्रत्यभिज्ञानम्। उपमानस्यापि दर्शनस्मरणकारकत्वाविशेषात्। तस्मान्नैयायिकोक्तप्रमाणपदार्थो न विचारं सहते।

[७५. तन्मते पदार्थगणनासंगतिः।]

तथा 'आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनःप्रवृत्तिदोषप्रेत्यभावफलदुःखापवर्गास्तु प्रमेयम्' (न्यायसूत्र १-१-९) इति द्वादशविधप्रमेयपदार्थो वैशेषिकोक्तषट्पदार्थनिराकरणेनैव निराकृत इति वेदितव्यम्। तथा साधारणाकारदर्शनात् वादिविप्रतिपत्तेर्वा उभयकोटिपरामर्शः संशयः इत्येतस्यापि पदार्थत्वे विपर्यासानध्यवसाययोरपि[1] पदार्थत्वं प्रसज्यते। ननु संशयस्य न्यायप्रवृत्त्यङ्गत्वेन[2] पदार्थत्वं नान्ययोरिति चेन्न। विपर्यस्ताव्युत्पन्नानां प्रतिबोधार्थमपि न्याय[3]प्रवृत्तिदर्शनात्। तथा प्रयोजनमपीष्टानिष्टप्राप्तिपरिहाररूपं चेदिष्यत एव। तथा दृष्टौ अन्तौ साध्यसाधनधर्मौ[4] वादिप्रतिवादिभ्यामविगानेन[5] यत्र स दृष्टान्तः। स च अवयवेष्वपि[6] वक्ष्य-

होगा। उपमान और प्रत्यभिज्ञान दोनों दर्शन और स्मरण पर आधारित हैं अतः दोनों में कोई भेद नही है। तात्पर्य—न्यायमत का प्रमाण वर्णन उचित नही है।

७५. पदार्थ गणनामे असंगति—इस दर्शन में दूसरे प्रमेय पदार्थ में आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख तथा अपवर्ग इन बारह विषयों का समावेश किया है (न्यायसूत्र १-१-९)। इन के स्वरूप का खण्डन वैशेषिक दर्शन विचार में हो चुका है।

तीसरा पदार्थ संशय है। दो वस्तुओं में साधारण आकार देखने से अथवा वादियों में मतभेद होने से दोनों पक्षों का ग्रहण करनेवाला ज्ञान संशय कहलाता है। इस को स्वतन्त्र पदार्थ माने तो विपर्यास और अनध्यवसाय (अनिश्चय) को भी पदार्थ मानना होगा। संशययुक्त व्यक्ति को समझाने के लिये न्याय की प्रवृत्ति होती है अतः संशय को पदार्थ

१ अतस्मिंस्तदिति ज्ञानं विपर्ययः गच्छतस्तृणस्पर्शोऽनध्यवसायः। २ नानुपलब्धे न निर्णीतेर्थे न्यायः प्रवर्तते अपि तु संदिग्धेर्थे। ३ न्यायोऽनुमानम्। ४ अन्वयव्यतिरेकौ। ५ अविवादेन। ६ प्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्तोपनयनिगमनानि।

माणत्वात् पुनरुक्त एव । तथा शिष्टैः स्वीकृतागमः सिद्धान्तः । सोऽपि प्रमाणपदार्थे प्रतिपादितत्वात् पुनरुक्त एव ।

तथा पक्षहेतुदृष्टान्तोपनयनिगमनान्यनुमानस्यावयवाः पञ्च । तत्र संदिग्धसाध्यधर्माधारः पक्षः अनित्यः शब्द इति । व्याप्तिमान् पक्षधर्मो हेतुः कृतकत्वादिति । साध्यव्याप्तं साधनं यत्र प्रदर्श्यते सोऽन्वयदृष्टान्तः कृतकः सोऽनित्यो यथा घट इति । साध्याभावे साधनाभावो यत्र कथ्यते स व्यतिरेकदृष्टान्तो यन्नानित्यं तन्न कृतकं यथा व्योमेति । पक्षधर्मत्वप्रदर्शनार्थं हेतोरुपसंहार उपनयः कृतकश्चायमिति । उक्तनिर्णयार्थं प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं निगमनं तस्मादनित्य इति । इति चेन्न । तेषामनुमानप्रमाणे प्रतिपादितत्वेन पुनरुक्तत्वात् । किं च । अनुमानाङ्गानामपि पदार्थत्वाङ्गीकारे स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणां[1] तत्संनिकर्षाणां संकेतसादृश्यादीनां च पदार्थत्वं स्यादित्यतिप्रसज्यते ।

माना है यह स्पष्टीकरण भी योग्य नही। क्यों कि विपर्यस्त और अनिश्चित ज्ञान से युक्त व्यक्तियों को समझाने के लिये भी न्याय का आश्रय लिया जाता है।

चौथा पदार्थ प्रयोजन है। इष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट के परिहार की इच्छा ही प्रयोजन है। इस के विषय में कोई आक्षेप नही है।

पांचवा पदार्थ दृष्टान्त है। वादी और प्रतिवादी को समान रूप से मान्य उदाहरण को दृष्टान्त कहते हैं। अनुमान के अवयवों में इस का समावेश होता है अतः इसे पृथक् पदार्थ मानना युक्त नही।

छठवा पदार्थ सिद्धान्त है। शिष्ट लोगों द्वारा मान्य किये गये विषय को सिद्धान्त कहते हैं। यह प्रमाण के वर्णन में ही समाविष्ट होता है।

सातवा पदार्थ अवयव है। अनुमान के पाच अवयव कहे हैं– पक्ष, हेतु, दृष्टान्त, उपनय, निगमन। उदाहरणार्थ–शब्द अनित्य है– यह पक्ष है। क्यों कि शब्द कृतक है–यह हेतु है। जो कृतक होता है वह अनित्य होता है–जैसे घट है–यह अन्वय दृष्टान्त है। जो कृतक नही होता वह अनित्य नही होता–जैसे आकाश है–यह व्यतिरेक दृष्टान्त है। और शब्द कृतक है–यह उपनय है। इस लिये शब्द

1 तेषा प्रत्यक्षाङ्गानामपि ।

अथ व्याप्तिबलमवलम्ब्य परस्यानिष्टापादनं तर्क इति चेत् स च उभयप्रमाणप्रसिद्धव्याप्तिकः अन्यतरप्रमाणप्रसिद्धव्याप्तिको वा। न तावदाद्यः पक्षः तथा चेत् तस्य तर्कत्वासंभवात्। तथा हि। वीतस्तर्को न भवति उभयप्रमाणप्रसिद्धव्याप्तिकत्वात् धूमानुमानवत्। तथा विवादाध्यासितं प्रमाणमेव उभयप्रमाणप्रसिद्धव्याप्तिकत्वात् धूमानुमानवत् इति च। अथ द्वितीयः पक्षः कक्षीक्रियते तर्हि वादिप्रमाणप्रसिद्धव्याप्तिको वा प्रतिवादिप्रमाणप्रसिद्धप्राप्तिको वा। न तावदाद्यः वादिप्रमाणप्रसिद्धव्याप्तिकात् तर्कात् परस्यानिष्टमापादयितुमशक्तेः। कुतः परस्य मूलव्याप्तिप्रतिपत्त्यभावात्। अथ परप्रसिद्धव्याप्त्या परस्यानिष्टापादनं तर्क इति चेत् तदस्माभिरप्यङ्गीक्रियते। तथापि व्याप्तिपूर्वकत्वेनोत्पन्नत्वाद् अनुमानान्नार्थान्तरम्।

अथ इदमित्थमेवेत्यवधारणज्ञानं निर्णयपदार्थ इति चेत् तदपि प्रत्यक्षादिप्रमितिरेव, नार्थान्तरम्।

अथ 'प्रमाणतर्कसाधनोपलम्भः सिद्धान्ताविरुद्धः पञ्चावयवोपपन्नः

अनित्य है–यह निगमन है। इन सब अवयवों का वर्णन तो ठीक है किन्तु ये अनुमान के अवयव हैं तथा अनुमान का पहले प्रमाण पदार्थ में अन्तर्भाव होता है। यदि अनुमान के साधन अवयवों को पृथक् पदार्थ मानें तो प्रत्यक्ष प्रमाण के साधन इन्द्रियों को भी पृथक् पदार्थ मानना होगा।

आठवां पदार्थ तर्क है। व्याप्ति के बल से प्रतिवादी को अमान्य तत्त्व सिद्ध करना तर्क है। इसे स्वतन्त्र पदार्थ मानना उचित नही। यदि तर्क में प्रयुक्त व्याप्ति वादी तथा प्रतिवादी दोनों को मान्य हो तो उस का स्वरूप अनुमान से भिन्न नही होगा। यदि यह व्याप्ति सिर्फ वादी को मान्य हो–प्रतिवादी को अमान्य हो–तो उस से प्रतिवादी को अमान्य तत्त्व सिद्ध नही होगा। तब व्याप्ति की सत्यता ही वाद का विषय होगा। प्रतिवादी को मान्य व्याप्ति से कोई तत्त्व सिद्ध करना तर्क माना जाय तो यह भी अनुमान से भिन्न नही होगा। अतः तर्क स्वतन्त्र पदार्थ नही है।

नौवां पदार्थ निर्णय है। यह तत्त्व इसी प्रकार है ऐसे निश्चित ज्ञान को निर्णय कहते हैं। यह प्रमाणों से प्राप्त ज्ञान से भिन्न नही।

दसवां पदार्थ वाद है–' प्रमाण और तर्क के साधनों से, सिद्धान्त

पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वादः। यथोक्तोपपन्नच्छलजातिनिग्रहस्थानसाधनो जल्पः। स एव प्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितण्डा।' इत्येतत्त्रयाणां स्वरूपं कथाविचारेण विचारितं द्रष्टव्यम्। 'हेतुलक्षणरहिताः हेतुवदाभासमाना हेत्वाभासाः' असिद्धादयस्ते च कथाविचारे विचारिता द्रष्टव्याः। तेषामपि पृथक् पदार्थत्वे साधर्म्यवैधर्म्याभ्यामुक्तद्वादशविधदृष्टान्तानामपि[1] पदार्थत्वं प्रसज्यते। तथा वचनविघातोऽर्थान्तरपरिकल्पनया छलं तत् त्रिविधम्। प्रयुक्ते हेतौ प्रतिपक्षसमीकरणाभिप्रायेण प्रत्यवस्थानं[2] जातिः सा चतुर्विंशतिप्रकारा। वादिप्रतिवादिनोरन्यतरस्य पराजयनिमित्तं निग्रहस्थानं तच्च द्वाविंशतिप्रकारम्।

इत्येतत् सर्वं कथाविचारे प्रपञ्चितं द्रष्टव्यम्। एतेषामपि पदार्थत्वे लोकशापाक्रोशासभ्यवचनापदभियोगादीनामपि पदार्थत्वं स्यादित्यतिप्रसज्यते। किं च। संशयादीनां प्रमाणगोचरत्वेन प्रमेयत्वसंभवात् प्रमाणं

का विरोध न करते हुए, पाच अवयवों से युक्त, पक्ष और प्रतिपक्ष का कथन वाद है'। ग्यारहवा पदार्थ जल्प है – 'यथोचित छल, जाति तथा निग्रहस्थानों का प्रयोग करके होनेवाला विवाद जल्प है'। 'जल्प में प्रतिपक्ष की स्थापना को अवसर न दिया जाय तो वही वितण्डा कहलाता है – यह बारहवां पदार्थ माना है। 'जिन में हेतु का लक्षण न हो किन्तु जो हेतु जैसे प्रतीत हों वे हेत्वाभास हैं'–इन्हें तेरहवां पदार्थ माना है। 'दूसरे अर्थ की कल्पना कर के बात काटना छल है जो तीन प्रकार का है' – यह छल चौदहवा पदार्थ माना है। 'हेतु का प्रयोग करने पर प्रतिपक्ष से उसकी समानता बदलाने के लिए विरोध करना जाति है – इस के चौवीस प्रकार हैं'–यह पन्द्रहवां पदार्थ माना है। 'वादी या प्रतिवादी के पराजय का कारण निग्रहस्थान होता है – इस के बाईस प्रकार हैं'–यह सोलहवा पदार्थ माना है।

वाद से निग्रहस्थान तक इन सातों विषयों का विचार हमने 'कथाविचार' ग्रन्थ में किया है। यहा द्रष्टव्य इतना है कि इन सब बातों को पदार्थ मानना हो तो बारह प्रकार के दृष्टान्त, शाप, आक्रोश,

१ अन्वयव्यतिरेकाणां द्वादश प्रकाराः। २ यथा अनित्यः शब्दः कृतकत्वात् घटवत् इत्युक्ते यथा घटवत् कृतकः शब्दः तथा घटवत् समवायोऽपि भवति।

प्रमेयमिति पदार्थद्वयमेव जाघटयते। ततो नान्यत् पदार्थान्तरं योयुज्यते। अथ प्रयोजनवशात् संशयादीनां पृथक् कथनमिति चेत् तर्हि चतुर्विधप्रमाणानां द्वादशविधप्रमेयानां पञ्चविधावयवानां षट्हेत्वाभासानां द्वादशविधदृष्टान्ताभासानां त्रिप्रकारच्छलानां चतुर्विंशतिविधजातीनां द्वाविंशतिविधनिग्रहस्थानानां च प्रत्येकं प्रयोजनभेदसद्भावात् षण्णवतिपदार्थाः प्रसज्येरन्। षडिन्द्रियपदार्थपदसंबन्धषड्बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नसंसर्गादीनां प्रत्येकं प्रयोजनसद्भावात् पदार्थाः अनन्ताः प्रसज्येरन्। नो चेत् षोडशापि मा भूवन्। एवं नैयायिकोक्तप्रकारेण षोडशपदार्थानां याथात्म्यासंभवेन तद्विषयज्ञानस्य तत्त्वज्ञानत्वाभावाच्च ततो निःश्रेयसाधिगम इति स्थितम्।

[७६. योगत्रयविचारः।]

ननु भक्तियोगः क्रियायोगः ज्ञानयोग इति योगत्रयैर्यथासंख्यं सालोक्यसारूप्यसामीप्यसायुज्यमुक्तिर्भवति। तत्र महेश्वरः स्वामी स्वयं भृत्य इति तच्चित्तो भूत्वा यावज्जीवं तस्य परिचर्याकरणं भक्तियोगः।

असभ्य वचन, आरोप-प्रत्यारोप आदि को पदार्थ क्यों नही माना जाता ? वास्तव में संशयादि सभी का ज्ञान प्रमाणों से ही होता है। अतः प्रमाण और प्रमेय ये दो ही पदार्थ मानना योग्य हैं – बाकी सब का प्रमेय में अन्तर्भाव होता है। और यदि पृथक् पृथक् गिनती करनी है तो चार प्रमाण, बारह प्रमेय, पांच अवयव, छह हेत्वाभास, बारह दृष्टान्ताभास, तीन छल, चौवीस जाति तथा बाईस निग्रहस्थान इन सब को मिलाकर ९६ पदार्थ मानना चाहिये। और भी छह इन्द्रिय, पद और अर्थ का सम्बन्ध, छह बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, संसर्ग आदि अनगिनत पदार्थ माने जा सकते हैं। इस प्रकार नैयायिकों के सोलह पदार्थों का ज्ञान तत्त्वज्ञान नही माना जा सकता। अतः उससे निःश्रेयस की प्राप्ति भी सम्भव नही है।

७६. योगत्रय का विचार—नैयायिक तीन प्रकार के योगों-द्वारा मुक्ति प्राप्त होती है ऐसा मानते हैं। ईश्वर को स्वामी तथा अपने आपको सेवक मानकर ईश्वर की आराधना करना भक्तियोग है– इस से सालोक्य मुक्ति मिलती है। तप और स्वाध्याय करना क्रियायोग है –

तस्मात्[1] सालोक्यमुक्तिर्भवति। तपःस्वाध्यायानुष्ठानं क्रियायोगः। तत्रोन्मादकामादिव्यपोहार्थम् आध्यात्मिकादिदुःखसहिष्णुत्वं तपः। प्रशान्तमन्त्रस्येश्वरवाचिनोऽभ्यासः स्वाध्यायः। तदुभयमपि क्लेशकर्मपरिक्षयाय समाधिलाभार्थं चानुष्ठेयम्। तस्मात् क्रियायोगात् सारूप्यं[2] सामीप्यं वा मुक्तिर्भवति। विदितपदपदार्थस्येश्वरप्रणिधानं ज्ञानयोगः परमेश्वरतत्त्वस्य प्रबन्धेनानुचिन्तनं पर्यालोचनमीश्वरप्रणिधानम्। तस्य योगस्य यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि। तत्र देशकालावस्थाभिरनियताः[3] पुरुषस्य शुद्धिवृद्धिहेतवो यमाः अहिंसाब्रह्मचर्यास्तेयादयः। देशकालावस्थापेक्षिणः पुण्यहेतवः क्रियाविशेषाः नियमाः देवार्चनप्रदक्षिणासंध्योपासनजपादयः। योगकर्मविरोधिक्लेशजयार्थचरणबन्ध आसनं पद्मकस्वस्तिकादि। कोष्ठ्यस्य वायोः गतिच्छेदः प्राणायामः रेचकपूरककुम्भकप्रकारः शनैः शनैरभ्यसनीयः। समाधिप्रत्यनीकेभ्यः[4] समन्तात् स्वान्तस्य व्यावर्तनं प्रत्याहारः। चित्तस्य देशबन्धो धारणा।

इस से सारूप्य या सामीप्य मुक्ति मिलती है। इन में उन्माद, कामविकार आदि दूर करने के लिए विविध दुःख सहने को तप कहा है तथा ईश्वरवाचक शान्त मन्त्र के अभ्यास को स्वाध्याय कहा है। इन से क्लेश और कर्म का क्षय होकर समाधि प्राप्त होती है। पद और पदार्थ को समझ कर ईश्वर का चिन्तन करना ज्ञानयोग है। इस योग के आठ अंग हैं--यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि। पुरुष की शुद्धता बढाने के लिए देश तथा काल की मर्यादा को न रखते हुए अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अचौर्य आदि व्रत धारण किये जाते है – ये ही यम हैं। पुण्य प्राप्ति के लिए विशिष्ट प्रदेश तथा समय में मर्यादित क्रियाओं को नियम कहा है – देवपूजा, प्रदक्षिणा, सन्ध्याउपासना, जप आदि इस के प्रकार हैं। योगक्रिया मे बाधक थकान को जीतने के लिए अवयवों का विशिष्ट आकार बनाना आसन कहलाता है – पद्मासन, स्वस्तिकासन आदि इसके प्रकार हैं। कोठे के वायु की गति रोकना प्राणायाम है – इसके तीन प्रकार हैं – रेचक, पूरक तथा कुम्भक। इन का धीरे धीरे अभ्यास करना होता है। मन को समाधि के

१ आलोकस्य भावः आलोक्यम् आलोक्येन सह वर्तमाना सालोक्या। २ समानरूपस्य भावः सारूप्यम्। ३ मर्यादारहिताः। ४ क्रोधादिभ्यः।

तत्रैकतानता ध्यानम्। ध्यानोत्कर्षान्निर्वाताचलप्रदीपावस्थानमिव एकत्रैव चेतसोऽवस्थानं समाधिः। एतानि योगाङ्गानि मुमुक्षूणां महेश्वरे परां भक्तिमाश्रित्याद्यन्ताभियोगेन सेवयितव्यानि। ततो अचिरेण कालेन भगवन्तमनुपमस्वभावं शिवमवितथं प्रत्यक्षं पश्यति। तं दृष्ट्वा निरतिशयं सायुज्यं निःश्रेयसं प्राप्नोतीति चेन्न।

तन्मते भक्तियोगक्रियायोगज्ञानयोगानां निर्विषयत्वेन[1] केशोण्डुकवन्मिथ्यारूपत्वात् कुत इति चेत् तदाराध्यस्य[2] महेश्वरस्य प्रागेव प्रमाणैरभावप्रतिपादनात्। तत्प्रसाधकप्रमाणानामप्याभासत्वप्रतिपादनाच्च। तस्माज्जिनेश्वरविषयभक्तियोगक्रियायोगाभ्यां स्वर्गप्राप्तिः। तद्विषयज्ञानयोगान्मोक्षप्राप्तिरित्युक्ते तत् सर्वं जाघटयते। जिनेश्वरस्य नानाप्रमाणैः सद्भावसमर्थनात्। तन्मते एव पदार्थानां याथात्म्यसंभवेन तत्त्वज्ञानसंभवाच्च। तच्च तत्र तत्र यथासंभवं प्रमाणतः समर्थ्यते। तस्मान्नैयायिकपक्षोऽपि मुमुक्षूणां श्रद्धेयो न भवति किं तु उपेक्षणीय एवेति स्थितम्।

बाधक विकारो से हटाना प्रत्याहार है। चित्त को आशिक रूप में स्थिर करना धारणा है। चित्त की एकाग्रता को ध्यान कहा है। ध्यान के उत्कर्ष से वायुरहित स्थान में निश्चल दीपज्योति के समान चित्त को निश्चल बनाना समाधि है। इन आठ योगागों का अनुष्ठान ईश्वर की परम भक्ति के साथ किया जाय तो शीघ्र ही भगवान शिव के तात्त्विक स्वरूप का प्रत्यक्ष दर्शन होता है तथा उस से सायुज्य मुक्ति प्राप्त होती है।

न्यायदर्शन के इन तीन योगों के स्वरूप विषय में तो हमे विशेष आपत्ति नही है। किन्तु ये योग जिस ईश्वर की भक्ति के लिए हैं उस का अस्तित्व हमें मान्य नही। जगत का निर्माता कोई ईश्वर नही है यह पहले स्पष्ट किया है। जिस का अस्तित्व ही नही उस की भक्ति करने से मुक्ति कैसे मिलेगी? अतः प्रमाणों से सिद्ध हुए जिन सर्वज्ञ की भक्ति ही उचित है – उस से स्वर्ग प्राप्त होता है। तथा उसी के ज्ञानयोग से मुक्ति मिलती है। इस के प्रतिकूल न्यायदर्शन का मत मुक्ति के लिए उपयोगी नही है।

१ पदार्थरहितत्वेन। २ क्रियायोगादिभिः।

[७७. भाट्टमतविचारे तमोद्रव्यसमर्थनम् ।]

अथ मतं पृथिव्यप्तेजोवायुदिक्कालाकाशात्मनःशब्दतमांसीत्येकादशैव पदार्थाः। तदाश्रितगुणकर्मसामान्यादीनां कथंचिद् भेदाभेदसद्भावेन तादात्म्यसंभवान्न पदार्थान्तरत्वमित्येवं पदार्थयाथात्म्यज्ञानात् कर्मक्षयो भवतीति भाट्टाः प्रत्यपीपदन्।

तेऽप्यतत्त्वज्ञा एव। कुतः पृथिव्यादिनवपदार्थानां तदुक्तप्रकारेण याथात्म्यप्रतिपत्तेरसंभवस्य वैशेषिकपदार्थविचारे प्रतिपादितत्वात्। शब्दद्रव्यस्य नित्यत्वसर्वगतत्वाभावत्वमपि वेदस्यापौरुषेयत्वविचारे प्रतिपादितमिति नेह प्रतन्यते। केवलं तमोद्रव्यमेव तदुक्तप्रकारेणास्माभिरप्यङ्गीक्रियते।

ननु प्रकाशाभावव्यतिरेकेणापरस्य तमोद्रव्यस्याभावात् तत् कथं युष्माभिरप्यङ्गीक्रियते। तथा हि। भाऽभावस्तमः आलोकनिरपेक्षतया चाक्षुषत्वात् प्रदीपप्रध्वंसवत् इति नैयायिकादयः प्रत्यप्राक्षुः। तेऽपि न

७७. भाट्ट मत और तमो द्रव्य—भाट्ट मीमासकों के मत से पृथिवी, अप, तेज, वायु, दिशा, काल, आकाश, आत्मा, मन, शब्द एवं तम ये ग्यारह पदार्थ हैं–गुण, कर्म सामान्य आदि इन्हीं पर आश्रित हैं अतः स्वतन्त्र पदार्थ नही हैं। इन ग्यारह पदार्थों के यथायोग्य ज्ञान से कर्मों का क्षय होता है।

मीमांसकों का यह मत हमे मान्य नही। इन के ग्यारह पदार्थों में से पहले नौ पदार्थों का विचार तो वैशेषिक दर्शन के प्रसंग मे हुआ ही है। शब्द के स्वरूप का विचार भी वेदप्रामाण्य की चर्चा में हो गया है। इन का तम द्रव्य का स्वरूप ही हमें स्वीकार है।

इस विषय में नैयायिकों का आक्षेप है – प्रकाश का अभाव ही तम (अन्धकार) है – यह कोई स्वतन्त्र पदार्थ नही है। प्रकाश के न होने पर चक्षु द्वारा अन्धकार का ग्रहण होता है। किन्तु यह आक्षेप योग्य नही। प्रकाश तथा अन्धकार दोनों का ज्ञान स्वतन्त्र रूप से होता है। प्रकाश के ज्ञान के लिए किसी दूसरे प्रकाश की जरूरत नही होती। इसी प्रकार अन्धकार का ज्ञान भी प्रकाश पर अवलंबित नही होता।

वस्तुस्वरूपज्ञाः। तदुक्तहेतोरालोकेन व्यभिचारात्[1]। तमोद्रव्यस्य प्रमाणप्रसिद्धत्वाच्च। तथा हि। तमो धर्मि द्रव्यं भवतीति साध्यो धर्मः रूपित्वात् पटादिवदिति। ननु तमसो रूपित्वमसिद्धमिति चेन्न। तमो रूपी कृष्णत्वेनावभासमानत्वात् गुणाद्यन्यत्वे सति[2] चाक्षुपत्वाच्च कज्जलादिवदिति प्रमाणसद्भावात्। ननु तमसश्चाक्षुपत्वमसिद्धमिति चेन्न। तमश्चाक्षुपं चक्षुरिन्द्रियेणैव वेद्यत्वात् अन्येषां प्रत्यक्षत्वेऽपि जात्यन्धस्याप्रत्यक्षत्वात् चण्डातपवदिति तमसश्चाक्षुपत्वसिद्धेः। तथा तमो धर्मि द्रव्यं भवतीति साध्यं शीतस्पर्शवत्त्वात् जलादिवदिति च। ननु तमसः शीतस्पर्शवत्त्वमप्यसिद्धमिति चेन्न। तमः शीतस्पर्शवत् उद्रिक्तपित्तप्रशामकत्वात् चन्दनादिवदिति प्रमाणसद्भावात्। ननु तमसः उद्रिक्तपित्तप्रशामकत्वमसिद्धमिति चेन्न। पित्तोद्रिक्तानामन्धकारावस्थाने पित्तप्रशान्तिदर्शनात् वैद्यशास्त्रेऽपि तथा प्रतिपादनाच्च। इति तमसो द्रव्यत्वं सेषिध्यते। तथा छायाया अपि द्रव्यत्वं बोभूयत एव कुतः तस्या अपि तमोभेदत्वादुक्तप्रकारेणैव तत्रापि रूपित्वस्पर्शवत्त्वस्य समर्थयितुं शक्यत्वात्। ततो न भाभावस्तमः भासा सहावस्थितत्वात् पटादिवत्। नायमसिद्धो हेतुः

अन्धकार का अस्तित्व प्रकारान्तर से भी सिद्ध होता है। अन्धकार द्रव्य है क्यों कि वस्त्र आदि के समान यह भी रूप गुण से (कृष्ण वर्ण से) युक्त है। काजल के समान अन्धकार भी चक्षु द्वारा ज्ञात होता है अतः अन्धकार कृष्ण वर्ण से–रूप गुण से युक्त है। जन्मान्ध को धूप नही दिखाई देती उसी प्रकार अन्धकार भी दिखाई नहीं देता। धूप के समान अन्धकार का भी चक्षु से प्रत्यक्ष ज्ञान होता है अतः वह रूप गुण से युक्त द्रव्य है। दूसरे, अन्धकार जल आदि के समान शीतल स्पर्श से भी युक्त है। पित्त के शमन के लिए अन्धकार उपयुक्त है अतः उस का शीतल होना स्पष्ट है। शीत स्पर्श गुण से युक्त होना भी अन्धकार के द्रव्य होने का स्पष्ट गमक है। छाया अन्धकार का ही एक प्रकार है। उस में भी रूप तथा स्पर्श गुण उपर्युक्त प्रकार से पाये जाते हैं। मन्द प्रकाश के समय प्रकाश तथा अन्धकार दोनों साथसाथ दिखाई देते

१ आलोकस्य आलोकनिरपेक्षतया चाक्षुषत्वेपि भाऽभावाऽभावः। २ गुणादीनां चाक्षुपत्वेऽपि रूपित्वाभावः अत उक्तं गुणान्यत्वे सतीति।

[७७. भाट्टमतविचारे तमोद्रव्यसमर्थनम् ।]

अथ मतं पृथिव्यप्तेजोवायुदिक्कालाकाशात्मनःशब्दतमांसीत्येकादशैव पदार्थाः। तदाश्रितगुणकर्मसामान्यादीनां कथंचिद् भेदाभेदसद्भावेन तादात्म्यसंभवान्न पदार्थान्तरत्वमित्येवं पदार्थयाथात्म्यज्ञानात् कर्मक्षयो भवतीति भाट्टाः प्रत्यपीपदन्।

तेऽप्यतत्त्वज्ञा एव। कुतः पृथिव्यादिनवपदार्थानां तदुक्तप्रकारेण याथात्म्यप्रतिपत्तेरसंभवस्य वैशेषिकपदार्थविचारे प्रतिपादितत्वात्। शब्दद्रव्यस्य नित्यत्वसर्वगतत्वाभावत्वमपि वेदस्यापौरुषेयत्वविचारे प्रतिपादितमिति नेह प्रतन्यते। केवलं तमोद्रव्यमेव तदुक्तप्रकारेणास्माभिरप्यङ्गीक्रियते।

ननु प्रकाशाभावव्यतिरेकेणापरस्य तमोद्रव्यस्याभावात् तत् कथं युष्माभिरप्यङ्गीक्रियते। तथा हि। भाऽभावस्तमः आलोकनिरपेक्षतया चाक्षुषत्वात् प्रदीपप्रध्वंसवत् इति नैयायिकादयः प्रत्यप्राक्षुः। तेऽपि न

७७. भाट्ट मत और तमो द्रव्य—भाट्ट मीमांसकों के मत से पृथिवी, अप, तेज, वायु, दिशा, काल, आकाश, आत्मा, मन, शब्द एवं तम ये ग्यारह पदार्थ है—गुण, कर्म सामान्य आदि इन्हीं पर आश्रित हैं अतः स्वतन्त्र पदार्थ नही हैं। इन ग्यारह पदार्थों के यथायोग्य ज्ञान से कर्मों का क्षय होता है।

मीमांसकों का यह मत हमें मान्य नही। इन के ग्यारह पदार्थों में से पहले नौ पदार्थो का विचार तो वैशेषिक दर्शन के प्रसंग में हुआ ही है। शब्द के स्वरूप का विचार भी वेदप्रामाण्य की चर्चा में हो गया है। इन का तम द्रव्य का स्वरूप ही हमें स्वीकार है।

इस विषय में नैयायिकों का आक्षेप है – प्रकाश का अभाव ही तम (अन्धकार) है – यह कोई स्वतन्त्र पदार्थ नही है। प्रकाश के न होने पर चक्षु द्वारा अन्धकार का ग्रहण होता है। किन्तु यह आक्षेप योग्य नही। प्रकाश तथा अन्धकार दोनों का ज्ञान स्वतन्त्र रूप से होता है। प्रकाश के ज्ञान के लिए किसी दूसरे प्रकाश की जरूरत नही होती। इसी प्रकार अन्धकार का ज्ञान भी प्रकाश पर अवलंबित नही होता।

वस्तुस्वरूपज्ञाः। तदुक्तहेतोरालोकेन व्यभिचारात्[1]। तमोद्रव्यस्य प्रमाण-प्रसिद्धत्वाच्च। तथा हि। तमो धर्मि द्रव्यं भवतीति साध्यो धर्मः रूपित्वात् पटादिवदिति। ननु तमसो रूपित्वमसिद्धमिति चेन्न। तमो रूपी कृष्णत्वेनावभासमानत्वात् गुणाद्यन्यत्वे सति[2] चाक्षुषत्वाच्च कज्जलादिवदिति प्रमाणसद्भावात्। ननु तमसश्चाक्षुषत्वमसिद्धमिति चेन्न। तमश्चाक्षुषं चक्षुरिन्द्रियेणैव वेद्यत्वात् अन्येषां प्रत्यक्षत्वेऽपि जात्यन्धस्याप्रत्यक्षत्वात् चण्डातपवदिति तमसश्चाक्षुषत्वसिद्धेः। तथा तमो धर्मि द्रव्यं भवतीति साध्यं शीतस्पर्शवत्त्वात् जलादिवदिति च। ननु तमसः शीतस्पर्शवत्त्वमप्यसिद्धमिति चेन्न। तमः शीतस्पर्शवत् उद्रिक्तपित्तप्रशामकत्वात् चन्दनादिवदिति प्रमाणसद्भावात्। ननु तमसः उद्रिक्तपित्तप्रशामकत्वमसिद्धमिति चेन्न। पित्तोद्रिक्तानामन्धकारावस्थाने पित्तप्रशान्तिदर्शनात् वैद्यशास्त्रेऽपि तथा प्रतिपादनाच्च। इति तमसो द्रव्यत्वं सेत्स्यते। तथा छायाया अपि द्रव्यत्वं बोभूयत एव कुतः तस्या अपि तमोभेदत्वादुक्तप्रकारेणैव तत्रापि रूपित्वस्पर्शवत्त्वस्य समर्थयितुं शक्यत्वात्। ततो न भाभावस्तमः भासा सहावस्थितत्वात् पटादिवत्। नायमसिद्धो हेतुः

अन्धकार का अस्तित्व प्रकारान्तर से भी सिद्ध होता है। अन्धकार द्रव्य है क्यों कि वस्त्र आदि के समान यह भी रूप गुण से (कृष्ण वर्ण से) युक्त है। काजल के समान अन्धकार भी चक्षु द्वारा ज्ञात होता है अतः अन्धकार कृष्ण वर्ण से–रूप गुण से युक्त है। जन्मान्ध को धूप नही दिखाई देती उसी प्रकार अन्धकार भी दिखाई नहीं देता। धूप के समान अन्धकार का भी चक्षु से प्रत्यक्ष ज्ञान होता है अतः वह रूप गुण से युक्त द्रव्य है। दूसरे, अन्धकार जल आदि के समान शीतल स्पर्श से भी युक्त है। पित्त के शमन के लिए अन्धकार उपयुक्त है अतः उस का शीतल होना स्पष्ट है। शीत स्पर्श गुण से युक्त होना भी अन्धकार के द्रव्य होने का स्पष्ट गमक है। छाया अन्धकार का ही एक प्रकार है। उस में भी रूप तथा स्पर्श गुण उपर्युक्त प्रकार से पाये जाते हैं। मन्द प्रकाश के समय प्रकाश तथा अन्धकार दोनों साथसाथ दिखाई देते

१ आलोकस्य आलोकनिरपेक्षतया चाक्षुषत्वेपि भाऽभावाऽभावः। २ गुणादीनां चाक्षुषत्वेऽपि रूपित्वाभावः अत उक्तं गुणान्यत्वे सतीति।

मन्दप्रकाशेन सह तमसो दर्शनात्। तस्माद् भाट्टपक्षेऽपि तत्त्वयाथात्म्यज्ञानाभावात् पुरुषाणां स्वर्गापवर्गप्राप्तिरपि नास्तीति निश्चीयते।

[७८. प्राभाकरमते शक्तिस्वरूपसमर्थनम्।]

अथ मतम्,

द्रव्यं गुणः क्रिया जातिः संख्यासादृश्यशक्तयः।
समवायः क्रमश्चेति नव स्युर्गुरुदर्शने[1] ॥

तत्र द्रव्यं पृथ्व्यादि। गुणो रूपादिः। क्रिया उत्क्षेपणादिः। जातिः सत्ताद्रव्यत्वादिः। संख्या एकद्वित्र्यादिः। सादृश्यं गोप्रतियोगिकं गवयगतमन्यत्। गवयप्रतियोगिकं गोगतं सादृश्यमन्यत्। शक्तिः सामर्थ्यं शक्यानुमेया[2]। गुणगुण्यादीनां संबन्धः समवायः। एकस्य निष्पादनानन्तरमन्यस्य निष्पादनं क्रमः प्रथमाहुत्यादिपूर्णाहुतिपर्यन्तः। इत्येवं नवैव पदार्थाः। एतेषां याथात्म्यज्ञानात् निःश्रेयससिद्धिरिति प्राभाकराः प्रत्याचक्षते।

हैं – इस से भी उन का स्वतन्त्र अस्तित्व स्पष्ट है। अतः प्रकाश का अभाव अन्धकार है यह कथन युक्त नही है। इस तरह भाट्ट मीमासकों के मत का विचार किया।

७८. प्राभाकर मत मे शक्तिस्वरूप का समर्थन—प्राभाकर मीमांसकों के मत से द्रव्य, गुण, क्रिया, जाति, संख्या, सादृश्य, शक्ति, समवाय तथा क्रम ये नौ पदार्थ हैं। इन में पृथ्वी आदि द्रव्य हैं। रूप आदि गुण हैं। उत्क्षेपण (ऊपर उठाना) आदि क्रियाएं हैं। सत्ता, द्रव्यत्व आदि जातिया हैं। एक, दो, तीन आदि संख्याएं हैं। गाय के समान गवय होता है तथा गवय के समान गाय होती है – यह उन में सादृश्य हैं। शक्य कार्य से जिस का अनुमान होता है उस सामर्थ्य को शक्ति कहते हैं। गुण, गुणी आदि का सम्बन्ध समवाय है। एक कार्य होने के बाद दूसरा होना यह क्रम है – जैसे प्रथम आहुति से अन्तिम आहुति तक होता है। इन नौ पदार्थों के योग्य ज्ञान से निःश्रेयस की प्राप्ति होती है।

१ प्रभाकरस्य। २ शक्यादुत्तरकार्यादनुमेया।

तेऽप्यनभिज्ञा एव। तदुक्तप्रकारेणापि पदार्थानां याथात्म्याघटनात्। कुतः द्रव्यगुणक्रियाजातिसंख्यानां वैशेषिकोक्तप्रकारासंभवप्रतिपादनेनैव प्राभाकरोक्तप्रकारासंभवस्यापि प्रतिपादितत्वात्। सादृश्यस्यापि सामान्यत्वेनैव समर्थितत्वात्[1] न पृथक् पदार्थान्तरत्वम्। किं च। सादृश्यपदार्थान्तरत्वे वैसादृश्यस्यापि व्यावर्तकस्य पदार्थान्तरत्वं स्यादित्यतिप्रसज्यते। तथा समवायस्य प्रभाकरोक्तस्यापि प्रागेव निषिद्धत्वात् न पदार्थान्तरत्वम् तथा क्रमस्य पदार्थान्तरत्वे यौगपद्यस्यापि पदार्थान्तरत्वं स्यादित्यतिप्रसज्यते। केवलं शक्तिरेव पदार्थान्तरत्वेन व्यवतिष्ठते।

शक्तिः सामर्थ्यं विवक्षितकार्यजननयोग्यता। सा च शक्याद् विवक्षितादुत्तरकार्यादनुमीयते। ननु पदार्थानां स्वरूपातिरिक्तशक्तेरभावात् स्वरूपमात्रादेव विवक्षितोत्तरकार्योत्पत्तिर्भवति। स्वरूपस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वात् न कार्यानुमेयत्वमपीति चेन्न। मुद्गमापराजमापनिष्पावाढकचणकादीनां स्वरूपस्य प्रत्यक्षतः प्रतिपन्नत्वेऽपि पाक्यापाक्यशक्तिविशेष-

मीमासकों का यह मत योग्य नहीं। इन के नौ पदार्थों मे से पहले पाच का विचार वैशेषिक दर्शन के विचार मे हो चुका है। सादृश्य सामान्य का ही नामान्तर है। इस का स्वरूप भी पहले स्पष्ट किया है। दूसरे, दो पदार्थों की समानता बतलानेवाले सादृश्य को पदार्थ मानें तो उन में भिन्नता बतलानेवाले वैसादृश्य को भी पदार्थ मानना होगा। इसी प्रकार क्रम को पदार्थ मानें तो यौगपद्य (एक साथ होना) यह भी पदार्थ मानना होगा। प्राभाकर मत के समवाय के स्वरूप का भी पहले विचार किया है। सिर्फ शक्ति का स्वरूप प्राभाकर मत में युक्त प्रतीत होता है।

विशिष्ट कार्य को उत्पन्न करने की क्षमता को शक्ति कहते हैं। उस का अनुमान होनेवाले कार्य से होता है। यहां नैयायिकों का आक्षेप है कि शक्ति तो पदार्थ का स्वरूप ही है – स्वरूप से ही उत्तरवर्ती कार्य होता है। स्वरूप का ज्ञान प्रत्यक्ष से ही होता है। अतः शक्ति को पृथक मानना या अनुमान से उस का ज्ञान होना योग्य नही। किन्तु

१ सदृशपरिणामस्तिर्यग् खण्डमुण्डादिगोत्ववत्। अत्र गोत्वं सर्वत्र सामान्यम् अतः सादृश्यस्य सामान्यत्वम्।

स्याप्रतिपन्नत्वात्[1]। अपूर्वपुरुषस्वरूपस्य प्रत्यक्षतो निश्चयेऽपि अयमेतद्विद्योपादाने समर्थः अयमेतत्कार्यकरणे समर्थ इति तत्सामर्थ्यस्य निश्चेतुमशक्यत्वात्। ननु एकैकां विद्यामुपदिश्य तद्ग्रहणकौशलं दृष्ट्वा तत्तद्विद्योपादाने समर्थोयमिति निश्चीयते तथा एकैकं कार्यं कुर्वीतेति प्रतिपाद्य तत्तत्कौशलं दृष्ट्वा तत्तत्कार्यकरणसमर्थोऽयमित्यपि निश्चीयत इति चेत् तर्हि उत्पन्नं कार्यं दृष्ट्वा कारणभूतं सामर्थ्यमनुमीयत इत्युक्तं स्यात्। तथा च तदेव सामर्थ्यं शक्तिरित्युच्यते। ननु तत् सामर्थ्यमपि पदार्थानां स्वरूपमेव ततः पदार्थस्वरूपातिरिक्ता शक्तिर्नास्तीति चेन्न। प्रत्यक्षेण तत्पदार्थस्वरूपप्रतिपत्तौ सत्यामपि तत्सामर्थ्यप्रतिपत्त्यभावात् पदार्थस्वरूपमात्रादतिरिक्तं सामर्थ्यमिति निश्चीयते। ननु पदार्थानां किंचित् स्वरूपमिन्द्रियग्राह्यं किंचित् स्वरूपमतीन्द्रियग्राह्यमिति स्वरूपद्वयमस्तीति चेत् तर्हि यदेवेन्द्रियग्राह्यं न भवत्यतीन्द्रियकार्यजनकस्वरूपं तदेव पदार्थानां शक्तिरित्यभिधीयते। ततः पदार्थानामतीन्द्रियशक्तिसिद्धिस्तावन्मात्र एव पदार्थः प्रभाकरोक्तोऽङ्गीक्रियते। अन्यपदार्थानां

यह आक्षेप अयोग्य है। मूंग, उडद, चना आदि का आँखों से प्रत्यक्ष ज्ञान होने पर उन में पकाये जाने की शक्ति है या नही यह ज्ञान नही होता – उस का ज्ञान तो तभी होता है जब वे पकाये जायें। इसी प्रकार किसी अपरिचित पुरुष को प्रत्यक्ष देखने पर यह अमुक कार्य कर सकेगा या नही इस का – उस की शक्ति का ज्ञान नही होता। जब वह पुरुष किसी विद्या को सीख लेता है या किसी काम को कर लेता है तभी उस विषय मे उस की शक्ति का ज्ञान होता है। अतः कहा है कि उत्तरवर्ती कार्य से पूर्ववर्ती शक्ति का अनुमान होता है। यह शक्ति पदार्थ का स्वरूप ही है यह कहना योग्य नही क्यों कि पदार्थ का प्रत्यक्ष ज्ञान होनेपर भी शक्ति का ज्ञान नही होता। पदार्थ का कुछ स्वरूप इन्द्रियग्राह्य है तथा कुछ स्वरूप इन्द्रियों से ग्राह्य नही है यह कहा जाय तो उत्तर यह है कि इस इन्द्रियों से अग्राह्य स्वरूप को ही हम शक्ति कहते हैं – उसी से उत्तरवर्ती कार्य होते हैं। इस शक्ति को छोडकर अन्य जो पदार्थ प्राभाकर मत में कहे गये हैं वे ठीक

१ अत एव शक्तिः कार्यानुमेया भवति।

तदुक्तप्रकारेण याथात्म्यासंभवात् तन्मतानुसारिणां तत्त्वज्ञानाभावात् स्वर्गापवर्गप्राप्तिर्नोपपनीपद्यते।

[७९. वैदिककर्मनिषेधः।]

ननु वेदमधीत्य तदर्थं ज्ञात्वा तदुक्तनित्यनैमित्तिककाम्यनिषिद्धानुष्ठानक्रमं निश्चित्य तत्र विहितानुष्ठाने यः प्रवर्तते तस्य स्वर्गापवर्गप्राप्तिर्बोभूयते। तथा हि। त्रिकालसंध्योपासनजपदेवर्षिपितृतर्पणादिकं नित्यानुष्ठानम्। दर्शपौर्णमासीग्रहणादिषु क्रियमाणं नैमित्तिकानुष्ठानम्। तद् द्वयमपि नियमेन कर्तव्यम्। कुतः

अकुर्वन् विहितं कर्म प्रत्यवायेन लिप्यते।

[मनुस्मृतिः ११-४४]

इति वचनात्। 'कारीरिपुत्रकाम्येष्ट्यादिकमैहिकं[1] काम्यानुष्ठानम्। ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत इत्यादिकमामुष्मिकं[2] काम्यानुष्ठानम्। श्येनेनाभिचरन्[3] यजेत इत्यादिकं निषिद्धानुष्ठानम्। तत्क्रमं निश्चित्यैतेष्वनुष्ठानेषु विहितानुष्ठाने यः प्रवर्तते स स्वर्गापवर्गौ प्राप्नोति। अपि च

नही हैं। अतः इस मत के अनुसरण से तत्त्वज्ञान या स्वर्ग-मोक्ष की प्राप्ति नही हो सकती।

७९. **वैदिक कर्म का निषेध**—मीमासक दर्शन का मुख्य मन्तव्य यह है कि वेद का अध्ययन कर उस में कहे हुए विहित कर्म करने से ही स्वर्ग व मोक्ष की प्राप्ति होती है। दिन मे तीन वार सन्ध्या, जप, देव, ऋषि तथा पितरों का तर्पण आदि नित्य कर्म हैं। दर्श (अमावास्या), पौर्णिमा, ग्रहण आदि अवसरों पर दान आदि करना नैमित्तिक कर्म है। ये दोनों कर्म नियम से करना चाहिये क्यों कि 'विहित कर्म न करने से हानि होती है' ऐसा वचन है। काम्य कर्म दो प्रकार का है। वर्षा के लिये अथवा पुत्र के लिये इष्टि करना यह ऐहिक काम्य कर्म है। स्वर्ग के लिये ज्योतिष्टोम यज्ञ करना इत्यादि पारलौकिक काम्य कर्म है। श्येन द्वारा अभिचार (मारण) के लिये यज्ञ करना यह निषिद्ध कर्म है। इन सब कर्मों का क्रम समझ कर विहित कर्म करने से स्वर्ग-मोक्ष प्राप्त होते हैं। मोक्ष के लिये संन्यास की भी आवश्यकता नही क्यों कि 'जो

१ इहलौकिकम्। २ पारलौकिकम्। ३ मारणं कुर्वन्।

न्यायार्जितधनस्तत्त्वज्ञाननिष्ठोऽतिथिप्रियः।
श्रद्धाकृत् सत्यवादी च गृहस्थोऽपि विमुच्यते॥
[याज्ञवल्क्यस्मृतिः ३-४-२०५]

इति वचनान्मुमुक्षूणां प्रव्रज्यया भवितव्यमिति नियमो नास्तीत्यत्रापि

मोक्षार्थी न प्रवर्तेत तत्र काम्यनिषिद्धयोः।
नित्यनैमित्तिके कुर्यात् प्रत्यवायजिहासया॥

इति भाट्टाः प्रतिपेदिरे। ननु प्रत्यवायपरिहारकारतया नित्यनैमित्तिकानुष्ठानयोः प्रवर्तनात् तयोरपि काम्यानुष्ठानकुक्षौ निक्षेपात् तत्करणमपि मोक्षकांक्षिणा न विधीयत इति प्राभाकराः प्रत्यूचिरे।

ते सर्वेऽप्यनात्मज्ञा एव। वेदवाक्यानामसत्यत्वेन तदुक्तानुष्ठानात् स्वर्गापवर्गप्राप्तेरयोगात्। कथं वेदवाक्यानामसत्यत्वमिति चेत् कथ्यते। दशरथो ब्रह्महत्यापरिहारार्थमश्वमेधत्रयं विधायापि नारको बभूवेति 'तरति शोकं तरति पाप्मानं तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजते य उ चैनमेवं वेद' इत्यादीनामसत्यत्वं निश्चीयते। तथा

न्यायपूर्वक धन प्राप्त करता है, तत्त्वज्ञान मे निष्ठा रखता है, अतिथिओं का सत्कार करता है, सत्य वोलता है तथा श्रद्धावान् है वह गृहस्थ भी मुक्त होता है' ऐसा वचन है। इस लिये भाट्ट मीमासक कहते हैं कि 'मोक्ष के इच्छुक पुरुप ने काम्य और निषिद्ध कर्म नही करना चाहिये, किन्तु हानि से बचने के लिए नित्य और नैमित्तिक कर्म करना चाहिए'। प्राभाकर मीमासक नित्य और नैमित्तिक कर्म को भी काम्य कर्म में सम्मिलित करते हैं क्यों कि उन में भी हानि से बचने की कामना रहती है। अतः उन के मत से मोक्षप्राप्ति के लिए नित्यनैमित्तिक कर्म भी छोडना चाहिए।

जैन दृष्टि से मीमासकों का यह सब कथन व्यर्थ है क्यों कि इन के आधारभूत वेदवाक्य ही अप्रमाण हैं। वेदों की अप्रमाणता पहले विस्तार से स्पष्ट की है। यहा कुछ और उदाहरण देते हैं। अश्वमेध से शोक पाप और ब्रह्महत्या से छुटकारा मिलता है ऐसा कहा है किन्तु दशरथ ने तीन बार अश्वमेध करने पर भी उसे नरक की प्राप्ति कही है। गंगा-यमुना के संगम में स्नान करने पर स्वर्ग की तथा वहां मृत्यु

सितासिते सरिते यत्र संगते तत्राप्लुतासो दिवमुत्पतन्ति ।
ये तत्र तन्वा विसृजन्ति धीरास्ते जनासो अमृतत्वं भजन्ते ॥

इत्यादीनामसत्यत्वनिश्चयोऽपि गङ्गायमुनयोः संगमे त्यक्तशरीरस्यादिभरतस्य कृष्णमृगत्वेनोत्पत्तिश्रवणाद् भवति। अथ तेषा[1]मर्थवादत्वादसत्यत्वमपि स्यादिति चेन्न। 'यस्मिन् देशे नोष्णं न क्षुन्न ग्लानिः पुण्यकृत एव प्रेत्य तत्र गच्छन्ति' इत्यादीनामपि अर्थवादत्वेन असत्यत्वप्रसंगात्। तथा च स्वर्गादेरभावात् 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' इत्यादिवाक्यानामसत्यत्वं निश्चीयते ज्योतिष्टोमयाजिनः स्वर्गप्राप्तेरभावात्। अपि च वेदस्याप्रामाण्यमपि प्रागेव प्रमाणैः प्रतिपादितमित्यत्रोपारंसिष्म।

यदप्यन्यदवादीत् 'अकुर्वन् विहितं कर्म प्रत्यवायेन लिप्यते' इति तदप्यसत्। वनस्पतिमृगपशुपक्षिशूद्रादिश्वपचान्तानां वेदोक्तनित्यनैमित्तिकाद्यनुष्ठानाकरणेऽपि प्रत्यवायविलेपाभावात्। ननु तान् प्रति नित्यनैमित्तिकाद्यनुष्ठानविधानाभावात् तेषामकरणेऽपि न प्रत्यवायविलेपः। अपि तु त्रैवर्णिकानुद्दिश्य विहितत्वादकरणे तेषामेव प्रत्यवायविलेप इति चेत् तर्हि त्रैवर्णिकानां तदकरणे प्रत्यवायेन दुर्गतिप्राप्तिः तत्करणे न

होने पर अमृतत्व की प्राप्ति कही हैं किन्तु आदिभरत का वहा मृत्यु होकर भी वह कृष्ण हरिण हुआ ऐसा कहा है। इस लिये वेदवाक्य परस्परविरुद्ध होने से अप्रमाण हैं। इन में अश्वमेध के फल बतलानेवाले वाक्य अर्थवाद हैं अतः शब्दशः सत्य नही ऐसा समाधान मीमांसक प्रस्तुत करते हैं। किन्तु ऐसा मानने पर 'पुण्य करनेवाले लोग ही मृत्यु के बाद वहा पहुंचते हैं जहां उष्णता, भूख, थकान आदि की बाधा नही होती' इत्यादि वाक्यों की सत्यता भी संदिग्ध होगी। यदि स्वर्ग का अस्तित्व ही संदिग्ध हो तो 'स्वर्ग की प्राप्ति के लिए ज्योतिष्टोम यज्ञ करना चाहिए' आदि वाक्य निर्मूल होंगे।

'विहित कर्म न करने से हानि होती है' यह वाक्य भी योग्य नही है। वनस्पति, पशुपक्षी तथा शूद्र, अन्त्यज आदि विहित कर्म नही करते किन्तु उन्हें इस से कोई हानि नही होती। ये वैदिक कर्म सिर्फ त्रैवर्णिकों (ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्यों) के लिए ही विहित हैं — अन्य

१ दशरथभरतादिवर्णनायुक्तानां वेदवाक्यानाम्।

किंचित् फलमस्तीति त्रैवर्णिकत्वं महापापस्य फलं स्यात्। ननु तत्करणे न किंचिदिति न वक्तव्यं नित्यापूर्वलक्षणस्यादृष्टस्योत्पत्तिकथनादिति चेत् तर्हि नित्यापूर्वात् किं फलं भवति। न किंचित् फलमिति चेत् तर्हि तदेव तत्करणे न किंचित् फलमित्युच्यते। यदप्यवोचत् गृहस्थोऽपि विमुच्यत इति तदप्यसंगतम्।

ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थश्च भिक्षुकः[1]।

इति चतुर्णामाश्रमाणां निरूपणस्य वैयर्थ्यप्रसंगात्। 'यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्' इत्यादिवाक्यानामसत्यत्वप्रसंगाच्च। कुतः गृहस्थस्यापि मोक्षसंभवे प्रव्रज्यायाः निष्फलत्वात्।

यदपि प्राभाकरः प्रत्यचूचुदत्—नित्यनैमित्तिकानुष्ठानमपि मोक्षकांक्षिणा न विधीयत इति–तदप्यसंगतम्। सर्वानुष्ठानाभावेऽपि मोक्षसंभवे वनस्पत्यादीनामपि मोक्षप्राप्तिप्रसंगात्। अथ तेषां तत्त्वज्ञानाभावान्न मोक्षप्राप्तिरिति चेत् तर्हि जैनमतातिरिक्तानामपि तत्त्वज्ञानाभावात् मोक्षप्राप्तिर्न स्यात्। तत् कथमिति चेत् परैर्निरूपितप्रकारेण पदार्थानां याथात्म्या-

प्राणियों के लिए नही – अतः इन के न करने से त्रैवर्णिकों को ही हानि होती है यह कहें तब तो त्रैवर्णिक होना बडा दुःखदायी होगा क्यों कि उन के विहित कर्म करने से कुछ लाभ नही होता किन्तु न करने से हानि होती है। अतः यह विहित कर्म की कल्पना भी ठीक नही है। 'गृहस्थ भी मुक्त होता है' यह कथन भी अनुचित है – यदि गृहस्थ भी मुक्त होते हैं तो ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यासी – ऐसे चार आश्रमों का विधान व्यर्थ होगा। 'जिस दिन वैराग्य हो उसी दिन सन्यास लेना चाहिये' यह वाक्य भी निरर्थक होगा।

नित्य, नैमित्तिक कर्म भी मोक्षप्राप्ति के लिए छोडने चाहिए ऐसा प्राभाकरों का मत है। किन्तु सिर्फ कर्म न करने से मोक्षप्राप्ति नही होती। यदि वैसा होता तो वनस्पति आदि भी मुक्त हो जाते। अतः

१ छात्रत्वेन स्थित्वा षोडशवर्षपर्यन्तं पठति स ब्रह्मचारी ततो गृहं गत्वा परिणीतः स गृहस्थः ततः सर्वं वर्जयित्वा एका स्त्री गृहीत्वा वने स्थितः स वानप्रस्थः पश्चात् स्त्रीरहितो भिक्षुः।

संभवस्य प्रागेव प्रमाणैः प्रतिपादितत्वात्। तस्मान्मीमांसकमते मोक्षो नास्तीति निश्चीयते।

[८०. सांख्यसंमता सृष्टिप्रक्रिया।]

अथ मतम्[1]

सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टमवष्टम्भकं चलं च रजः।
गुरु वरणकमेव तमः साम्यावस्था भवेत् प्रकृतिः ॥
[सांख्यकारिका १३]

तत्र यदिष्टं प्रकाशकं लघु तत् सत्त्वमुच्यते। सत्त्वोदयात् प्रशस्ता एव परिणामा जायन्ते। यच्च चलमवष्टम्भकं धारकं ग्राहकं वा तद् रज इति कथ्यते। रजस उदयाद् रागपरिणामा एव जायन्ते। यद् गुरु आवरणकमज्ञानहेतुभूतं तत् तम इति निरूप्यते। तमस उदयाद् द्वेषाज्ञानपरिणामा एव जायन्ते। सत्त्वरजस्तमसां त्रयाणां साम्यावस्था प्रकृतिर्भवेत्।

प्रकृतेर्महांस्ततोऽहंकारस्तस्माद् गणश्च षोडशकः।
तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि ॥
[सांख्यकारिका २२]

मोक्ष के लिये तत्त्वों का यथार्थ ज्ञान आवश्यक है और प्राभाकर मत में वह सम्भव नही यह पहले स्पष्ट कर चुके हैं। अतः मीमांसक मत के अनुसरण से मुक्ति सम्भव नही है।

८०. सांख्यों की सृष्टि प्रक्रिया—अब सांख्य मत का विचार करते हैं। इन के मत से जगत में सत्त्व, रजस्, तमस् ये तीन गुण हैं। जो हलका, प्रकाशदायी हो वह सत्त्व है। जो चंचल, रोकनेवाला हो वह रजस् है। जो भारी, आच्छादित करनेवाला हो वह तमस् है। इन तीन गुणों की समता की अवस्था को प्रकृति कहते हैं। सत्त्व गुण के उदय से परिणाम प्रशस्त होते हैं। रजस् गुण के उदय से रागयुक्त परिणाम होते हैं। तमस् गुण के उदय से द्वेष तथा अज्ञानरूप परिणाम होते हैं। इन तीनों की साम्य-अवस्था प्रकृति कहलाती है। इसी को जगत की उत्पादिका, प्रधान, बहुधानक आदि नाम दिये गये हैं। प्रकृति से महान् उत्पन्न होता है – जन्म से मरण तक विद्यमान रहनेवाली बुद्धि को महान् कहते हैं। महान् से अहंकार उत्पन्न होता है –

१ निरीश्वरसाख्यस्य।

जगदुत्पादिका प्रकृतिः प्रधानं बहुधानकमिति प्रकृतेरभिधानानि च। ततः प्रकृतेर्महानुत्पद्यते। आसर्गप्रलयस्थायिनी[1] बुद्धिर्महान्। ततो महतः सकाशादहंकार उत्पद्यते अहं ज्ञाता अहं सुखी अहं दुःखी इत्यादिप्रत्ययविषयः[2]। ततोऽहंकारात् गन्धरसरूपस्पर्शशब्दाः पञ्च तन्मात्राः स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणि पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि वाक्पाणिपादपायूपस्थानि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि मनश्चेति षोडशगणाः समुत्पद्यन्ते। तेषु षोडशगणेषु पञ्चतन्मात्रेभ्यः पञ्च भूतानि समुत्पद्यन्ते। तद् यथा। गन्धरसरूपस्पर्शेभ्यः पृथ्वी, रसरूपस्पर्शेभ्यो जलं, रूपस्पर्शाभ्यां तेजः, स्पर्शाद् वायुः, शब्दादाकाशं समुत्पद्यते इति सृष्टिक्रमः। एतानि चतुर्विंशतितत्त्वानि। पञ्चविंशको जीवः इति निरीश्वरसांख्याः। षड्विंशको महेश्वरः सप्तविंशकः परममुक्त इति सेश्वरसांख्याः। तेषु तत्त्वेषु

मैं ज्ञाता हूं, मैं सुखी हूं, मैं दुःखी हूं आदि प्रत्यय इस अहंकार के विषय हैं। अहंकार से पाच तन्मात्र तथा ग्यारह इन्द्रिय ऐसे सोलह तत्त्वों का समूह उत्पन्न होता है। गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, तथा शब्द ये पाच तन्मात्र हैं। स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु तथा श्रोत्र ये पाच ज्ञानेन्द्रिय हैं; वाणी, हाथ, पाद, गुद तथा उपस्थ ये पाच कर्मेंद्रिय हैं तथा मन ग्यारहवां इन्द्रिय है। इन मे पाच तन्मात्रों से पाच महाभूत उत्पन्न होते हैं। गन्ध, रस, रूप तथा स्पर्श से पृथ्वी होती है। रस, रूप तथा स्पर्श से जल होता है। रूप तथा स्पर्श से तेज होता है। स्पर्श से वायु तथा शब्द से आकाश होता है। इस प्रकार प्रकृति से महाभूतों तक चौवीस तत्त्व हैं। पच्चीसवा तत्त्व जीव है। निरीश्वरसाख्य इतने ही तत्त्वों को मानते हैं। सेश्वरसाख्य इन में दो तत्व और जोडते हैं—महेश्वर तथा परममुक्त। इन में मूल प्रकृति अविकृति है (दूसरे किसी तत्त्व का विकार नही है)। महत् से तन्मात्रों तक सात तत्त्व प्रकृति तथा विकृति दोनों हैं (ये किसी से उत्पन्न होते हैं तथा इन से कुछ उत्पन्न होता है)।

१ आजन्मप्रलयः जन्ममरणपर्यंतम्। २ प्रत्ययो विषयो यस्याहंकारस्य सः।

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त[1] ।
षोडशकश्च[2] विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥
(साख्यकारिका ३)

इति सांख्याः सम्यक् प्रत्यपीपदन् ।

[८१. महदाद्युत्पत्तिनिषेधः ।]

अत्र प्रतिविधीयते। यत् तावदुक्तं प्रकृतेर्महानुत्पद्यत इति प्रकृतिरुपादानत्वेन बुद्धिमुत्पादयति सहकारिनिमित्तकारणत्वेन वा। न तावदाद्यः पक्षः अचेतनाया बुद्धेश्चेतनोपादानकारणकत्वानुपपत्तेः। तथा हि। बुद्धिर्नाचेतनोपादाना चेतनत्वादनुभववत्। ननु बुद्धेश्चेतनत्वमसिद्धमिति चेन्न। बुद्धिश्चेतना स्वसंवेद्यत्वात् आत्मवदिति बुद्धेश्चेतनत्वसिद्धेः। ननु बुद्धेः स्वसंवेद्यत्वाभावादयमप्यसिद्धो हेतुरिति चेन्न। बुद्धिः स्वसंवेद्या स्वप्रतिबद्धव्यवहारे संशयादिव्यवच्छेदाय सजातीयपरानपेक्षत्वात् आत्मवदिति बुद्धेः स्वसंवेद्यत्वसिद्धेः। अथ अयमप्यसिद्धो हेतुरिति चेन्न। बुद्धिः स्वप्रतिबद्धव्यवहारे संशयादिव्यवच्छेदाय सजातीयपरानपेक्षा

तथा इन्द्रिय एवं महाभूत विकृति हैं (ये किसी से उत्पन्न होते हैं – इन से कुछ उत्पन्न नही होता) पुरुष प्रकृति भी नही है तथा विकृति भी नही है। यह सांख्य मत की सृष्टि-प्रक्रिया है।

८१. महद् आदि की उत्पत्ति का निषेध—प्रकृति से बुद्धि (महान्) उत्पन्न होती है यह कथन हमें उचित प्रतीत नही होता क्यों कि प्रकृति अचेतन है तथा बुद्धि चेतन है। बुद्धि और अनुभव दोनों स्वसंवेद्य हैं। बुद्धि के विषय में कोई भी संशय बुद्धि से ही दूर हो सकता है, तथा इन्द्रियों के प्रयोग के विना ही बुद्धि का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है अतः बुद्धि स्वसंवेद्य है – अत एव चेतन भी है। अतः अचेतन प्रकृति चेतन बुद्धि का उपादान कारण नही हो सकती। साख्य मत में प्रकृति को निमित्त कारण या सहकारी कारण नही माना है अतः उस का विचार आवश्यक नही।

महत् (बुद्धि) से अहंकार उत्पन्न होता है यह कथन भी ठीक नही। बुद्धि आत्मा का गुण है अतः वह किसी का उपादान कारण

१ महानहंकारः गन्धरसरूपस्पर्शशब्दाः इति पञ्चतन्मात्राः इति सप्त। २ स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणि वाक्पाणिपादपायूपस्थानि पञ्चतन्मात्रेभ्यः जाताः पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशाः पञ्च इति षोडश।

अर्थप्रकाशकत्वात् इन्द्रियसंप्रयोगमन्तरेण प्रत्यक्षत्वात् प्रदीपवदिति तत्सिद्धेः। तस्मात् प्रकृतिरुपादानत्वेन बुद्धिं न जनयतीत्यङ्गीकर्तव्यम्। नापि द्वितीयः पक्षः। सांख्यैः प्रकृतेः सहकारिनिमित्तकारणत्वानङ्गीकारात्। ततश्च प्रकृतेर्महानुत्पद्यत इति यत् किंचिदेतत्।

तथा महतः सकाशादहंकार उत्पद्यत इत्यत्रापि। महतो बुद्धेरात्मधर्मत्वेन उपादानत्वायोगात्[1]। तथा हि। बुद्धिरुपादानकारणं[2] न भवति आत्मधर्मत्वात् अनुभववदिति। ननु बुद्धेः प्रकृतिपरिणामत्वादात्मधर्मत्वमसिद्धमिति चेन्न। बुद्धिरात्मधर्मः स्वसंवेद्यत्वात् अनुभववदिति बुद्धेरात्मधर्मत्वसिद्धेः। स्वसंवेद्यत्वं च तस्याः प्रागेव समर्थितमित्युपरम्यते। तथाहंकारोऽपि अहमिति शब्दोच्चारणम्, अहंप्रत्ययो वा, अहंप्रत्ययवेद्योऽर्थो वा स्यात्। न तावदाद्यः, शब्दोच्चारणस्य पुद्गलोपादानकारणात् ताल्वादिनिमित्तकारणात् देशकालादिसहकारिकारणादुत्पद्यमानत्वेन महदुपादानकारणकत्वाभावात्। नापि द्वितीयः अहंप्रत्यय-

नही हो सकती। बुद्धि स्वसंवेद्य है अतः वह आत्मा का गुण है। दूसरे प्रकार से भी यह तथ्य स्पष्ट करते हैं। अहकार का तात्पर्य 'अहं' इस शब्दोच्चारण से हो तो वह बुद्धि से उत्पन्न नही हो सकता क्यों कि शब्दोच्चारण तालु आदि के निमित्त से पुद्गल (जड पदार्थ) से उद्भूत होता है अतएव वह अचेतन है तथा बुद्धि चेतन है। 'अहं' इस प्रकार के ज्ञान को अहंकार मानें तो वह भी बुद्धि से उत्पन्न नही होगा क्यों कि ज्ञान आत्मा का गुण है – उस का उपादान कारण आत्मा है, बुद्धि नही। 'अहं' इस ज्ञान का विषय अहंकार है यह कहें तो भी वह बुद्धि से उत्पन्न नही हो सकता – 'अहं' इस ज्ञान का विषय स्वयं आत्मा ही है, वह बुद्धि से उत्पन्न नही हो सकता। मैं ज्ञाता हूं, सुखी हूं, दुःखी हूं आदि ज्ञान से युक्त तत्त्व यदि अहंकार है तो आत्मा इस से भिन्न क्या हो सकता है ? ऐसे अहंकार से भिन्न आत्मा का अस्तित्व किसी प्रमाण से ज्ञात नही होता। शयन आदि समूह किसी दूसरे के लिये होते हैं उसी प्रकार चक्षु आदि का समूह आत्मा के लिये है–यह अनुमान आत्मा के अस्तित्व के समर्थन में प्रस्तुत किया गया है। किन्तु चक्षु आदि का ज्ञान के सहायक

१ अहंकारं प्रति। २ अहंकारकार्यस्य।

स्यात्मोपादानकारणकत्वेन महदुपादानकारणकत्वाभावात्। तथा हि। अहंप्रत्ययः न महदुपादानकारणकः आत्मोपादानकारणकत्वात् अनुभववत्। ननु अहंप्रत्ययस्यात्मोपादानकारणकत्वमसिद्धमिति चेन्न। अहंप्रत्ययः आत्मोपादानकारणकः स्वसंवेद्यत्वात् अनुभववदिति तत् सिद्धेः। नापि तृतीयः पक्षः अहंप्रत्ययवेद्यार्थस्य आत्मत्वेन महतः सकाशादुत्पत्त्ययोगात्। ननु अहंप्रत्ययवेद्योऽर्थो अहंकार एव न त्वात्मेति चेन्न। अहं ज्ञाता अहं सुखी अहं दुःखी अहमिच्छाद्वेषप्रयत्नवानित्यहंकारस्यैव ज्ञानादिविशिष्टतया प्रतीत्यङ्गीकारे अपरात्मपरिकल्पनावैयर्थ्यप्रसंगात्[1]। एतद्व्यतिरेकेणापरात्मपरिकल्पनायां प्रमाणाभावाच्च। अथ परार्थ्यं चक्षुरादीनां संघाताच्च शयनादिवदिति[2] प्रमाणमस्तीति चेन्न। सिद्धसाध्यत्वेन हेतोरकिंचित्करत्वात्। कुतः चक्षुरादीनां ज्ञानादिविशिष्टार्थत्वेनास्माभिरप्यङ्गीकरणात्[3]। तस्मान्महतः सकाशादहंकारः समुत्पद्यत इति यत् किंचित्।

तथा तस्मादहंकारात् षोडशगणानामुत्पत्तिरित्यप्यसंभाव्यमेव।

रूप में अस्तित्व हमने भी स्वीकार किया है—उस से अहंकार और आत्मा मे भेद सिद्ध नही होता। अतः बुद्धि से अहंकार उत्पन्न होता है यह कथन भी अनुचित है।

अहंकार से सोलह तत्त्वों की उत्पत्ति भी इसी प्रकार असम्भव है—अहंकार तो स्वसंवेद्य चेतन तत्त्व है तथा इन्द्रिय एवं तन्मात्र जड पुद्गल द्रव्य के विकार हैं। ग्यारह इन्द्रिय शरीर के अवयव हैं अतः उन का जड पुद्गल द्रव्य से निर्मित होना स्पष्ट है। इसी प्रकार गन्ध, रस आदि तन्मात्र भी पृथ्वी आदि पुद्गलों के गुण हैं अतः वे भी जड हैं। पाच तन्मात्रों से पाच महाभूतों की उत्पत्ति होना भी सम्भव नही। इन में आकाश तो नित्य है—वह शब्द से उत्पन्न नही हो सकता। आकाश को नित्य मानने का कारण यह है कि वह सर्वगत है—समस्त मूर्त द्रव्यों

१ तर्हि एवंभूतोऽहंकार एव भवतु अपरात्मपरिकल्पनया किम्। २ समस्तवस्तु-पराध्य इति आत्मार्थं चक्षुरादीना संघातात् मीलनात्। आत्मा परोऽर्थः अहंकारभिन्नत्वात्। यथा चक्षुरादेः संघातात् शयनादौ सुखं भवति तथा पारार्थ्यम्। वस्तुसकाशात् आत्मनः सुखम्। ३ निद्रादिशय्यादि आत्मनः भवति न त्वहंकारस्य।

अहंकारस्याहंप्रत्ययवेद्यार्थस्याहंप्रत्ययस्य वा स्वसंवेद्यत्वेन चेतनत्वात् तद्गुणादात्त्वेन पुद्गलविकाराणां षोडशगणानामुत्पत्तेरसंभवात्। ननु षोडशगणानां पौद्गलिकत्वं कथमिति चेत् बुद्धीन्द्रियकर्मेन्द्रियमनसां शरीरावयवत्वसमर्थनेन प्रागेव पौद्गलिकत्वसमर्थनात्। गन्धरसरूपस्पर्शशब्दानां पृथ्व्यादिपुद्गलधर्मत्वेनापि प्रागेव समर्थितत्वाच्च। यदप्यन्यदवोचत् पञ्चतन्मात्रेभ्यः पञ्चभूतानि समुत्पद्यन्त इति तदप्यसारम्। आकाशस्य नित्यत्वेन शब्दादुत्पत्त्यसंभवात्। तथा हि। नित्यमाकाशं सर्वगतत्वात् आत्मवदिति। ननु आकाशस्य कार्यत्वेन सर्वगतत्वमसिद्धमिति चेन्न। आकाशं सर्वगतं सकलमूर्तिमद्द्रव्यसंयोगित्वात् आत्मवदिति तत्सिद्धेः। तथा आकाशं नित्यम् अमूर्तद्रव्यत्वात् आत्मवदिति च। ननु आकाशस्य अमूर्तत्वमसिद्धमिति चेन्न। आकाशममूर्तं स्पर्शादिरहितत्वात् आत्मवदिति तत्सिद्धेः। ननु आकाशस्य स्पर्शादिरहितत्वमसिद्धमिति चेन्न। आकाशं स्पर्शादिरहितं महत्त्वेऽपि बाह्येन्द्रियाग्राह्यत्वात् आत्मवदिति तत्सिद्धेः। तथा पृथिव्यादीनां मध्ये भूभुवनभूधरद्वीपाकूपारादीनां नित्यत्वेनोत्पत्तेरभावान्न कथमपि तन्मात्रेभ्यः समुत्पत्तिः परिकल्पयितुं शक्यते। कुतस्तेषां नित्यत्वमिति चेत् वीतं भूभुवनादिकं नित्यम् अस्मदादिप्रत्यक्षावेद्यमहापरिमाणाधारत्वात् आत्मवदिति प्रमाणादिति ब्रूमः। इतरेषां कार्यत्वेनाभ्युपगतानामपि द्व्यणुकत्र्यणुकादीनां

को अवकाश देता है, अमूर्त है – स्पर्श आदि से रहित है – विशाल होने पर भी बाह्य इन्द्रियों से ज्ञान नही होता। अतः अमूर्त आत्मा के समान आकाश भी नित्य है। पृथ्वी में भुवन, पर्वत, द्वीप, समुद्र आदि भी नित्य है इस लिये गन्ध आदिसे उनकी उत्पत्ति मानना अनुचित है। भुवन आदि को नित्य मानने का कारण यह है कि उन का विशाल परिमाण हमारे प्रत्यक्ष ज्ञान से ज्ञात नही होता। अतः नित्य पृथ्वी की उत्पत्ति का कथन अप्रमाण है। जल, तेज तथा वायु ये यद्यपि नित्य नही हैं तथापि उनकी उत्पत्ति परमाणु, द्व्यणुक आदि से होती है – रस, रूप आदि से नही होती। ये कार्य द्रव्य उन अवयवों से उत्पन्न होते हैं जो स्वयं रूप आदि गुणों से युक्त होते है – जैसे रूपादियुक्त तन्तुओं से वस्त्र होता है। परमाणुओं की उत्पत्ति तन्मात्रों से होती है यह कहना भी सम्भव नही – परमाणु का परिमाण सब से अल्प होता

परमाणुद्व्यणुकादिभिरुत्पत्तिप्रसिद्धेस्तन्मात्रादुत्पत्तिर्न संभवत्येव। तथा हि। वीताः पदार्थाः रूपादिमत्स्वावयवैरुत्पद्यन्ते 'कार्यद्रव्यत्वात् पटादिवदिति। अथ परमाणूनां तन्मात्रेभ्यः समुत्पत्तिरिति चेन्न। यत् कार्यद्रव्यं तत् स्वपरिमाणादल्पपरिमाणावयवैरारब्धं यथा पटः, कार्यद्रव्याणि च विवादापन्नानि तस्मात् स्वपरिमाणादल्पपरिमाणावयवैरारब्धानीति परंपरया अकार्याणामेव परमाणुत्वसिद्धेः। तस्मात् प्रकृतेर्महानित्यादि सृष्टिक्रमकथनं गगनेन्दीवरमकरन्दव्यावर्णनमिव बोभूयते।

[८२. प्रकृतिसाधकप्रमाणविचारः।]

अपि च। प्रकृतेः प्रमाणप्रसिद्धत्वे सति सर्वमेतदुपपद्यते। न च सा केनचित् प्रमाणेन प्रसिध्यति।

भेदानां परिमाणात् समन्वयाच्छक्तितः प्रवृत्तेश्च।
कारणकार्यविभागादविभागाद् विश्वरूपस्य[1]॥
(साख्यकारिका १५)

इत्यादिहेतुभिर्विश्वस्य किंचित्[2] कारणमस्तीत्यनुमीयते। तच्च कारणं प्रकृतितत्त्वमिति निश्चीयत इति चेत् तत्र कारणमात्रं धर्मीकृत्यास्तित्वं[3]

होता है अतः वह किसी दूसरे कारण से उत्पन्न नही है। प्रत्येक कार्य का परिमाण कारण के परिमाण से अधिक होता है, परमाणु से अल्प परिमाण की वस्तु विद्यमान नही है अतः परमाणु किसी वस्तु के कार्य नही हैं। अतः प्रकृति से महाभूतों तक सृष्टि की जो प्रक्रिया सांख्यों ने कही है वह निराधार सिद्ध होती है।

८२. प्रकृति साधक प्रमाणों का विचार—अब इस प्रक्रिया का मूलभूत जो प्रकृतितत्त्व है उसी का निरसन करते हैं। प्रकृति के अस्तित्व में सांख्यों ने निम्न हेतु बतलाये हैं - भेद परिमित हैं, भेदों में समन्वय पाया जाता है, प्रवृत्ति शक्ति के अनुसार होती है, कारण और कार्य में निश्चित विभाग है तथा विश्वरूप में विभाग नही है – इन सब कारणों से विश्वका कोई एक कारण होना चाहिये ऐसा प्रतीत होता है - उसे ही प्रकृति कहते हैं। किन्तु यह अनुमान ठीक नही है। जगत में जो भी कार्य हैं उन के कारण होते हैं यह तत्व हमें भी मान्य है–तदनुसार बुद्धि,

१ विश्वरूपं कार्यं भवितुमर्हति भेदानां कुम्भकमलादीनां परिमाणात्, विश्वरूपं कार्यं भवितुमर्हति समन्वायादित्यादि ज्ञेयम्। २ प्रकृतिः। ३ कार्यस्य।

प्रसाध्यते प्रकृतितत्त्वं धर्मीकृत्य वा। प्रथमपक्षे सिद्धसाध्यत्वेन हेतूनामकिंचित्करत्वं स्यात्। कार्यत्वेनाभ्युपगतानां बुद्धिसुखादीनामात्मोपादानत्वेन इतरकार्याणां पुद्गलोपादानत्वेन प्रागेव समर्थितत्वात्। परमाण्वाकाशभूभुवनभूधरद्वीपाकूपारादीनां तु नित्यत्वसमर्थनेन कारणजन्यत्वाभावाच्च। द्वितीयपक्षे आश्रयासिद्धो हेत्वाभासः स्यात्। कथं प्रकृतितत्त्वस्य धर्मिणः प्रमाणप्रतिपन्नत्वाभावात्।

तथा तदुक्तहेतूनामपि[1] विचारासहत्वाच्च न प्रकृतितत्त्वसिद्धिः। तथा हि। भेदानां परिमाणादिति कोऽर्थः। स्तम्भकुम्भाम्भोरुहादिभेदान परिमाणदर्शनादित्यर्थः इति चेन्न। हेतोर्भागासिद्धत्वात्। कुतः भूभुवनभूधरद्वीपाकूपाराकाशपरमाण्वादिभेदानां परिमाणदर्शनाभावात्। अथ तेषामपि भेदानां परिमाणमनुमानादागमाद् वा निश्चीयत इति चेत् तर्हि देवदत्तयज्ञदत्ताद्यात्मभेदानां परिमाणस्याप्यनुमानगम्यत्वेऽपि प्रधानकारणपूर्वकत्वाभावात् तद्भेदानां परिमाणैः हेतोर्व्यभिचारः स्यात्। ततश्च भेदानां परिमाणादिति हेतोः प्रकृतिसिद्धिर्न बोभूयते।

सुख आदि कार्यों का कारण आत्मा है तथा अन्य कार्यों का कारण पुद्गल है यह हम ने पहले स्पष्ट किया है। तथा परमाणु, आकाश, पृथ्वी आदि नित्य हैं अतः वे किसी कारण से उत्पन्न नहीं है यह भी पहले स्पष्ट किया है। यहा प्रश्न संपूर्ण जगत के एक कारण के अस्तित्व का है। उस की सिद्धि उपर्युक्त हेतुओं से नही होती। इस के स्पष्टीकरण के लिये इन हेतुओ का क्रमशः विचार करते हैं।

भेद परिमित हैं – स्तम्भ, कुम्भ, कमल आदि पदार्थों के भेद परिमित हैं – अतः उन का एक मूल कारण होना चाहिए यह हेतु ठीक नही। एक तो पृथ्वी, द्वीप, पर्वत, समुद्र, आकाश, परमाणु आदि पदार्थ अनन्त हैं अतः उन्हे परिमित कहना ठीक नही। दूसरे, इन सब को अनुमान या आगम के बल से परिमित भी मानें तो दूसरा दोष उपस्थित होता है– देवदत्त, यज्ञदत्त आदि आत्मा भी परिमित मानने होंगे अतः इन जड पदार्थों के समान सब आत्माओं का भी एक मूल कारण मानना होगा जो साख्य मत के प्रतिकूल है। अतः भेद परिमित हैं इस हेतु से प्रकृति की सिद्धि नही होती।

---

1 भेदाना परिमाणादित्यादीनाम्।

ननु समन्वयादिति हेतो[1]र्भविष्यतीति चेत् समन्वयादि ति कोऽर्थः भेदानां रागद्वेषमोहान्वितत्वं बुद्धिसुखाद्यन्वितत्वं चेति चेन्न। आत्मातिरिक्तपदार्थानां तदन्वयाभावेन[2] हेतोः स्वरूपासिद्धत्वात्। तथा हि। रागादिबुद्धयादयः आत्मन्येव वर्तन्ते आत्मधर्मत्वात् अनुभववत्। अथ रागादिबुद्धयादीनामात्मधर्मत्वमसिद्धमिति चेन्न। रागादिबुद्धयादय आत्मधर्मा एव स्वसंवेद्यत्वादनुभववदिति तत्सिद्धेः। ननु रागादिबुद्धयादीनां स्वसंवेद्यत्वमसिद्धमिति चेन्न। रागादिबुद्धयादयः स्वसंवेद्याः स्वप्रतिबद्धव्यवहारे संशयादिव्यवच्छेदाय परानपेक्षत्वात् अनुभववदिति तत्सिद्धेः। अयमप्यसिद्ध इति चेन्न। बुद्धयादयः स्वप्रतिबद्धव्यवहारे संशयादिव्यवच्छेदाय परानपेक्षाः अर्थपरिच्छित्तिरूपत्वात् व्यतिरेके पटादिवदिति तत्सिद्धेः। अथ रागादीनामर्थपरिच्छित्तिरूपाभावात् कथं तत्सिद्धिरिति चेन्न। रागादयः स्वप्रतिबद्धव्यवहारे संशयादिव्युदासाय परान्नापेक्षन्ते इन्द्रियाविषयत्वेऽपि प्रत्यक्षत्वात् व्यतिरेके पटादिवदिति[3] तत्सिद्धेः। तथा रागादयः स्वसंवेद्याः इन्द्रियाविषयत्वेऽपि प्रत्यक्षत्वात् अनुभववदिति च। तथा आत्मानः रागादिबुद्धयाद्यन्विता भवन्ति चेतन-

सब भेद समन्वित हैं – राग, द्वेष तथा मोह इन तीन में सब का समन्वय होता है – अतः इन का एक मूल कारण है यह कहना भी ठीक नहीं। राग, द्वेष, मोह, बुद्धि, सुख, दुःख, आदि आत्मा के गुणधर्म हैं अतः आत्मा से भिन्न अचेतन पदार्थों का इन में समन्वय सम्भव नही। राग, द्वेष आदि को आत्मा के गुणधर्म मानने का कारण यह है कि वे स्वसंवेद्य हैं – उन के विषय में कोई भी सन्देह किसी दूसरे द्वारा दूर नहीं होता – उन का ज्ञान आत्मा को स्वयं ही होता है। राग, द्वेष आदि का प्रत्यक्ष ज्ञान तो होता है किन्तु वे इन्द्रियों से ज्ञात नही होते अतः उन्हें स्वसंवेद्य मानना आवश्यक है। राग, द्वेष आदि चैतन्य के गुणधर्म हैं अतः वे आत्मा से भिन्न अचेतन पदार्थों में समन्वित नही हो सकते – आत्मा में ही समन्वित होते हैं। अतः भेदों के समन्वित होने से भी प्रकृति की सिद्धि नही होती।

१ प्रकृतेः कारणत्वम्। २ रागद्वेषबुद्धिसुखाद्यन्वयाभावेन। ३ ये स्वप्रतिबद्धव्यवहारे संशयादिव्युदासाय परान् अपेक्षन्ते ते इन्द्रियाविषयत्वेऽपि प्रत्यक्षा न भवन्ति यथा पटादिः।

त्वात् अजडत्वात् अजन्यत्वात् स्वसंवेद्यत्वात् व्यतिरेके पटादिवदिति च। रागादिबुद्ध्यादयः आत्मातिरिक्तपदार्थैरन्विता न भवन्ति चेतनत्वात् स्वसंवेद्यत्वात् अनुभववत्। तथा आत्मातिरिक्तपदार्थाः न रागादिबुद्ध्यादिमन्तः जडत्वात् जन्यत्वात् अस्वसंवेद्यत्वात् पटादिवदिति। तस्मात् समन्वयादिति हेतोरपि न प्रकृतिसिद्धिः।

ननु शक्तितः प्रवृत्तेश्चेति प्रकृतिसिद्धिर्भविष्यतीति चेत् शक्तितः प्रवृत्तेरिति कोऽर्थः। शक्तं कारणं कार्योत्पत्तौ प्रवर्तते इति चेत् नैतावता प्रकृतिसिद्धिः। कुतः पटोत्पत्तौ[1] तन्त्वादयः शक्ता एव प्रवर्तन्ते, तन्तूत्पत्तौ शक्ता एव अंशवः[2] प्रवर्तन्ते इत्यादिक्रमेण परमाणूनामेव मूलकारणत्वम्। तेषामपि नित्यत्वं प्रागेव समर्थितमिति न प्रकृतिजन्यत्वम्। तस्माच्छक्तितः प्रवृत्तेश्चेति हेतोरपि न प्रकृतितत्त्वं सेत्स्यति। अथ कारणकार्यविभागात् प्रकृतितत्त्वसिद्धिरिति चेन्न। तत्रापि बुद्ध्यादिकार्याणामात्मोपादानत्वमितरकार्याणां पुद्गलोपादानत्वमिति प्रागेव समर्थितत्वात्।

ननु विश्वरूपस्याविभागात् प्रधानतत्त्वं सेत्स्यतीति चेन्न। तस्यापि विचारासहत्वात्। तथा हि। कोऽयमविभागो नाम अव्यावृत्तत्वमच्छेद्यत्वं

शक्ति से ही प्रवृत्ति होती है – समर्थ कारण से ही योग्य कार्य उत्पन्न होता है – अतः विश्व रूप कार्य का एक मूल कारण होना चाहिए यह अनुमान भी ठीक नही। वस्त्र के कारण तन्तु है, तन्तु के कारण अंशु (कपास के रेशे) हैं – इस प्रकार कार्य और कारण का सम्बन्ध अन्त में परमाणु तक होता है। अतः परमाणु मूल कारण सिद्ध होते हैं। तथा परमाणु नित्य है यह पहले ही स्पष्ट किया है। अतः मूल कारण प्रकृति की सिद्धि इस हेतु से सम्भव नही। कारण और कार्य का निश्चित विभाग है अतः सब कार्यों का एक मूल कारण होना चाहिए यह अनुमान भी व्यर्थ है क्यों कि बुद्धि आदि आत्मा के कार्य हैं और रूप आदि पुद्गल के कार्य हैं यह पहले स्पष्ट किया है। (आत्मा और पुद्गल किसी कारण के कार्य हों यह इस से सिद्ध नही होता।)

विश्वरूप अविभक्त है अतः उस का एक मूल कारण होना चाहिए यह कथन भी ठीक नही क्यों कि बुद्धि आदि (चेतन तत्त्व)

१ पटकार्योत्पत्तौ। २ कार्पास। ३ अभिन्नत्वम्।

चा। प्रथमपक्षे असिद्धो हेतुः। बुद्ध्यादिपृथिव्यादीनां परस्परं व्यावृत्तत्वेनैव प्रमितत्वात्। नो चेदिष्टानिष्टवस्तुषु जनानां प्रवृत्तिनिवृत्तिव्यवहारो न जाघटयते। द्वितीयपक्षेऽप्यसिद्ध एव। घटपटलकुटमुकुटशकटादिषु च्छेद्यत्वदर्शनात्। अनैकान्तिकश्च आत्मनोऽच्छेद्यत्वेऽपि प्रकृतिजन्यत्वाभावात्। ततःप्रसाधकप्रमाणाभावात् तस्य[1] खरविषाणवद्भाव एव स्यात्।

[८३. सत्कार्यवादविचारः।]

तद्भावेऽपि कारणे विद्यमानमेव महदादि कार्यमाविर्भवतीति नोपपनीपद्यते। कारणे कार्यसद्भावावेदकप्रमाणाभावात्। ननु तदावेदकप्रमाणमस्त्येव

असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसंभवाभावात्।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत् कार्यम्[2] ॥

इति चेन्न। तेषां हेतूनामनेकदोषदुष्टत्वेन सत्कार्यप्रसाधकत्वासंभवात्। तथा हि। असदकरणादिति कोऽर्थः। ननु अविद्यमानस्य कार्यस्य खरविषाणवत् करणायोगात् सत् कार्यमिति चेन्न। तन्त्वादिष्वविद्यमानस्यैव

तथा पृथ्वी आदि (अचेतन तत्व) में विभाग प्रमाणसिद्ध है। यदि विभाग न होता तो इष्ट की प्राप्ति के लिए तथा अनिष्ट के परिहार के लिए प्रयत्न ही नही होता। अविभक्त का अर्थ अच्छेद्य मान कर भी यह हेतु सार्थक नही होता – घट आदि पदार्थ तो छेद्य हैं यह प्रत्यक्षसे सिद्ध है। दूसरे, आत्मा अच्छेद्य होने पर भी प्रकृति से उत्पन्न नही हैं। अतः विश्वरूप के अविभाग से भी प्रकृति की सिद्धि नही होती।

८२. सत्कार्य वादका विचार—सांख्य मतका दूसरा प्रमुख सिद्धान्त है कारण में ही कार्य का विद्यमान होना। इस के समर्थन में उन्हों ने निम्न हेतु प्रस्तुत किये हैं, 'असत् का निर्माण नही होता, उपादान कारण से ही कार्य होता है, सब सम्भव नही है (कारण से ही कार्य होता है), शक्तियुक्त कारण से ही शक्य कार्य होता है तथा कारण विद्यमान है – इन सब हेतुओं से कारण में कार्य का अस्तित्व स्पष्ट होता है'। इन का अब क्रमशः विचार करते हैं।

---

१ प्रकृतितत्त्वस्य। २ कारणे सदेव कार्यम् आविर्भवति असदकरणात् उपादानग्रहणादित्यादि।

पटादेः करणदर्शनेन हेतोरसिद्धत्वात्। सर्वदा विद्यमानस्य करणायोगाच्च। तथा हि। वीतं महदादिपटादिकं प्रकृतिकुविन्दादिभिर्न क्रियते सर्वदा विद्यमानत्वात् आत्मवदिति। ननु सर्वदा प्रकृत्यादितन्त्वादिषु विद्यमानस्य महदादिपटादेरभिव्यक्तिरेव क्रियते नोत्पत्तिरिति चेत् तर्हि अभिव्यक्तिरपि तत्र विद्यमाना क्रियते अविद्यमाना वा। अथ तत्र विद्यमाना क्रियते इति चेन्न। विद्यमानायाः करणायोगात्। तथा हि। विमता अभिव्यक्तिः केनापि न क्रियते विद्यमानत्वात् आत्मवदिति। ननु तत्र विद्यमानाया अप्यभिव्यक्तेरभिव्यक्तिरेव क्रियते नोत्पत्तिरिति चेत् तर्हि साप्यभिव्यक्तिस्तत्र विद्यमाना क्रियते अविद्यमाना वा। नाद्यः विकल्पः विद्यमानायाः करणायोगात्। ननु प्राग्विद्यमानाया अप्यभिव्यक्तिरेव क्रियते नोत्पत्तिरिति चेत् तत्रापि विद्यमाना अभिव्यक्तिः क्रियते अविद्यमाना वेत्यनवस्थाप्रसंगात्। अथ प्रागविद्यमाना अभिव्यक्तिः क्रियत इति चेत् तर्हि प्रागविद्यमानकार्योत्पत्तौ कः प्रद्वेषः। नन्वविद्यमानकार्योत्पत्त्यङ्गीकारे खरविषाणादेरप्युत्पत्तिप्रसंगादिति चेन्न। पटादिकार्यस्योपादानादिकारणसद्भावात् खरविषाणादेरुपादानादिकारणाभावाच्च। किं च। नास्माकमयमतिप्रसंगः अपि तु सर्वं

असत् का निर्माण नही होता अतः कारण मे कार्य का अस्तित्व मानना आवश्यक है यह कथन ठीक नही। तन्तुओं में वस्त्र विद्यमान नही होता किन्तु (तन्तुओं से ही) वस्त्र उत्पन्न होता है। दूसरे, जो पहले विद्यमान ही है वह 'उत्पन्न होता है' यह कैसे कहा जा सकता है? आत्मा सर्वदा विद्यमान होते हैं अतः उन की उत्पत्ति सम्भव नही। उसी प्रकार कार्य भी सर्वदा विद्यमान हों तो उन की उत्पत्ति भी असम्भव होगी। तन्तु आदि कारणों मे वस्त्र आदि कार्य विद्यमान तो होते हैं किन्तु उन की अभिव्यक्ति बाद में होती है (उसी को उत्पत्ति कहते हैं) यह कथन भी ठीक नही। इसे मान भी लें तो प्रश्न होता है कि इस अभिव्यक्ति की उत्पत्ति हुई या वह भी पहले से विद्यमान थी? यदि पहले ही विद्यमान थी तो 'अब अभिव्यक्ति हुई' इस कथन का कोई अर्थ नही रहता। अथवा इस अभिव्यक्ति की भी अभिव्यक्ति हुई – इस दूसरी अभिव्यक्ति की तीसरी अभिव्यक्ति हुई – इस प्रकार अभिव्यक्तियों की अनन्त परम्परा माननी होगी जो अनवस्था नामक दोष होगा। दूसरे

सर्वत्र विद्यत इति वदतः सांख्यस्यैवाभिप्रायेण खरमस्तके विषाणादि-त्रैलोक्यसद्भावप्रसंगस्यानिवार्यत्वात्। अस्माकं तु मते तुरीवेमशलाकाकुविन्दकरव्यापारादिसहकारिसमवधाने तन्तवः प्रागविद्यमानं पटं जनयन्ति, नो चेन्न जनयन्ति। तेषां तदुपादानत्वेन तथाविधयोग्यत्वसद्भावात्। खरमस्तकं तु शतसहस्रसहकारिसमवधानेऽपि विषाणं न जनयति। तस्य विषाणानुपादानत्वेन तज्जननयोग्यताभावात्। ननु कार्यजननयोग्यतास्यास्तीति अस्य नास्तीति कथं निश्चीयत इति चेत् एतज्जातीयकारणसद्भावे एतज्जातीयं कार्यं समुत्पद्यते तदभावे नोत्पद्यत इत्यन्वयव्यतिरेकयोर्भूयो दर्शनादिति ब्रूमः। अन्वयव्यतिरेकयोर्भूयोदर्शन-समधिगम्यो हि सर्वत्र कार्यकारणभाव इति न्यायात्। तस्मात् तन्त्वादिष्वविद्यमानस्य पटादेः कुविन्दादिभिः क्रियमाणत्वात् असदकरणादित्य-सिद्धो हेत्वाभासः स्यात्।

पक्ष में यदि अभिव्यक्ति की उत्पत्ति हुई यह माना जाता है तो कार्य की ही उत्पत्ति मानने मे क्या दोष है? यदि असत् कार्य की उत्पत्ति माने तो गधे के सींग जैसे असत् पदार्थों की भी उत्पत्ति माननी होगी यह आक्षेप उचित नही। जिन कार्यों के उचित उपादान कारण होते हैं उन की उत्पत्ति होती है – तन्तु-उपादान से वस्त्र उत्पन्न होता है। गधे के सींग का कोई उपादान कारण नही है अतः उस की उत्पत्ति सम्भव नही है। यह दोष उचित कारण से उचित कार्य की उत्पत्ति माननेवाले मत मे नही हो सकता। प्रत्युत एक कारण में सब कार्यों का अस्तित्व माननेवाले सांख्य मतमें ही यह दोष उपस्थित होता है। हमारे मत मे तो यही माना है कि तन्तुरूप उपादान कारण से बुनकर, करघा आदि सहकारी कारणों के मिलने पर वस्त्ररूप कार्य उत्पन्न होता है। गधे के सींग का कोई उपादान ही नही है अतः कितने ही सहकारी कारण मिल कर भी उस की उत्पत्ति नही हो सकती। कारण में कार्य उत्पन्न करने की योग्यता है या नही यह कैसे जाना जाता है यह आक्षेप हो सकता है। उत्तर यह है कि इस प्रकार के कारण से यह कार्य उत्पन्न हुआ ऐसा बार बार देखने से ही कार्यकारणसम्बन्ध का ज्ञान होता है। अतः तन्तु आदि में अविद्यमान वस्त्र की उत्पत्ति होती है। अत एव 'असत् की उत्पत्ति नही होती' यह हेतु निरर्थक है।

अथ उपादानग्रहणात् सत् कार्यमिति चेन्न। वीतं महदादिपटादि उपादानग्रहणरहितं सर्वदा विद्यमानत्वात् आत्मवदिति हेतोरसिद्धत्वात्। अथ एकस्मात् कारणात् सर्वकार्यसंभवाभावात् सत् कार्यमिति चेन्न। हेतो[1]र्बाधासिद्धत्वात्। कुतः तन्मते एकस्मिन्नपि कारणे सकलकार्यसद्भावेन सर्वसंभवसद्भावात्। ननु शक्तस्य शक्यकरणात् सत्कार्यमिति चेत् न। वीतं महदादिपटादिकं शक्तकारणव्यापारापेक्षं न भवति सर्वदा विद्यमानत्वात् आत्मवदिति शक्तस्य कारणस्य शक्यकरणाभावेन हेतोरसिद्धत्वात्। ननु कारणसद्भावात् सत्कार्यमिति चेन्न। वीतमविद्यमानकारणकं सर्वदा विद्यमानत्वात् आत्मवदिति कारणसद्भावाभावेन

कार्य उपादान से उत्पन्न होता है अतः वह (उपादान में) विद्यमान होता है यह हेतु भी ठीक नही। महत् आदि कार्य यदि (उपादान में) विद्यमान ही है तो वे उपादान को ग्रहण कर उत्पन्न नही हो सकते। जो सर्वदा विद्यमान है उस की उत्पत्ति सम्भव नही। अतः उपादानग्रहण यह हेतु भी सत्कार्यवाद को सिद्ध नही करता। एकही कारण से सब कार्य सम्भव नही होते। योग्य कारण से योग्य कार्य होते हैं – अतः कारण में कार्य का अस्तित्व माने यह भी सम्भव नही क्यों कि सांख्य मत में एक ही मूल कारण – प्रकृति – से सब कार्यों का उद्भव माना है। अतः एक कारण से सब कार्य सम्भव नही यह वे किस प्रकार कह सकते हैं ? शक्त (सामर्थ्ययुक्त) कारण से शक्य कार्य उत्पन्न होता है अतः सब कार्यों का अस्तित्व कारणों में होता है यह कथन भी ठीक नही। यदि महत् आदि कार्य विद्यमान ही होते हैं तो उनकी उत्पत्ति के लिये किसी शक्त कारण की क्या आवश्यकता है ? इसी प्रकार कारण का सद्भाव यह हेतु भी कार्य के अस्तित्व को सिद्ध नही करता – यदि कार्य विद्यमान ही हो तो उस के उत्पत्ति-कारण का कोई प्रश्न नही उठता। तात्पर्य यह की जिस प्रकार आत्मा सर्वदा विद्यमान है अतः उस के उत्पत्ति-कारण या कार्य का प्रश्न नही उठता उसी प्रकार कार्य भी सर्वदा विद्यमान हो तो उस का उत्पत्ति-कारण असम्भव होगा। यहां सांख्यों का मत है कि महत् आदि कार्य अपने अपने कारणों में विद्यमान तो होते हैं किन्तु जब उन का आविर्भाव होता है तब उन्हें उत्पन्न हुआ कहा जाता

१ सर्वसंभवाभावादिति हेतोः।

हेतोरासिद्धत्वात्। तस्मान्महदादिकं नोत्पद्यते सर्वदा विद्यमानत्वात् आत्मवत्। तथा महदादिकं न विनश्यति सर्वदा विद्यमानत्वात् आत्मवदिति च। ननु विद्यमानस्यापि महदादिपटादेर्यदा[1] आविर्भावो भवति तदा उत्पत्तिव्यवहारः यदा तिरोभावो[2] भवति तदा विनाशव्यवहार एव। न महदादिपटादेरुत्पत्तिविनाशो विद्यते इति चेत् तर्हि आविर्भावः सर्वदास्ति कदाचिद् वा। सर्वदास्ति चेत् महदादिजगतः सर्वदा आविर्भूतत्वात् महदादिकार्याणां कदाचिदप्यात्मलाभो न स्यात्। अथ प्रागविद्यमानः क्रियत इति चेत् तर्हि असत्कार्यस्योत्पत्तिरङ्गीकृता स्यात्। तस्माद् विद्यमानतत्त्वात्तुपादानकारणकं पटादिकार्यमविद्यमानमेवोत्पद्यत इत्यङ्गीकर्तव्यम्।

है तथा जब उनका तिरोभाव होता है तब उन्हें नष्ट हुआ कहा जाता है— वास्तव मे उत्पत्ति या विनाश नही होते—आविर्भाव या तिरोभाव ही होते है। इस मत का निरसन पहले किया है। यहा प्रश्न होता है कि यह आविर्भाव नया उत्पन्न होना है या सर्वदा विद्यमान होता है ? यदि आविर्भाव सर्वदा विद्यमान हो तो अमुक समय सृष्टि हुई या संहार हुआ यह कहना अथवा प्रकृति से महान् उत्पन्न हुआ आदि कहना सम्भव नही होगा। दूसरे पक्ष में यदि आविर्भाव की उत्पत्ति स्वीकार की जाती है तो कार्य को ही उत्पत्ति स्वीकार करने में क्या हानि है ? आविर्भाव भी पहले विद्यमान तो होता है किन्तु उस का आविर्भाव बाद में होता है यह कथन अनवस्था दोष का सूचक है – यदि पहले आविर्भाव का दूसरा आविर्भाव होता है यह मानें तो दूसरे आविर्भाव का भी तीसरा आविर्भाव तथा तीसरे का चौथा आविर्भाव – इस प्रकार अनन्त परम्परा माननी होगी। इसी प्रकार तिरोभाव भी सर्वदा विद्यमान होता है अथवा नया उत्पन्न होता है ? यदि तिरोभाव सर्वदा विद्यमान हो तो कभी किसी कार्य का स्वरूप प्रतीत ही नही होगा। यदि तिरोभाव नया उत्पन्न होता है यह मानें तो कार्य की भी उत्पत्ति मानने में कोई हानि नही है। तिरोभाव का पुनः आविर्भाव मानने में पूर्वोक्त अनवस्था दोष आता है। अतः वस्त्र आदि कार्य पहले अविद्यमान होते है तथा तन्तु आदि उपादान कारणों से नये उत्पन्न होते हैं यही मानना उचित है।

१ प्रकटीभावः। २ अप्रकटीभावः।

[८४. शक्तिव्यक्तिपरीक्षा ।]

ननु अविद्यमानस्य पटादिकार्यस्योत्पत्तौ खरविषाणादेरप्युत्पत्तिः। तथा हि। वीतं कार्यं नोत्पद्यते अविद्यमानत्वात् खरविषाणवदिति बाधकसद्भावात्। तस्माच्छक्तिरूपेण विद्यमानस्य कार्यस्य पश्चाद् व्यक्तिरूपं भवतीत्यङ्गीकर्तव्यमिति परः कश्चित् स्वयूथ्यः[1] प्रत्यवोचत्। सोऽप्यतत्त्वज्ञः तदुक्तेर्विचारासहत्वात्। तथा हि। अविद्यमानस्य पटस्योत्पत्तौ उपादानकारणानि तन्तवः सन्ति। निमित्तकारणानि तुरीवेमशलाकाकुविन्दकरव्यापारादीनि सन्ति। तन्तूनामातानवितानरूपविशिष्टसंयोगः सहकारि कारणमस्तीति पटस्योत्पत्तिर्भवत्येव। खरविषाणादेः कारणत्रयाभावान्नोत्पत्तिः संभाव्यते। ननु अविद्यमानस्य पटादेरेतानि तन्त्वादीनि कारणानीति कथं निरूप्यत इति चेत् एतेषु सत्सु इदं कार्यमुत्पद्यते न सत्सु नोत्पद्यत इत्यन्वयव्यतिरेकयोर्भूयोदर्शनादिति ब्रूमः। यथा तवाप्यविद्यमानस्य व्यक्तिरूपस्यैतानि तन्त्वादीनि कारणानीत्यन्वयव्यतिरेकयोर्भूयो दर्शनादेव निश्चयो नान्यथा तथा अस्माकमपीत्यर्थः। यदप्यन्यदाख्यत्–वीतं कार्यं नोत्पद्यते अविद्यमानत्वात् खरविषाणवदिति

८४. शक्ति व्यक्ति परीक्षा— कार्य के व्यक्त होने के मत का पुनः विचार करते हैं। जो कार्य विद्यमान नही है वह उत्पन्न नही हो सकता – उदाहरणार्थ, गधे के सींग की उत्पत्ति नही हो सकती – अतः कार्य पहले शक्ति रूप मे विद्यमान होता है तथा बाद मे उसी की व्यक्ति होती है यह सांख्यों का कथन है। इस का उत्तर पहले दिया ही है! जिस कार्य के योग्य उपादान, निमित्त तथा सहकारी कारण होते हैं उस की उत्पत्ति होती है तथा जिस के ऐसे कारण नही होते उस की उत्पत्ति नही होती। कार्य की उत्पत्ति के लिए कारण विद्यमान होना आवश्यक है। वस्त्र के तन्तु आदि उपादान कारण, बुनकर, करघा आदि निमित्त कारण एवं तन्तुओं का सीधा–आडा संयोग यह सहकारी कारण विद्यमान होता है अतः वस्त्र की उत्पत्ति होती है। गधे के सींग के ऐसे कोई कारण नही है अतः उस की उत्पत्ति नही होती। जब वस्त्र विद्यमान ही नही होता तब तन्तुओं को उस के कारण कैसे कहा जाता है यह आक्षेप भी उचित नही। पहले तन्तुरूप कारण हों तो ही वस्त्ररूप

[1] सांख्यमुख्यः।

तदप्यसत्। हेतोराश्रयासिद्धत्वात्। कुतः नोत्पद्यत इति धर्मिणः प्रतिषिद्धत्वेन प्रमाणगोचरत्वाभावात्[1]। धर्मिणः प्रमाणगोचरत्वाङ्गीकारे अविद्यमानत्वादिति हेतुः स्वरूपासिद्ध एव स्यात्। खरविषाणवदित्यत्र अत्यन्ताभावो दृष्टान्तत्वेनोपादीयते खरमस्तकस्थविषाणं वा। प्रथमपक्षे साधनविकलो दृष्टान्तः। अत्यन्ताभावस्य सर्वदा विद्यमानत्वात्। द्वितीयपक्षे आश्रयहीनो दृष्टान्तः। कथम्। खरमस्तके विषाणस्य त्रिकालेऽप्यसत्त्वात्।

यदप्यन्यदब्रवीत्–तस्माच्छक्तिरूपेण विद्यमानकार्यस्य पश्चाद् व्यक्तिरूपं भवतीति–तदप्यसमञ्जसम्। पटादिकार्यस्य शक्तिरूपेणावस्थानासंभवात्। तथा हि। पटादिकार्यं कस्य शक्तिरूपेणावतिष्ठते। उत्पत्स्यमानपटादिकार्यशक्तिरूपेण तन्त्वादिकारणशक्तिरूपेण वा। न तावदाद्यो विकल्पः। उत्पत्स्यमानपटादेरद्यापि स्वरूपलाभाभावेन पटादिकार्यस्य तच्छक्तिरूपेणावस्थानायोगात्। अथ तन्त्वादिकारणशक्तिरूपेणावतिष्ठते इति चेन्न। पटादिकार्यद्रव्यस्य तन्त्वादिकारणशक्ति[2]रूपेणावस्थानुपपत्तेः।

कार्य उत्पन्न होता है। तन्तु न हों तो वस्त्र नही होता – ऐसा सम्बन्ध वारवार देखने से ही तन्तु वस्त्र के कारण है यह निश्चय होता है। साख्य मत में भी वस्त्र के व्यक्त होने के कारण तन्तु है इस का निश्चय इसी प्रकार होता है। दूसरी वात यह है कि प्रस्तुत अनुमान में गधे के सींग का उदाहरण उपयोगी नही है। गधे के सींग का कभी अस्तित्व नही होता – सर्वदा अत्यन्त अभाव होता है – अतः उस का दृष्टान्त दे कर किसी कार्य का अभाव सिद्ध करना सम्भव नही।

कार्य पहले शक्ति-रूप में विद्यमान होता है – बाद में व्यक्ति-रूप प्राप्त करता है यह कथन भी अनुचित है। वस्त्ररूप कार्य किस के शक्तिरूप से विद्यमान होता है – वस्त्र के कार्य-शक्ति-रूप में या तन्तुओं के कारण-शक्ति-रूप में? इन मे पहला पक्ष सम्भव नही – जो वस्त्र अभी अपने स्वरूप को प्राप्त ही नही हुआ है वह उस के शक्तिरूप में है यह कैसे कहा जा सकेगा? दूसरा पक्ष भी सम्भव नही – वस्त्र आदि कार्य द्रव्य तन्तुओं के कारण-शक्ति-रूप में अवस्थित नही हो सकते। वस्त्र

१ वीतं कार्यं नोत्पद्यते इति निषिद्धत्वम् अभावत्वं नास्तिरूपम् अविद्यमानत्वात् इति हेतुर्न उत्पद्यते इति धर्मिणि निषेधरूपत्वे न प्रवर्तते अतः आश्रयासिद्धः।
२ तन्त्वादिशक्तिस्तु गुणः।

तथा हि। वीतं पटादिकार्यं तन्त्वादिकारणशक्तिरूपेण नावतिष्ठते द्रव्यत्वात् परमाणुवत्। तथा तन्त्वादिकारणानां शक्तिः पटादिरूपेण नाभिव्यज्यते गुणत्वात् गन्धादिवदिति। तथा तन्त्वादिकारणशक्तिः पटादिकार्यद्रव्यरूपेण नाभिव्यज्यते तद्रूपेणासत्त्वात् कालादिवदिति च। ननु तन्त्वादिकारणशक्तेः पटादिकार्यद्रव्यरूपेणासत्त्वमसिद्धमिति चेन्न। तन्त्वादिकारणशक्तिः पटादिकार्यद्रव्यरूपेण न संभवति कारणधर्मत्वात् तन्त्वादिजातिवदिति प्रमाणसद्भावात्। तथा वीतं पटादिकार्यद्रव्यं तन्त्वादि कारणशक्तिरूपेण नासीत् अस्मदादीन्द्रियग्राह्यत्वात् चन्द्रबिम्बादिवदिति च। शक्तिः पटो न भवति पटः शक्तिर्न भवतीति परस्परव्यावृत्तत्वाच्च तन्त्वादिकारणशक्तेः पटादिकार्यद्रव्यरूपेणासत्त्वसिद्धिः। किं च। कुविन्दशक्तिः पटरूपेणाभिव्यज्यते तन्तुशक्तिः पटरूपेणाभिव्यज्यते तुरीवेमशलाकादिशक्तिर्वा पटरूपेणाभिव्यज्यते। न तावदाद्यो विकल्पः। कुविन्दशक्तिः पटरूपेण नाभिव्यज्यते चिच्छक्तित्वात् कुविन्दधर्मत्वात् स्पर्शादिरहितत्वात् अद्रव्यत्वात् कुविन्दवित्तिवदिति प्रमाणैर्बाधितत्वात्। नापि द्वितीयः पक्षः। तन्तुशक्तिः पटरूपेण नाभिव्यज्यते तन्तुधर्मत्वात् अद्रव्यत्वात् स्पर्शादिरहितत्वात् तन्तुत्वजातिवदिति प्रमाणैर्बाधितत्वात्।

आदि द्रव्य है अतः वे तन्तु की शक्ति के रूप में नही रह सकते। तथा तन्तु की शक्ति गुण है अतः वह वस्त्र आदि द्रव्यों के रूप मे नही रह सकती। तन्तु-शक्ति वस्त्ररूप नही है अतः वह वस्त्ररूप में अभिव्यक्त भी नही होती। तन्तु मे विद्यमान शक्ति तन्तुरूप कारण का धर्म है अतः वह पटरूप कार्य नही हो सकती। दूसरे, वस्त्र आदि बाह्य इन्द्रियों से ग्राह्य है अतः यदि तन्तु के शक्ति-रूप मे वस्त्र विद्यमान होता तो वह भी बाह्य इन्द्रियों से ज्ञात होता, ऐसा होता नही है, अतः शक्ति और वस्त्र ये दो भिन्न वस्तुएँ है। इसी का विचार प्रकारान्तर से भी हो सकता है। वस्त्ररूप कार्य की उत्पत्ति तीन प्रकार के कारणों से होती है—तन्तु आदि उपादान, बुनकर आदि निमित्त तथा तन्तु-सयोग आदि सहकारी कारण होते हैं। इन में तन्तु की शक्ति वस्त्ररूप से व्यक्त होती है, बुनकर की शक्ति व्यक्त होती है या करघे आदि की शक्ति व्यक्त होती है? इन में बुनकर की शक्ति तो चैतन्य का गुण है, वह द्रव्य नही है, स्पर्श आदि से रहित है अतः वह वस्त्ररूप में व्यक्त नही हो सकती। इसी

नापि तृतीयः पक्षः। तुरीवेमादिशक्तिः पटरूपेण नाभिव्यज्यते तुरीवेमादिधर्मत्वात् स्पर्शादिरहितत्वात् तुरीवेमत्वजातिवदिति प्रमाणैर्बाधितत्वात्। शेषाशेषकारणशक्तेरपि एवमेव प्रयोगः कार्यः। तस्मात् पटादिकार्यं कारणशक्तिरूपेण नासीत् कारणशक्तिर्वा पटादिकार्यस्वरूपेण नाभिव्यज्यत इत्यङ्गीकर्तव्यम्।

अपि च। उत्पत्स्यमानोत्तरपर्यायाणां[1] प्राक्तनपर्यायेषु[2] सद्भावाङ्गीकारे रसरुधिरमांसमूत्रपुरीपादिपर्यायाणामप्यन्नपानखाद्यादिपर्यायेषु सद्भावात् तवाभिप्रायेण तेषामप्यभोज्यत्वमेव स्यात्। ननु अन्नपानखाद्यादिपर्यायेषु रसरुधिरमांसादिमूत्रपुरीपादिपर्यायाणां शक्तिरूपेण सद्भावोऽङ्गीक्रियते न व्यक्तिरूपेण ततो भोज्यत्वमिति चेन्न। रसरुधिरमांसादिसंकल्पमात्रेणाप्यभोज्यत्वं वदतां रसरुधिरमांसादीनां तत्र स्वरूपेण सद्भावप्रमितौ भोज्यत्वानुपपत्तेः। वीतमन्नपानादिद्रव्यं तवाभिप्रायेणाभोज्यमेव स्यात् रसरुधिरमांसाद्यात्मकत्वात् तदात्मकद्रव्यवदिति बाधितत्वाच्च। तस्मादुत्पत्स्यमानोत्तरपर्यायाणां शक्तिरूपेणापि प्राक्तनपर्यायेषु असद्भावोऽङ्गीकर्तव्यः। आविर्भावस्याप्यभिव्यक्त्यभिधानस्य प्रागविद्यमानस्याविद्यमानस्येत्यादिना प्रागेव विचारितत्वान्नेह प्रतन्यते

तरह तन्तु की शक्ति तन्तु का गुण है, वह भी द्रव्य नही है तथा स्पर्श आदि से रहित है अतः वस्त्ररूप में व्यक्त नही हो सकती। करघा आदि की शक्ति भी उन उन पदार्थों का गुण है अतः वस्त्ररूप में व्यक्त नही हो सकती। अतः कार्य पहले शक्तिरूप होता है तथा बाद में व्यक्तिरूप धारण करता है यह मत गलत सिद्ध होता है।

व्यवहार की दृष्टि से भी कारण में कार्य का विद्यमान होना सम्भव नही है। अन्न–पेय–खाद्य पदार्थों से रक्त–मास–मूत्र आदि कार्य होते हैं। यदि रक्त–मासादि कार्य अन्न पेयादि कारणों में विद्यमान हों तो सभी खाद्य पदार्थ अभक्ष्य होंगे। अन्न में रक्तमांसादि शक्तिरूप में होते हैं अतः दोप नही यह कहना भी ठीक नही। अन्न में रक्त - मासादि की कल्पना भी दोषजनक होती है - शक्तिरूप में विद्यमान होना तो दोषपूर्ण होगा ही। अतः बाद में होनेवाले कार्य पूर्ववर्ती कारणों में विद्यमान नही होते यह मानना आवश्यक है। अतः साख्य मत का सत्कार्यवाद

१ कार्याणाम्। २ कारणेषु।

स्वयूथ्यान्[1] प्रति। तस्मात् सांख्योक्तप्रकारेणापि पदार्थानां याथात्म्यानुपपत्तेः

रूपैः सप्तभिरेवं[2] बध्नात्यात्मानमात्मना[3] प्रकृतिः।
सैव च पुरुषस्यार्थं विमोक्ष[4]यत्येकरूपेण॥

(साख्यकारिका ६३)

वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य।
पुरुषविमोक्षनिमित्तं प्रवर्तते तद्वद्व्यक्तम्॥

(साख्यकारिका ५७)

इत्यादिकं कथं शोभते।

[८५ सांख्यसंमता मुक्तिप्रक्रिया।]

ननु,

दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ।
दृष्टे सापार्था[4] चेन्नैकान्ता[5]त्यन्ततोऽभावात्॥
दृष्टवदानुश्रविकः स ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः[6]।
तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्॥

(साख्यकारिका १, २)

एतयोर्व्याख्या-दुःखत्रयाभिघातात्-आध्यात्मिकमाधिभौतिकमाधिदैविक-

अनुचित है। इसीलिए 'सात रूपों से प्रकृति अपने आप को बद्ध करती है तथा पुरुष के लिए वह एक रूप से अपने आपको मुक्त करती है' यह कथन तथा 'जिस तरह अचेतन दूध बछडे की वृद्धि का कारण होता है उसी तरह अचेतन अव्यक्त (प्रकृति) पुरुष के मोक्ष के लिए प्रवृत्त होती है' यह कथन निराधार सिद्ध होता है।

८४. सांख्योंकी मुक्ति प्रक्रिया—अब साख्य मत की मुक्ति की प्रक्रिया का विचार करते हैं। उन का कथन है कि 'तीन प्रकार के दुःखों से पुरुष पीडित होते हैं अतः उन दुःखों को दूर करने के कारण जानने की इच्छा होती है। लौकिक कारणों से यह जिज्ञासा पूर्ण नही होती। क्यों कि इन से दुःख की निवृत्ति पूर्णतः या सर्वदा के लिये नही

१ साख्यान्। २ महान् अहंकारः पञ्चतन्मात्रा इति सप्त। ३ प्रकृतिर्बध्यते प्रकृतिर्विमुच्यते। ४ सैव च प्रकृतिः पुनः आत्मना आत्मानं विमोक्षयति किमर्थं पुरुषस्यार्थम्। ४ निराकृता। ५ नियमो न। ६ यज्ञे हिंसोक्तत्वात्।

मिति तापत्रयम्। तत्र क्षुत्तृषामनोभूभयाद्यन्तरङ्गपीडा आध्यात्मिकम्। वातपित्तपीनसानां वैषम्याद् रसरुधिरमांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्रमूत्रपुरीषादिवैषम्याच्च समुद्भूतमाधिभौतिकम्। देवताधिभूतपीडा आधिदैविकम्। इत्येतत्त्रयाभिघातात् तदपघातके हेतौ जिज्ञासा भवति। ननु क्षुधादिनिराकरणहेतूनामन्नाद्यौषधादिमन्त्रादितदपघातकहेतूनां दृष्टत्वात् सा निरर्थेति चेन्न। एकान्तात्यन्ततस्तदपघातकत्वाभावात्[1]। ननु आनुश्रविको वेदोक्तो योगादिस्तदनुष्ठाने कृष्णकर्मक्षयेण शुक्लकर्मप्राप्त्या स्वर्गप्राप्तिस्ततश्च दुःखत्रयाभिघातो भविष्यतीति चेन्न। अन्नौषधिमन्त्रादेरिव आनुश्रविकादपि एकान्तात्यन्ततोऽभावात्। आनुश्रविकस्य हिंसादियुक्तत्वेनाविशुद्धत्वात् तत्फलस्य क्षयातिशययुक्तत्वाच्च। तर्हि किं कर्तव्यमिति चेत् तद्विपरीतो मोक्षः श्रेयान्। स कुतः व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्। ते कीदृक्षा इत्युक्ते वक्ति—

हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम्[2]।
सावयवं परतन्त्रं[3] व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम्॥

(साख्यकारिका १०)

होती। लौकिक कारणों के समान वैदिक मार्ग भी अशुद्ध है तथा श्रेष्ठ एवं सर्वदा की दुःखनिवृत्ति नही कराता। अतः व्यक्त, अव्यक्त और ज्ञ (चेतन पुरुष) इन के ज्ञान का मार्ग श्रेष्ठ है।' इन में भूख, प्यास, कामवासना, भय, आदि आध्यात्मिक दुःख हैं; वात, पित्त, कफ की विषमता से रक्त-मांसादि में विकार होना आधिभौतिक दुःख है; देवताओं से होनेवाले कष्ट आधिदैविक दुःख हैं—ये तीन प्रकार के दुःख हैं। अन्न, औषध, मन्त्र आदि लौकिक कारणों से ये दुःख पूर्णतः और सर्वदा के लिए दूर नही होते। वेद में कहे हुए योग आदि के करने से कृष्ण कर्म नष्ट होकर शुक्ल कर्म प्राप्त होते हैं तथा उन से स्वर्ग प्राप्त होता है किन्तु स्वर्ग भी सर्वदा के लिए नही होता तथा सर्वश्रेष्ठ सुख वहां नही मिलता। दूसरे, वैदिक मार्ग हिंसा आदि दोषों से अशुद्ध है। अतः दुःखों से पूर्णतः रहित मुक्ति की प्राप्ति इष्ट है और वह व्यक्त, अव्यक्त तथा पुरुष के ज्ञान से होती है। उन का स्वरूप इस प्रकार है—' व्यक्त तत्त्व कारणों

---

१ अन्नादित्रयेण दुःखत्रयस्यापघातकत्वाभावात्। २ प्रकृतौ महान् लीनः महति अहंकारः अहंकारे षोडशगणा लीनाः इति लिंगलक्षणम्। ३ प्रकृतौ आश्रितम्।

तत्र व्यक्तं महदादि, अव्यक्तम् प्रधानं । तथा

त्रिगुणमविवेकि[1] विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि[2] ।
व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान् ॥

(साङ्ख्यकारिका ११)

तस्माच्च विपर्यासात् सिद्धं साक्षित्वमस्य पुरुषस्य ।
कैवल्यं माध्यस्थ्यं द्रष्टृत्वमकर्तृभावश्च ॥ (साङ्ख्यकारिका १९)

तथा

अकर्ता निर्गुणः शुद्धो नित्यः सर्वगतोऽक्रियः ।
अमूर्तश्चेतनो भोक्ता ह्यात्मा कपिलशासने ॥

[उद्धृत न्यायकुमुदचन्द्र पृ. ११०]

इति च । एवं प्रकृतिपुरुषयोर्भेदविज्ञानात् प्रकृतिनिवृत्तौ पुरुषस्य स्वरूपमात्रावस्थानलक्षणो मोक्ष इति चेन्न ।

व्यक्ताव्यक्तयोस्तदुक्तयुक्त्या असंभवस्य प्रागेव प्रमाणैः समर्थितत्वात् । तथा पुरुषस्यापि संसारावस्थायामिच्छाद्वेषप्रयत्नैरिष्टस्वीकारादनिष्टपरिहारात् कर्तृत्वमस्त्येवेति प्रागेव समर्थितम् । मुक्त्यवस्थायां तदभावाकर्तृत्वमस्तु[3], तत्र न विप्रतिपद्यामहे । तथा बुद्ध्यादीनामात्मगुणत्वेन

से उद्भूत, अनित्य, अव्यापक, सक्रिय, अनेक, आश्रित, गमक, परतन्त्र तथा अवयवसहित होते है । अव्यक्त का स्वरूप इस के विपरीत है । व्यक्त तथा अव्यक्तके सामान्य स्वरूप इस प्रकार हैं-वे तीन गुणों से बने हैं, विवेकरहित हैं, विषय है, सामान्य हैं, अचेतन हैं, निर्माण करते हैं । पुरुष इन से भिन्न है । पुरुष की इस भिन्नता से उस का साक्षी, केवल एक, मध्यस्थ, द्रष्टा तथा अकर्ता होना सिद्ध होता है । कपिल के मत मे आत्मा अकर्ता, निर्गुण, शुद्ध, नित्य, सर्वगत, निष्क्रिय, अमूर्त, चेतन तथा भोक्ता माना है ।' इस प्रकार प्रकृति और पुरुष के भेद का ज्ञान होनेपर प्रकृति निवृत्त होती है तथा पुरुष अपने स्वरूप मे स्थित मुक्ति प्राप्त करता है ।

साङ्ख्य मत की यह सब प्रक्रिया जिस व्यक्त–अव्यक्त तत्त्ववर्णन पर आधारित है उसका निरसन पहले ही किया है । अतः यह प्रक्रिया भी निराधार सिद्ध होती है । इसमे आत्मा को अकर्ता कहा है यह भी ठीक नही है । मुक्त अवस्था में आत्मा के इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, आदि नही

१ सत्त्वं रजस्तमः । २ उत्पत्तिमत् । ३ इच्छाद्वेषादीनामभावः अकर्तृत्वमात्मनोऽस्तु ।

प्रागेव प्रबन्धेन समर्थितत्वादात्मनो निर्गुणत्वमप्यसिद्धमेव। तथा शुद्धत्वमप्यात्मनो मुक्तावस्थायां भवेदेव। संसारावस्थायां पुनरवलोह[1]विलिप्तसुवर्णवदात्मनः कर्मविलिप्तत्वादशुद्धत्वमेव। ननु कर्मविलेपः प्रकृतितत्त्वस्यैव न पुरुषस्येति कथं पुरुषस्याशुद्धत्वमिति चेन्न। प्रकृतितत्त्वस्यैव कर्मविलेपस्तत्फलभोगस्तत्क्षयात् मोक्षश्च यदि स्यात् तर्हि पुरुषकल्पनावैयर्थ्यप्रसंगात्।

ननु प्रकृतितत्त्वस्याचेतनत्वाद् भोक्तृत्वं नोपपनीपद्यते। अपि तु इन्द्रियाण्यर्थमालोचयन्ति, इन्द्रियालोचितमर्थं मनः संकल्पयति, मनःसंकल्पितमर्थं बुद्धिरध्यवस्यति, बुद्ध्यध्यवसितमर्थमहंकारोऽनुमन्यते, अहंकारानुमितार्थं पुरुषश्चेतयते। तथा चोक्तम्—

विविक्ते[2] दृक्परिणतौ बुद्धौ भोगोऽस्य[3] कथ्यते।
प्रतिबिम्बोदयः स्वच्छे यथा चन्द्रमसोऽम्भसि॥

[आसुरि]

होते अतः वह अकर्ता होता है, किन्तु संसारी अवस्था में इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, इष्ट का स्वीकार, अनिष्ट का परिहार आदि होनेसे आत्मा को कर्ता मानना आवश्यक है। इसी प्रकार बुद्धि आदि आत्माके गुण हैं यह पहले स्पष्ट किया है अतः आत्मा को निर्गुण कहना उचित नही। आत्मा को शुद्ध कहना भी मुक्त अवस्था में ही उचित है। संसारी अवस्था मे वह मलयुक्त सुवर्ण के समान कर्मरूपी मल से युक्त—अतएव अशुद्ध होता है। सांख्यों के मत मे कर्मोंका लेप प्रकृति को ही माना है। किन्तु कर्मों से प्रकृति के लिप्त होने पर कर्मों का फल भी प्रकृति को ही मिलेगा तथा कर्मों के क्षय होने पर मोक्ष भी प्रकृतिको ही मिलेगा। इस से पुरुष का अस्तित्व मानना ही व्यर्थ सिद्ध होगा।

इस पर सांख्यों का कहना है कि प्रकृति अचेतन है अतःवह भोक्ता नही हो सकती—पुरुष चेतन है अतः भोक्ता होता है। उनके मतानुसार इन्द्रियों से पदार्थों का आलोकन होता है, इस आलोकन से मन संकल्प करता है, मन के संकल्प पर बुद्धि निश्चय करती है, इस निश्चय को अहंकार अनुमति देता है तथा तदनंतर उस का उपयोग

१ किट्टिकादि। २ आत्मनः। ३ पदार्थे।

इति पुरुषस्यैव भोगस्तदर्थं पुरुषः परिकल्प्यत इति चेन्न। तथा सति कृतनाशाकृताभ्यागमदोषप्रसंगात्। तत् कथम्। सदाचारदुराचाराभ्यां प्रकृतितत्त्व मेव शुक्लं कृष्णं कर्म वध्नाति, तत्फलं सुखदुःखादिकं पुरुषोऽनुभुङ्क्त इति। अथ तथैवास्त्विति चेन्न। अकर्तुरपि कर्मफलभोगे मुक्तात्मनामपि तत्फलभोगप्रसंगात्। किंच। आत्मनः कर्मकर्तृत्वाभावे तत्फलभोगोऽपि न प्रसज्यते। तथा हि। वीतात्मानः न कर्मफलभोक्तारः तदकर्तृत्वात् मुक्तात्मवदिति। तस्मात् आत्मनः कर्मफलभोक्तृत्वमिच्छता तत्कर्तृत्वं तद्वद्धत्वं च अङ्गीकर्तव्यम्। तथा च आत्मनः संसारावस्थायामशुद्धत्वं सिद्धम्। तथा सर्वगतत्वाभावस्यापि प्राक् प्रमाणैः प्रतिपादितत्वादक्रियत्वाभावोऽपि निश्चीयते। तस्मात् सांख्योक्तप्रकारेण जीवतत्त्वस्यापि याथात्म्यासंभवात् तद्विषयविज्ञानस्य मिथ्यात्वेन अज्ञानत्वात् ततः सर्वदा वन्ध एव न ततो मुक्तिः। तथा चोक्तं तेनैव

पुरुप को होता है। कहा भी है—'जिस तरह स्वच्छ जल मे चंद्र का प्रतिबिम्ब पडता है उसी तरह बुद्धि की विवेक युक्त दृष्टि होने पर इस पुरुप को उपभोग प्राप्त होता है।' किन्तु प्रकृति को कर्ता और पुरुप को भोक्ता मानने का यह मत योग्य नही। यदि सदाचार और दुराचार प्रकृति ही करती है तथा शुक्ल और कृष्णकर्म भी प्रकृति के ही होते हैं तो उन का सुखदु:ख रूप फल पुरुप को कैसे मिलेगा? यह तो कृतनाश तथा अकृताभ्यागम दोष होगा (जिस प्रकृति ने कर्म किया उसको कुछ फल नही मिला तथा जिस पुरुष ने कुछ कर्म किया नही उसे फल मिला——ये कृतनाश तथा अकृताभ्यागम दोप है।) यदि कर्म न करने पर भी फल मिलता हो तो मुक्त आत्माओं को भी फल मिलेगा। मुक्त आत्माओ के समान यदि (ससारी) पुरुप भी अकर्ता है तो उसे भी कोई फल नही मिलना चाहिये। अतः आत्मा को भोक्ता मानना हो तो कर्ता और कर्मबद्ध भी मानना आवश्यक है। अत: संसारी अवस्था में आत्मा अशुद्ध सिद्ध होता है। आत्मा के सर्वगत तथा अक्रिय होने का खण्डन पहले ही किया है। अतः साख्य मत में आत्म-तत्त्व का यथाथ ज्ञान प्राप्त नही होता। इसलिए यह मत बन्ध का कारण है—मुक्ति का

धर्मेण गमनमूर्ध्वं गमनमधस्तात् भवत्यधर्मेण ।
ज्ञानेन चापवर्गो विपर्ययादिष्यते बन्धः ॥
(सांख्यकारिका ४४)

इति । तस्मात् सांख्यपक्षोऽपि मुमुक्षूणामुपेक्षणीय एव स्यात् ।

[८६ क्षणिकवादनिरासः ।]

अथ मतम्

आकाशं द्वौ निरोधौ[1] च नित्यं त्रयमसंस्कृतम्[2] ।
संस्कृतं क्षणिकं सर्वमात्मशून्यमकर्तृकम् ॥

तथा हि । विद्युज्जलधरप्रदीपतनुकरणभुवनादीनां विनाशस्वभावत्वेन क्षणिकत्वं सिद्धमेव । अथ तेषां विनाशस्वभावत्वमसिद्धमिति चेन्न । वीताः पदार्था विनाशस्वभावाः विनाशं प्रत्यन्यानपेक्षत्वात् यद् यद् भावं प्रत्यन्यानपेक्षं तत् तत् स्वभावनियतं यथा अन्त्यकारणसामग्री[3] स्वकार्यजनने । ननु तेषां विनाशं प्रत्यन्यानपेक्षत्वमसिद्धं वातानलाद्युपघातेन विनाशदर्शनादिति चेन्न । तदसंभवात् । तथा हि । तेन क्रियमाणो

नहीं । जैसा कि उन्होंने कहा है–'धर्म से ऊपर की गति मिलती है । अधर्म से अधोगति होती है । ज्ञान से मुक्ति मिलती है तथा अज्ञान से बन्ध होता है ।' अतः मोक्ष के लिए सांख्य मत उपयुक्त नहीं है ।

८६. **क्षणिक वाद का निरास**—अब बौद्धों के क्षणिकवाद का विचार करते हैं । उन के मतानुसार–'आकाश तथा दो निरोध (चित्त सन्तान की उत्पत्ति तथा उच्छित्ति) ये तीन तत्त्व असंस्कृत तथा नित्य है । बाकी सब तत्त्व संस्कृत, क्षणिक, कर्ता से रहित तथा आत्मासे रहित हैं । ' बिजली, बादल, दीपक, शरीर, इन्द्रिय, भुवन आदि स्वभावतः विनाशशील हैं अतः क्षणिक हैं । पदार्थों के विनाश के लिए किसी दूसरे की जरूरत नहीं होती—वे स्वभाव से ही विनाशी होते हैं । अंतिम क्षण की कारण सामग्री स्वभावतः कार्य उत्पन्न करती है–उसे कार्योत्पत्ति के लिए किसी दूसरे की अपेक्षा नहीं होती उसी प्रकार पदार्थोंको विनाश के लिए दूसरे की अपेक्षा नही होती अतः उनका स्वभाव ही विनाश है ।

---

१ चित्तसन्तानोत्पत्तिलक्षणो निरोधः सन्तानोच्छित्तिलक्षणो विनाशः द्वितीयो निरोधः । २ संस्काररहितं । ३ स्थासकोशकुशुलान्तरं अन्त्यसमये घटकार्यस्य परापेक्षत्वं नास्ति घटकार्यस्वरूपमेव ।

विनाशः प्रदीपादेर्भिन्नः अभिन्नो वा। भिन्नश्चेत् प्रदीपादेर्नित्यत्वं स्यात्। स्वस्माद् भिन्नस्य विनाशस्य तदवस्थत्वात्। अभिन्नस्य करणे[1] प्रदीपादिरेव कृतः स्यात्। तस्य पूर्वमेव सिद्धत्वाद् वाताद्युपघातेन करणं व्यर्थमेव स्यात्। तस्मात् प्रदीपादिपदार्थानां विनाशं प्रत्यन्यानपेक्षत्वसिद्धिः। विनाशस्वभावत्वसिद्धिः ततश्च विवादाध्यासितानां क्षणिकत्वसिद्धिरिति वैभाषिकः[2]।

ननु तथा दृष्टान्तावष्टम्भेन व्योमादीनामपि क्षणिकत्वं सेत्स्यति। तथा हि। यत् सत् तत् क्षणिकं यथा प्रदीपः, सन्तश्चामी व्योमादय इति[3]। अथ निरोधानां सत्त्वाभावाद् भागासिद्धो हेत्वाभास इति चेन्न। तेषामप्यर्थक्रियाकारित्वेन सत्त्वसंभवात्। तथा चोक्तम्

यदेवार्थक्रियाकारि तदेव परमार्थसत्।
अन्यत् संवृति[4] सत् प्रोक्ते ते स्वसामान्यलक्षणे ॥

[उद्धृत–न्यायकुमुदचन्द्र पृ. ३८२]

(दीपक के) नाश मे हवा कारण है अथवा (वस्त्र के नाग में) अग्नि कारण है आदि कहना ठीक नही। यहां प्रश्न होता है कि हवा (या अग्नि) जिसका नाश करती है वह दीपक उस नाश से भिन्न है या अभिन्न है ? यदि दीपक नाश से भिन्न हो तो वह नित्य सिद्ध होगा। यदि वह नाश से अभिन्न है तो ‘ दीपक का नाश किया ’ का अर्थ ‘ दीपक किया ’ यही होगा। अतः दोनों पक्षों में हवा ने दीपक का नाश किया यह कहना सम्भव नही। दीपक का स्वभाव ही विनाश है–उस में किसी दूसरे कारण की अपेक्षा नही है। दीपक के समान सभी पदार्थ क्षणिक सिद्ध होते हैं। यहा तक वैभाषिक संप्रदाय के बौद्धों का मत प्रस्तुत किया है।

सौत्रान्तिक बौद्धों का कथन इस से बढकर है। वे कहते हैं कि जो सत् है वह क्षणिक होता है। अतः दीपक आदि के समान आकाश आदि भी क्षणिक हैं। दो निरोध सत् नही हैं अतः क्षणिक नही हैं यह कहना भी ठीक नही। ये निरोध भी सत् है क्योंकि वे अर्थक्रिया करते हैं। कहा भी है–‘ जो अर्थक्रिया करता है उसे परमार्थ सत् कहते हैं–बाकी सब संवृति सत् (काल्पनिक) है।’

१ प्रदीपादेरभिन्नस्य विनाशस्य करणे। २ बौद्धभेदः। ३ व्योमादयः क्षणिकाः सत्त्वात्। ४ कल्पना।

इति सौत्रान्तिकः प्रत्यवोचत्। तावुभावप्यमाणिकौ स्याताम्। तथा हि।

यदप्यवादीद् वैभाषिकः पदार्थानां विनाशस्वभावसमर्थनार्थं-वीताः पदार्थाः विनाशस्वभावाः विनाशं प्रत्यन्यानपेक्षत्वात्, यद् यद् भावं प्रत्यन्यानपेक्षं तत् तत् स्वभावनियतं, यथा अन्त्या कारणसामग्री स्वकार्यजनने इति-तदप्यसमञ्जसम्। विनाशं प्रत्यन्यानपेक्षित्वादिति हेतोरसिद्धत्वात्। कुतः। वाताद्युपघातेन प्रदीपादेर्विनष्टत्वदर्शनात्। एवं च तेन क्रियमाणो विनाशः प्रदीपादेर्भिन्नः अभिन्नो वा क्रियत इत्याद्ययुक्तम्। प्रदीपादेर्भिन्नस्याभिन्नस्य वा विनाशस्यानङ्गीकारात्। कुतः। वाताद्युपघातेन प्रदीपादिः स्वयमेव विनष्टो लुप्त इत्युक्तत्वात्। स्वतोविनाशपक्षेऽपि भिन्नाभिन्नविकल्पयोः समानत्वेन स्वव्याघातित्वाच्च। किं च। भावानां विनाशं प्रत्यन्यानपेक्षित्वनियमे सौगतानामविद्यातृष्णाविनाशलक्षणो[1] मोक्षः सन्तानोच्छित्तिलक्षणो[2] वा मोक्षो नाष्टाङ्गहेतुको[3] भवेत्। दृष्टान्तस्य साध्यसाधनोभयविकलत्वं च। कुतः अन्त्यकारणसामग्र्यां स्वकार्य-

बौद्धों का यह सब कथन अप्रमाण है। दीपक आदिका नाश हवा आदि से होता है। अतःउसे स्वभावतः विनाशी कहना ठीक नही। दीपक विनाश से भिन्न है या अभिन्न है ये दो पक्ष प्रस्तुत करना भी व्यर्थ है– दीपक ही जब विनष्ट या लुप्त हो जाता है तब उस के भिन्नत्व अभिन्नत्व की चर्चा कैसे सम्भव है? दूसरे, स्वभाव से दीपक का विनाश मानने में भी दीपक विनाश से भिन्न है या अभिन्न है आदि आपत्ति उठाई जा सकती है। तब तो दीपक का विनाश होता है यह कहना ही सम्भव नही होगा। अतः ये पक्ष प्रस्तुत करना व्यर्थ है। व्यावहारिक दृष्टि से भी विनाश को स्वतः स्वाभाविक मानना उचित नही। अविद्या तथा तृष्णाके नाश को अथवा चित्त–सन्तान के उच्छेद को बौद्ध मोक्ष मानते हैं। यदि सभी नाश स्वभावतः होते हैं तो यह मोक्ष भी स्वभावतः होगा– सम्यक् दृष्टि आदि आठ अंगों को मोक्ष का कारण कहना व्यर्थ होगा। इस अनुमान में जो दृष्टान्त दिया है वह भी उपयुक्त नही है– अन्तिम क्षण की कारण सामग्री कार्य को स्वभावतः उत्पन्न करती है यह

१ जीवन्मुक्तिः। २ परममुक्तिः। ३ अष्टाङ्गानि सम्यक्त्वं संज्ञा संज्ञी वाक्कायकर्मान्तर्व्यायामाजीवस्थितिसमाधिलक्षणानि। उत्तरेण व्याख्यानं करिष्यति।

जननस्वभावत्वं स्वकार्यजननं प्रत्यन्यानपेक्षत्वमेवोभयवादिसंप्रतिपन्नत्वेन विवक्षितम्, न तु विनाशस्वभावत्वं विनाशं प्रत्यन्यानपेक्षत्वं वा। तत्र[1] द्वयोर्विप्रतिपत्तिसद्भावात्। तस्माद् भावानां विनाशस्वभावत्वासिद्धेर्न क्षणिकत्वसिद्धिः वैभाषिकस्य।

यदपि क्षणिकत्वसमर्थनार्थं सौत्रान्तिकः प्रत्यपीपदत्-यत् सत् तत् क्षणिकं[2] यथा प्रदीपादिः सन्तश्चामी व्योमादय इति तदयुक्तम्। हेतोः स्वरूपासिद्धत्वात्। कुतः क्षणिकपदार्थेषु सत्त्वस्यानुपपत्तेः तत् कथमिति चेत् यदेवार्थक्रियाकारि तदेव परमार्थसदिति स्वयमेवाभिधानात्। क्षणिकेषु क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाकारित्वासंभवात्। तथा हि। क्षणिकस्य तावत् क्रमेणार्थक्रियाकारित्वं नोपपनीपद्यते। देशकालक्रमयोस्तत्रासंभवात्। कुतः

यो यत्रैव स तत्रैव यो यदैव तदैव सः।
न देशकालयोर्व्याप्तिर्भावानामिह विद्यते॥

इति स्वयमेवाभिधानात्। तथा क्षणिकस्य यौगपद्येनापि अर्थक्रिया न जाघटीति। एकस्मिन् समये उत्तरोत्तरानन्तसमयेषु क्रियमाणार्थक्रियाणां

कथन तो ठीक है किन्तु इस से विनाश भी स्वभावत: होता है यह सिद्ध नही होता। कार्य उत्पन्न करना और विनाश होना ये अलग बातें हैं अत: एक से दूसरे की सिद्धि नहीं होती।

जो सत है वह क्षणिक होता है यह सौत्रान्तिकों का कथन भी उचित नही है। बौद्धों ने उन्हीं को सत् माना है जो अर्थक्रिया कर सकते हैं, क्षणिक पदार्थ अर्थक्रिया नही कर सकते, अत: क्षणिक पदार्थों को सत् कहना योग्य नही। क्षणिक पदार्थों मे अर्थक्रिया क्रम से और एकसाथ–दोनों प्रकारों से सम्भव नही है। जो पदार्थ क्षणिक है उन में देश अथवा काल का कोई क्रम नही हो सकता अत: वे क्रम से अर्थक्रिया नही कर सकते। जैसा कि बौद्धों ने ही कहा है–'जो जहा और जिस समय है वह वहीं और उसी समय होता है–पदार्थ देश या काल में व्यापक नही होते।' कोई क्षणिक पदार्थ एकसाथ (एक ही क्षण में) भी सब अर्थक्रिया नही कर सकता। उत्तरवर्ती अनन्त समयों की अर्थ-

---

१ विनाश-स्वभावत्वविनाशं प्रत्यन्यानपेक्षत्वयोः। २ पदार्थाः सर्वे क्षणिकाः सत्त्वात्।

कर्तुमशक्यत्वात्। शक्यत्वे वा द्वितीयादिसमयेषु अर्थक्रियाभावेनासत्त्वप्रसंगाच्च। तस्यासत्त्वे तत्पूर्वक्षणिकस्याप्यर्थक्रियाभावेनासत्त्वं तस्यासत्त्वे तत्पूर्वक्षणिकस्याप्येवमसत्त्वमिति सर्वशून्यतापातात् क्षणिकत्वं कौतस्कुतम्। ननु एकस्मिन् समये कतिपयार्थक्रियाः करोति[1] अनन्तरसमयेऽपरार्थक्रियाः करोति तदनन्तरसमयेऽप्यपरार्थक्रियाः करोति तेनैवं पदार्थक्रियाकारित्वमिति चेन्न। एवं सत्यक्षणिकत्वप्रसंगात्[2] यो यदैव तदैव स इत्यागमबाधितत्वाच्च।

किं च। क्षणिकं वस्तु स्वोत्पत्तिसमये कार्यं जनयत्यनन्तरसमये वा। न द्वितीयः, स्वोत्पत्तिसमय एकः कार्यजननसमय एक इति क्षणद्वयावस्थायित्वेनाक्षणिकत्वप्रसंगात्। नापि प्रथमः। स्वोत्पत्तिसमये कार्यजनकत्वे तत् कारणस्यापि स्वोत्पत्तिसमये स्वकार्यजनकत्वं तत् कारणस्यापि स्वोत्पत्तिसमये स्वकार्यजनकत्वमिति सकलकार्याणामनादित एव

क्रिया वह पूर्ववर्ती एक समय मे नही कर सकता। यदि करे तो बाद के समयों मे कोई अर्थक्रिया अवशिष्ट नही रहेगी। इस तरह अर्थक्रियारहित होने से क्षणिक पदार्थ शून्यवत् सिद्ध होते हैं फिर यह पदार्थ क्षणिक हैं यह कहना भी कैसे सम्भव है? क्षणिक पदार्थ एक समय मे कुछ अर्थक्रिया करते हैं, दूसरे समय मे दूसरी अर्थक्रिया करते हैं, तीसरे समय में तीसरी अर्थक्रिया करते हैं यह कहना भी सम्भव नही—इस से तो एक पदार्थ का एक से अधिक समयों में अस्तित्व सिद्ध होता है अतः पदार्थों को क्षणिक कहना सम्भव नही होगा।

प्रकारान्तर से भी इस का विचार करते हैं। क्षणिक पदार्थ जिस क्षण में उत्पन्न होता है उसी क्षण में अपने कार्यको उत्पन्न करता है या उस से दूसरे क्षण में उत्पन्न करता है? यदि दूसरे क्षण में करता हो तो उत्पत्ति का क्षण और कार्य उत्पन्न करने का क्षण—इस तरह दो क्षणों में इस पदार्थ का अस्तित्व सिद्ध होता है—तब पदार्थ को क्षणिक कहना सम्भव नही। यदि पदार्थ की उत्पत्ति का और उसके कार्य की उत्पत्ति

---

१ क्षणिक कर्तृभूतम्। २ क्षणिकं कर्तृभूतम् एकस्मिन् समये कतिपयपदार्थक्रियाः करोति अनन्तरसमये तदेव क्षणिकं कतिपयपदार्थक्रियाः करोति इति अक्षणिकं तावत् कालं स्थितिं करोति अतः।

एकस्मिन् समये समुत्पत्तिप्रसंगात्। तथा च तदनन्तरसकलसमयेषु अर्थक्रियाशून्यत्वेनासत्त्वप्रसंगात्। तस्मात् क्षणिकपदार्थे क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाकारित्वासंभवेन सत्त्वासंभवात् हेतोः[1] स्वरूपासिद्धत्वं समर्थितम्।

[८७ प्रत्यभिज्ञाप्रामाण्यम्।]

तस्माद् दीपादयो वीताः पदार्था अक्षणिकाः स एवाहं स एवायमिति प्रत्यभिज्ञाविषयत्वात्। यः क्षणिकः स प्रत्यभिज्ञाविषयो न भवति यथा प्रदीपशिखानिर्गतो धूमः, तथा चायं तस्मात् तथेति[2] प्रतिपक्षसिद्धेः। ननु प्रत्यभिज्ञानस्य प्रामाण्याभावात् न ततोऽक्षणिकत्वसिद्धिरिति चेन्न। वीतं प्रत्यभिज्ञानं प्रमाणमेव अबाधितविषयत्वात् निर्दुष्टप्रत्यक्षवदिति तस्य प्रामाण्यसिद्धेः। अथ प्रत्यभिज्ञानस्याबाधितविषयत्वमसिद्धमिति चेन्न। तद्विषयस्य बाधकासंभवात्। न तावत् सविकल्पकं प्रत्यक्षं बाधकं तस्य स्थिरार्थग्राहकत्वेन साधकत्वात्। नापि निर्विकल्पकं प्रत्यक्षं बाधकं तस्यैवाभावात्। भावे वा[3] तस्य स्थिरार्थवार्तानभिज्ञत्वेन बाधकत्वानु-

का क्षण एकही हो तो सब कार्य अपने कारण के ही समय हो जायेंगे– कारण का समय और कार्य का समय भिन्न नही रहेगा। अतः एकही समय सब कार्य हो जाने पर बाकी समयों मे कोई कार्य नही होगा–सब शून्य होगा। अतः क्षणिक पदार्थों मे कार्यकारण सम्बन्ध भी सम्भव नही है। अतः जो सत् हैं वे क्षणिक हैं यह कथन अयोग्य है।

८७. प्रत्यभिज्ञा प्रामाण्य—मै वही हूं, ये पदार्थ वही है–इस प्रकार प्रत्यभिज्ञान से भी दीपादि पदार्थों का एक से अधिक क्षणों में अस्तित्व सिद्ध होता है। जो पदार्थ एक क्षण मे नष्ट हो जाता है उसे बाद मे 'यह वही है' इस प्रकार पहचानना सम्भव नही। बौद्ध प्रत्यभिज्ञान को प्रमाण नही मानते किन्तु उन का यह मत उचित नहीं है। प्रत्यभिज्ञान प्रमाण है क्यों कि उस का विषय निर्दोष प्रत्यक्ष के समान अबाधित होता है– जो ज्ञान बाधित नही होता उसे अवश्य ही प्रमाण मानना चाहिये। प्रत्यभिज्ञान में सविकल्पक प्रत्यक्ष बाधक नही हो सकता–सविकल्पक प्रत्यक्ष से स्थिर पदार्थों का ज्ञान होता है अतः वह प्रत्यभि-

१ सत्त्वात् इति हेतोः। २ अयं पदार्थः प्रत्यभिज्ञानविषयः तस्मात् तथेति अक्षणिकः। ३ निर्विकल्पकस्य भावे।

पपत्तेः। नाप्यनुमानं बाधकं क्षणिकत्वप्रसाधकानुमानानां प्रागेव निराकृतत्वात्। नागमोऽपि बाधकः। उभयाभिमततथाविधागमाभावात्[1]। सौगतमते प्रत्यक्षानुमानाभ्यामन्यप्रमाणाभावाच्च। तस्मात् प्रकृतप्रत्यभिज्ञानस्य बाधकाभावात् प्रामाण्यसिद्धेस्ततो विमतानामात्मादिपदार्थानामक्षणिकत्वसिद्धिर्भवेदेव।

तथा आत्मनोऽक्षणिकाः दत्तनिक्षेपादिग्राहकत्वात् व्यतिरेके प्रदीपशिखानिर्गतधूमवत्। यदि क्षणिकत्वं न दातुर्निक्षेपकस्य वा तदानीं विनष्टत्वे तत्पदार्थं स्मृत्वा पुनरनुगृह्णीयात्। ननु संस्कारसद्भावात् तद्वशेन ग्रहणं भविष्यतीति चेन्न। तस्यापि क्षणिकत्वेन तदानीं विनष्टत्वात्। अथ उत्तरोत्तरसंस्कारोत्पत्तेः सद्भावात् तद्वशेन पुनस्तद्ग्रहणं भविष्यतीति चेन्न। तेषां तद्वस्तुवार्तानभिज्ञत्वात्। तथा दत्तनिक्षिप्तपदार्थाः अक्षणिकाः स्मृत्वा पुनर्ग्राह्यत्वात् व्यतिरेके चपलादिवदिति च।

तथा आत्मनः अक्षणिकाः भूयो दर्शनात् गृहीतव्याप्तेः स्मारकत्वात्

ज्ञान का साधक ही होगा। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष से भी बाधा सम्भव नही। एक तो निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का अस्तित्व ही नही होता (यह आगे सिद्ध करेंगे), हुआ भी तो स्थिर पदार्थ उस के विषय नही होते अतः उस विषय में वह बाधक नही हो सकता। क्षणिकत्व के समर्थक अनुमानों का अभी खण्डन किया है। अतः अनुमान भी प्रत्यभिज्ञान में बाधक नही हो सकता। आगम भी बाधक नही हो सकता क्यों कि एक तो जैन और बौद्ध दोनों को मान्य आगम ही नही है, दूसरे, बौद्धों के मत से प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो ही प्रमाण हैं। अतः प्रत्यभिज्ञान का कोई बाधक प्रमाण न होने से उसे भी प्रमाण मानना चाहिए। प्रत्यभिज्ञान प्रमाण से आत्मा आदि पदार्थ स्थिर ही सिद्ध होते हैं–क्षणिक नही।

यदि पदार्थ दीपक के धुंए जैसे क्षणिक हों तो किसी के पास धन धरोहर रखना और उसे वापस लेना आदि व्यवहार नही हो सकेंगे। धन रखते समय जो व्यक्ति है वह यदि उसी समय नष्ट होता है तो धन वापस कौन लेगा? धन रखने का संस्कार बना रहता है अतः वापस लेनेकी सम्भावना है यह कथन भी उचित नही। सब पदार्थ यदि क्षणिक

१ बौद्धमते आगमाभावः जैनमते प्रत्यभिज्ञाबाधको न।

व्यतिरेके चपलादिवत्। तेषां क्षणिकत्वेन तदानीं विनाशे अन्वयव्यतिरेकयोर्भूयो दर्शनात् साध्यसाधनयोर्व्याप्तिग्रहणं नोपपद्यते। व्याप्तिग्रहणेऽपि गृहीतव्याप्तिकस्य तदानीं विनष्टत्वात् तत्स्मरणं न जाघटयते तत्स्मृतावपि स्मारकस्य तदानीं विनष्टत्वात् तदनुमानं न जाघटीति। अनुमितावपि अनुमातुस्तदानीं विनष्टत्वादिष्टानिष्टसाधनत्वं ज्ञात्वा तत्र प्रवृत्तिनिवृत्तिव्यवहारप्रवर्तकत्वं नोपपनीपद्यते। ननु आत्मनः क्षणिकत्वेऽपि संस्कारसद्भावात् तद्वशेन भूयोदर्शनादिकं भविष्यतीति चेन्न। संस्कारस्यापि क्षणिकत्वेन तदानीं विनष्टत्वात्। ननु सदृशापरापरसंस्कारोत्पत्तेर्भूयोदर्शनादिकं सर्वं भविष्यतीति चेन्न। उत्तरोत्तरोत्पन्नसंस्काराणां प्राक्तनतद्वार्तानभिज्ञातत्वात्। तत्कथमिति चेत् प्रपितामहेन भूयोदर्शनं पितामहेन व्याप्तिग्रहणं पित्रा व्याप्तिस्मरणं पुत्रेणानुमानं पौत्रेणेष्टसाधन-

है तो संस्कार भी क्षणिक होगा अतः वह भी धन रखनेवाले के समान नष्ट ही होगा। एक संस्कार नष्ट होने पर दूसरा उत्पन्न होता है। अतः बाद के संस्कार द्वारा धन वापस लेना सम्भव है यह कथन भी उचित नही। बादका संस्कार उत्पन्न हुवा भी तो उसे पहले के संस्कार का ज्ञान नहीं होगा अतः वह धन वापस लेने में समर्थ नही होगा। जो वस्तु धरोहर रखी जाती है वही वापस ली जाती है इस से भी वस्तु का क्षणिक न होना सिद्ध होता है।

आत्मा यदि बिजली जैसे क्षणिक हों तो उन्हें व्याप्ति का ज्ञान या स्मरण सम्भव नही होगा—यह हो तो वह होता है ऐसे सम्बन्ध को बार बार देखने से व्याप्ति का ज्ञान होता है, जो आत्मा एक ही क्षण विद्यमान रहता है उसे ऐसे सम्बन्ध को बार बार देखना या स्मरण रखना सम्भव नही है। जिसे व्याप्ति का ही ज्ञान या स्मरण नही है वह अनुमान कैसे कर सकेगा? अनुमान करनेवाला यदि एक ही क्षण मे नष्ट होता है तो उस अनुमान पर आधारित इष्ट की प्राप्ति या अनिष्ट के परिहार में कौन प्रवृत्त होगा? संस्कारों की परंपरा से यह सब सम्भव है ऐसा बौद्ध कहते हैं किंतु उत्तरवर्ती संस्कार को पूर्ववर्ती संस्कार का ज्ञान नही होता अतः ऐसा सम्भव नही हैं। इसी का स्थूल उदाहरण देते है—परदादा किसी सम्बन्ध को बारबार देखे, दादा उस की व्याप्ति जाने, पिता उस व्याप्ति का स्मरण

ज्ञानं प्रपौत्रेण तत्र प्रवर्तनमित्यादिवत् चित्क्षणानां संस्कारक्षणानामप्यन्योन्यप्रमितार्थापरिज्ञानात् कथं तत् सर्वं भूयोदर्शनादिकमेकानुसंधानगोचरत्वेन जाघटयते। तस्मादात्मानोऽक्षणिकाः भूयोदर्शनाद् व्याप्तिग्रहणस्मरणानुमानप्रवर्तनादिष्वनुसंधातृत्वात् व्यतिरेके[1] चपलादिदित्यात्मादीनामक्षणिकत्वसिद्धिः।

[८८. पञ्चस्कन्धविचारः।]

अथ सतम्-रूपवेदनाविज्ञानसंज्ञासंस्कारा इति पञ्च स्कन्धाः संचितालम्बनाः पञ्चविज्ञानकायाः पञ्चेन्द्रियज्ञानानि। तत्र रूपरसगन्धस्पर्शपरमाणवः सजातीयविजातीयव्यावृत्ताः परस्परमसंबद्धाः रूपस्कन्धाः तेषामसंबद्धत्वं कुत इति चेत्

एकदेशेन संबन्धे परमाणोः षडंशता।
सर्वात्मनाभिसंबन्धे पिण्डः स्यादणुमात्रकः॥

इति वचनात्। अत एवावयविद्रव्यमपि न जाघटयते। तथा हि। यद्ग्रहे

रखे, पुत्र उस व्याप्ति से अनुमान करे, पोता उस से इष्ट के साधन को जाने और पडपोता अनुसार प्रवृत्ति करे-क्या यह सम्भव है? यदि पिता और पुत्र के समान आत्मा के दो क्षणों मे भी भिन्नता हो तो उपर्युक्त उदाहरण के समान किसी आत्मा के लिए अनुमान का प्रयोग सम्भव नही होगा। अतः अनुमान के अस्तित्व से ही आत्मा का क्षणिक न होना सिद्ध होता है।

८८. पञ्च स्कन्धोंका विचार—बौद्ध मत में रूप, वेदना, विज्ञान, संज्ञा तथा संस्कार ये पांच स्कन्ध माने हैं। रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श के परमाणु रूपस्कन्ध हैं, ये परस्पर सम्बन्ध रहित होते हैं-सजातीय या विजातीय परमाणु परस्पर सम्बद्ध नही होते। उन में सम्बन्ध न मानने का कारण यह है कि- 'यदि दो परमाणु एक भाग में सम्बन्ध होते हैं तो परमाणु के भी छह भाग मानने पडेंगे तथा यदि परमाणु पूर्ण रूप से सम्बद्ध होते हैं तो दोनों का एकत्रित पिण्ड भी एक परमाणु जितना ही होगा।' अतः सब परमाणु सम्बन्ध रहित हैं। इसी लिए

१ ये अक्षणिका न भवन्ति ते भूयोदर्शनाद् व्याप्तिग्रहणस्मरणानुमानप्रवर्तनादिष्वनुसंधातारो न भवन्ति।

यन्न गृह्यते तत् ततो नार्थान्तरम्, यथा वृक्षाग्रहे अगृह्यमाणं वनम्[1], न गृह्यते च तन्त्वग्रहे पटः तस्मात् ततो नार्थान्तरमिति[2]। तथा यद् दृश्यं सन्नोपलभ्यते[3] तन्नास्त्येव यथा खरविषाणम्। दृश्यः सन्नोपलभ्यते च अवयवीति[4] च। तथा सुखदुःखादयो वेदनास्कन्धाः। सविकल्पकनिर्विकल्पकज्ञानानि विज्ञानस्कन्धाः।

जातिक्रियागुणद्रव्यसंज्ञाः पञ्चैव कल्पनाः।
अश्वो याति सितो घण्टी कत्तालाख्यो यथा क्रमात्॥

इत्येतत्कल्पनासहितं सविकल्पकं तद्रहितं निर्विकल्पकमिति। तथा वृक्षादिनामानि संज्ञास्कन्धाः। ज्ञानपुण्यपापवासनाः संस्कारस्कन्धा इति।

अत्र प्रतिविधीयते। यत् तावदुक्तं रूपरसगन्धस्पर्शपरमाणवः सजातीयविजातीयव्यावृत्ताः परस्परमसंबद्धा इति तत्र सजातीयव्यावृत्ता इत्ययुक्तम्। तेषां[5] सदात्मना व्यावृत्तत्वे असत्त्वप्रसंगात्। द्रव्यात्मना व्यावृत्तत्वे अद्रव्यत्वं रूपाद्यात्मना व्यावृत्तत्वे अरूपादित्वप्रसंगाच्च। तस्माद्

बौद्धमत में अवयवी द्रव्य का अस्तित्व नही माना है। उनका कथन है कि यदि एक वस्तु का ज्ञान दूसरे के ज्ञान के विना न होता हो तो वे दो वस्तुएं अलग नही होतीं—वृक्षों को जाने विना वन का ज्ञान नही होता अतः वन वृक्षों से भिन्न नही, इसी प्रकार वस्त्र तन्तुओं से भिन्न नही। अतः अवयवी का अवयवों से भिन्न अस्तित्व नही है। यदि अवयवी का अस्तित्व होता तो वह दिखाई देता। गधे का सींग दिखाई नही देता उसी प्रकार अवयवी भी दिखाई नही देता अतः दोनों का अस्तित्व नही है। यहा तक रूप स्कन्ध का वर्णन किया। सुख, दुःख आदि को वेदना स्कन्ध कहते है। सविकल्पक तथा निर्विकल्पक ज्ञान को विज्ञान स्कन्ध कहते हैं। जाति, क्रिया, गुण, द्रव्य, तथा संज्ञा ये पाच कल्पनाएं हैं—उदाहरणार्थ, घोडा जाता है, सफेद घण्टा बाधे हुए, कत्ताल नाम का—ये कल्पनाएं हैं।' इन से युक्त ज्ञान को सविकल्पक कहते हैं तथा इन से रहित ज्ञान निर्विकल्पक होता है। वृक्ष आदि नामों को संज्ञा

१ अत एव वृक्षा एव न वनम् अवयवि। २ तन्तव एव अवयवरूपाः न पटः अवयवी वर्तते। ३ यत् अवलोक्यमानं न दृश्यते तन्नास्ति यथा खरविषाणं। ४ पटघटवनादि। ५ सजातीयाना रूपरसादीनां।

विजातीयव्यावृत्ता अपि[1] सजातीयव्यावृत्ता न भवन्ति इत्यङ्गीकर्तव्यम्। तथा परस्परमसंवद्धा इत्ययुक्तम्। जघन्यगुणपरमाणून् विहाय अन्येषां परस्परसंवन्धसंभवात्। कुतः संवन्धयोग्यस्निग्धरूक्षगुणसद्भावात्[2]। तदपि कुतो ज्ञायते इति चेत् वीताः परमाणवः स्निग्धरूक्षगुणवन्तः पुद्गलत्वात् नवनीताञ्जनादिवदिति प्रमाणादिति ब्रूमः। ननु तथापि

षट्केन[3] युगपद् योगात् परमाणोः षडंशता।
षण्णां समानदेशत्वे पिण्डः स्यादणुमात्रकः॥
(विज्ञप्तिमात्रतासिद्धिः १२)

इति दूषणद्वयं नापाक्रामतीति चेन्न। परमाणूनां परस्परमेकदेशेन संवन्धेङ्गीक्रियमाणे कस्यापि दोषस्यावकाशासंभवात्। अथ एकदेशेन संवन्धे परमाणोः षडंशतापत्तिरिति चेत् षडंशतापत्तिरिति कोऽर्थः।

स्कन्ध कहते हैं। ज्ञान, पुण्य, पाप आदि की वासना को संस्कार स्कन्ध कहते हैं।

अब बौद्धों के इस स्कन्ध कल्पना का क्रमशः विचार करते हैं। रूप आदि परमाणु परस्पर बिलकुल अलग हैं यह बौद्धों का कथन ठीक नही। सब परमाणु सत् है यह उन मे समानता है– यदि वे सब सत् न हों तो विद्यमान ही नही रहेंगे। इसी प्रकार वे सब द्रव्य हैं–अद्रव्य नही हैं। सब रूप परमाणुओं में रूपात्मक होना समान है। अतः परमाणु विजातीय परमाणुओं से अलग होने पर भी सजातीय परमाणुओं से समानता भी रखते हैं यह मानना चाहिए। परमाणु सम्बन्धरहित होते हैं यह कथन भी अयुक्त है। सिर्फ जघन्यगुण परमाणु ही सम्बन्ध रहित होते है। बाकी परमाणुओं में स्निग्ध तथा रूक्ष गुणों का अस्तित्व है अतः वे परस्पर सम्बद्ध होते हैं। पुद्गल परमाणुओं में स्निग्धता तथा रूक्षता होती है यह मक्खन, काजल आदि के उदाहरणों से स्पष्ट है। परमाणुओं मे सम्बन्ध न मानने का कारण बौद्धों ने यह दिया है–'छह परमाणुओं का सम्बन्ध एक साथ होता हो तो प्रत्येक परमाणु के छह भाग मानने पडेगे। तथा छहो का एक ही प्रदेश मानने पर सब का पिण्ड

१ परणामवः। २ परणामवश्च परमाणूनां स्निग्धरूक्षगुणाश्च तेषा सद्भावात्।
३ परमाणूनां षट्केन.

षडवयवापत्तिः षड्विभागापत्तिर्वा। षडवयवापत्तिश्चेत् तदवयवा[1] एव परस्परं संबद्धपरमाणव इति तेषां संबन्धसिद्धिः। अथ तेषामप्येकदेशेन संबन्धे प्रत्येकं षडवयवापत्तिरिति चेत् तर्हि तदवयवा एव परमाणव इति तेषां परस्परं संबद्धत्वसिद्धिः। इत्यादिक्रमेण अवयवैरनारब्धानामेव परमाणुत्वं तेषामेकदेशेन संबन्धेऽपि न षडवयवापत्तिः[2]। ततोऽपि सूक्ष्मावयवानामसंभवात्। अथ षडंशतापत्तिरिति षड्विभागापत्तिरिति चेन्न। अविभागिपरमाणोरपि पूर्वपश्चिमदक्षिणोत्तरोर्ध्वाधोदिग्भागस्य विरोधाभावात्। तस्मादवयवैरनारब्धाविभागिसूक्ष्मपरमाणूनां परस्परं संबन्धेऽपि न कश्चिद् दोष इति समर्थितं भवति। षण्णां समानदेशत्वं[3] नोपपद्यत इत्यस्माभिरप्यग्रे निषेत्स्यत इत्यत्रोपरम्यते।

तथा च परमाणूनां परस्परसंबन्धसंभवादवयवि द्रव्यमपि सुखेन जाघटयते। तत्र यदप्यवादीत्-यदग्रहे यन्न गृह्यते तत् ततो नार्थान्तरं यथा वृक्षाग्रहे अगृह्यमाणं वनं न गृह्यते च तन्त्वग्रहे पटः तस्मात् ततो

एक परमाणु जितना ही होगा।' किन्तु यह दूषण ठीक नही है। परमाणुओं का परस्पर एक भाग मे सम्बन्ध मानने में कोई दोष नही आता। परमाणु के छह अवयव माने तो परस्पर सम्बद्ध छह अवयवों का-परमाणुओं का-पिण्ड सिद्ध होता ही है। फिर उन अवयवों के भी सम्बन्ध के लिए छह भाग मानने अवश्य होंगे-यह आपत्ति हो सकती है। किन्तु परमाणु वे ही होते है जिन के अवयव नही होते-वे अखण्ड होते है। अखण्ड होने पर भी एक परमाणु के पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊपर तथा नीचे की सतहें होना सम्भव है-इन में से एक सतह का दूसरे परमाणु की एक सतह से सम्बन्ध होने में कोई विरोध नही है। अतः परमाणु निरवयव हैं इसलिए सम्बन्धरहित हैं इस कथन मे कोई सार नही है। छह अणुओं का एकही प्रदेश नही होता यह हम भी आगे स्पष्ट करेंगे।

परमाणुओं के सम्बन्ध सहित होने से अवयवी द्रव्यों का अस्तित्व मानना भी आवश्यक है। इस के विरोध में यह अनुमान दिया है कि वस्त्र तन्तुओं से भिन्न नही क्यों कि तन्तुओं के ज्ञान के बिना वस्त्र का

१ ते परमाणवः च ते अवयवाश्च तदवयवाः। २ तर्हि किं संबंध एव। ३ षट्सु दिक्षु स्थितानामणूनां मध्यस्थिते अणौ अधीनत्वं समानदेशत्वम्।

नाथान्तरमिति—तदसत्। तत्र पक्षे हेतुप्रयोगे पटो धर्मी तन्तुभ्यो नार्थान्तरं तन्त्वग्रहे अगृह्यमाणत्वादित्युक्तं भवति। तथा च धर्मी प्रमाणप्रतिपन्नो न वा। प्रथमपक्षे कालात्ययापदिष्टो हेत्वाभासः। कुतः पक्षस्य धर्मिग्राहकप्रमाणबाधितत्वात्। द्वितीयपक्षे आश्रयासिद्धो हेत्वाभासः। धर्मिणः प्रमाणप्रतिपन्नत्वाभावात्। दृष्टान्तस्य[1] साध्यसाधनोभयविकलत्वं च। कुतः तन्तुभ्यो नार्थान्तरमिति साध्यस्य तन्त्वग्रहे अगृह्यमाणत्वादिति साधनस्य वा दृष्टान्तत्वेनोपात्ते वने असंभवात्। तथा यदप्यन्यदभ्यधायि-यद् दृश्यं सन्नोपलभ्यते तन्नास्त्येव यथा खरविषाणं दृश्यः सन्नोपलभ्यते च अवयवीति-तत्रापि पक्षे हेतुप्रयोगे अवयवी धर्मी नास्तीति साध्यो धर्मः दृश्यत्वे सत्यनुपलभ्यत्वादित्युक्तं स्यात्। तथा च धर्मिणः प्रमाणप्रतिपन्नत्वे पक्षस्य धर्मिग्राहकप्रमाणबाधितत्वात् कालात्ययापदिष्टो हेत्वाभासः स्यात्। खरविषाणवदित्यत्रापि अत्यन्ताभावः खरमस्तकस्थं विषाणं वा दृष्टान्तः। प्रथमपक्षे साध्यविकलो दृष्टान्तः स्यात्। अत्यन्ता-

ज्ञान नहीं होता। किन्तु इस अनुमान का आधार ही ठीक नही है। यहा वस्त्र यह धर्मी है। यदि इस का अस्तित्व मान्य हो तो वस्त्र आदि अवयवी द्रव्य नही होते यह कहना व्यर्थ होगा। यदि वस्त्र का अस्तित्व ही मान्य नही है तो वस्त्र के बारे मे कोई चर्चा कैसे हो सकेगी? अतः दोनों पक्षों मे इस अनुमान का कोई मूल्य नही रहता। यहा दृष्टान्त भी ठीक नही है क्यों कि वृक्ष और वन का तन्तु और वस्त्र से कोई नियत सम्बन्ध नही है। अतः वस्त्र के विषय में वन का उदाहरण अप्रस्तुत है। इसी प्रकार अवयवी का बाधक दूसरा अनुमान भी उचित नहीं है—अवयवी यदि होता तो दिखाई देता, देखने योग्य हो कर भी गधे के सींग के समान ही वह दिखाई नही देता, अतः उस का अस्तित्व नही है यह कथन पर्याप्त नही है। यहां भी पूर्वोक्त अनुमान के ही दोष हैं—यदि अवयवी का अस्तित्व मान्य है तो अवयवी नही है यह कहना ठीक नही, यदि अवयवी का अस्तित्व ही मान्य न हो तो उस के विषय में चर्चा करना व्यर्थ है। यहा का दृष्टान्त गधे के सींग का अभाव यह हो तो अभाव सर्वदा रहता है अतः अवयवी नहीं है यह उस से सिद्ध नही

१ दृष्टांतत्वेनोपात्त वनम्।

भावस्य सर्वदा अस्तित्वात्। द्वितीयपक्षे आश्रयहीनो दृष्टान्तः स्यात्। खरमस्तके विषाणस्य त्रिकालेऽप्यसत्त्वात्। तस्मान्निर्बाधप्रत्यक्षगोचरत्वाद् वज्रमणिशिलास्तम्भायःसारपिण्डपटघटादीनामवयविद्रव्यत्वं सिद्धमेव। ततश्च सौगतोक्तरूपस्कन्धाः न जाघटयन्ते। तथा वेदनास्कन्धा अपि। सुखदुःखादीनामात्मविशेषणगुणत्वेन स्कन्धत्वासंभवात्। तथा विज्ञानानामपि स्कन्धत्वं नोपपनीपद्यते। तेषामपि आत्मगुणत्वेन स्कन्धत्वानुपपत्तेः। तेषामात्मविशेषगुणत्वं प्रागेव समर्थितमिति नेह प्रतन्यते।

[८९. निर्विकल्पकप्रत्यक्षनिरासः।]

यदुक्तम्-जातिक्रियागुणद्रव्यसंज्ञाः पञ्चैव कल्पनाः अश्वो याति सितो घण्टी कत्तालाख्यो यथा क्रमादित्येतत्कल्पनासहितं सविकल्पकं तद्रहितं निर्विकल्पकमिति-तदसमञ्जसम्। कल्पनारहितस्य ज्ञानस्यासंभवात्। तथा हि। जलधराद्येकवस्तुप्रतिपत्तावपि सदिति सत्ताजातिः प्रतीयते। धावतीति क्रिया प्रतीयते। कृष्णवर्ण इति गुणः प्रतीयते। विद्युत्वानिति द्रव्यं प्रतीयते। मेघोऽयमिति परिभाषा प्रतीयते। इति कल्पनारहितस्यैव

होगा। गधे का सींग यह उदाहरण मानना सम्भव नही क्यों कि इस का कभी अस्तित्व ही नही होता अतः ऐसे उदाहरण से कोई अनुमान सिद्ध नही होता। तात्पर्य यह कि अवयवी द्रव्य—जैसे रत्न, खम्बे, लोहे के गोले, वस्त्र, घडे आदि हैं— निर्बाध प्रत्यक्ष ज्ञान से ही सिद्ध हैं। अतः परस्पर सम्बन्ध रहित परमाणुओं का बौद्धसम्मत रूपस्कन्ध मानना ठीक नही है। सुख-दुःख आदि वेदना तथा विज्ञान ये आत्मा के विशेष गुण हैं यह पहले स्पष्ट किया है अतः इन्हें भी स्कन्ध मानना ठीक नही।

८९. निर्विकल्प प्रत्यक्षका निरास—विज्ञान स्कन्ध के वर्णन मे बौद्धोंने कहा है कि निर्विकल्प प्रत्यक्ष मे जाति, क्रिया, गुण, द्रव्य, संज्ञा ये पाचों कल्पनाएं नही होतीं किन्तु ऐसे कल्पनारहित प्रत्यक्ष का अस्तित्व सम्भव नही। मेघ इस एक वस्तु के ज्ञान में भी अस्तित्वयुक्त होना यह जाति, चलना यह क्रिया, काला रंग यह गुण, बिजली सहित होना यह द्रव्य तथा यह मेघ है इस प्रकार संज्ञा का ज्ञान होता ही है। इन कल्पनाओं से रहित ऐसा कोई ज्ञान चक्षु आदि इन्द्रियों से नही होता। स्वसंवेदन प्रत्यक्ष में सिर्फ स्वरूप का ज्ञान होता है—उस में ये

ज्ञानस्यासंभवात्। सत्तादिजातिरूपादिगुणदेशकालादिद्रव्यरहितस्य चाक्षुषादिप्रत्यक्षगोचरत्वासंभवाच्च। ननु स्वसंवेदनप्रत्यक्षस्य कल्पनारहितस्य स्वरूपमात्रग्राहित्वात् तस्य निर्विकल्पकत्वं भविष्यतीति चेन्न। तस्यापि कल्पनारहितस्य स्वरूपमात्रग्राहित्वासंभवात्। तथा हि। इदं नीलं जानामि ज्ञातमिदं नीलमिदं पीतं जानामि ज्ञातमिदं पीतमिति देशकालादिविशिष्टनीलपीतादिविशेष्यत्वेन विशेषणत्वेन वा ज्ञानस्वरूपस्य वेद्यत्वात्। अन्यथा अवेद्यत्वात्। तदुक्तम्।

अर्थे नैव विशेषो हि निराकारतया धिया[1]।
न हि ज्ञानमिति ज्ञानं[2] तस्मात् सालम्बना मतिः॥
अन्यथेयमनालम्बा लभमानोदया क्वचित्।
हन्यादेकप्रहारेण बाह्यार्थपरिकल्पनाम्॥

इत्यतिप्रसज्यते। ननु एवंविधोऽतिप्रसंगोऽङ्गीक्रियत इति योगाचारमाध्यमिकाववोचताम्[3]। तावप्यनात्मज्ञौ। आत्मख्यातिनिराकरणेन असत्ख्यातिकल्पनाएं नही होती यह आक्षेप हो सकता है। किन्तु यह उचित नही। ज्ञान का जो ज्ञान होता है वह भी ज्ञान के विषय को ले कर ही होता है—यह नीली वस्तु को जानता हूं, पीली वस्तु को जानता हूं इस प्रकार विषय-विशिष्ट ही ज्ञान होता है—विना किसी विशेषण के मात्र ज्ञान का ज्ञान नही होता। जैसा कि कहा, —'निराकार बुद्धि से अर्थ मे कोई विशेष नही होता, सिर्फ 'ज्ञान' ऐसा कोई ज्ञान नही होता अतः बुद्धि को आलम्बन सहित माना है। यदि बुद्धि कहीं आलम्बन रहित उत्पन्न हो तो इस एक बात के बल से ही बाह्य पदार्थों की कल्पना नष्ट हो जायगी।' बाह्य पदार्थों के अभाव की यह आपत्ति योगाचार तथा माध्यमिक बौद्धों को इष्ट ही है। किन्तु उन का बाह्य-पदार्थ-अभाव वाद अयोग्य है यह पहले ही विस्तार से स्पष्ट किया है। दूसरे, विषयरहित सिर्फ ज्ञान का भी ज्ञान हो तो उस में भी अस्तित्व तथा गुणत्व ये

१ निराकारतया धिया अर्थे विशेषो न हि। २ निराकारधिया ज्ञानमिति ज्ञानं न हि। ३ अर्थो ज्ञानसमन्वितो मतिमता वैभाषिकेणादृतः प्रत्यक्षं न हि बाह्यवस्तुविषयं सौत्रान्तिकेणादृतम्। योगाचारमतानुसारिमतयः साकारबुद्धिं परे मन्यन्ते खलु मध्यमा जड-धियः शुद्धां च तां संविदम्॥

निराकरणेन च बाह्यार्थस्य तत्र प्रमाणैः समर्थितत्वात्। किं च। अर्थरहितज्ञानमात्रप्रतिभासेऽपि सत्तागुणत्वज्ञानत्वजातिकल्पना ज्ञानमिति नामकल्पना च प्रतीयते। तस्मात् कल्पनारहितं प्रत्यक्षं नोपपनीपद्यत एव।

ननु

भवानसौ [मनसो] युगपद्वृत्तेः सविकल्पनिर्विकल्पयोः।
विमूढो लघुवृत्तेर्वा तयोरैक्यं व्यवस्यति॥

(प्रमाणवार्तिक २-१३)

इति चेन्न। तस्य विचारासहत्वात्। तथा हि। विमूढस्तयोरैक्यं सविकल्पकेन व्यवस्यति निर्विकल्पकेन वा निश्चिनुयात्। न तावत् सविकल्पकेन तस्य निर्विकल्पकवार्तानभिज्ञत्वात्। नापि निर्विकल्पकेन तस्य सविकल्पकवार्तानभिज्ञत्वात्। अथ आलयविज्ञानेन तयोरैक्यं निश्चिनोतीति चेत् तर्हि आलयविज्ञानं नाम किमुच्यते। नित्यज्ञानमिति चेत् तस्य वस्तुत्वमवस्तुत्वं वा। वस्तुत्वे तस्यैव नित्यचैतन्यस्य आत्मत्वात् क्षणिकं सर्वात्मशून्यमकर्तृकमित्येतत् विरुध्येत। तस्यावस्तुत्वे तेन तयोरैक्यनिश्चयायोगात् तस्मात् तयोरैक्यं व्यवस्यतीत्यसंभाव्यमेव। किं च। निर्विकल्पकप्रत्यक्षसद्भावावेदकप्रमाणाभावात् तन्नास्तीति निश्चीयते।

जातिया तथा ज्ञान इस संज्ञा की कल्पना प्रतीत होती ही है। अतः पूर्णतः कल्पनारहित ज्ञान सम्भव नही है।

यहा बौद्धों की आपत्ति है—'मन निर्विकल्प तथा सविकल्प ज्ञान में एकसाथ प्रवृत्त होता है अथवा बहुत जल्दी प्रवृत्त होता है अतः दोनों के भेद का खयाल भूल कर दोनों को एक समझता है।' किन्तु यह आपत्ति उचित नही। इन दोनों को एक समझने का जो ज्ञान है वह सविकल्पक है अथवा निर्विकल्प है? सविकल्प ज्ञान निर्विकल्प को नही जानता तथा निर्विकल्प ज्ञान सविकल्प को नही जानता। अतः इन दोनो में किसी द्वारा दोनों की अभिन्नता जानना सम्भव नही हैं। यह अभिन्नता आलय-विज्ञान द्वारा जानी जाती है ऐसा बौद्ध कहते है। किन्तु आलय-विज्ञान से क्या तात्पर्य है? यदि नित्य वास्तविक ज्ञान को आलयविज्ञान कहें तो सब पदार्थ क्षणिक हैं इस बौद्ध सिद्धान्त को बाधा पहुंचती है। यदि आलयविज्ञान अवास्तविक हो तो उस का निर्णय भी वास्तविक कसे होगा? अतः इन दोनों की एकता का ज्ञान और निर्विकल्प ज्ञान के अस्तित्व की कल्पना भी निराधार ही है।

ननु

यत्रैव जनयेदेनां[1] तत्रैवास्य प्रमाणता ।

इति सविकल्पकबुद्धिजनकत्वेन तदस्तित्वं[2] निश्चीयत इति चेन्न। तज्जनकत्वेन आत्मान्तःकरणेन चक्षुरादीनामेव[3] निश्चितत्वात्। तस्मात् निर्विकल्पकप्रत्यक्षावेदकप्रमाणाभावात् तन्नास्तीति निश्चीयते। तथा वृक्षादिनाम्नां स्कन्धत्वं जैनमते एव नान्यत्र संभाव्यते। तन्मते पौद्गलिकत्वेन शब्दस्य समर्थितत्वात्। तथा संस्काराणामप्यात्मगुणत्वेन प्रागेव समर्थितत्वात् स्कन्धत्वं नोपपनीपद्यते। एवं सौगतोक्तपञ्चविज्ञानकायानामपि विचारासहत्वात् तन्मतेऽपि तत्त्वज्ञानाभावान्मोक्षो नास्तीति निश्चीयते।

[९०. निर्वाणमार्गविवरणम्।]

अथ मतम्–दुःखसमुदयनिरोधमार्गणा इति चत्वारः पदार्था एव मुमुक्षुभिर्ज्ञातव्याः। तत्र सहजशारीरमानसागन्तुकानि दुःखानि। तत्र

'जिस विषय मे यह (निर्विकल्प बुद्धि) इस (सविकल्प बुद्धि) को उत्पन्न करती है उस विषय में ही वह प्रमाण होती है' इस वचन के आधारपर बौद्धों का कथन है कि सविकल्प बुद्धि के जनक के रूप में निर्विकल्प बुद्धि का अस्तित्व मानना चाहिए। किन्तु सविकल्प ज्ञान के उत्पादक आत्मा, अन्तःकरण, चक्षु आदि इन्द्रिय आदि माने ही गये हैं –फिर अलग निर्विकल्प ज्ञान उत्पादक मानने की क्या जरूरत है ? अतः निर्विकल्प ज्ञान के विषय में बौद्ध मत निराधार ही है। इस प्रकार विज्ञान स्कन्ध का विचार किया। संज्ञा स्कन्ध की कल्पना जैन मत में ही सम्भव है क्यों कि हमने शब्द को पुद्गल–स्कन्ध माना है। सस्कार आत्मा के ही विशेष गुण हैं यह पहले स्पष्ट किया है अतः उन्हे स्कन्ध कहना उचित नही। इस प्रकार बौद्धों की पांच स्कन्धों की कल्पना अयोग्य सिद्ध होती है।

९० निर्वाण मार्गका विवरण—अब बौद्ध मत के निर्वाण–मार्ग का विचार करते हैं। उन का कथन है कि दुःख, समुदय, निरोध तथा

१ यत्रैव वस्तुनि निर्विकल्पकं कर्तृभूतं सविकल्पबुद्धिं जनयेत्। २ निर्विकल्पकस्यास्तित्वं। ३ मयि चक्षुर्वर्तते रूपान्यथानुपपत्तेः।

सहजं क्षुत्तृषामनोभूवादिकम्। शारीरं वातपित्तपीनसानां वैषम्यसंभूतम्। मानसं धिक्कारावज्ञेच्छाविघातादिजनितम्। आगन्तुकं शीतवातातपाशनिपातादिजनितम्। एतद्दुःखविशिष्टाश्चित्तक्षणाः संसारिणो दुःखमित्युच्यते। तद्दुःखजननकर्मबन्धहेतुभूते अविद्यातृष्णे समुदयशब्देनोच्येते। तत्र वस्तुयाथात्म्याप्रतिपत्तिरविद्या। इष्टानिष्टेन्द्रियविषयप्राप्तिपरिहारवाञ्छा तृष्णा। निरोधो नामाविद्यातृष्णाविनाशेन निरास्रवचित्तसंतानोत्पत्तिलक्षणः संतानोच्छित्तिलक्षणो वा मोक्षः। तथा मोक्षहेतुभूता मार्गणा। सा च सम्यक्त्वसंज्ञासंज्ञिवाक्कायकर्मान्तर्व्यायामाजीवस्थितिसमाधिलक्षणाष्टाङ्गा। तत्र सम्यक्त्वं नाम पदार्थानां याथात्म्यदर्शनम्। संज्ञा वाचकः शब्दः। संज्ञी वाच्योऽर्थः। वाक्कायकर्मणी वाक्कायव्यापारौ। अन्तर्व्यायामो वायुधारणा। आजीवस्थितिरायुरवसानपर्यन्तं प्राणधारणा। समाधिर्नाम सर्वं दुःखं सर्वं क्षणिकं सर्वं निरात्मकं सर्वं शून्यमिति चतुरार्यसत्यभावना। तस्याः प्रकर्षादविद्यातृष्णाविनाशे निरास्रवचित्तक्षणाः सकलपदार्थावभासकाः समुत्पद्यन्ते

मार्ग ये चार (आर्यसत्य) पदार्थ ही मोक्ष के लिए जानने योग्य है। दुःख के चार प्रकार है—भूख, प्यास, कामविकार आदि सहज दुःख है; वात, पित्त, कफ की विषमता से उत्पन्न दुःख शारीर है; ठंडी हवा, धूप, बिजली गिरना आदि से उत्पन्न दुःख आगन्तुक है तथा अपमान, अवज्ञा, इच्छा पूर्ण न होना आदि से उत्पन्न दुःख मानस है। इन दुःखोंसे युक्त चित्त–क्षणों को दुःख कहा है। इन दुःखों के उत्पादक तथा कर्मबन्ध के कारण दो है—अविद्या तथा तृष्णा। इन्हे ही समुदय कहा है। वस्तु का यथार्थ ज्ञान होना अविद्या है। तथा इन्द्रियों के इष्ट विषयों की प्राप्ति और अनिष्ट विषयों के परिहार की इच्छा को तृष्णा कहा है। अविद्या और तृष्णा के नाश से निरास्रव चित्त उत्पन्न होना अथवा चित्त के सन्तान का उच्छेद होना ही निरोध है। इसी को मोक्ष कहते हैं। मोक्ष के मार्ग के आठ अंग है। पदार्थों का यथार्थ ज्ञान होना यह पहला सम्यक्त्व अंग है। पदार्थों के बोधक शब्दों को संज्ञा कहते हैं तथा उन शब्दों से बोधित अर्थों को संज्ञी कहते है—ये दूसरे तथा तीसरे अंग हैं। वाणी तथा शरीर के कार्य—वाक्कर्म तथा कायकर्म ये चौथे और पाचवे अंग हैं। अन्तर्व्यायाम—श्वास को रोकना—यह छठवा अंग है। आयु के अन्त तक

तद् योगिप्रत्यक्षम्। स च योगी यावदायुस्तावत्कालमुपासकानां धर्म-मुपदिशंस्तिष्ठति। तदुक्तम्—

उभे सत्ये समाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना।
लोकसंवृतिसत्यं च सत्यं च परमार्थतः॥(माध्यमिककारिका २४-८)
निर्वाणेऽपि परिप्राप्ते दयार्द्रीकृतचेतसः।
तिष्ठन्त्येव पराधीना येषां तु महती कृपा॥ (प्रमाणवार्तिक २-१९९)

इति। आयुरवसाने प्रदीपनिर्वाणोपमं निर्वाणं भवति। उत्तरचित्तस्योत्पत्तेरभावात्। तदप्युक्तम्—

दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपैति नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न कांचिद् विदिशं न कांचित् स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम्॥
जीवस्तथा निर्वृतिमभ्युपैति नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न कांचिद् विदिशं न कांचिन् मोहक्षयात् केवलमेति शान्तिम्॥
(सौन्दरनन्द १६-२८, २९)

इति सौगतः पुनरप्यचूचुदत्।

प्राणधारण करना यह आजीवस्थिति नामक सातवां अंग है। यह सब दुःखमय, क्षणिक, निरात्मक, शून्य है इस प्रकार चार आर्य-सत्यों की भावना करना यह समाधि नामक आठवा अंग है। समाधि के प्रकर्ष से अविद्या और तृष्णा का विनाश होता है तथा निरास्रव चित्तक्षण उत्पन्न होते हैं। यही योगि प्रत्यक्ष है जो सब पदार्थों को जानता है। ये योगी आयु की समाप्ति तक उपासकों को धर्म का उपदेश देते है। कहा भी है—'बुद्धों का धर्मोपदेश दो प्रकार के सत्योंपर आधारित है—लोकव्यवहार का सत्य तथा परमार्थतः सत्य। निर्वाण प्राप्त होनेपर भी जिनका चित्त दयार्द्र होता है तथा जो महती कृपा से युक्त है वे (उपदेश के लिए) जीवित रहते ही हैं।' आयु के अन्त मे उत्तरकालीन चित्त की उत्पत्ति नही होती अतः दीप के बुझने के समान चित्तसन्तति का निर्वाण होता है। कहा भी है—'जिस तरह दीपक बुझता है वह न पृथ्वी में जाता है, न आकाश मे जाता है, दिशा या विदिशा में नही जाता है, सिर्फ स्नेह (तेल) के खतम होने से शान्त हो जाता है; उसी तरह जीव का निर्वाण होता है उस समय वह न पृथ्वी में जाता है, न आकाश में जाता है, दिशा या विदिशा में नही जाता है, सिर्फ मोह के खतम होने से शान्त हो जाता है।'

[९१. निर्वाणमार्गनिरासः ।]

तदयुक्तम् । तन्मते अनुष्ठातुरपवर्गप्राप्तेरसंभवात् । कुतः तस्य-क्षणिकत्वेन तदानीमेव विनष्टत्वात् । यदप्यन्यदवोचत्-सम्यक्त्वं नाम पदार्थानां याथात्म्यदर्शनमिति-तदसत् । तदुक्तप्रकारेण पदार्थयाथात्म्य-दर्शनानुपपत्तेः प्रागेव समर्थितत्वात् । यदप्यन्यदवादीत्-संज्ञावाचकः शब्द इति-तदप्ययुक्तम् । तन्मते शब्दस्यार्थवाचकत्वाभावात् । ननु अपोहः शब्दलिङ्गाभ्यां न वस्तुविधिनोपलभ्यत इति वचनात् शब्द इति तदयुक्तम् । तन्मते शब्दस्यार्थवाचकत्वाभावस्यापोहवाचकत्वमस्तीति चेन्न । सकलशब्दानामपोहवाचकत्वे उत्तमवृद्धेनोपदिष्टं वाक्यं श्रुत्वा मध्यम-वृद्धस्य बाह्ये अर्थे प्रवृत्तिव्यवहारानुपपत्तेः । कुतः शब्दश्रवणादिष्टानिष्ट-वस्तुप्रतिपत्तेरभावात् । संकेतानुपपत्तिश्च अपोहस्याभावरूपत्वाविशेषात् । अस्य शब्दस्यायमर्थो वाच्य इति संकेतयितुमुपायाभावात् । तस्मात् संज्ञा वाचकः शब्द इत्ययुक्तम् । तथा संज्ञी वाच्योऽर्थ इत्यप्ययुक्तम् ।

९१. निर्वाण मार्ग का निरास—बौद्ध मत का यह निर्वाण-मार्ग का विवरण परस्पर विरुद्ध है । पहला दोष तो यह है कि इस मार्ग का अनुष्ठान करनेवाला सम्भव नही है-बौद्ध मत में सब पदार्थों को क्षणिक माना है तथा क्षणिक जीव ऐसे मार्ग का अनुष्ठान नही कर सकता । बौद्धों का स्कंध आदि पदार्थों का वर्णन अयोग्य है यह पहले स्पष्ट किया है । अतः उन के मत मे सम्यक्त्व भी सम्भव नही । संज्ञा और संज्ञी का कथन भी बौद्ध मत में उचित नही क्यों कि वे शब्द को अर्थ का वाचक नही मानते । उन का कथन है किसी शब्द से वस्तु का विधि-ज्ञान नही होता, शब्द और लिंग से अन्यवस्तुओं का अपोह होता है (दूसरी सब वस्तुओं का निषेध यही किसी वस्तु के शब्द द्वारा बत-लाने का प्रकार है) किन्तु यदि सब शब्द अपोह-वाचक हों (दूसरी वस्तुओं के निषेधक ही हों) तो गुरु के शब्द सुनकर शिष्य किसी बाह्य पदार्थ के विषय में प्रवृत्ति नही कर सकेंगे-गुरु के शब्द सुननेपर उन्हें किसी इष्ट या अनिष्ट वस्तु का बोध नही होता, सिर्फ अन्य वस्तुओं का निषेध होता है, अतः वे प्रवृत्ति नही कर पायेंगे । इस शब्द का यह अर्थ है यह संकेत अपोहवाद में सम्भव नही । अतः संज्ञा तथा संज्ञी का कथन बौद्ध मत के प्रतिकूल सिद्ध होता है । वाणी तथा शरीर के कर्म,

कस्मात् तथार्थस्यावाच्यत्वात्। तथा वाक्कायकर्मान्तव्यायामाजीवस्थितीनां क्षणिकपक्षे अत्यन्ताभाव एव। यदन्यदवादीत्-समाधिर्नाम सर्वं दुःखं सर्वं क्षणिकं सर्वं निरात्मकं सर्वं शून्यमिति चतुरार्यसत्यभावनेति-तदप्यसमञ्जसम्। तस्याः मिथ्यात्वेन सत्यभावनात्वानुपपत्तेः। कुतः सर्वस्य क्षणिकत्वनिरात्मकत्वशून्यत्वासंभवस्य प्रागेव प्रमाणैः समर्थितत्वात्। तथा च भावनाप्रकर्षादविद्यातृष्णाविनाशे निरास्रवचित्तक्षणाः सकलपदार्थावभासकाः समुत्पद्यन्त इत्येतद् वन्ध्यासुतात् सकलचक्रवर्तिनः समुत्पद्यन्त इत्युक्तिमनुहरति। यदप्यन्यदभ्यधायि-उभे सत्ये समाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना लोकसंवृतिसत्यं च सत्यं च परमार्थत इति-तदप्ययुक्तम्। तदुपदेशस्य परमार्थसत्यत्वानुपपत्तेः। कुतः तन्मते परमार्थभूतानां स्वलक्षणानां सकलवाग्गोचरातिक्रान्तत्वात्। तथा च बुद्धोपदेशात् प्रेक्षापूर्वकारिणां प्रवृत्तिर्न जाघटयते। यदप्यब्रवीत्-आयुरवसाने प्रदीपनिर्वाणोपमं निर्वाणं भवति उत्तरचित्तस्योत्पत्तेरभावादिति-तदप्यसत्। अन्त्यचित्तक्षणस्यार्थक्रियाशून्यत्वेनासत्त्वप्रसंगात्। तस्यासत्त्वे तत्पूर्वक्षणस्याप्यर्थक्रियारहितत्वेनासत्त्वम्, तत एव तत्पूर्वक्षणानामप्यसत्त्वेन

अन्तर्व्यायाम, आजीवस्थिति ये सब अंग भी क्षणिक पदार्थ में सम्भव नही हैं। यह सब जगत शून्य, निरात्मक, क्षणिक नही है यह पहले स्पष्ट किया है अतः ऐसी भावना को-समाधि को मोक्ष का मार्ग कहना ठीक नही। जब ऐसी मिथ्याभावना से मोक्ष ही सम्भव नहीं तब तदनतर वे चित्तक्षण सब पदार्थों को जानते हैं यह कहना व्यर्थ ही है। बुद्धोंका उपदेश लोकव्यवहार सत्य तथा परमार्थतः सत्य पर आधारित होता है-यह कथन भी ठीक नही। बौद्ध मत मे परमार्थभूत-वास्तविक-स्वलक्षणों को शब्द के अगोचर माना है फिर बुद्ध परमार्थ सत्य का उपदेश कैसे दे सकते है? उपदेश ही सम्भव न होनेसे मोक्षविषयक प्रवृत्ति भी सम्भव नही है। दीप बुझने के समान आत्मा के निर्वाण की कल्पना भी अनुचित है। यदि अन्तिम चित्तक्षण के बाद कोई चित्तक्षण उत्पन्न नही होता तो यह अन्तिम चित्तक्षण कार्य रहित-अर्थक्रियारहित-होता है अतः वह असत् होगा। यदि अन्तिम चित्तक्षण असत् है तो उसके पहले का चित्तक्षण भी कार्यरहित अतएव असत् सिद्ध होता है-इस तरह पूर्व-पूर्वके सभी चित्तक्षण असत् होंगे। अतः सब शून्य मानने का यह मत युक्त नही

सर्वशून्यतापत्तिरेव स्यात्। तस्मात् प्रेक्षापूर्वकारिभिर्मुमुक्षुभिर्बौद्धपक्ष उपेक्षणीय एव न पक्षीकर्तव्य इति स्थितम् ॥

[९२. उपसंहारः ।]

एवं परोक्तसिद्धान्ताः सम्यग युक्त्या विचारिताः ।
भावसेनत्रिविद्येन वादिपर्वतवज्रिणा ॥
क्षीणेऽनुग्रहकारिता समजने सौजन्यमात्माधिके
संमानं नुतभावसेनमुनिपे त्रैविद्यदेवे मयि ।
सिद्धान्तोऽयमथापि यः स्वधिषणागर्वोद्धतः केवलं
संस्पर्धेत तदीयगर्वकुधरे वज्रायते मद्वचः ॥
चार्वाकवेदान्तिकयौगभाट्टप्राभाकरार्षक्षणिकोक्ततत्त्वम् ।
मयोक्तयुक्त्या वितथं समर्थ्य समापितोऽयं प्रथमाधिकारः ॥

इति परवादिगिरिसुरेश्वरश्रीभावसेनत्रैविद्यदेवरचिते मोक्षशास्त्रे विश्वतत्त्वप्रकाशे अशेषपरमततत्त्वविचारेण प्रथमः परिच्छेदः समाप्तः ॥

है। तात्पर्य यह कि बौद्ध मत से निर्वाणमार्ग का ठीकतरह वर्णन या अनुसरण सम्भव नही है।

९२. उपसंहार—इस प्रकार वादीरूपी पर्वतों के लिए वज्रधारी (इंद्र) के समान भावसेन त्रैविद्य ने उचित युक्तियों द्वारा जैनेतर सिद्धांतों का विचार किया ।। भावसेन त्रैविद्यदेव का यह नियम है कि दुर्बलों के प्रति अनुग्रह किया जाय, समानों के प्रति सौजन्य बताया जाया तथा श्रेष्ठों के प्रति सन्मान हो; किन्तु जो अपनी बुद्धि के गर्व से उद्धत हो कर स्पर्धा करे उसी के गर्वरूपी पर्वत के लिए वज्रके समान हमारे वचन हैं ।।

हम ने उक्त युक्तियों द्वारा चार्वाक, वेदान्ती, यौग (नैयायिक–वैशेषिक), भाट्ट तथा प्राभाकर (मीमांसक), आर्ष (सांख्य) एवं क्षणिक (बौद्ध) वादियों के कहे हुए तत्त्वों को असत्य सिद्ध कर यह पहला अधिकार समाप्त किया है ।। इस प्रकार परमत के वादीरूपी पर्वतों के लिए इन्द्र सदृश श्रीभावसेन त्रैविद्यदेव द्वारा रचित विश्वतत्त्वप्रकाश मोक्षशास्त्र का संपूर्ण परमतों के तत्त्वों के विचार का पहला परिच्छेद पूर्ण हुआ ।।

ग्रन्थकृत्–प्रशस्तिः

मा बौद्ध प्रचुरं प्रजल्प किमिदं चार्वाक ते चापलं
किं वैशेषिक गर्वितोऽसि किमिदं सांख्य प्रगल्भायसे।
किं मीमांसक मस्तके न विभृषे सद्यः प्रणामाञ्जलिं
प्रोद्भूतो भुवि भावसेनमुनिपः त्रैविद्यचक्रेश्वरः ॥ १ ॥
कस्त्वं छान्दस पद्मभूरहमहो कुत्र स्थिता भारती
जग्राह प्रतिवादिगोत्रपविभृत् श्रीभावसेनो हि ताम्।
श्रुत्वैवं स हरिर्जगाम जलधिं माहेश्वरोद्रीश्वरं
शेषा ये प्रतिवादिनः स्वसदनेष्वेव स्थिता मौनिनः ॥ २ ॥
कवयः के वादिनः के मृदुमधुरवचोवाग्मिनः के नराणां
परमत्रैविद्यचक्रेश्वर तव चरणे भावसेनव्रतीन्द्र।
स्मरणज्ञा ये विशुद्ध्या प्रणमनसहिता ये प्रपूजान्विता ये
कवयस्ते वादिनस्ते मृदुमधुरवचोवाग्मिनस्ते धरित्र्याम् ॥ ३ ॥
निटलतटाघटितवर्णनबद्[पट्ट]तटे घटयति वाचाटविधेरपि।
त्रैविद्यो भावसेनो मुनिरभिनवविधिरधुना जयति जगत्याम् ॥४॥
षट्तर्कं शब्दशास्त्रं स्वपरमतगताशेषराद्धान्तपक्षं
वैद्यं वाक्यं विलेख्यं विषमसमविभेदप्रयुक्तं कवित्वम्।
संगीतं सर्वकाव्यं सरसकविकृतं नाटकं वेत्सि सम्यग्
त्रैविद्यत्वे प्रवृत्तिस्तव कथमवनौ भावसेनव्रतीन्द्र ॥ ५ ॥
परं [र]राद्धांतपयोधिवारिधिभवं तर्कांबुजार्कं सुश-
ब्दरसालंकृतिरीतिनि[नि]सर्गकविताकाव्यं[व्य]प्रबंधप्रबं-
धुरभावाभिनयप्रवीणनेसेदं बुद्धाधि[दि]वादीभके-
सरि भूमिस्तुत भावसेनमुनिपं त्रैविद्यचक्रेश्वरं ॥ ६ ॥
बलवन्नैयायिकानेकपमदहरकंठीरवं सांख्यभूभृत्-
कुलवज्रायुधं बौद्धमेघानिलमतिचटुचार्वाकपक्षोग्रदावा-
नलमत्युद्दंडमीमांसकबलगलकीनाशपाशं यशःश्री-
तिलकं त्रैविद्यचक्रेश्वरनेने नेगळ्दं भावसेनव्रतींद्रं ॥ ७ ॥
विरुदमाणेले यौगमार्मलयदिरु चार्वाकमारांतुम-
च्चरिसलुवेडेले होगु बौद्ध निजगर्वाटोपमं माणु सं-
(इ)तिरु मीमांसकमीरिमच्चरधिनुद्धंबारधि[दि]रु सांख्य दु-
र्धरनीवंधने भावसेनमुनिपं त्रैविद्यचक्रेश्वरं ॥ ८ ॥
चार्वाकोऽध्यक्षमेकं सुगतकणभुजौ सानुमानं सशाब्दं
तद्द्वैतं पारमर्षः सहितमुपमया तत्त्रयं चाक्षपादः।

सार्थापत्त्या प्रभाकृद् वदति तदखिलं पञ्चकं तच्च भट्टः
साभावं द्वे प्रमाणे जिनपतिसमये स्पष्टतोन्यस्यतश्च ॥ ९ ॥
जैमिनेः षट् प्रमाणानि चत्वारि न्यायवेदिनः।
सांख्यस्य त्रीणि वाच्यानि द्वे वैशेषिकबौद्धयोः ॥ १० ॥

लिपिकृत्–प्रशस्तिः

स्वस्तिश्री शके ॥ १५२६ प्रवर्तमाने आनंदनामसंवत्सरे फाल्गुनमासे कृष्णपक्षे पंचमी गुरुवारे ॥ श्रीजयतुरनगरे श्रीमहावीरजिनत्रिभुवनतिलकचैत्यालये। श्रीमूलसंघे सरस्वतीगच्छे बलात्कारगणे श्रीकुंदकुंदाचार्यान्वये ॥ भ० श्रीदेवेंद्रकीर्तिदेवास्तत्पट्टे भ० श्रीधर्मचंद्रदेवास्तत्पट्टे भ० श्रीधर्मभूषणदेवास्तत्पट्टे भ० श्रीदेवेंद्रकीर्तिदेवास्तत्पट्टे मलयखेडसिंहासनाधीश्वरभट्टारकवरेण्य भ० श्रीकुमुदचंद्रोपदेशात्। श्रीबघेरवालज्ञातीयश्चामरागोत्रे ॥ संश्री सोनासा भार्या सं० चंदाइ तयोः पुत्रः त्रयः ॥ सं० श्रीसाजन भा० हीराइ द्वितीय भ्रा० श्रीरूपचंदास भा० रूपाइ तृतिय भ्रात सं० श्रीहीरासा भा० पूतलाइ तयोः पुत्रः। साश्रीपद्मण तस्य भा० गवराइ द्वितीयः सा श्रीपामा भा० चंदाइ। सा श्रीदेमाजी। सा श्रीवर्धमान। सा श्रीराजवा। सा श्रीजसवा ॥ एतेषां मध्ये सं० श्रीहीरासा निजकेवलज्ञानप्राप्त्यर्थं ॥ इयं विश्वतत्त्वप्रकाशिका भ० श्रीकुमुदचंद्रशिष्य ब्र० श्रीवीरदासादायि ॥ मंगलं भूयात् ॥ श्रेयो भूयात् ॥ श्रीरस्तु लेखकपाठकयोः ॥

सौभाग्यान्वितवाग्विलासविभवं सौवर्णवर्णद्युतिं
भव्यांभोधिविकाशकृत्कुमुदकं प्रज्ञागरिष्ठास्पदं।
तन्नौमि कुमुदेंदुकं ह्यघहरं यस्मात् प्रगल्भा वरा
विश्वाद्यंतसुतत्त्वद्योतककरापाठि सुवीरेण सा ॥
वीरदासनरकुप्रमदोत्करं मुक्तिपंथभरदर्शिनमीश्वरं।
चंद्रभं सकलद्रव्यनयोद्धुरं यज्ञकृन्मतिरतिं ह्यवनौम्यरम् ॥

केलिकावर्धोयम्

टिप्पण

मंगलाचरण—ग्रन्थ के इस प्रथम श्लोक में पर आत्मा को नमस्कार किया है। यहा पर शब्द परम अथवा श्रेष्ठ के अर्थ में प्रयुक्त होता है। अतः परात्मा और परमात्मा एकार्थक शब्द हैं।[1] आत्मा के तीन प्रकार किये हैं—बहिरात्मा, अन्तरात्मा तथा परमात्मा[2]। शरीरादि बाह्य पदार्थों को अपना स्वरूप माने वह बहिरात्मा है। आत्मा का आन्तरिक स्वरूप समझे वह अन्तरात्मा है। उस आन्तरिक स्वरूपका जिस में परम विकास हो वह परात्मा अथवा परमात्मा है। कुन्दकुन्द ने मोक्षप्राभृत मे तथा पूज्यपाद ने समाधितन्त्र मे इन तीन प्रकारो का विस्तृत विवरण दिया है।

पर आत्मा को तीन विशेषण दिये हैं—विश्वतत्त्वप्रकाश, परमानन्दमूर्ति तथा अनाद्यनन्तरूप। इन मे पहला शब्द सर्वार्थसिद्धि के मंगलाचरण से प्रभावित प्रतीत होता है—पूज्यपाद ने वहा मोक्षमार्ग के प्रणेता तीर्थंकर को विश्वतत्त्वज्ञाता कहा है[3]। यहा विश्व शब्द का अर्थ सर्व अथवा सम्पूर्ण यह है। प्राचीन (वैदिक) संस्कृत में विश्व शब्द सर्व के अर्थ मे ही प्रयुक्त हुआ है। विश्वतत्त्व अर्थात् जगत के तत्त्व यह अर्थ करे तो भी हानि नही है। दोनों प्रकारों से इस विशेषण का तात्पर्य सर्वज्ञ होता है। सर्वज्ञ के अस्तित्व की सिद्धता इस ग्रन्थ का एक प्रमुख विषय है—परिच्छेद १३ से १९ तक तथा २७ में—आठ परिच्छेदोंमें इस की चर्चा है। विज्ञानाद्वैतवादी बौद्ध जगत में एकही तत्त्व (विज्ञान) मानते हैं अतः उन्हे विश्वतत्त्व (सब तत्त्व अथवा जगत के तत्त्व) यह शब्द निराधार प्रतीत होता है—इस का विचार परि. ३९ मे किया है।

आत्मा के परमानन्दमय स्वरूप का वर्णन अमृतचन्द्र ने समयसारटीका मे किया है[4]। साधारणतः आत्मा के इस गुण को सुख कहा जाता है और सासारिक सुख से भिन्नता बतलाने के लिए इसे आत्मोत्थ सुख, अतीन्द्रिय सुख

---

१) परमेष्ठी परात्मेति परमात्मेश्वरो जिनः। समाधितन्त्र ६. २) तिपयारो सो अप्पा परमंतरबाहिरो हु देहीणं। मोक्षप्राभृत ४. बहिरन्तःपरश्चेति त्रिधात्मा सर्व देहिषु। समाधितन्त्र ४. ३) मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम्। ज्ञातारं विश्वतत्त्वाना वन्दे तद्गुणलब्धये ॥ इस श्लोक को विद्यानन्द आदि आचार्यों ने मूल तत्त्वार्थसूत्र का मंगलाचरण माना है। ४) परमानन्दशब्दवाच्यमुत्तममनाकुलत्वलक्षणं सौख्यं स्वयमेव भविष्यतीति। समयसारटीका गा. ४१५.

अथवा अनन्त सुख कहा जाता है[1]। वेदान्त दर्शन की परंपरा में सुख और दुःख ये शब्द सासारिक अनुभव के लिए और आनन्द शब्द आत्मानुभव के लिए प्रयुक्त होता है[2]। प्रस्तुत ग्रंथ में इस विशेषण का तार्किक चर्चा में विचार नही किया है।

आत्मा के ये तीन विशेषण—पर, विश्वतत्त्वप्रकाश तथा परमानन्दमूर्ति—सर्वज्ञ अवस्था के हैं। अन्तिम विशेषण—अनाद्यनन्तरूप—आत्मा के अस्तित्व के विषय में है। आत्मा का अस्तित्व—काल की दृष्टि से तथा पर्यायों की दृष्टि से—अनादि व अनन्त है[3]। उस का परमत्व, विश्वतत्त्वप्रकाशकत्व तथा परमानन्दरूपत्व सादि—अनन्त है[4]। आत्मा के अनादि—अनन्त अस्तित्व का विचार ग्रन्थ के प्रारभ के १२ परिच्छेदों मे किया है।

परिच्छेद १—पृ. १—प्रारम्भ में चार्वाक दर्शन का जो पूर्वपक्ष प्रस्तुत किया है उस के दो भाग हैं—जीव के विषय मे चार्वाकों का मत तथा अन्य मतों का चार्वाकों द्वारा खण्डन। पहले भाग का संक्षिप्त निर्देश पृ. १ पर दो वाक्यों में है तथा इस का समर्थन परिच्छेद ३ मे किया है। दूसरे भाग के लिए परि. १ तथा २ लिखे गये है। पहले भाग के मुख्य दो वाक्य हैं—चैतन्य की उत्पत्ति भूतों (पृथिवी, जल, तेज, वायु) से होती है तथा यह चैतन्य (जीव) जलबुद्बुद के समान अनित्य—विनाशशील है। इनका पूर्वपक्ष के रूप मे निर्देश समन्तभद्र, अकलक, हरिभद्र आदि ने[5] किया है। इस पूर्व-पक्ष का उत्तर परि. ४ से ९ तक दिया है।

प्रत्यक्ष प्रमाण केवल सम्बद्ध और वर्तमान काल के विषयों को ही जानता है यह बात इंद्रियजन्य प्रत्यक्ष के सम्बन्ध मे सही है। प्रस्तुत ग्रन्थकर्ता ने भी सर्वज्ञ का अभाव प्रत्यक्ष से ज्ञात नही होता यह बतलाने समय इसी तर्क का उपयोग किया है (परि. १३, पृ. २५)। किन्तु जैन मत मे प्रत्यक्ष अतीन्द्रिय भी

---

१) अइसयमादसमुत्थं विसयातीदं अणोवममणंतं। अव्वुच्छिण्णं च सुहं सुद्धुवओगप्पसिद्धाणं॥ कुंदकुंद—प्रवचनसार गा. १३. २)आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्। तैत्तिरीयोपनिषत् ३-६. आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कदाचन। उपर्युक्त २-४. ३) कालओ णं जीवे न कया वि न आसि जाव निच्चे नत्थि पुण से अंते, भावओ णं जीवे अणंता दंसणपज्जवा अणंता णाणपज्जवा अणता अगुरुलहुयपज्जवा नत्थि पुण से अन्ते। भगवतीसूत्र २-१-९०. ४) सुत्तम्मि चेव साई अपज्जवसियं ति केवलं वुत्तं। सन्मति २-७. ५) समन्तभद्र—युक्त्यनुशासन ३५—मद्यागवद् भूतसमागमे ज्ञः।, अकलंक—सिद्धिविनिश्चय ४-१४—जलबुद्बुदवत् जीवाः मदशक्तिवत् विज्ञानमिति परः अर्के कटुकिमानं दृष्ट्वा गुडे योजयति।; हरिभद्र—षड्दर्शनसमुच्चय ८३—किं च पृथ्वी जलं तेजो वायुर्भूतचतुष्टयं चैतन्यभूमिः।

होता है[1]—वह वर्तमान तथा सम्बद्ध विषय तक मर्यादित नही होता—यही सर्वज्ञ सिद्धि का मुख्य विषय है।

पृ. २—जीव शरीर का कार्य है इस मत का निरसन परि. ७ में प्रस्तुत किया है।

आकाश के समान जीव व्यापक है व अमूर्त है अतः वह नित्य है यह तर्क चार्वाक के प्रति उपयुक्त नही है क्यों कि चार्वाक आकाश द्रव्य को भी मान्य नही करते—उन के मत मे पृथ्वी, जल, तेज, वायु ये चार ही द्रव्य हैं—साथही वे जीव को अमूर्त या व्यापक भी नही मानते।

पृ. ३—चैतन्य चैतन्य से ही उत्पन्न होता है अतः जन्मसमय का चेतन जीव भी पूर्ववर्ती चेतन जीव का कार्य है—इस प्रकार जीव के अनादि होने की सिद्धि विद्यानन्द ने प्रस्तुत की है[2]। इस के पहले अकलंक ने इसी अनुमान का एक रूपान्तर प्रस्तुत किया है[3]। चार्वाकों ने इस का उत्तर दो प्रकारों से दिया है। एक तो यह कि जन्म समय के चैतन्य की उत्पत्ति शरीर से होती है—शरीर ही उस चैतन्य का उपादान कारण है। दूसरा उत्तर यह है कि जन्म समय के चैतन्य का उपादान कारण उस शिशु के मातापिता का चैतन्य है। इस दूसरे कथन के अनुसार पुत्र ही पिता का पुनर्जन्म है और पिता ही पुत्र का पूर्वजन्म है—वशपरम्परा ही चैतन्य के सातत्य की द्योतक है। इस मत का समर्थक एक वाक्य ऐतरेय ब्राह्मण मे उपलब्ध होता है[4]। ग्रन्थकर्ता ने प्रस्तुत ग्रन्थ मे इस अनुमान का कोई उत्तर नही दिया है—सम्भवतः इस लिए कि जैन दृष्टि से यह बहुत स्पष्ट है; शिशु के शरीर का निर्माण मातापितापर अवलम्बित है किन्तु शिशु का ज्ञान-दर्शन मातापिता के ज्ञान-दर्शन से सर्वथा भिन्न है, ज्ञान-दर्शन ही जीव का लक्षण है अतः शिशु का जीव मातापिता के जीवों से भिन्न है।

परि. २, पृ. ४—आगम तथा अनुमान ये दोनों लौकिक विषयों मे ही उपयुक्त होते हैं— अतीन्द्रिय विषयों मे उन का उपयोग सम्भव नही ऐसा

---

१) किंबहुना प्राचीन जैन परम्परा में प्रत्यक्ष ज्ञान अतीन्द्रिय ही माना है तथा इन्द्रियजन्य ज्ञान को परोक्ष कहा है। बाद मे इन्द्रिय ज्ञान को प्रत्यक्ष माना गया वह व्यवहार की दृष्टि से था। २) अष्टसहस्री पृ. ६३ प्राणिनामाद्यं चैतन्यं चैतन्योपादानकारणकं चिद्विवर्तत्वात् मध्यचैतन्यविवर्तवत्। ३) सिद्धिविनिश्चय ४-१४ न पुनश्चेतनः चैतन्यं विहाय विपरिवर्तते अचेतनः चेतनो भवन् संलक्ष्यते। ४) ऐतरेय ब्राह्मण ७-३-७ पतिर्जायां प्रविशति गर्भो भूत्वा स मातरम्। तस्या पुनर्नवो भूत्वा दशमे मासि जायते॥ तत् जाया जाया भवति यदस्या जायते पुनः॥

चार्वाकों का मत है। इसीलिए वे आगम या अनुमानको प्रमाण नही मानते। चार्वाक आचार्य अविद्धकर्ण ने इस विषय का विस्तृत विचार किया था ऐसा बौद्ध ग्रन्थो के उद्धरणो से प्रतीत होता है[१]।

सर्वज्ञ तथा आगम ये दोनों परस्पराश्रित हैं यह दोष मीमांसकों ने भी उपस्थित किया है[२]। किंतु जैन मत से यह कोई दोष नही क्यों कि सर्वज्ञ तथा आगम दोनों की परम्परा अनादि है– एक सर्वज्ञ आगम का उपदेश करता है, उस उपदेश से प्रेरणा पाकर दूसरा जीव सर्वज्ञ होता है इस प्रकार की परम्परा अनादि है[३]।

पदार्थों का ग्रहण करना (उन्हे जानना) यह आत्मा का स्वभाव है अतः इस में बाधा दूर होते ही वह सब पदार्थ साक्षात् जानता है इस अनुमान का उल्लेख लेखक ने आगे भी किया है (पृ. ३५)। प्रभाचन्द्र के न्यायकुमुदचन्द्र के शब्द ही प्रायः यहा उद्धृत हुए हैं[४]।

पृष्ठ ५—सूक्ष्म, अन्तरित व दूर के पदार्थ अनुमान के विषय होते हैं अतः वे किसी न किसी द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञात हुए होते हैं–यह अनुमान भी आगे पुनः उद्धृत किया है (पृ.३६) तथा इसपर चार्वाक द्वारा उपस्थित आपत्तियों का वहा परिहार किया है। यह अनुमान समन्तभद्र की आप्तमीमासा से लिया गया है[५]।

पृष्ठ ६—सर्वज्ञ के अस्तित्व मे बाधक प्रमाण नही हैं इस का आगे विस्तार से विवरण दिया है (परि. १३–१४)। यह तर्क अकलंक ने सिद्धिविनिश्चय में प्रस्तुत किया है[६]।

सर्वज्ञ ईश्वर जगत्कर्ता है यह मत चार्वाकों के समान जैनों को भी अमान्य है, इस की चर्चा आगे सात (परि. २०-२६) परिच्छेदों मे की है।

वर्तमान काल तथा प्रस्तुत प्रदेश के समान सभी समयों व प्रदेशों मे सर्वज्ञ नहीं हैं–इस अनुमान का उत्तर आगे दिया है (पृ. ६९-७१)। इस सम्बन्ध मे मीमासक भी चार्वाक का अनुसरण करते हैं।

१) प्रमाणवार्तिक स्ववृत्ति टीका पृ.१९ तथा २५, तत्त्वसंग्रह पंजिका का. १४८२. २) नर्ते तदागमात् सिद्ध्येत् न च तेन विनागमः (मीमासा श्लोकवार्तिक–चोदनासूत्र श्लो. १४२.) ३) सर्वज्ञागमयोः प्रबन्धनित्यत्वेन नित्यत्वोपगमात् कुतस्तत्र एवमन्योन्याश्रयणं स्यात् (सिद्धिविनिश्चय ८-४). ४) न्यायकुमुदचन्द्र पृ. ९१ कश्चिदात्मा सकलार्थसाक्षात्कारी तद्ग्रहणस्वभावत्वे सति प्रक्षीणप्रतिबन्धप्रत्ययत्वात्। ५) आप्तमीमांसा का.५: सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः प्रत्यक्षाः कस्यचित् यथा। अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञसंस्थितिः॥ ६ सिद्धिविनिश्चय ८–६: अस्ति सर्वज्ञः सुनिश्चितासम्भवद्बाधकप्रमाणत्वात्।

पृष्ठ ७—अपौरुषेय आगम का अस्तित्व अमान्य करने मे चार्वाक और जैन एकमत हैं–दोनों के मत से वेद पुरुषकृत हैं–इस प्रश्न का विचार आगे नौ (परि. २८-३६) परिच्छेदों मे किया है।

परि. ३—देहात्मिका इत्यादि–इस श्लोक का चतुर्थ चरण प्रज्ञाकरके प्रमाणवार्तिकभाष्य (पृ. ६३) मे 'नास्त्यभ्यासस्य सम्भवः' ऐसा है तथा शान्तिसूरि ने न्यायावतारवार्तिकवृत्ति (पृ. ४६) में यह चतुर्थ चरण 'न परलोकस्य सम्भवः' ऐसा दिया है। इन दोनों ग्रन्थों में इस श्लोक मे निर्दिष्ट मतों का पुरन्दर, उद्भट व अविद्धकर्ण से सम्बन्ध नही बतलाया है। प्रस्तुत ग्रन्थ में इन तीन आचार्यों के मतों का यह एकत्रित वर्णन एक विशेष उपलब्धि है।

पृष्ठ ८—पूर्वजन्म–पुनर्जन्म के सिद्धान्त मे अदृष्ट का स्थान बडा महत्त्वपूर्ण है। शिला से निर्मित देवप्रतिमा की पूजा होती है इसका कारण उस शिला मे स्थित पृथिवीकायिक जीव का अदृष्ट ही है यह मत लेखक ने आगे विस्तार से स्पष्ट किया है (पृ. २०-२१)। किन्तु आधुनिक दृष्टि से शायद यह उचित प्रतीत नही होगा[1]।

परि.४, पृष्ठ १०—परि. ३ के प्रारभ मे चार्वाकों ने जो अनुमान प्रस्तुत किया है उसका यहा क्रमशः खण्डन किया है। जीव इन्द्रिय प्रत्यक्ष से ज्ञात नहीं होता–मानस या स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से ही ज्ञात होता है–इस से प्रकट होता है कि वह शरीरसे भिन्न है–शरीर इन्द्रिय प्रत्यक्ष से ज्ञात होता है।

परि. ५, पृष्ठ १३—जीव का लक्षण ज्ञान-दर्शन है यह आगमिक परम्परा मे प्रसिद्ध ही था[2]। जीव ज्ञान का आधार है अतः शरीर से उस का अस्तित्व पृथक् है यह अनुमान प्रयोग न्यायसूत्र[3], व्योमवती टीका[4] आदि मे पाया जाता है।

परि. ६, पृष्ठ १५—पुरन्दर आचार्य का मत पहले (पृ. ८) बताया है उस का यहा खण्डन किया है। जीव के शरीर से अन्यत्र अस्तित्व के बारे

---

१) पं. फूलचन्द्र लिखते है—कर्म कुछ सीधा धन, सम्पत्ति के इकट्ठा करने में निमित्त नही होता। उस से तो राग द्वेष आदि भाव होते है और इन भावों के अनुसार जीव धन, घर, स्त्री आदि बाह्य पदार्थों के संयोगवियोग में प्रयत्नशील रहता है इसलिए इन्हे सीधा कर्म का कार्य नही मानना चाहिए। वास्तव मे दरिद्रता और श्रीमन्ती यह राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था का फल है; कर्म का नही (पंचाध्यायी अ. २ श्लो. ५७ की टीका)। २) उपयोगो लक्षणम्। तत्त्वार्थसूत्र २-८. ३) इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गम्। न्यायसूत्र १-१-१०. ४) शब्दादिज्ञानं क्वचिदाश्रितं गुणत्वात्। व्योमवती पृ. ३९३.

मे 'असरीरा जीवघणा' यह गाथा[1] लेखक ने प्रमाणरूप में उद्धृत किया है। इन शब्दों से प्रारम्भ होनेवाली दो गाथाएं हैं-एक देवसेनकृत तत्त्वसार में (क्र. ७२) तथा दूसरी[2] सिद्धभक्ति की क्षेपक गाथाओं में जीव शरीर से अन्यत्र भी रहता है इस विषय में यहा लेखक ने अनुमान और आगम इन दो प्रमाणों का उल्लेख किया है। अन्य आचार्यों ने प्रत्यक्ष प्रमाण से भी इस बात का समर्थन किया है-किसी जीव को अपने पूर्वजन्म का स्मरण होता है तब वह प्रत्यक्ष से ही जानता है कि उस का जीव पहले वर्तमान शरीर से भिन्न किसी दूसरे शरीर मे था[3], इसी प्रकार कोई व्यक्ति मृत होने पर भूत अथवा पिशाच योनि में जन्म ले कर किसी दूसरे व्यक्ति के शरीर में वास करता है ऐसे उदाहरण भी प्रत्यक्ष प्रमाण से ज्ञात हैं।

परि. ७, पृ. १७—पहले उद्भट आचार्य का मत पृ. ८ पर बतलाया है उस का यह खण्डन है। इस परिच्छेद में तथा अगले परिच्छेद म अपनाया गया खण्डन का प्रकार परि. ६ जैसा ही है।

परि. ९, पृष्ठ १९-२०—यहा उल्लिखित पूर्वपक्ष पृ. ८ पर बतलाया है। चैतन्य का कारण चैतन्य ही होता है यह तर्क भी पहले कहा है (पृ. ३)।

परि. १०, पृष्ठ २०-२१—जगत के सब अच्छे-बुरे कार्य प्राणियों के अदृष्ट से ही होते हैं यह लेखक का अभिमत है। पाषाणमूर्ति की पूजा होती है इस का कारण पाषाण-शरीर मे स्थितजीव का शुभ कर्म है-यह विधान इसी अभिमत का स्पष्टीकरण है। प्रामाणिक ज्ञान पुण्य के उदय से होता है तथा मिथ्याज्ञान पाप के उदय से होता है यह लेखक का विधान भी (पृष्ठ १०२) इसी मत के कारण हुआ है। इस एकान्त मत की उचितता विचारणीय है।

परि. ११, पृष्ठ २२—अदृष्ट अथवा कर्म-सिद्धान्त की मूलभूत विचारसरणि इस परिच्छेद मे आई है। प्रत्येक जीव को उस के प्रत्येक कार्य का फल अवश्य मिलता है-यह कल्पना आधारभूत मानकर कर्म सिद्धान्त की रचना हुई है। वर्तमान जीवन मे सभी कार्यों के फल मिलते हुए दिखाई नही देते-अतः कुछ फल पूर्वजन्म के कार्यों के हैं तथा कुछ फल अगले जन्म मे मिलेंगे यह मानना जरूरी होता है। न्यायादि दर्शनों मे जीव को कर्मों का फल देनेवाले

---

१) असरीरा जीवघणा चरमसरीरा हवति किंचूणा। जम्मणमरणविमुक्का णमामि सव्वे पुणो सिद्धा॥ ७२॥. २) असरीरा जीवघणा उवजुत्ता दंसणे य णाणे य। सायारमणायारा लक्खणमेयं तु सिद्धाण॥. ३) अकलंक-न्यायविनिश्चय श्लो. २४९-जातिस्मराणा सवादादपि संस्कारसंस्थितेः। पात्रकेसरिस्तोत्र श्लो. १५-स्मृतिश्च परजन्मनः स्फुटमिहेक्ष्यते कस्यचित्।

ईश्वरके समर्थन में यह मुख्य कारण बतलाया है[१]। यहा लेखक द्वारा प्रयुक्त वाक्य प्रभाचन्द्र के अनुकरण पर है[२]।

परि. १२, पृष्ठ २३—यहां उल्लिखित पूर्वपक्ष पृ. १ पर आया है! जीव शरीर से भिन्न तथा अनादि–अनन्त है यह बात हमारे समान अल्पज्ञ लोग अनुमान से जानते हैं किन्तु योगी इसी को प्रत्यक्ष द्वारा भी जानते हैं। यहा योगी–प्रत्यक्ष शब्द विशिष्ट अर्थ मे लेना चाहिए–योगी का सर्वज्ञ यह अर्थ इष्ट है। सर्वज्ञ के अस्तित्व का समर्थन अगले कुछ परिच्छेदों मे प्रस्तुत किया है।

परि. १३, पृ. २४—यः सर्वाणि इत्यादि श्लोक जयसेन ने पंचास्तिकाय की तात्पर्य टीका मे उद्धृत किया है किन्तु इस का मूल स्थान ज्ञात नही हुआ।

पृष्ठ २५—सर्वज्ञ मे बाधक प्रमाण नही हैं यह तर्क पहले बतलाया है (पृ. ६) इसका विवरण यहा प्रारम्भ होता है। जगत् मे कहीं भी किसी समय सर्वज्ञ नही होते यह जो प्रत्यक्ष से जानेगा वह स्वयं (सब जगत को जानने के कारण) सर्वज्ञ होगा अतः प्रत्यक्ष से सर्वज्ञ का बाध नही होता। यह वाक्य अकलक तथा विद्यानन्द के अनुकरण पर है[३]।

पृष्ठ २६—राग, द्वेष तथा अज्ञान की मात्रा प्रत्येक व्यक्ति में कम-अधिक देखी जाती है अतः किसी व्यक्ति मे उनका सर्वथा अभाव भी होता है यह अनुमान समन्तभद्र, पात्रकेसरी आदि की रचनाओं मे पाया जाता है[४]। इसी के उलटा कथन है–ज्ञान, वैराग्य का किसी मे परम प्रकर्ष होता है क्यो कि इन की मात्रा प्रत्येक व्यक्ति मे कम अधिक देखी जाती है[५]।

पृष्ठ २७—पुरुष होना अथवा वक्ता होना सर्वज्ञ होने मे बाधक है यह मीमासकों का कथन है। उन का तात्पर्य यह है कि शरीर की रक्षा के लिए आवश्यक भोजनादि क्रियाएं करते समय सर्वज्ञ का चित्त उन क्रियाओं मे लगा

---

१) न्यायसूत्र ४।१।१९ : ईश्वरः कारणं पुरुषकर्माफल्यदर्शनात्। २) न्यायकुमुदचन्द्र पृ. ३४८: कथमन्यथा सेवाकृष्यादौ सममीहमानाना केषांचिदेव फलयोगः अन्येषां च नैष्फल्यं स्यात्। ३) सिद्धिविनिश्चय ८-१६ : असकलज्ञं जगद् विदन् सर्वज्ञः स्यात्।; आप्तपरीक्षा ९७: प्रत्यक्षमपरिच्छिन्दत् त्रिकालं भुवनत्रयम्। रहितं विश्वतत्त्वज्ञैर्न हि तद् बाधकं भवेत्।। ४) आप्तमीमासा ४ : दोषावरणयोर्हानिः निःशेषास्त्यतिशायनात्। क्वचिद् यथा स्वहेतुभ्यो बहिरन्तर्मलक्षयः ।।, पात्रकेसरिस्तोत्र १८ : प्रहाणमपि दृश्यते क्षयवतो निमूलात् क्वचित् तथायमपि युज्यते ज्वलनवत् कषायक्षयः ।। ५) यह कथन योगसूत्र (१-२५) (तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्) के व्यासकृत भाष्य में भी है।

रहेगा—तब वह बाकी सब पदार्थों को कैसे जान सकेगा? इस का उत्तर जैन दार्शनिकों ने दो प्रकार से दिया है। दिगम्बर परम्परा के अनुसार जब कोई व्यक्ति सर्वज्ञ होता है तब उसे भौतिक भोजन की जरूरत ही नही रहती—अनन्त ज्ञान के समान उसे अनन्त सुख भी प्राप्त होता है; इसी तरह सर्वज्ञ का धर्मोपदेश भी इच्छापूर्वक नही होता—वह तो पूर्वोपार्जित तीर्थंकर नामकर्म का फल मात्र होता है—अतः भोजनादि से अथवा उपदेश से सर्वज्ञ के ज्ञान में कोई बाधा नही पडती। श्वेताम्बर परम्परा में सर्वज्ञ के भोजनादि क्रियाएं तो स्वीकार की हैं किन्तु इन क्रियाओं के होते हुए भी सर्वज्ञ के ज्ञान में बाधा नही मानी है—वह इसलिए कि सर्वज्ञ का ज्ञान अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष होता है, मन या इन्द्रियों पर अवलम्बित नही होता अतः शारीरिक क्रियाओं से उस में कोई बाधा नही पडती।

पृष्ठ २८—उपनिषदों की परम्परा में सर्वज्ञ के समर्थक वचन दो प्रकार से प्राप्त होते हैं—एक में जगत के सब क्रियाओं (उस में ज्ञान भी सम्मिलित होता है) के आधार के रूप मे ब्रह्म का वर्णन आता है, लेखक ने यहां उद्धृत किये हैं वे दोनों वाक्य इसी प्रकार के हैं। दूसरे प्रकार मे परम शक्तिशाली ईश्वर मे सर्वज्ञता का वर्णन किया है; स सर्वज्ञः सर्वमेवाविवेश (प्रश्न उ. ४-८), यः सर्वज्ञः सर्ववित् यस्य ज्ञानमय तपः (मुण्डक उ. १-१०) आदि वाक्य इस प्रकार के हैं, इन में सर्वज्ञ शब्द का स्पष्ट प्रयोग भी है। यह स्पष्ट है कि जैन दर्शन के समान कोई पुरुष सर्वज्ञ हो सकता है यह बात वैदिक परम्परा में मान्य नही थी।

पृष्ठ २९—उपमान अथवा अर्थापत्ति ये प्रमाण किसी विषयका अस्तित्व बतलाते हैं—अभाव का ज्ञान उन से नही होता, अतः सर्वज्ञ के अभाव को भी इन प्रमाणों से सिद्ध नही किया जा सकता। यह तर्क विद्यानन्द ने प्रस्तुत किया है[1]।

पृष्ठ ३१—सब वस्तुएं अनेक हैं, अनेक वस्तुएं किसी एकके ज्ञान का विषय होती हैं, अतः सब वस्तुएं किसी एक के ज्ञान का विषय होती हैं—यह अनुमान अनन्तवीर्य ने सिद्धिविनिश्चय टीका में उद्धृत किया है[2]। इस अनुमान की निर्दोषता का जो विवरण लेखक ने दिया है वह न्यायदर्शन की वादपद्धति के अनुसार है— असिद्ध हेत्वाभास के आश्रयासिद्ध, व्यधिकरणासिद्ध, भागासिद्ध आदि उपभेद जैन वादपद्धति मे निरर्थक माने हैं इस का उल्लेख

१) आप्तपरीक्षा ९८ : नानुमानोपमानार्थापत्त्यागमबलादपि। विश्वज्ञाभावसंसिद्धिस्तेषा सद्विषयत्वतः॥ २) पृष्ठ ७ : सर्वः सदसद्वर्गः कस्यचिदेकप्रत्यक्षविषयः अनेकत्वात् अंगुलिसमूहवत्।

लेखक ने ही आगे किया है (पृ. ४१-४२) । यहा के अनुमान मे सब वस्तुएं (सद् असद्वर्ग) यह पक्ष है, अनेक होना यह हेतु है, एक ज्ञान का विषय होना यह साध्य है तथा अंगुलिया यह उदाहरण है । यहा हेतु पक्ष में विद्यमान है अतः स्वरूप से असिद्ध नही है, तथा व्यधिकरण–असिद्ध भी नही है (व्यधिकरण-असिद्ध वह होता है जो पक्ष मे न हो कर अन्यत्र कहीं विद्यमान हो) । यहा पक्ष का अस्तित्व सुनिश्चित है अतः हेतु आश्रय–असिद्ध नही है तथा हेतु का अस्तित्व पक्ष मे निश्चित है अतः हेतु भाग–असिद्ध अथवा अज्ञात–असिद्ध, अथवा सन्दिग्ध–असिद्ध भी नही है । हेतु पक्ष से विरुद्ध अन्यत्र कहीं नही है अतः वह विरुद्ध अथवा अनैकान्तिक भी नही है । प्रतिवादी को असिद्ध प्रतीत होनेवाला तत्त्व हम सिद्ध कर रहे हैं अतः यह हेतुप्रयोग अकिंचित्कर (व्यर्थ) भी नही है । हेतुका पक्ष मे अस्तित्व निश्चित है अतः इसे अनध्यवसित (अनिश्चित) नही कह सकते । साध्य के विरुद्ध कोई प्रमाण नही है अतः यह हेतु कालात्ययापदिष्ट (बाधित) भी नही है । यहा दृष्टान्त (उदाहरण = अगुलीसमूह) मे साध्य (एक ज्ञान का विषय होना) तथा साधन (अनेक होना) दोनों विद्यमान है अतः दृष्टान्त भी दोषरहित है । दृष्टान्त-विषय का अस्तित्व प्रसिद्ध है अतः वह आश्रय-असिद्ध नही है तथा अनेक वस्तुएं एक ज्ञान का विषय होती हैं यह व्याप्ति भी इस दृष्टान्त से अच्छी तरह ज्ञात होती है अत. यह विपरीतव्याप्तिक भी नही है ।

पृष्ठ ३३––अनेक वस्तुएं एक ज्ञान का विषय होती हैं इस अनुमान के विरोध में मीमासकों ने कहा कि अनेक वस्तुएं एक ज्ञान का विषय नही होती हैं । इस पर जैन सिद्धान्ती का कथन है कि अनेक वस्तुए (सेना, वन आदि) हमारे जैसों के ही ज्ञान का विषय होती हैं । प्रत्युत्तर मे मीमासक आक्षेप करते हैं कि आप के ज्ञान का विषय तो सब वस्तुएं नही होतीं । इस प्रत्युत्तर में मीमासकोंने यह ध्यान नहीं रखा कि जैनों का साध्य तो किसी एक ज्ञान का सब वस्तुओं को जानना है–हमारे जैसे व्यक्ति सभी वस्तुएं जानते हैं यह जैनों का साध्य ही नही है । अतः अपने पक्ष का दोष दूर न कर प्रतिपक्ष में दोष देने की गलती वे कर रहे है–इस को वाद की परिभाषा में मतानुज्ञा नामक निग्रहस्थान कहते हैं[1] । मूल अनुमान में दोष न बतला कर विरोधी अनुमान प्रस्तुत करना भी वाद की परिभाषा मे दोष ही है–इसे प्रकरणसमजाति कहते हैं ।

---

१) न्यायसूत्र ५।२।२१ स्वपक्षदोषाभ्युपगमात् परपक्षे दोषप्रसंगो मतानुज्ञा ।

परि. १६--बौद्ध दार्शनिक निर्दोष हेतु के तीन लक्षण मानते थे–हेतु पक्ष मे हो, सपक्ष मे हो तथा विपक्ष में न हो (उदा. धुंआ पर्वतपर है, रसोईमें है, तथा सरोवर में नही है अतः धुंए से आग का अनुमान निर्दोष है) यह तभी सम्भव है जब पक्ष, सपक्ष, विपक्ष ये तीन पृथक् रूप से विद्यमान हों। किन्तु यह बात अन्वयव्यतिरेकी अनुमान मे ही सम्भव होती है। केवलान्वयी अनुमान मे विपक्ष नही होता–उस का पक्ष मे ही अन्तर्भाव होता है (उदा. ‘सब वस्तुए’ इस पक्ष से भिन्न कोई वस्तु नही है जिसे विपक्ष कहा जाय)। इसी तरह केवल व्यतिरेकी अनुमान में सपक्ष का अस्तित्व नही होता (इस का विवरण पृ. ३६ पर आया है)। किन्तु फिर भी केवलान्वयी तथा केवलव्यतिरेकी अनुमान प्रमाण माने गये हैं इसी लिए जैन प्रमाणशास्त्र मे हेतु के ये तीन लक्षण नही माने गये हैं–इन के स्थान मे एक ही ‘अन्यथा उपपत्ति न होना’ यह लक्षण माना है।

परि. १७, पृ. ३५—आवरण दूर होने पर जीव का ज्ञान सब पदार्थों को जानता है इस अनुमान का उल्लेख पहले किया हैं (पृ. ४)। उसी का विस्तार यहा प्रस्तुत किया है। पूर्वोक्त स्थान पर इस अनुमान के उदाहरण के रूप में निर्मल नेत्र का उल्लेख किया है, इस पर चार्वाकों का आक्षेप था कि नेत्र मे तो सब पदार्थों के देखने की क्षमता नही हैं अतः वह सब पदार्थों को जानने के साध्य का उदाहरण नही हो सकता। प्रस्तुत दोष दूर करने के लिए यहा आचार्य ने नेत्र का उदाहरण न दे कर व्यतिरेक दृष्टान्त के रूप में मलिन मणि (दर्पण) का उदाहरण दिया है–मलिन दर्पण पदार्थों को प्रतिबिम्बित नही कर सकता उसी तरह आवरण सहित जीव सब पदार्थों को नही जान सकता। जब सब दोष दूर हो जाते हैं तो स्वाभाविक शक्ति से जीव सब पदार्थों को साक्षात् जानता है।

पृष्ठ ३६—उपर्युक्त अनुमान केवल व्यतिरेकी है। यहा कोई एक पुरुष यह पक्ष है, सब पदार्थों का साक्षात ज्ञाता होना यह साध्य है तथा सब पदार्थों के ज्ञान की योग्यता होने पर आवरण दूर होना यह हेतु है। इस अनुमान मे विपक्ष (सब पदार्थों को न जाननेवाले साधारण पुरुष) तो विद्यमान है किन्तु पक्ष से भिन्न कोई सपक्ष विद्यमान नही है अतः सपक्ष मे हेतु का अस्तित्व होना चाहिए यह नियम यहा नही लगाया जा सकता।

सूक्ष्मादि पदार्थ प्रमेय है अतः वे किसी के द्वारा प्रत्यक्ष जाने गये हैं यह अनुमान भी पहले (पृ. ५) उद्धृत किया है।

परि. १८, पृष्ठ ३८—मीमांसक मत मे धर्म–अधर्म (पुण्य–पाप) का साक्षात् ज्ञान पुरुष के लिए सम्भव नही माना है–यह ज्ञान आगम (वेद) के

द्वारा ही होता है यह उनका मत है। यहा उद्धृत श्लोक मे धर्मज्ञ का अर्थ धर्म को साक्षात् जाननेवाला यह समझना चाहिए। इस विषय मे बौद्धों का मत मीमासकों से ठीक उलटा है। उन के मत से धर्म का साक्षात् ज्ञान ही आप्त (बुद्ध) का विशेष है—बाकी सर्व पदार्थ वे जानते हैं या नही यह देखना व्यर्थ है[1]। जैन मत मे जो सर्वज्ञ माने हैं वे धर्म-अधर्म को भी साक्षात् जानते हैं और बाकी सब पदार्थों को भी।

यहा अदृष्ट (पुण्य-पाप) को प्रत्यक्ष का विषय सिद्ध करने के लिए जो यह कहा है कि अदृष्ट अनुमान आदि प्रमाणों से ज्ञात नही होता—यह प्रतिवादी (मीमासक) के मतानुसार समझना चाहिए। वैसे ग्रन्थकर्ता ने पहले अनुमान से अदृष्ट का समर्थन किया ही है (पृ. २२)।

पृ. ३९—आगम की प्रमाणता आगमप्रवर्तक पर अवलंबित है यह तथ्य यहा स्पष्ट किया है। इसी लिए बौद्ध मत में आगम को स्वतन्त्र प्रमाण नही माना है, यद्यपि बुद्ध के वचनों को वे प्रमाणभूत मानते ही हैं। जैन मत के अनुसार भी आगम स्वतः प्रमाण नही हैं— सर्वज्ञ द्वारा उपदिष्ट होने के कारण प्रमाण हैं।

परि. १९—सर्वज्ञ के अस्तित्व मे कोई बाधक प्रमाण नही है यह अनुमान पहले उद्धृत किया है (पृ. ५–६) और उस का विवरण भी पहले आ चुका है। (पृ. २९–३०)

पृष्ठ ४१—जैन प्रमाणशास्त्र मे असिद्ध हेत्वाभास के दो ही प्रकार माने हैं इस का निर्देश पहले परि. १५ के टिप्पण मे किया है। प्रभाचन्द्र ने इस की विस्तार से चर्चा की है[2]।

परि. २०, पृष्ठ ४२—चार्वाकों द्वारा जगत्कर्ता ईश्वर का निषेध किया है यह पूर्वपक्ष पृ. ६ पर आया है। जैन इस से सहमत हैं। इस पर नैयायिकों के तर्कों का यहा विस्तार से विचार करते हैं। ईश्वर कर्ता है यह कथन तभी सम्भव होगा जब जगत को कार्य सिद्ध किया जाय। अतः जगत कार्य है या नही इसी का पहले विचार किया है। यह विवरण बहुत कुछ अंश मे प्रभाचन्द्र के वर्णन से प्रभावित है[3]।

---

१) धर्मकीर्ति—सर्वं पश्यतु वा मा वा तत्त्वमिष्टं तु पश्यतु। कीटसंख्यापरिज्ञानं तस्य नः क्वोपयुज्यते॥ प्रमाणवार्तिक २-३१. २) प्रमेयकमलमार्तण्ड ६-२२ : ये च विशेष्यासिद्धादयः असिद्धप्रकाराः परैरिष्टाः ते असत्सत्ताकत्वलक्षणासिद्धप्रकारात् नार्थान्तरम्। ३) न्यायकुमुदचन्द्र पृ. १०१ और बाद का भाग।

पृष्ठ ४३– जगत रूप आदि गुणों से युक्त है अतः कार्य है यह अनुमान उद्योतकर ने प्रस्तुत किया है[1]।

आत्मा सर्वगत है अथवा नही इस का विचार परि. ५६ (पृ. १९२) में विस्तार से किया है।

पृष्ठ ४५—जगत् उत्पत्तियुक्त है अतः ईश्वरनिर्मित है यह कथन वाचस्पति ने प्रस्तुत किया है[2]। किन्तु जगत उत्पत्तियुक्त है यह कथन ही यहा विवाद का विषय है। अतः उसे आधार बना कर ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध करना ठीक नही।

पृष्ठ ४६—कार्य का एक लक्षण—जो पहले नही होता और बाद में अस्तित्व मे आता है--पहले बतलाया (पृ. ४२)। इस अभूत्वाभावित्व को जगत मे सिद्ध करना सम्भव नही–अमुक समय मे जगत नही था और बाद मे उत्पन्न हुआ यह कहना सम्भव नही यह अब तक बतलाया। अब कार्य का दूसरा लक्षण प्रस्तुत करते हैं–कार्य वह है जो कारण मे समवेत हो तथा सत्ता के समवाय से युक्त हो। यह लक्षण भी पृथ्वी आदि में घटित नही होता। यह लक्षण निर्दोष भी नही है क्यो कि विनाशरूप कार्य मे यह नही पाया जाता–विनाश किसी कारण से समवेत नही होता, न ही वह सत्ता के समवाय से युक्त होता है।

द्रव्य, गुण तथा कर्म मे सत्ता का समवाय सम्बध होता है यह कल्पना भी जैन दर्शन मे मान्य नही है। जैन दृष्टि से द्रव्य आदि का अस्तित्व स्वत सिद्ध है–सत्ता नामक किसी गुण के सम्बन्ध की कल्पना व्यर्थ है। कुन्दकुन्द, अकलक, विद्यानन्द आदि ने इस का स्पष्टीकरण किया है[3]।

पृष्ठ ४८—जगत के विषय मे कृतबुद्ध्युत्पादकत्व–यह कृत है ऐसी बुद्धि उत्पन्न होना–निश्चित नही है। यही बात आगे वेद के कर्तृत्व के विषय में कही गई है (पृ. ८७)।

१) न्यायवार्तिक पृ.४५७. २) न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका पृ. ५९८। ३) कुन्दकुन्द–प्रवचनसार २-१३ तम्हा दव्वं सयं सत्ता।; अकलंक–लघीयस्त्रय ४०– स्वतोऽर्थाः सन्तु सत्तावत् सत्तया किं सदात्मनाम्।; विद्यानन्द–आप्तपरीक्षा ७०-७१ स्वरूपेणासतः सत्त्वसमवाये च खाम्बुजे। स स्यात् किं न विशेषस्याभावात् तस्य ततोऽञ्जसा॥ इत्यादि।

जगत का उपादान अचेतन है अतः वह चेतन ईश्वर द्वारा निर्मित है यह अनुमान वाचस्पति ने प्रस्तुत किया है[1]।

पृष्ठ ४९—न्याय मत मे आत्मा को स्वतः चेतन नही माना है–आत्मा चेतना के सम्बन्ध से चेतन है यह उन का मत है; जैन मत मे द्रव्य और गुण में यह भेद स्वीकार नही किया जाता, आत्मा को स्वरूप से ही चेतन माना है। इस का निरूपण विद्यानन्द ने ईश्वर के सम्बन्ध में किया है[2]।

पृष्ठ ५०, परि. २२— ईश्वर के खण्डन में ईश्वर के शरीर का विचार प्रमुख है, विद्यानन्द ने इस का विस्तार से वर्णन किया है[3]।

पृष्ठ ५१—न्यायदर्शन मे ईश्वर और मुक्त पुरुषों में भेद किया है–ईश्वर को नित्यमुक्त, नित्य ज्ञानी माना है; जैन मत में मुक्त पुरुषों में ऐसा कोई भेद स्वीकार नहीं किया जाता, सभी सिद्धों की अवस्था समान मानी गई है–सभी सिद्धों का अनन्त ज्ञान सादि है–अनादि नही है। अत: ईश्वर का ज्ञान अनादि–अनन्त अथवा नित्य है यह मत जैनों को मान्य नही। इस विषय में मीमांसक भी जैनों से सहमत हैं[4]। मुक्त जीव के रागद्वेष नही होते अतः कार्य करने की इच्छा और प्रयत्न भी मुक्तों में सम्भव नही हैं।

यहां आत्मा के ज्ञान आदि गुणों को अनित्य कहा है यह न्याय मत की अपेक्षा से समझना चाहिए; जैन मत मे गुण द्रव्य के सहभावी होते हैं अतः गुणों को नित्य माना है तथा पर्यायों को अनित्य माना है–गुणों की दृष्टि से द्रव्य नित्य होता है तथा पर्यायों की दृष्टि से अनित्य होता है। इसी प्रकार ज्ञान को विभु (व्यापक द्रव्य) का गुण मानना और उस के लिए आकाश के गुण शब्द का उदाहरण देना भी प्रतिपक्षी (न्याय) मत की ही अपेक्षा से है; जैन मत में आत्मा को सर्वव्यापी नही माना है तथा शब्द को आकाश का गुण भी नहीं माना है यह लेखक स्वयं आगे स्पष्ट करते है (पृ. १९२ तथा ९३)।

पृष्ठ ५२—ईश्वर के शरीर के व्यापक या अव्यापक होने की चर्चा मे शरीर के स्वरूप का विचार महत्त्वपूर्ण है। जैन मत मे पांच प्रकार के शरीर माने हैं–

१) न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका पृ. ५९८. २) आप्तपरीक्षा ६६: नेशो ज्ञाता न चाज्ञाता स्वयं ज्ञानस्य केवलम्। समवायात् सदा ज्ञाता यद्यात्मैव स किं स्वतः॥ इत्यादि। ३) आप्तपरीक्षा ११ : प्रणेता मोक्षमार्गस्य नाशरीरोऽन्यमुक्तवत्। सशरीरस्तु नाकर्मा संभवत्यज्ञजन्तुवत्॥ इत्यादि। ४) विद्यानन्द—तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ. ३६०: बोधो न वेधसो नित्यः बोधत्वात्। कुमारिल–मीमासाश्लोकवार्तिक पृ. ६६०: अशरीरो ह्यधिष्ठाता नात्मा मुक्तात्मवद् भवेत्॥

औदारिक (मनुष्यादि का), वैक्रियक (देवादि का), आहारक (मुनि के क्रोध या कृपा से उत्पन्न), तैजस तथा कार्मण (कर्मपरमाणुओं का समूह); इन में तैजस तथा कार्मण ये दो शरीर सभी प्राणियों के होते हैं – वे अति सूक्ष्म परमाणुओं से बने हुए होने से अदृश्य एव अप्रतिबन्धक (दूसरे द्रव्यों को न रोकनेवाले) होते हैं[1]। किन्तु न्यायमत में शरीर के ऐसे प्रकार नही माने है–वे सभी शरीरों को पृथ्वी–परमाणुओं से सहित मानते हैं। अतः ईश्वर का शरीर भी इन परमाणुओं से युक्त ही होगा, इसलिए वह सर्वव्यापी नही हो सकता।

पृष्ठ ५३––ईश्वर का शरीर नित्य है या अनित्य यह चर्चा विद्यानन्द ने प्रस्तुत की है[2]।

पृष्ठ ५४––ईश्वरवादी दर्शनों मे प्रायः ईश्वर या उस के अवतारों को मानवीय गुणदोषों से युक्त माना है– ईश्वर सज्जनों का रक्षक तथा दुष्टों को दण्ड देनेवाला माना है। जैन दृष्टि से यह बात ठीक नही; जिस परम पुरुष मे ज्ञान का चरम उत्कर्ष हो उस मे वैराग्य का भी चरम उत्कर्ष होता है, अतः वह संसार के गुणों तथा दोषों से अलग होता है। इस लिए शिव या विष्णु के लोकप्रसिद्ध रूप की जैन लेखकों ने बहुधा आलोचना की है। इस का अच्छा उदाहरण पात्रकेसरिस्तोत्र मे प्राप्त होता है[3]।

पृ. ५५––राजा और नौकरों का दृष्टान्त आत्मा के अणु आकार का होने की चर्चा मे पुनः उपस्थित किया है (पृ. २०५)।

पृ. ५६––ईश्वर यदि दयालु है तो वह दुःखमय ससार का निर्माण क्यों करता है यह आक्षेप मीमासकों ने भी प्रस्तुत किया है[4]। इस के उत्तर मे नैया-

---

१) तत्त्वार्थसूत्र २–३६–४२–औदारिकवैक्रियकाहारकतैजसकार्मणानि शरीराणि। परं परं सूक्ष्मम्। प्रदेशतोऽसंख्येयगुणं प्राक् तैजसात्। अनन्तगुणे परे। अप्रतीघाते। अनादिसंबन्धे च। सर्वस्य॥. २) आप्तपरीक्षा–१९-२०–देहान्तराद् विना तावत् स्वदेहं जनयेद् यदि। तदा प्रकृतकार्येऽपि देहाधानमनर्थकम्॥ देहान्तरात् स्वदेहस्य विधाने चानवस्थितिः। तथा च प्रकृतं कार्यं कुर्यादीशो न जातुचित्॥. ३) श्लोक २९-३५: हरो हसति चायतं कहकहाट्टहासोल्बणं कथं परमदेवतेति परिपूज्यते पण्डितैः। प्रसन्नकुपितात्मना नियमतो भवेद् दुःखिता तथैव परिमोहिता भयसुपद्रुतिश्चामयैः॥ इत्यादि। ४) कुमारिल–मीमांसाश्लोकवार्तिक पृ. ६५२–सृजेच्च शुभमेवैकम् अनुकम्पाप्रयोजितः। इत्यादि।

यिक, वेदान्ती आदि यह मान्य करते हैं कि जीवों का सुखदुःख उन के कर्मों पर निर्भर है [1]। इस से ईश्वर की शक्ति बहुत मर्यादित हो जाती है–वह फल देने मे निमित्त कारण है, प्रधान कारण नही है ।

पृष्ठ ५७—ज्ञान के स्वसंवेदन की चर्चा आगे विस्तार से की है (पृ. १०८-११३)। लेखक ने स्वसंवेदन यही चैतन्य का मुख्य लक्षण बतलाया है–चेतन वही है जो अपने आप को जानता हो। न्याय दर्शन मे और वेदान्त में भी स्वसंवेदन किसी तरह स्वीकार नही किया है। अतः लेखक का मन्तव्य है कि उन दर्शनों मे चैतन्य का स्वरूप ठीक से ज्ञात नही है।

पृष्ठ ५८— मीमांसक और नैयायिक दोनों वेदों को प्रमाण मानते हैं। लेकिन मीमांसक ईश्वर के अस्तित्व को नही मानते। फिर भी वैदिक परंपरा के पुण्यकार्य और पाप कार्य का स्वरूप दोनों को समान रूप से मान्य है। अतः पुण्य और पाप का कोई निश्चित सम्बंध ईश्वर से नही जोडा जा सकता। जैन और बौद्ध दर्शनों मे ईश्वर न मानते हुए भी पुण्य–पाप की मान्यताएं पूर्णतः व्यवस्थित हैं।

पृष्ठ ६१—इस अनुमान में पृथ्वी इत्यादि कार्य यह पक्ष है, पुरुषकृत न होना यह साध्य है तथा सशरीर या अशरीर कर्ता का संभव न होना यह हेतु है। इस अनुमान मे घट आदि विपक्ष हैं–इन का सशरीर कर्ता ज्ञात है जब कि पृथ्वी आदि का कर्ता ज्ञात नही है। तथा आकाश सपक्ष है–पृथ्वी आदि के समान आकाश का भी कोई कर्ता ज्ञात नही है। सशरीर–अशरीर कर्ता न होना यह हेतु आकाश आदि सपक्ष मे है तथा घट आदि विपक्ष मे नही है अतः उस से पुरुषकृत न होना यह साध्य योग्य रीति से सिद्ध होता है।

पृष्ठ ६२—यहा से ईश्वर के अस्तित्व का विचार एक दूसरे ढंग से प्रस्तुत किया है–जगत के समस्त कार्य किसी समय नष्ट होते हैं और ईश्वर की प्रेरणा से यह विनाश होता है ऐसा यह विचार है। इस प्रकार का पूर्ण प्रलय जैन दर्शन मे मान्य नहीं है। जैन कथाओं में जिस प्रलय का वर्णन किया है वह केवल भारत तथा ऐरावत वर्षों के आर्यखंडों में होती है, वह भी पूर्ण नही होती–उस से बचे हुए हर प्रकार के जीवों से ही पुनः आर्यखंड मे समाज का विकास होता है।

१) बादरायण–ब्रह्मसूत्र २।१।३४ वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात् तथा हि दर्शयति।

पृष्ठ ६७—ईश्वर के अवतार तथा ईश्वर में मानवीय गुणदोष होना ये दोनों कल्पनाएं जैन दर्शन के अनुसार गलत हैं। इस का विवरण पहले दिया है (पृष्ठ ५४ का टिप्पण देखिए)।

पृष्ठ ६८—बौद्धदर्शन के क्षणिकवाद का आगे विस्तार. से खण्डन किया है (परिच्छेद ८६)।

पृष्ठ ६९—इस देश तथा काल में सर्वज्ञ नही है यह कथन जैन मान्य नही कर सकते–इस प्रदेश अर्थात् भारत में पहले सर्वज्ञ हो गये है तथा आगे भी होनेवाले है यह उन की मान्यता है। इस समय भी विदेह क्षेत्र में सर्वज्ञ वर्तमान है ऐसा भी वे मानते है।

पृष्ठ ७०—प्रत्यक्ष से सर्वत्र सर्वदा सर्वज्ञ का अभाव नही जाना जा सकता यह तर्क पहले भी (पृ. २५) दिया है। अन्य प्रमाणो से भी सर्वज्ञ का अभाव ज्ञात नहीं होता यह भी पहले (पृ. २५–३०) बतलाया है। पहले स्थान में 'सर्वज्ञ का अभाव' कहा है उस को प्रस्तुत प्रसंग में 'सर्वज्ञरहित समय-प्रदेश का होना' इस रूप में कहा है इतना ही अन्तर है।

पृष्ठ ७१—चार वेदों की कई शाखाओं का उल्लेख चरणव्यूह नामक ग्रन्थ मे मिलता है। पतंजलि के व्याकरण महाभाष्य में भी वेदशाखाओं की संख्या का निर्देश है, इस मे सामवेद को 'हजार मार्गों का' कहा है[1]। इस समय के समान लेखक के समय भी इनमें उपलब्ध शाखाओं की सख्या कम ही रही होगी। इसी लिए प्रस्तुत समय में 'सहस्रशाखावेदपारग' नही है ऐसा उन्हों ने कहा है।

अश्वमेध यज्ञ करनेवाले भी लेखक के समय नही थे। इतिहास मे गुप्त राजाओं के (पाचवी सदी) बाद अश्वमेध यज्ञ किए जाने का वर्णन नही मिलता। अतः लेखक के पहले कोई आठसौ वर्षों से अश्वमेध की परम्परा खण्डित ही थी यह स्पष्ट है।

पृष्ठ ७२—वेद का कोई कर्ता नही है क्यों कि ऐसे किसी कर्ता का किसी को स्मरण नाही है यह अनुमान मीमांसादर्शन के शाबरभाष्य (१।१।५), प्रभाकर की बृहती टीका (पृ. १७७), शालिकनाथ की प्रकरणपंचिका (पृ. १४०) आदि में पाया जाता है। प्रभाचन्द्र ने इस का विस्तृत परीक्षण किया है (न्यायकुमुदचन्द्र पृ. ७२१)।

१) चत्वारो वेदाः सांगाः सरहस्याः बहुधा विभिन्नाः एकशतम् अध्वर्युशाखाः सहस्रवर्त्मा सामवेदः एकविंशतिधा बाह्वृच्यम् नवधाथर्वणो वेदः—प्रथम आन्हिक पृष्ठ ३१ (डेक्कन ए. सोसाइटी का हिन्दी संस्करण)।

जिस तरह वेद के किसी एक कर्ता का स्मरण नही है उसी तरह पिटकत्रय (सुत्तपिटक, विनयपिटक तथा अभिधम्मपिटक ये बौद्ध ग्रन्थसंग्रह) के किसी एक कर्ता का स्मरण नही है। बुद्ध तथा उन के श्रेष्ठ शिष्यों के उपदेशों-वार्ताओं का संग्रह बडे बडे भिक्षुसम्मेलनों में किया गया तथा उन्हीं को पिटक यह नाम दिया गया। उसी प्रकार पुराने ऋषिकुलों द्वारा रचित मन्त्रों का संग्रह कर उन्हें वेद यह नाम दिया गया है।

पृष्ठ ७४—वेद के कर्ता का स्मरण नही है इस के उत्तर में बौद्ध कहते है कि अष्टक आदि ऋषि ही वेदमन्त्रों के कर्ता है–जिन्हें मीमांसक मंत्रद्रष्टा कहते हैं वे ही मन्त्रकर्ता हैं। अष्टक विश्वामित्र के पुत्र थे। उन के साथ वामक, वामदेव, वसिष्ठ, भारद्वाज, भृगु, जमदग्नि व अंगिरा इन ऋषियों के नाम 'मंतानं कत्तारो पवत्तारो' इस विशेषण के साथ पिटकग्रन्थों में कई बार आये है जिन में दीघनिकाय का तेविज्जसुत्त उल्लेखनीय है। अनुमान के रूप में इस उत्तर का उल्लेख धर्मकीर्ति ने किया है[1]।

बौद्धों के इस उत्तर के (जो ऐतिहासिक तथ्यों के बहुत निकट है) अतिरिक्त नैयायिक–वैशेषिको का उत्तर है कि वेद के कर्ता ईश्वर है। जैन कहानी के अनुसार कालासुर नामक व्यन्तर देव ने लोगों को कुमार्ग पर लगाने के लिए वेदों की रचना की है[2]। इन तीनों का उल्लेख विद्यानन्द ने कर दिया है[3]।

पृ. ७५––वैदिक परम्परा में विशिष्ट ऋषियों ने विशिष्ट ग्रन्थों का प्रणयन किया है अतः वेदाध्ययन की परम्परा अनादि नही है। इस युक्ति का उल्लेख मनुसूत्र के उदाहरण के साथ पात्रकेसरी ने किया है, उन्हों ने इस के साथ अन्य युक्तियों को भी प्रस्तुत किया है[4]।

पृ. ७७––'प्रजापतिर्वा इदमेक आसीत्' इत्यादि वाक्य किसी ब्राह्मण ग्रन्थ का है। इस का उल्लेख श्रीधर ने भी किया है[5]।

१) प्रमाणवार्तिकवृत्ति १।२६९ स्मरन्ति सौगता वेदस्य कर्तॄन् अष्टकादीन्। २) हरिवंशपुराण पर्व २३ श्लो. १४०–४७ हिंसानोदनयानार्षान् क्रूरान् क्रूरः स्वयंकृतान्। वेदानध्यापयन् विप्रान् क्षिप्रं देवोऽनयद् वशम्॥ प्रवर्तिताश्च ते वेदा महाकालेन कोपिना। विस्तारितास्तु सर्वस्यामवनौ पर्वतादिभिः॥ इत्यादि। ३) तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ. २३८ तत्कारणं हि काणादाः स्मरन्ति चतुराननम्। जैनाः कालासुरं बौद्धास्त्वष्टकान् सकलाः सदा॥ ४) श्लोक १४ श्रुतेश्च मनुसूत्रवत् पुरुषकर्तृकैव श्रुतिः॥ ५) न्यायकन्दली पृ. २१६

पृष्ठ ७९—मीमांसा, न्याय आदि दर्शनों में स्मरण का अन्तर्भाव प्रमाण में नही किया जाता; स्मरण यद्यपि यथार्थ ज्ञान होता है तथापि वह किसी नये (अपूर्व) पदार्थ का ज्ञान नही कराता अतः ये दर्शन उसे प्रमाण में अन्तर्भूत नही करते। अकलंकादि जैन आचार्यों ने स्मरण को भी परोक्ष प्रमाण का एक स्वतन्त्र भेद मान कर प्रमाण-ज्ञान मे अन्तर्भूत किया है[1] क्यों कि उन की दृष्टि से प्रत्येक यथार्थ ज्ञान प्रमाण है–फिर वह अपूर्व पदार्थ का ज्ञान हो या पूर्वानुभूत पदार्थ का।

पृष्ठ ८०—शालिका यह शालिकनाथकृत प्रकरणपंचिका का संक्षिप्त नाम है। वेदप्रामाण्य की आयुर्वेद के प्रामाण्य से तुलना न्यायसूत्र में भी मिलती है किन्तु वहा दोनों का प्रामाण्य आप्त (यथार्थ उपदेशक) पर अवलम्बित बताया है[2]।

वेद बहुजनसमत है इस के विरोध मे लेखक ने तुरुष्कशास्त्र को भी बहुजनसंमत कहा है। यहा तुरुष्कशास्त्र का तात्पर्य कुरान आदि मुस्लिम ग्रन्थों से ही प्रतीत होता है। इन को बहुसंमत कहना तेरहवीं सदी के उत्तरार्ध में या उस के बाद ही संभव है। इस विषयका विवरण प्रस्तावना में ग्रन्थकर्ता के समय-विचार मे दिया है।

वेदों के महाजनपरिगृहीतत्व का वर्णन वाचस्पति ने न्यायवार्तिकतात्पर्य-टीका मे किया है[3]।

पृष्ठ ८१— ध्रुवा द्यौः इत्यादि मन्त्र राज्याभिषेक के अवसर पर राजा के प्रति शुभ कामना प्रकट करने के लिए प्रयुक्त होते थे।

पृष्ठ ८२—सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म इत्यादि श्लोक इस समग्र रूप में उपनिषदो मे प्राप्त नही होता। इस का पहला अंश छान्दोग्य उपनिषद में (३-१४-१) तथा दूसरा अश बृहदारण्यक उपनिषद मे (४-३-१४) मिलता है।

पृष्ठ ८६—वेद अपौरुषेय हैं अतः वे प्रमाण हैं इस युक्ति के उत्तर में लेखक ने अबतक तथा आगे भी कहा है कि वेद पौरुषेय हें, अपौरुषेय नही हैं। पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि में इस का दूसरे प्रकार से भी उत्तर दिया है[4] – जो अपौरुषेय है वह प्रमाण ही होता है ऐसा कोई नियम नही है, चोरी का उपदेश भी अपौरुषेय है किन्तु वह प्रमाण नही है– ऐसा उन का कथन है।

१) प्रमाणसंग्रह श्लो. १० प्रमाणमर्थसंवादात् प्रत्यक्षान्वयिनी स्मृतिः। २) मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यम् आप्तप्रामाण्यात्। २।१।६८ ३) पृष्ठ ४३२ न चान्य आगमो लोकयात्रामुद्वहन् महाजनपरिगृहीतः ईश्वरप्रणीततया स्मर्यमाणो दृश्यते। ४) अध्याय १ सूत्र २० न चापौरुषेयत्वं प्रामाण्यकारणं, चौर्याद्युपदेशस्य प्रामाण्यप्रसंगात्।

पृष्ठ ८६ जो वाक्य है वे पौरुषेय हैं यह अनुमान चार्वाक, बौद्ध व जैनों ने प्रस्तुत किया है। वैशेषिकसूत्र मे भी इस का समर्थन मिलता है।[1] इस पर मीमासकों का कथन है कि सभी वाक्य पौरुषेय नही होते–वे वाक्य हीं पौरुषेय होते हैं जिन के कर्ता का स्मरण है; वाक्यत्व के साथ स्मर्यमाणकर्तृकत्व यह उपाधि हो तो ही उन में पौरुषेयत्व होता है। इस प्रसंग मे लेखक उपाधि का स्वरूप बतलाते हैं। उपाधि वह होता है जो साध्य मे सर्वत्र हो किन्तु साधन मे विशिष्ट स्थानो पर हो। प्रस्तुत अनुमान मे वाक्यों का पौरुषेय होना साध्य है तथा वाक्यत्व यह साधन है। मीमासको के कथनानुसार स्मर्यमाणकर्तृकत्व (कर्ता का स्मरण होना) यह यदि उपाधि है तो वह साध्य मे (पौरुषयत्व मे) सर्वत्र होना चाहिए–जो जो पौरुषेय है उस के कर्ता का स्मरण है ऐसा कहना चाहिए। किन्तु ऐसा कथन सम्भव नही है।

पृष्ठ ८७—स्मर्यमाणकर्तृकत्व यह उपाधि पौरुषेयत्व इस साध्य में सर्वत्र व्यापक नही है यह स्पष्ट करने के लिए लेखक व्यापक और व्याप्य की परिभाषा देते हैं। एक वस्तु के हटने से यदि दूसरी वस्तु नियमतः हटती है तो पहली वस्तु को व्यापक तथा दूसरी वस्तु को व्याप्य कहते हैं। उदाहरणार्थ–जहा अग्नि नही होती वहा धुंआ नही होता, यहा अग्नि व्यापक है तथा धुआ व्याप्य है। प्रस्तुत अनुमान में कर्ता का स्मरण होना यह व्यापक माने और पौरुषेयत्व व्याप्य माने तो उस का तात्पर्य होगा कि जिस जिस वस्तुके कर्ता का स्मरण नही है वह पौरुषेय नही है। किन्तु यह कथन उचित नही है। इसी प्रकार कर्ता का ज्ञान होना (ज्ञायमानकर्तृत्व) अथवा ये कृत हैं ऐसी बुद्धि उत्पन्न होना (कृतबुद्ध्युत्पादकता) ये भी उपाधिया नही हो सकतीं क्यो कि ये भी साध्यव्यापी नही है।

पृष्ठ ८८— वेद के मन्त्र अतीन्द्रिय विषयो का बोध कराते हैं तथा वे सामर्थ्योपेत हैं–अद्‌भुत शक्ति से सम्पन्न है अतः वे पुरुषकृत नही हो सकते–यह मीमासकों का तर्क है। किन्तु जैन तथा बौद्धो के आगमो में भी अतीन्द्रिय विषयों का वर्णन है–स्वर्गनरकादि का तथा मुक्ति, निर्वाण आदि का उपदेश है। एवं जैन तथा बौद्धो के शास्त्रो मे भी विविध शक्तियो से सम्पन्न मन्त्रों का वर्णन है। अत: इस दृष्टिसे वेद तथा अन्य शास्त्रो मे कोई भेद नही किया जा सकता। यह तथ्य धर्मकीर्ति ने प्रमाणवार्तिक मे स्पष्ट किया है।

पृष्ठ ८९—वेद में विशिष्ट राजाओं के नामोल्लेख हैं अतः उन राजाओं

---

१) बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे। सूत्र ६।१।१

के बाद ही वेदो की रचना हुई है[1]। इसी से मिलताजुलता तर्क 'पात्रकेसरी ने प्रस्तुत किया है[2]।

'यस्मिन् देशे' इत्यादि वाक्य किसी ब्राह्मण ग्रन्थ के हैं।

पृष्ठ ९१—वेद नित्य हैं यह बतलाने के लिए मीमासा दर्शन में शब्द को ही नित्य माना है। मीमासकों की दृष्टि में मुख द्वारा उच्चारित ध्वनि शब्द नही है, इस ध्वनि द्वारा जो व्यक्त होता है वह शब्द है। कल जिस शब्द का उच्चारण किया था उसी शब्द का आज उच्चारण करता हूं–यह प्रतीति तभी संभव है जब शब्द नित्य हो और ध्वनि उस शब्द को सिर्फ व्यक्त करता हो। इस मत का प्रतिपादन मीमासासूत्र तथा उस के शाबरभाष्य मे मिलता है[3]।

अकलंक आदि जैन आचार्यों ने इस युक्तिवाद को गलत माना है। उन का कथन है कि कल का शब्द और आज का शब्द समान होता है–एक ही नही होता,[4] अतः इस आधार पर शब्द को नित्य नही माना जा सकता। जैसे नृत्य की मुद्राए अस्थायी हैं उसी तरह मुख द्वारा उच्चारित शब्द भी अस्थायी है।

पृष्ठ ९३—शब्द बाह्य इन्द्रियों से ज्ञात होता है अतः अनित्य है इस अनुमान के दो रूपान्तर यहा दिये हैं। भाट्ट मीमासक शब्द को द्रव्य मानते हैं अतः उन को उत्तर देते समय कहा कि शब्द बाह्य इन्द्रियों से ज्ञात होनेवाला द्रव्य है अतः अनित्य है। प्राभाकर मीमांसक शब्द को गुण मानते हैं अतः उन से कहा है कि यह गुण बाह्य इन्द्रियों से ज्ञात होता है अतः अनित्य है।

पृष्ठ ९५—अनन्तरं तु वक्त्रेभ्यः इत्यादि उद्धरण मत्स्यपुराण (अ. १४५ श्लो. ५८) का है।

इस पृष्ठ पर सहस्राक्षः सहस्रपात् आदि वाक्य का अपाणिपादः आदि वाक्य से जो विरोध बतलाया है वह बहुत अंश में शाब्दिक विरोध है क्यों कि पहले वाक्य का सहस्र शब्द विराट विश्वात्मक पुरुष की अतिशय शक्ति का प्रतीक मात्र है, अक्षरशः हजार यह उस का अर्थ नहीं है। लेखक ने सहस्राक्ष

---

१) वेदोल्लिखित राजाओं में परीक्षित् के पुत्र जनमेजय सब से बाद के प्रतीत होते हैं। पुराणों के अध्येता विद्वानों के अनुसार जनमेजय का समय सनपूर्व ९५० से १३५० के बीच में कही स्थिर होता है। इस दृष्टि से 'दि वेदिक एज' ग्रन्थ का 'ट्रेडिशनल हिस्टरी आफ्टर परिक्षित्' शीर्षक प्रकरण देखने योग्य है। २) सजन्मचरणर्षिगोत्रचरणादिनामश्रुतेः......पुरुषकर्तृकैव श्रुतिः॥ श्लोक १४. ३) नित्यस्तु स्याद् दर्शनस्य परार्थत्वात्। सूत्र १।१।१८ ४) न्यायविनिश्चय का. ४२५ सादृश्यात् नैकरूपत्वात् स एवायमिति स्थितिः

आदि शब्द अवतार के शरीर के सम्बन्ध में लिए हैं किन्तु यह वर्णन अवतार के शरीर का नही है। यह विश्वात्मक पुरुष का रूपकात्मक वर्णन है।

यह देखना मनोरंजक होगा कि ऐसा शाब्दिक विरोध काव्य के अलंकार के रूप में जैन स्तोत्रों में कई जगह पाया जाता है। धनंजय कवि के विषापहार स्तोत्र का पहला पद्य इस का अच्छा उदाहरण है[1]।

पृष्ठ ९७–९८—किसी ग्रन्थ या विषय के ज्ञान का माहात्म्य अतिशयोक्ति का उपयोग कर बतलाया जाता है। अश्वमेध यज्ञ करने का फल और उसे जानने का फल समान बतलाना भी ऐसी ही अतिशयोक्ति है। इसे विरोध कहना ठीक प्रतीत नही होता। इस तरह के अर्थवाद (केवल स्तुति के लिए की गई अतिशयोक्ति) जैन साहित्य मे भी मिलते है। पिछली शताब्दी में पंडित भागचन्द द्वारा रचित महावीराष्टकस्तोत्र का अन्तिम पद्य इस का अच्छा उदाहरण है[2]। जैन साहित्य में पंचनमस्कारमंत्र के माहात्म्य की जो कई कथाएं है वे इसी तरह के अर्थवाद-साहित्य की उदाहरण कही जा सकती हैं।

पृष्ठ ९९–१००—किसी अनुमान में साध्य की सिद्धि के लिए दृष्टान्त दिया जाता है। दृष्टान्त में प्रस्तुत अनुमान से असम्बद्ध कोई गुण देखकर उसे साध्य मे भी विद्यमान मान लेना यह एक दोष होता है जिसे उत्कर्षसम जाति कहते है। उदाहरणार्थ–शब्द अनित्य है क्यो कि वह घट जैसा कृत्रिम है यह अनुमान है इस मे घट का उदाहरण 'जो कृत्रिम होते हैं वे अनित्य होते हैं' इस नियम के लिए है। इसे न समझ कर कोई कहे कि घट दृश्य है वैसे शब्द भी दृश्य सिद्ध होगा–तो यह उत्कर्षसम जाति का उदाहरण होगा। प्रस्तुत अनुमान में यज्ञ में प्राणिवध पाप का कारण है यह साध्य है तथा प्राणिवध पाप का कारण होता है यह हेतु है। सर्वत्र देखे गए प्राणिवध उदाहरण हैं। इस में यह कहे कि सर्वत्र के प्राणिवध तो निषिद्ध हैं–यज्ञ के प्राणिवध निषिद्ध नही हैं अतः वे पापकारण नही हैं तो यह उचित नही है। यह उत्कर्षसम जाति का उदाहरण है क्यों कि यहा निषिद्धत्व यह उदाहरण का विशेष साध्य मे भी विद्यमान मान लिया गया है।

अपकर्षसम जाति वह दोष होता है जिस में उदाहरण के ऐसे अंश पर जोर दिया जाता है जो साध्य के विरुद्ध है। उदाहरणार्थ शब्द अनित्य है क्यों

---

१) स्वात्मस्थितः सर्वगतः समस्तव्यापारवेदी विनिवृत्तसङ्गः। प्रवृद्धकालोऽप्यजरो वरेण्यः पायादपायात् पुरुषः पुराण ॥ १ ॥ २) महावीराष्टकं स्तोत्रं भक्त्या भागेन्दुना कृतम्। यः पठेत् श्रृणुयात् चापि स याति परमां गतिम् ॥ ९ ॥

कि घट जैसा कृत्रिम है इस अनुमान मे यह कहना कि घट तो सुना नही जा सकता फिर शब्द कैसे सुना जा सकेगा–अपकर्षसम जाति होगी। यज्ञ में हिंसा निषिद्ध नही है फिर वह पापकारण कैसे होगी यह इसी तरह का अपकर्षसम जाति का उदाहरण है[१]।

पृष्ठ-१०१—वेद का कोई कर्ता नही, दोष कर्ता से ही उत्पन्न होते हैं, अतः वेद मे कोई दोष नही हैं–यह कुमारिल भट्ट का तर्क यहा प्रस्तुत किया है। इस का एक उत्तर लेखक ने यहा दिया है कि वेद के कर्ता नही यह कथन ही ठीक नही, वेद के कर्ता हैं और वे अल्पज्ञ हे। इस तर्क का दूसरा उत्तर यह है कि यदि दोष कर्ता से ही उत्पन्न होते हें तो गुण भी कर्ता से ही उत्पन्न होते हैं। अतः वेद को कर्तृरहित होने से निर्दोष माने तो उसी कारण वेद को गुणरहित भी मानना होगा। इस तर्क का उल्लेख अभयदेव ने सन्मतिटीका मे किया है।[२]

पृ. १०३—ज्ञान की प्रमाणता स्वयसिद्ध है अथवा अन्य साधनों पर अवलम्बित हैं यह यहा प्रस्तुत विषय है। लेखक ने यहा प्रामाण्य की उत्पत्ति पुण्य के कारण तथा अप्रामाण्य की उत्पत्ति पाप के कारण कही है। किन्तु कर्मों का जो विवरण जैन ग्रन्थों मे है उन से यह कुछ विसगत है। शुभ वेदनीय, शुभ आयु, शुभ नाम तथा शुभ गोत्र कर्म को पुण्य कर्मों मे अन्तर्भूत किया गया है तथा अन्य सब कर्म पाप कर्मों मे आते हैं[३]। इस के अनुसार ज्ञानावरण कर्म का कार्य पाप कर्म का कार्य है। किन्तु ज्ञान होना यह पुण्य कर्म का कार्य नही कहा जा सकता।

प्रामाण्य वा अप्रामाण्य की उत्पत्ति स्वत. नही होती इस विषय की यहां की चर्चा बहुत अंशों मे प्रभाचन्द्र के विवरणानुसार है। (न्यायकुमुदचन्द्र पृ. १९६–२००)

पृष्ठ. १०५–१०८—ज्ञान के प्रामाण्य का ज्ञान परिचित परिस्थिति मे स्वतः होता है तथा अपरिचित स्थिति मे अन्य साधनों से होता है यह यहां

१) उत्कर्षसम तथा अपकर्षसम जाति के लक्षण वात्स्यायन ने न्यायसूत्रभाष्य में इस प्रकार दिये है–दृष्टान्तधर्म साध्ये समासजन् उत्कर्षसमः। साध्ये धर्माभाव दृष्टान्तात् प्रजसतः अपकर्षसमः (सू. ५।१।४)। २) पृष्ठ ११ गुणाः सन्ति न सन्तीति पौरुषेयेषु चिन्त्यते। वेदे कर्तुरभावात् तु गुणाशङ्कैव नास्ति नः॥ ३) तत्त्वार्थसूत्र ८–२५,२६ सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यम्। अतोऽन्यत् पापम्।

स्पष्ट किया है। इस का वर्णन विद्यानन्द ने स्पष्ट रूप से किया है[1] तथा माणिक्यनन्दि ने सूत्ररूप मे उस का अनुमोदन किया है[2]।

पृ. १०९—सांख्य दर्शन मे बुद्धि को जड प्रकृति का कार्य माना है अतः वे ज्ञान को स्वसंवेद्य नही मान सकते। उन की दृष्टि मे पुरुष का अनुभव ज्ञान से भिन्न है, ज्ञान बुद्धिका कार्य है, अनुभव पुरुष की विशेषता है। ज्ञान तथा अनुभव मे यह भेद जैन मान्य नही करते। इस का विवरण प्रभाचन्द्र ने दिया है (न्यायकुमुदचन्द्र पृ. १८९)। साख्यदर्शनविचार मे लेखक ने पुनः इस विषय की चर्चा की है (परिच्छेद–८१ ८२)

पृ. १११—नैयायिक–वैशेषिक भी ज्ञान को स्वसंवेद्य नहीं मानते। उन के कथनानुसार ज्ञान एक ज्ञेय है, सभी ज्ञेय दूसरे द्वारा जाने जाते है, अतः ज्ञान को जानना भी किसी दूसरे ज्ञान को ही सम्भव है। ज्ञान अपने आप को नहीं जान सकता। इस का समर्थन व्योमशिव ने स्पष्ट रूप से किया है[3]। इस का उत्तर भी प्रभाचन्द्र ने दिया है (न्यायकुमुदचन्द्र पृ. १८१)।

पृ ११३—मीमांसकों का एक तर्क यह है कि ज्ञान अपने आप को नही जानता; ज्ञान यह है तभी जाना जाता है जब वह किसी दूसरे पदार्थ को जानता है, प्रकाश अपने आप को दिखाई नही देता, वह तभी जाना जाता है जब किसी दूसरे पदार्थ को प्रकाशित करता है[4]। इस का निराकरण अकलंकदेव ने किया है[5]।

पृष्ठ ११४—यहा से उन विचारों का परीक्षण आरम्भ होता है जो भ्रान्ति के स्वरूप पर आधारित हैं। इन की सख्या आठ है—(१) माध्यमिक बौद्धों की असत् ख्याति, (२) योगाचार बौद्धों की आत्मख्याति, (३) शाकरीय वेदान्त की अनिर्वचनीयख्याति, (४) साख्यों की अलौकिकार्थख्याति, (५) प्राभाकर मीमासकों की अख्याति, (६) चार्वाकों की अख्याति, (७) भास्करीय वेदान्त की अलौकिकार्थख्याति एवं (८) नैयायिक, जैन आदि की विपरीतख्याति। इन आठों की विस्तृत चर्चा यशोविजय ने अष्टसहस्रीविवरण मे दी है। आधुनिक स्वरूप में इन का विवरण पं. दलसुख मालवणिया ने न्यायावतारवार्तिक के टिप्पणों मे विस्तार से दिया है (पृ. १६०-१७०)।

१) तत्वार्थश्लोकवार्तिक पृ. १७७ तत्राभ्यासात् प्रमाणत्वं निश्चितं स्वतः एव नः। अनभ्यासे तु परत इत्याहुः केचिदञ्जसा॥ २) परीक्षामुख १-१३तत्प्रामाण्य स्वतः परतश्च। ३) व्योमवती पृ. ५२९ संवेदनं ज्ञानान्तरसंवेद्यं वेद्यत्वात् घटवत्। ४) बृहती टीका पृ. ८७ न हि अज्ञातेऽर्थे कश्चिद्बुद्धिमुपलभते, ज्ञाते तु अनुमानादवगच्छति। तस्मादप्रत्यक्षा बुद्धिः। ५) न्यायविनिश्चय श्लो. १३-१८ अध्यक्षमात्मनि ज्ञानमपरत्रानुमानिकम्। नान्यथा विषयालोकव्यवहारविलोपतः॥ इत्यादि.

स्वप्न आदि के समान सभी प्रत्यय निराधार हैं यह तर्क नागार्जुन[1] तथा प्रज्ञाकर[2] आदि ने दिया है। एक ज्ञान की भ्रान्ति के कारण सभी ज्ञान भ्रान्त कहना ठीक नही–यह इस का उत्तर अकलंक ने प्रस्तुत किया है[3]।

पृष्ठ ११५—यहां तर्क की जो परिभाषा दी है वह न्यायदर्शन के अनुसार है। इसे पृ. २४७ पर पुनः उद्धृत किया है। जैन परिभाषा में तर्क शब्द का प्रयोग परोक्ष प्रमाण के एक प्रकार के लिए होता है तथा उस का स्वरूप है व्याप्ति का ज्ञान[4]।

पृष्ठ ११८––जगत के सब पदार्थों के ज्ञान भ्रममूलक हैं अतः अनुमान प्रमाण भी भ्रान्त है ऐसा बौद्ध मानते हैं। अनुमान को वे सिर्फ व्यवहार से ही प्रमाण कहते हैं। सिद्धसेन ने न्यायावतार मे इस की आलोचना करते हुए कहा है कि प्रत्यक्ष और अनुमान दोनो समानरूप से प्रमाण हैं। कोई भी ज्ञान एक ही समय प्रमाण भी हो और भ्रान्त भी यह सभव नही[5]।

पृष्ठ १२०–आत्मख्याति का पर्यायनाम विज्ञानवाद अथवा विज्ञानाद्वैतवाद है। समस्त बाह्य पदार्थ ज्ञान के रूपान्तर हैं–ज्ञान से भिन्न उन का अस्तित्व नही ऐसे इस मत का प्रतिपादन धर्मकीर्ति आदि ने[6] किया है।

पृष्ठ १२१––बाह्य वस्तु के विषय में 'मैं हू' ऐसी (अहमहमिका) प्रवृत्ति नही होती, 'यह है' ऐसी (इदंता) प्रवृत्ति होती है, अतः ज्ञान और बाह्य वस्तु मे भेद सिद्ध होता है। इस का वर्णन प्रभाचन्द्र तथा जयन्तभट्ट आदि ने किया है[7]।

पृष्ठ १२४—शून्यवादी तथा विज्ञानवादी बौद्धो के ठीक उलटा मत प्राभाकर मीमासकों ने प्रस्तुत किया है। यदि बौद्धो के मत से सभी प्रत्यय

१) यथा माया यथा स्वप्नो गन्धर्वनगरं यथा। तथा भङ्गस्तथोत्पादस्तथा व्यय उदाहृतः॥ २) सर्वे प्रत्ययाः अनालम्बनाः प्रत्ययत्वात् (प्रमाणवार्तिकालकार पृ. २२)। ३) न्यायविनिश्चय श्लो. ४८ विप्लुताक्षा यथा बुद्धिर्वितथप्रतिभासिनी। तथा सर्वत्र किं नेति जडाः सम्प्रतिपेदिरे॥ इत्यादि। ४) न्यायविनिश्चय श्लो. ३२९ स तर्कपरिनिष्ठितः। अविनाभावसम्बन्धः साकल्येनावधार्यते॥ ५) भ्रान्तं प्रमाणमित्येतत् विरुद्ध वचनं यतः॥ ६) कस्यचित् किंचिदेवान्तर्वासनायाः प्रबोधकम्। ततो धिया विनियमो न बाह्यार्थव्यपेक्षया॥ प्रमाणवार्तिक २-३३६ ७) न्यायकुमुदचन्द्र पृ. ६२ अहं रजतमिति स्वात्मनिष्ठतयैव संवित्तिः स्यात् न तु इदं रजतमिति बहिर्निष्ठतया। इस के समान ही न्यायमञ्जरी पृ. १७८।

भ्रान्त हैं तो मीमांसक का कथन है कि सभी प्रत्यय अभ्रान्त हैं, दो ज्ञानों के अन्तर को न समझना यही भ्रान्ति का स्वरूप है। प्रत्यक्ष मे सीप को देखने से 'यह कुछ है' यह ज्ञान होता है, इस का पहले देखी हुई चांदी के स्मरण-रूप ज्ञान से मिश्रण हो जाता है और 'यह चांदी है' ऐसा प्रतीत होता है। अतः यहा प्रत्यक्ष और स्मरण में भेद प्रतीत न होना यही भ्रम का स्वरूप है। प्रभाकर ने बृहती टीका मे इस स्मृतिप्रमोषवाद को प्रस्तुत किया है[1]। भ्रम के एक प्रकार का यह स्पष्टीकरण आधुनिक मनोवैज्ञानिक मान्यताओं के अनुकूल है। यद्यपि इस से सभी प्रकार के भ्रमों का स्पष्टीकरण नही होता।

पृष्ठ १२६--सभी प्रत्यय यथार्थ हे यह कथन प्रत्यक्षबाधित है इस का निर्देश वाचस्पति ने किया है।[2]

पृष्ठ १२९--यह चांदी है ऐसे ज्ञान से ही उस विषय में प्रवृत्ति होती हैं अतः यह ज्ञान अयथार्थ ही है इसका निर्देश भी वाचस्पति ने किया है।[3]

पृष्ठ १३४--मृगजल आदि भ्रम नही है–वे अतिशीघ्र नष्ट होनेवाले पदार्थ हैं यह सांख्यो का मत तथा उस का निराकरण प्रभाचन्द्रने भी प्रस्तुत किया है।[4]

पृष्ठ १३७--वेदान्त दर्शन के अनुसार जगत् में पूर्णतः सत् केवल ब्रह्म है। किन्तु वे जगत् को पूर्णतः असत् नही मानते। यदि जगत् असत् होता तो उस की प्रतीति ही नही होती। अतः जगत् सत् और असत् दोनों से भिन्न है– ऐसा उन का मन्तव्य है।[5]

---

१) पृष्ठ ५५ शुक्तिकायां रजतज्ञानं स्मरामि इति प्रमोषात् स्मृतिज्ञानमुक्तं युक्तं रजतादिषु। शालिकनाथकृत प्रकरणपंचिका पृ. ३४–ततो भिन्ने अबुद्ध्वा तु स्मरणग्रहणे इमे। समानेनैव रूपेण केवलं मन्यते जनः ॥ २) न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका पृ. ९०, नेदं रजतमिति च प्रत्यक्षबाधकप्रत्ययात् अपहृतविषयं प्रत्ययत्वेन विभ्रमाणा यथार्थत्वानुमानम्। ३) उपर्युक्त पृ. ९०, तव सिद्धमेतत्र जतादिविज्ञानं पुरोवर्तिवस्तुविषयं रजतार्थिनः तत्र नियमेन प्रवर्तकत्वात्। ४) न्यायकुमुदचन्द्र पृ. ६१, न हि विद्युदादिवत् उदकादेरपि आशुभावी निरन्वयो विनाशः क्वचिदुपलभ्यते ५) ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य २।१।२७, अविद्याकल्पितेन च नामरूपलक्षणेन रूपभेदेन व्याकृताव्याकृतात्मकेन तत्त्वान्यत्वाभ्यामनिर्वचनीयेन ब्रह्म परिणामादिसर्वव्यवहारास्पदत्वं प्रतिपद्यते।

पृष्ठ १४७—ऊर्णनाभ इवांशूनाम् इत्यादि श्लोक प्रभाचन्द्र तथा अभयदेवने भी उद्धृत किया है[1]। इस का मूल स्थान ज्ञात नहीं हुआ। इस से मिलता जुलता पद्य मुण्डकोपनिषत् में मिलता है[2]। ऐसे वचनों को देख कर ही वेदान्त के विशिष्टाद्वैत तथा द्वैत सम्प्रदाय भी जगत् को सत् मानते हैं।

पृष्ठ १५२—वेदान्तदर्शन में ब्रह्म के स्वरूप को प्रमाण का विषय नही माना है। प्रमाण तथा प्रमेय का सम्बन्ध अविद्या पर आश्रित है यह उन का कथन है[3]। इसी लिए अनुमान को प्रमाण मान कर वे कोई तात्त्विक चर्चा नही करते। अनुमान को वे वहीं तक प्रमाण मानते हैं जहां तक वह श्रुति-उपनिषद्वाक्यों के अनुकूल होता है।

पृष्ठ १५५—नित्यानित्यवस्तुविवेक आदि साधनों का उल्लेख शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्रभाष्य के प्रथमसूत्र की चर्चा में ही किया है।

पृष्ठ १६३—जीवों की संख्या बहुत है इस का संक्षिप्त और स्पष्ट तार्किक निर्देश सांख्यकारिका में मिलता है[4]। अद्वैतविरोधी वादियों ने बहुधा उन्हीं तर्कों को प्रस्तुत किया है।

यदि सब जीव ब्रह्म के अंश हैं तो सब जीवों के हित-अहित-सुख दुःखों से ब्रह्म संयुक्त होगा। यह आपत्ति ब्रह्मसूत्र में भी उपस्थित की गई है। इस का उत्तर देते समय वहां एक प्रकार से ब्रह्म और जीवों में भेद को स्वीकार भी किया है[5]। किन्तु यह भेद व्यावहारिक-अविद्याकल्पित है, वास्तविक नही यह वेदान्तियों का कथन है[6]।

---

१) सन्मतिटीका पृ. ७१५; प्रमेयकमलमार्तण्ड पृ. ६५। २) यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति। यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि तथाक्षरात् सम्भवतीह विश्वम् ॥१।१।७। ३) ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य प्रारम्भ-तमेतमविद्याख्यम् आत्मानात्मनोरितरेतराध्यासं पुरस्कृत्य सर्वे प्रमाणप्रमेयव्यवहाराः लौकिकाः वैदिकाश्च प्रवृत्ताः सर्वाणि च शास्त्राणि विधिप्रतिषेधमोक्षपराणि। ४) जननमरणकरणाना प्रतिनियममादयुगपत्प्रवृत्तेश्च। पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव ॥ १८ ॥ ५) सूत्र २।१।२१ इतरव्यपदेशात् हिताकरणादिदोषप्रसक्तिः। अधिकं तु भेदनिर्देशात् ॥ २२ ॥ ६) ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य २।१।२२ अविद्याप्रत्युपस्थापितनामरूपकृतकार्यकारणसंघातोपाध्यविवेककृता हि भ्रान्तिः हिताकरणादिलक्षणः संसारः न तु परमार्थतः अस्ति इत्यसकृदवोचाम।

पृष्ठ १७७—षण्णामाश्रितत्त्वम् इत्यादि वाक्य यहा उद्‌त किया है। यह वैशेषिक दर्शन के मान्य ग्रन्थ प्रशस्तपादभाष्य का है। अतः वेदान्त के विचार मे यह वेदान्तियों ने ही कहा है यह कहना ठीक नही। द्रव्य, गुण, कर्म आदि छह पदार्थों की व्यवस्था का वेदान्तियो ने भी खण्डन किया है।

पृष्ठ १८१–८२—माया और अविद्या के परस्पर सम्बन्ध के विषय में वेदान्तियों में ही कुछ मतभेद पाया जाता है। कुछ विद्वान समष्टिरूप अज्ञान को माया तथा व्यष्टिरूप अज्ञान को अविद्या कहते हैं। कुछ विद्वान इन दोनों मे कोई भेद नही करते। विद्यारण्य ने पंचदशी मे पहले मत का स्पष्टीकरण किया है[1]। वेदान्तसार आदि ग्रन्थों मे दूसरे प्रकार का वर्णन है।

पृ. १८६—वेदान्त के अनुसार ब्रह्म शब्दों से ज्ञात नही होता। अतः उपनिषद् आदि का अध्ययन भी व्यावहारिक दृष्टि से ही ब्रह्मप्राप्ति का कारण है, वास्तविक दृष्टि से नही[2]।

पृ. १९१—वेदान्त के अनुसार अन्तःकरण के समान इन्द्रिय भी सूक्ष्म-शरीर में अन्तर्भूत हो कर एक शरीर से दूसरे शरीर में जाते हैं[3]।

पृष्ठ १९२—अत एव हि विद्वत्सु इत्यादि श्लोक स्याद्वादमंजरी मे भी उद्धृत किया गया है तथा वहा इसे वार्तिककारकृत कहा है (पद्य २९)। इस की दूसरी पक्ति का पाठ वहा ब्रह्माण्डलोक–जीवानाम् ऐसा है। किन्तु यह किस वार्तिकग्रन्थ का अंश है यह ज्ञात नही हुआ।

यहा मन को रूपादिरहित कहना प्रतिवादी (नैयायिक) की अपेक्षा से है। जैन मतानुसार मन रूपादियुक्त है यह आगे स्पष्ट करेंगे (परि. ६७-६९)।

पृष्ठ १९६—धर्म और अधर्म का कार्य जहा जहा होता है वहा वहा आत्मा होना चाहिए इस तर्क से आत्मा के सर्वगतत्व का समर्थन व्योमशिव, श्रीधर आदि ने किया है[4]। इस के उत्तर में लेखक ने कहा है कि नैयायिक

---

१) प्रकरण १–१६ सत्त्वशुद्ध्यविशुद्धिभ्या मायाविद्ये च ते मते। मायाबिम्बो व शीकृत्य ता स्यात् सर्वज्ञ ईश्वरः॥ अविद्यावशगस्त्वन्यः तद्वैचित्र्यादनेकधा। इत्यादि। २) ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य २।१।१४ कथं चानृतेन मोक्षशास्त्रेण प्रतिपादितस्यात्मैकत्वस्य सत्यत्वमुपपद्येतेति। अत्रोच्यते। नैष दोषः। सर्वव्यवहाराणामेव प्राग् ब्रह्मात्मताविज्ञानात् सत्यत्वोपपत्तेः॥ ३) पंचदशी प्रकरण १ बुद्धिकर्मेन्द्रियप्राणपंचकैर्मनसा धिया। शरीरं सप्तदशभिः सूक्ष्म तत् लिंगमुच्यते॥ इत्यादि। ४) व्योमवती प्रशस्तपादभाष्यटीका पृ. ४११ धर्माधर्मौ आत्मसयोगं विना न कर्म कुर्याताम् आत्मगुणत्वात्। इसीतरह न्यायकन्दली पृ. ८८।

मतसे तो धर्म-अधर्म गुण है अतः वे वहीं हो सकते हैं जहां उन का आश्रयभूत द्रव्य आत्मा हो। किन्तु जैन मत से धर्म-अधर्म गुण नही हैं, द्रव्य हैं अतः वे आत्मा से हमेशा संयुक्त रहे यह आवश्यक नही है।

पृष्ठ २०१—संकल्प, विकल्प, विचार आदि का साधन मन अथवा अन्तःकरण हृदय मे अवस्थित है यह प्रायः सभी भारतीय दार्शनिकों का मन्तव्य है। किन्तु संकल्पादि इन मानसिक क्रियाओं के केन्द्र मस्तिष्क में हैं तथा रूप, रस आदि का ज्ञान ग्रहण करने के केन्द्र भी मस्तिष्क में हैं यह प्रायोगिक मनोविज्ञान का निर्विवाद निष्कर्ष है। शरीरविज्ञान के अनुसार हृदय केवल रुधिराभिसरण का केन्द्र है। अतः मन हृदयान्तर्भाग में स्थित है यह कथन अब विचारणीय प्रतीत होता है।

पृष्ठ २०३-४—उत्कर्षसम जाति का उदाहरण पहले वेदप्रामाण्य की चर्चा मे भी आया है (पृ. ९९-१००) वहा के टिप्पण इस प्रसग में भी उपयुक्त सिद्ध होंगे।

पृष्ठ २०४—आत्मा अणु आकार का है यह मत वेदान्तसूत्र मे पूर्वपक्ष के रूप में विस्तार से प्रस्तुत किया है (अध्याय २ पाद ३ सूत्र २१-३०) तथा तद्विषयक टीकाओं मे मुण्डकोपनिषद (३।१।९), श्वेताश्वतर उपनिषद् (५।९), प्रश्न उपनिषद् (३।६) आदि के वाक्यों से इस का समर्थन किया गया है।

पृ. २०५—यहा जीव को राजा की और इन्द्रियों को वार्ताहरों की उपमा दी गई हैं। मनोविज्ञान के अनुसार इस उपमा में काफी तथ्य है। यद्यपि इन्द्रिय स्वयं अपना स्थान छोडकर वार्ताहर के समान अन्यत्र नही जाते तथापि इन्द्रियों से दृष्टि, स्पर्श, गन्ध आदि की संवेदनाएं मज्जातन्तुओं द्वारा मस्तिष्क तक पहुचाई जाती है यह अब प्रायः सर्वसम्मत तथ्य है।

पृ. २०८—सामान्य तथा समवाय इन तत्त्वों को न्याय वैशेषिक मत मे नित्य तथा सर्वगत माना है। इन में समवाय के अस्तित्व का ही आगे खण्डन किया है (परि. ६४)। सामान्य का अस्तित्व तो एक तरह से जैन मत में मान्य है किन्तु उसे सर्वगत स्वीकार नही किया जाता। समन्तभद्र ने आप्तमीमांसा में इस का निर्देश किया है[1]। इस विषय का विस्तृत विवरण न्यायावतारवार्तिक वृत्ति के टिप्पण मे पं. दलसुख मालवणिया ने प्रस्तुत किया है (पृ. २५०-५८)।

१. सामान्यं समवायश्चाप्येकैकत्र समाप्तितः। अन्तरेणाश्रयं न स्यात् नाशोत्पादिषु को विधिः॥ ६५॥

पृ. २१५—समवाय के अस्तित्व के खण्डन की यहां की पद्धति विद्यानन्द के अनुकरण पर है[1]।

पृ. २१६—समवाय का लक्षण यहा प्रशस्तपादभाष्य से उद्धृत किया है उस मे कुछ अंतर है। मूल मे इहप्रत्ययहेतु ऐसा शब्द है उसे यहा इहेदंप्रत्ययहेतु ऐसा लिखा है।

अयुतसिद्धि की कल्पना का खण्डनप्रकार भी विद्यानन्द तथा प्रभाचन्द्र के ग्रन्थों में पाया जाता है[2]।

समवाय की कल्पना का विस्तृत खण्डन शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्र भाष्य में प्रस्तुत किया है। द्रव्य तथा गुण मे भेद करना उचित नही तथा पदार्थों से स्वतन्त्र कोई सम्बन्ध नही होता यह उन का निष्कर्ष है[3]।

पृ. २२१—संख्या को गुण न मानने का तर्क प्रभाचन्द्र ने भी प्रस्तुत किया है[4]।

पृ. २२३—परमाणुओं मे स्पर्शादि चारों गुग होते हैं इस का तार्किक रूप भी न्यायकुमुदचन्द्र में प्राप्त होता है[5]।

पृष्ठ २२४—मन अणु आकार का है इस का निर्देश वैशेषिकसूत्र तथा न्यायसूत्र में मिलता है[6]। इस का कुछ विचार लेखक ने पहले किया है (पृष्ठ २००-१)। श्रवणादि इन्द्रिय आकाशादि भूतो से निर्मित हैं इस का निर्देश भी न्यायसूत्र में मिलता है[7]। इस का तार्किक समर्थन न्यायवार्तिक टीका मे (पृ. ५३०) तथा न्यायमजरी मे (पृ. ४८१) मिलता है। इस के खण्डन का तरीका प्रभाचन्द्र जैसा है (न्यायकुमुदचन्द्र पृ. १५६-७)।

---

१) आप्तपरीक्षा श्लो. ५२ समवायान्तराद् वृत्तौ समवायस्य तत्त्वतः। समवायिषु तस्यापि परस्मादित्यनिष्ठितिः ॥ यही बात युक्त्यनुशासन पद्य ७ की टीका में विस्तार से स्पष्ट की है। २) आप्तपरीक्षा श्लो.४९ युतप्रत्ययहेतुत्वाद् युतसिध्दिरितीरणे। विभुद्रव्यगुणादीनां युतसिद्धिः समागता ॥ न्यायकुमुदचन्द्र पृ. २९४–२९७ तक यह चर्चा विस्तार से है। ३)अध्याय २ पाद २ सूत्र १७ नैव द्रव्यगुणयोः अग्निधूमयोरिव भेदप्रतीतिः अस्ति तस्माद् द्रव्यात्मकता गुणस्य। नापि संयोगस्य समवायस्य वा सम्बन्धस्य सम्बन्धिव्यतिरेकेण अस्तित्वे किंचित् प्रमाणमस्ति। ४) न्यायकुमुदचन्द्र पृ. २७६ गुणत्वं चास्या न सम्भाव्यं गुणेष्वपि सद्भावात्। ५) जलादयो गन्धादिमन्तः स्पर्शवत्त्वात् पृ. २३८। ६) वैशेषिक सूत्र७।१।२३ तदभावादणु मनः। न्यायसूत्र ३।२।६९ यथोक्तहेतुत्वाच्चाणु। ७) न्यायसूत्र १।१।१२ घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्श्रोत्राणीन्द्रियाणि भूतेभ्यः।

पृ. २२९-२३० इन्द्रियो के संनिकर्ष (पदार्थों से सम्बन्ध) के छह प्रकारो का विवरण उद्योतकर ने न्यायवार्तिक (पृ. ३१) मे दिया है। सभी इन्द्रिय प्राप्यकारी हैं–पदार्थों से सम्बद्ध होने पर ही ज्ञान कराते है यह तर्क भी इन्होने प्रस्तुत किया है (पृ. ३६)[1]। मीमासको ने सन्निकर्ष के तीन ही प्रकार माने है–सयोग, समवाय तथा सयुक्त समवाय (शालिकनाथकृत प्रकरणपंचिका पृ. ४४-४६)। जैन तथा बौद्ध मतो मे सन्निकर्ष की पूरी कल्पना ही अमान्य है। बौद्ध चक्षु तथा श्रोत्र इन दो इन्द्रियो को अप्राप्यकारी मानते है[2]। जैन श्रोत्र को प्राप्यकारी और चक्षु को अप्राप्यकारी मानते हैं। चक्षु के अप्राप्यकारी होने का समर्थन पूज्यपाद तथा अकलकदेव आदि के ग्रन्थों मे प्राप्त होता है[3]।

चक्षु को प्राप्यकारी सिद्ध करने के लिये न्यायमत में चक्षु से किरण निकल कर पदार्थ तक जाते हैं और उन का पदार्थ से सयोग होनेपर ज्ञान होता है यह कल्पना की गई है। भौतिक विज्ञान के अनुसार बात ठीक उलटी है–पदार्थ से प्रसृत प्रकाशकिरण चक्षु तक पहुचने पर पदार्थ के वर्ण का ज्ञान होता है। जैन दार्शनिकों ने पदार्थ के वर्ण के ज्ञान मे और प्रकाशकिरणों मे कोई सम्बन्ध नही माना है[4] यह भौतिकविज्ञान के अनुसार ठीक नहीं है।

पृष्ठ २३१—विशेषणं विशेष्यं च आदि श्लोक प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान धर्मकीर्ति के प्रमाणवार्तिक ग्रन्थ का है अतः इसे नैयायिक, वैशेषिको का स्वयं का कथन कहना उचित प्रतीत नही होता।

पृ. २३२—दिशा स्वतन्त्र द्रव्य नही–आकाश में ही उस का अन्तर्भाव होता है यह कथन पूज्यपाद के कथनानुसार ही है[5]।

पृ. २३३—दिग्द्रव्य मानसप्रत्यक्ष से ज्ञात होता है यह कथन व्योमशिव के नाम से यहा उद्धृत किया है। किन्तु व्योमवती टीका में इस तरह का कोई स्पष्ट वाक्य नही मिला।

---

१) करणं वास्यादि प्राप्यकारि दृष्ट तथा चेन्द्रियाणि तस्मात् प्राप्यकारीणि। २) अभिधर्मकोष १।४३ अप्राप्तान्यक्षिमनःश्रोत्राणि। ३) सर्वार्थसिद्धि १।१९ अप्राप्यकारि चक्षुः स्पृष्टानवग्रहात्। सिद्धिविनिश्चय ४।१ चक्षुः पश्यत्येव हि सान्तरम्। ४) परीक्षामुख २।६ नार्थालोकौ कारणं परिच्छेद्यत्वात् तमोवत्। ५) सर्वार्थसिद्धि ५-३ दिशोऽप्याकाशेऽन्तर्भावः।

पृ. २३५—दुःखजन्मप्रवृत्ति इत्यादि वाक्य न्यायसूत्र का है (अध्याय १ आह्निक १ सूत्र २)। मुक्ति की इस प्रक्रिया का विवरण प्रशस्तपाद भाष्य तथा व्योमवती (पृ. २०, तथा ६४४) मे भी मिलता है।

पृ. २३६—आत्मनो वै शरीराणि इत्यादि दो श्लोक शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्र भाष्य मे भी (१।३।२७) उद्धृत किये हैं। वहा उनका रूपांतर इस तरह है —

आत्मनो वै शरीराणि बहूनि भरतर्षभ ।
योगी कुर्याद् बलं प्राप्य तैश्च सर्वैर्महीं चरेत् ॥
प्राप्नुयाद् विषयान् कैश्चित् कैश्चिदुग्रं तपश्चरेत् ।
सक्षिपेच्च पुनस्तानि सूर्यो रश्मिगणानिव ॥

नाभुक्तं क्षीयते इत्यादि श्लोक न्यायकुमुदचन्द्र (पृ ८२४) मे भी उद्धृत है तथा इस का खण्डन भी वहा इसी तरह है।

पृ. २३७—दुःखों के इक्कीस प्रकारो की गणना वाचस्पति ने न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका (पृ. ८) मे दी है। किन्तु उसके पद्यबद्ध रूप का मूलस्थान ज्ञात नही हुआ।

पृ. २४१-४२—प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण यहा भासर्वज्ञ के न्यायसार से उद्धृत कर उसका खण्डन किया है। खण्डन का मुख्य स्वरूप यह है कि जो परोक्ष नही वह प्रत्यक्ष है यह व्याख्या निषेधात्मक है– विधानात्मक नही। यहा ध्यान रखना चाहिए कि जैन परम्परा मे भी 'प्रत्यक्ष विशदं ज्ञानं' लघीयस्त्रय श्लो. ३) यह विधानात्मक लक्षण सर्व प्रथम अकलंक देव ने बतलाया है। उस के पहले सिद्धसेन ने न्यायावतार मे 'अपरोक्षतयार्थस्य ग्राहकं ज्ञानमीदृशम्। प्रत्यक्षम्' यही लक्षण दिया है।

पृ २४३—निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के अस्तित्व का खण्डन आगे विस्तार से किया है (परि. ८९)।

पृ. २४४—उपमान प्रमाण का अन्तर्भाव प्रत्यभिज्ञान इस परोक्षप्रमाण के प्रकार मे होता है यह अकलंकदेव ने पहले स्पष्ट किया है (लघीयस्त्रय श्लो. १९–२१)।

पृष्ठ २४५—अन्य पदार्थों की गणना के जो दोष बतलाये है वे प्रभाचन्द्र के अनुसार है (न्यायकुमुदचन्द्र पृ. २३६)।

पृष्ठ २४९-५१--यहा जिस तरह तीन योगों का विवरण दिया है वैसा न्याय दर्शन के किसी ग्रथ में प्राप्त नही हुआ। मोक्षमार्ग के प्रकरण मे योग तथा अध्यात्मविधि का साधारण निर्देश अवश्य मिलता है[1]। इन तीन योगों के अलग अलग उल्लेख गीता में मिलते हैं, एकत्र तीनों योगों का वर्णन नही मिला। दार्शनिक ग्रन्थों में नैयायिकों के लिए 'यौग, शब्द का प्रयोग नवीं सदी से ही प्राप्त होता है। इस का सम्बन्ध इन तीन योगों के प्रतिपादन से हो तो आश्चर्य नही।

पृ. २५२—यहा तम अर्थात अन्धकार को को द्रव्य कहा है। जैन परम्परा में अन्धकार को स्वतन्त्र द्रव्य तो नही माना है, पुद्गल द्रव्य की एक अवस्था के रूप मे स्वीकार किया है[1]। यहा लेखक ने जो तम को द्रव्य कहा है उस का तात्पर्य यही हो सकता है कि तम केवल अभावरूप नही-भावात्मक पुद्गल द्रव्य की पर्याय है। वैशेषिक दर्शन में अन्धकार का स्वरूप प्रकाश का अभाव यही माना है[2], यह भौतिक विज्ञान की मान्यता के अनकूल ही है। इस के खण्डन का प्रकार प्रभाचन्द्र जैसा है[3]।

पृष्ठ २५४--द्रव्यं गुणः इत्यादि श्लोक विद्यानन्द ने सत्यशासनपरीक्षा में दिया है[4], इस का मूल स्थान ज्ञात नही हुआ।

पृ. २५५--यहां शक्ति को पृथक् पदार्थ मानने का समर्थन किया है। जैन परम्परा में शक्ति को स्वतन्त्र द्रव्य या पदार्थ नही माना गया है। शक्ति अनुमान से ज्ञात होती है, प्रत्यक्ष से ज्ञात नही होती यह बतलाना ही यहा लेखक का उद्देश प्रतीत होता है। न्यायवार्तिकतात्पर्य टीका मे वाचस्पति ने शक्ति के स्वतन्त्र अस्तित्व का खण्डन किया है[5]। अकलंकदेव ने शक्ति क्रिया के द्वारा अनुमेय है ऐसा निर्देश किया है। प्रभाचन्द्र ने इस का विस्तार से समर्थन किया है (न्यायकुमुदचन्द्र पृ. १५८-६४) आधुनिक रूप में इस

---

१) न्यायसूत्र ४।२।४६ तदर्थं यमनियमाभ्यामात्मसंस्कारो योगाच्च अध्यात्मविध्युपायैः। (भाष्य में-) योगशास्त्राच्च अध्यात्मविधिः प्रतिपत्तव्यः, स पुनः तपः प्राणायामः प्रत्याहारः ध्यानं धारणा इति। २) तत्त्वार्थसूत्र ५-२३, २४ स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः। शब्दबन्धसौक्ष्म्य-स्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायातपोद्योतवन्तश्च। ३) वैशेषिक सूत्र ५।२।१९ भाभावस्तमः। ४) न्यायकुमुदचन्द्र पृ. ६६९ ततो द्रव्यं तमः गुणवत्वात्। ४) अनेकान्त वर्ष ३ पृ. ६६० तथा आगे। ५) पृष्ठ १०३ नातीन्द्रिया शक्तिः किन्तु कारणाना स्वरूपं वा सहकारिसाकल्यं वा।

विषय की विस्तृत चर्चा पं. दलसुख मालवणिया ने प्रस्तुत की है (न्यायावतार-वार्तिकवृत्ति टिप्पण पृ. १७६-८३)।

पृ. २५८--दशरथ द्वारा ब्रह्महत्या की किस कथा का यहां उल्लेख हैं यह मालूम नही हुआ। मृगया में दशरथ ने जिस श्रवण कुमार का वध अज्ञान से किया था वह ब्राम्हण नही था अतः वहां ब्रह्महत्या का आरोप नही हो सकता[1]। दशरथ के नरक जाने की कथा भी प्राप्त नही हो सकी। ये कथाएं पौराणिक हैं अतः इन्हें वेदवाक्य कहना भी निर्दोष नही है। वेदों में रामकथा के कोई निर्देश नही हैं यह प्रसिद्ध ही है।

पृ. २५९—आदिभरत की कथा भागवत (स्कन्ध ५ अध्याय ७ तथा ८) एवं विष्णुपुराण (खण्ड २ अध्याय १३) में हैं। दोनों में भरत के मृग-रूप में उत्पन्न होने का वर्णन तो है किन्तु गंगायमुनासंगम का निर्देश नही है। भरत के आश्रम के समीप चक्रनदी थी ऐसा भागवत का कथन है। विष्णुपुराण में उसे महानदी कहा है। यह कथा भी पौराणिक है-वेदवाक्य नहीं।

पृ. २६१—सत्त्वं लघु इत्यादि कारिका में अन्तिम चरण यहां साम्यावस्था भवेत् प्रकृतिः ऐसा है। प्रसिद्ध संस्करणों में इस के स्थान पर प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः ऐसा पाठ है।

पृ. २६७—प्रकृति के स्वरूप तथा उस के समर्थन का विचार विद्यानन्द ने आप्तपरीक्षा (पृ. २५०) मे तथा प्रभाचन्द्र ने न्यायकुमुदचन्द्र (पृ. ३५४-५६) में विस्तार से किया है।

पृष्ठ २७२—अभिव्यक्ति तथा उत्पत्ति के सम्बध का विचार उद्योतकर ने न्यायवार्तिक मे[2] तथा प्रभाचन्द्र ने न्यायकुमुदचन्द्र में[3] प्रस्तुत किया है।

पृष्ठ २७६—कारण की शक्ति ही कार्यरूप मे अभिव्यक्त होती है यह मत यहा स्वयूथ्य के नाम से प्रस्तुत किया है। दार्शनिक ग्रन्थों में स्वयूथ्य शब्द का प्रयोग साधारणतः अपनी ही परम्परा के भिन्न मतवाले लेखक के लिए किया जाता है। क्या भावसेन के सन्मुख कोई ऐसे जैन पण्डित की कृति रही होगी जो इस मत का पुरस्कार करता हो? यह असम्भव नही है, यद्यपि इस के लिए

---

१) रघुवंश सर्ग ९ श्लो. ७६ तेनावतीर्य तुरगात् प्रथितान्वयेन पृष्टान्वयः स जलकुम्भनिषण्णदेहः। तस्मै द्विजेतरतपस्विसुतं स्खलद्भिः आत्मानमक्षरपदैः कथयाम्बभूव ॥

२) पृष्ठ ४४४ साप्यभिव्यक्तिः प्राक् प्रवृत्तेः सती आहो असती इति पूर्ववत् प्रसङ्गः।

३ पृष्ठ ३५७ न खलु सापि (अभिव्यक्तिः) विद्यमाना कर्तुं युक्ता। अविद्यमानायाश्च करणे सत्कार्यवादहानिः।

कोई स्पष्ट प्रमाण नही है। संसारी जीव मे भी शक्तिरूप मे सिद्ध जीव की समस्त विशेषताएं होती हैं यह कुछ आधुनिक जैन पण्डितो का कथन इस दृष्टि से विचारणीय है। वैसे आधारभूत प्रति के टिप्पणलेखक के अनुसार यहा स्वयूथ्य शब्द साख्य दार्शनिक के लिए ही है।

पृष्ठ २८३—विविक्ते इत्यादि पद्य आसुरि आचार्य का है ऐसा शास्त्रवार्तासमुच्चय (श्लो. २२२) तथा योगबिंदु (श्लो. ४५०) मे हरिभद्र ने कहा है। इसी रूप मे मल्लिषेण ने स्याद्वादमंजरी मे (पद्य १५) भी इसे उद्धृत किया है। साख्य परम्परा के अनुसार आसुरि मुनि कपिल महर्षि के साक्षात् शिष्य थे तथा उन्हीं से उपदेश प्राप्त कर पंचशिख ने षष्ठितन्त्र नामक ग्रन्थ लिखा था।

पृष्ठ २८५—दो निरोधों के पारिभाषिक नाम हैं– प्रतिसंख्यानिरोध तथा अप्रतिसख्या निरोध। स्वाभाविक रूप से होनेवाले पदार्थों के नाश को अप्रतिसंख्या निरोध कहते हैं तथा जिस का कोई कारण दिखलाई देता हो ऐसे (निर्वाणादि) नाश को प्रतिसख्या निरोध कहते हैं।

विनाश की स्वाभाविकता का तार्किक समर्थन यहां धर्मकीर्ति[1] तथा शान्तरक्षित[2] के शब्दों मे प्रस्तुत किया है।

पृष्ठ २८६—अर्थक्रिया करता हो वह सत् है यह व्याख्या धर्मकीर्ति ने भी दी है किन्तु उस के शब्दों मे और यहा उद्धृत श्लोक मे थोडा अन्तर है[3]।

पृष्ठ २८७—यदि विनाश को स्वाभाविक माना तो चित्तसन्तान का निरोध यह जो मोक्ष है वह भी स्वाभाविकही होगा, फिर आठ अगो के मोक्षमार्ग का प्रतिपादन व्यर्थ होगा यह आपत्ति समन्तभद्र ने उपस्थित की है[4]।

पृष्ठ २८८—पदार्थों के पूर्णतः क्षणिक होने पर उन मे अर्थक्रिया सम्भव नही होगी इस मत को भदन्त योगसेन जैसे बौद्ध आचार्य भी मानते थे ऐसा तत्त्वसंग्रह के वर्णन से प्रतीत होता है (पृ. १५३)।

पृष्ठ २९१—प्रत्यभिज्ञान से तथा निक्षेपादिग्रहण से आत्मादि पदार्थों की नित्यता का समर्थन समन्तभद्र ने किया है[5]।

---

१) प्रमाणवार्तिक ३।१९३ अहेतुत्वाद् विनाशस्य। २) तत्त्वसग्रह का. ३५३–तत्र ये कृतका भावास्ते सर्वे क्षणभङ्गिनः। विनाशं प्रति सर्वेषामनपेक्षतया स्थितेः ॥ ३) प्रमाणवार्तिक ३।३ अर्थक्रियासमर्थं यत् तदत्र परमार्थसत्। ४) आप्तमीमासा का. ५२ अहेतुत्वात् विनाशस्य हिंसाहेतुर्न हिंसकः। चित्तसन्ततिनाशश्च मोक्षो नाष्टाङ्गहेतुकः॥ ५) आप्तमीमासा का. ४१ क्षणिकैकान्तपक्षेऽपि प्रेत्यभावाद्यसम्भवः। प्रत्यभिज्ञाद्यभावान्न कार्यारम्भः कुतः फलम् ॥ युक्त्यनुशासन श्लो. १६–प्रतिक्षणं भङ्गिषु तत्पृथक्त्वात् न मातृघाती स्वपतिः स्वजाया। दत्तग्रहो नाधिगतस्मृतिर्न न क्त्वार्थसत्यं न कुलं न जातिः॥

पृष्ठ २९३—परमाणुओं के सम्बन्ध के विषय मे इन आपत्तियों का विचार अकलंक ने किया है (न्यायविनिश्चय श्लो. ८६-९०)। इस सम्बन्ध में बौद्धों के विचार वेदान्तियों से मिलते-जुलते हैं (ब्रह्मसूत्र शाकरभाष्य २।२।१७)।

पृष्ठ २९९—प्रत्यक्ष निर्विकल्प ही प्रमाण होता है इस का खण्डन अकलंक ने विस्तार से किया है (न्यायविनिश्चय श्लो. १५०-५७)।

पृष्ठ ३०१—यत्रैव जनयेदेनाम् इत्यादि श्लोक दिग्नाग का है ऐसा प्रभाचन्द्र का कथन है (न्यायकुमुदचन्द्र पृ. ६६)। अनन्तवीर्य ने इसे धर्मोत्तर की उक्ति कहा है (सिद्धिविनिश्चय टीका पृ. ९१).

पृष्ट ३०२—यहा लेखक ने निर्वाणमार्ग के आठ अगों का जो विवरण दिया है वह मूल बौद्ध ग्रन्थों से भिन्न है। सम्भवतः किसी उत्तरकालीन संस्कृत पुस्तक से यह लिया गया हैं। मूल ग्रन्थों मे सम्यक् दृष्टि, सम्यक् वाचा, सम्यक् कर्म, सम्यक् आजीव, सम्यक् संकल्प, सम्यक् स्मृति, सम्यक् व्यायाम और सम्यक् समाधि ये आठ अंग कहे गये हैं। यहा लेखक ने सम्यक दृष्टि को सम्यक्त्व कहा है। सम्यक् वाचा को संज्ञा कहा है। संज्ञी का जो कथन लेखक ने किया है वह मौलिक विवरण से असम्बद्ध है। कर्म के स्थान पर वाक् तथा काय के कर्मों को एकत्र कर दिया है। अन्तर्व्यायाम ऐसा शब्द प्राणायामादि के अर्थ में लेखक ने दिया है। मूल मे कर्मान्त तथा व्यायाम ऐसे दो शब्द हे तथा व्यायाम का तात्पर्य योग्य विचारो को बढाना तथा अयोग्य विचारो को हटाना यह है। आजीव का तात्पर्य मूल में आजीविका के उचित साधन यह है। समाधि मे ध्यान के विभिन्न प्रकारों का अन्तर्भाव होता है[1]।

पृष्ठ ३०३—उभे सत्ये समाश्रित्य के स्थान पर मूल माध्यमिक कारिका मे द्वे सत्ये समुपाश्रित्य ऐसा पाठ है। निर्वाणेऽपि परिप्राप्ते इस श्लोक का उत्तरार्ध ही प्रमाणवार्तिक मे मिलता है।

उपसंहार—क्षीणेऽनुग्रहकारिता आदि पद्य कातन्त्ररूपमाला के अन्त में भी लेखक ने दिया है।

---

१) अष्टाग मार्ग के विवरण तथा उस की जैन परम्परा के महाव्रतो से तुलना के लिए स्व. धर्मानन्द कोसम्बी लिखित ' भारतीय संस्कृति और अहिंसा ' ग्रन्थ का दूसरा प्रकरण ' श्रमण संस्कृति ' उपयुक्त हैं।

टिप्पण परिशिष्ट

हुम्मच प्रति के पाठान्तर

प्रस्तावना मे सूचित किया है कि विश्वतत्त्वप्रकाश की एक ताडपत्रीय प्रति हुम्मच के श्रीदेवेन्द्रकीर्ति ग्रन्थभाण्डार में है। इस का लेखन शक १२६७ में मूडबिदुरे नगर में श्रीसमन्तभद्र के शिष्यो द्वारा किया गया था। इस के पाठान्तर मूडबिद्री के पण्डित श्री. के. भुजबलि शास्त्रीजी की कृपा से हमें प्राप्त हुए। इन्हें हम इस टिप्पण-परिशिष्टमें दे रहे हैं। इन में जो पाठ अधिक अच्छे हैं उन की पृष्ठ-पंक्ति संख्या रेखांकित है। जो पाठ स्पष्ट रूप से गलत हैं उन के बाद (×) यह चिन्ह दिया है। शेष पाठ विकल्प से स्वीकार किये जा सकते हैं।

पृष्ठ	पंक्ति	मुद्रित पाठ	ताडपत्रीय प्रति का पाठान्तर
२	५	अथ	ननु
३	२	व्याप्तिकत्वे	व्याप्तिकत्वेन (×)
३	७	सिद्धत्वात्	सिद्धसाध्यत्वात् (×)
४	४	तत्र	तस्य तत्र
४	५	आप्तो ह्यवंचको	आप्तोऽप्यवंचको
४	८	किंचिज्ज्ञानां	किंचिज्ज्ञानं (×)
४	१५	प्रतिबंधकप्रत्यय	प्रतिबंधप्रत्ययं
५	३	स्वभावे	स्वभावत्वे
५	७	प्रत्यक्षाभावात्	प्रत्यक्षत्वाभावात्
६	२	प्रमाणस्य	प्रमाणत्वस्य
६	८	वीतो देश	मितो देशः (?) (×)
७	७	सादि	सादिः
७	९	प्रत्यक्षत्वात्	प्रत्यक्षत्वात् पटवत्
८	५	चैतन्य	चैतन्य जायते
८	६	धातुकी	धातकी
८	१३	फलभोगे	भोगे (×)
१०	११	अंगीकारे वा	पृथग्द्रव्यत्वांगीकारे वा

		मुद्रित	पाठान्तर
११	४	न्यातीन्द्रिय	न्यतीन्द्रिय (X)
११	१३	घटादिवदिति	पटादिवदिति
१२	५	,,	,,
१२	६	"कादाचित्कत्वाभावात्। अथ अनणुत्वे सति क्रियावत्वादिति हेतुः सोऽप्यसाधुः। ज्योतिर्गणेषु अनणुत्वे सति क्रियावत्वसद्भावेऽपि" यह पाठ ताडपत्र में नहीं है।	
१३	३	अद्व्यणुकत्वे	अद्व्यणुकत्वे सति
१३	८	क्रियान्यत्वे सति	क्रियाद्यन्यत्वे सति
१४	३	तस्यापि	अस्यापि
१४	४	जडत्वात्	यह शब्द नहीं है
१४	५	"ज्ञानादयो नेन्द्रियगुणाः सतीन्द्रिये निवर्तमानत्वात् व्यतिरेके इन्द्रियरूपदिवत्"। यह पाठ ताडपत्र में नहीं है।	
१५	५	तथा	तथा हि
१५	७	आगमश्च	आगमाच्च
१७	६	कुतः	कुतः शब्द नहीं है
१८	५-६	रूपादिमत्वात् के बाद	अनित्यत्वात्
१९	१	पटवत्	यह शब्द नहीं है
१९	४	हेतूना	हेतूना बहूना
१९	४-५	अग्राह्यत्वात् "अयावद् इन दो शब्दों के बीच में चेतनत्वात्, अजडत्वात् गन्धरसान्यत्वे सति शरीरग्राहकेन्द्रियाग्राह्यत्वात् यह पाठ मुद्रितप्रति में छूट गया है।	
१९	७	पटवदिति	पटादिवदिति
२०	८-९	आसनीलक्ष्यते	आसनीलस्यते
२१	१	तद्	यह शब्द नहीं है।
२१	७	तत्	तत्तत्
२१	९	भवति	भवतीति
२२	१२	पाषाणादि	पाषाणानां
२३	३	लौकायत	लोकायत
२३	१०	गुणोऽपि	गुणोऽपीति

		मुद्रित	पाठान्तर
२३	१०	यदन्यत्	यद्यन्यत् (×)
२४	४	प्रत्यवातिष्ठिपत्	प्रत्यवातिष्ठपत् (×)
२४	६	अनात्मज्ञभाषितं	अनभिज्ञभाषित
२५	८	निश्चक्रीयत	निश्चीक्रियत (×)
२६	२	पुरुषस्य	पुरुषत्वस्य
२६	७	अवलोह	अवलोहः
२७	६	अगादीत्	अवादीत्
२८	४	निराचष्टेति	निरचैष्टेति
२९	४	समुत्पद्यते	समुत्पद्येत
३०	१	प्रतियोगिग्रहणयोः	प्रतियोगिस्मरणयोः
३०	८-९	विषयत्वादिति युक्तो	विषयत्वादिप्रयुक्तो
३०	१६	कथ	तत्कथं
३१	१	अविनाभावि	अविनाभाव (×)
३१	८	सर्वे	सर्वत्र
३२	३	व्यातिपूर्वक	व्याप्तिपूर्वक
३२	३	"प्रदर्शनात्" इस शब्दके बाद निम्नलिखित पाठ ताडपत्रमे है जो मुद्रित प्रति मे नही है:— "नाप्रदर्शितव्याप्तिकः अन्वयदृष्टान्ते साध्यव्याप्तसाधनप्रदर्शनात्"	
३३	६	प्राक्तनमनुमानं	प्राक्तनानुमान
३३-३४	१	रहित्वादिति हेतु	रहितत्वादिहेतुः (×)
३४	१	संभवे वा	समवे वा केवलान्वयित्वाभावात्
३४	७-८	,, बाधकप्रमाणा	व्यावृत्तिबाधकप्रमाणा (×)
३४	१०	ऽप्रयोजनको	ऽप्रयोजको
३५	१२	केन	येन (×)
३६	७	"निश्चितत्वात्" इस शब्द के बाद निम्न पाठ मुद्रित प्रति में छूट गया है:—"तद्रहितत्वादिति स्वरूपासिद्धो हेत्वाभासः"	
३६	८	सत्त्वरहितत्व	सपक्षे सत्त्वरहितत्व

		मुद्रित	पाठान्तर
३७	७-८	तिन्तिणीक	तिंत्रिणीक
३७	८	.. चोच	चूत
३७	११	साधयेदिति	प्रसाधयेदिति
३७	१३	प्रमितहानिः	च प्रमितहानिः
४२	१	.. प्रतिपन्नस्य	सप्रतिपन्नस्य
४२	७	"भू"	'भू' नहीं है
४३	६	उत्पत्ति	उत्पन्न
४४	६	हेतोरायद्रव्यणुका	हेतोरप्यद्व्यणुका
४७	६	"स"	'स' नहीं है।
५०	६	कर्तृत्वपूर्वकं	कर्तृपूर्वकं
५०	१३	अशरीरत्वेन	अशरीरित्वेन
५१	३-४	शरीररहितत्वे	शरीरहितत्वात्
५२	९	ह्यनेकाकारत्वे	घनैकाकारत्वे
५३	६	.. पादचारो	पादप्रचारो
५६	२	यदेव	यदेवं
५७	२-३	"अचेतनत्वेऽपि स्वकार्ये प्रवर्तनात्" इसके पहले ताडपत्रकी प्रति मे निम्न पाठ है: "अचेतनत्वेऽपि स्वसाक्षात्कारिणा बुद्धिमता प्रेरित सत् स्वकार्ये प्रवर्तनाभावात्" (X)	
५८	११	निश्चयात्	निश्चयाच्च
५८	१३	श्लोकान्त मे "इति स्मृतेः" पाठ है।	
५९	१	ब्राह्मणा	यो ब्राह्मणा
५९	६	आख्यात्	आख्यते (X)
५९	११	वात्यादीना	वाय्वादीना
६०	७	कुद्दाल	कूर्दाल
६०	७	आह्वसघर्षणेन	मुखादिसंघर्षणेन
६०	१०	अव्यवधानेन	व्यवधानेन (X)
६१	१२	घटादिवदिति	पटादिवदिति
६२	४	ग्राह्यमानेन	ग्राह्यमाने (X)

		मुद्रित	पाठान्तर
६२	९	स्वफलयोग्य	स्वफलदानयोग्य
६४	१	साध्याभावात्	साध्याभावाच्च
	५	नित्यद्रव्यं	न नित्यद्रव्यं (X)
६५	१	वैताली	आताली
६५	१	स्वातंत्र्यभाक्त्वस्य	स्वातंत्र्यभाक् तस्य (X)
६५	३	समासकृत्	समाकृतौ
६७	४	प्रत्यदीपदाम	प्रत्वपीपदामः (X)
६७	१३	संसारिवत्	संसारिवदिति
६७	१३	मानमात्सर्यो	मानमदमात्सर्यो
६८	६	जिनेश्वरस्यैव	जिनेश्वरस्यैव सर्वज्ञत्वात्
६८	१५	एतद्देशवत्	तद्देशवत् (X)
७०	७	अनुमानस्य सिद्धौ	अनुमानस्यासिद्धौ (X)
७०	३	सिद्धत्वाभावात्	प्रसिद्धत्वाभावात्
७०	७-८	अनुमानसिद्धिरिति	अनुमानासिद्धिरिति (X)
७३	५	कर्तृत्वसिद्धिः	कर्तृकत्वसिद्धिः
७४	३	विप्रतिपत्तिः	विप्रतिपत्तेः
७४	७	वाक्यत्वादनुमाना	वाक्यत्वाद्यनुमाना
७५	९	" अविशेषात् तस्मात् " इन दो शब्दों के बीचमें निम्न पाठ मुद्रित प्रति मे छूट गया है:— "अथ पिटकत्रयस्य सौगताः पौरुषेयत्वं मन्यन्ते, तत एव तदुक्तानुष्ठानेऽपि मीमांसकाः न प्रवर्तन्त इति चेन्न, वेदस्यापि सौगताः पौरुषेयत्वं मन्यन्ते इति तदुक्तनुष्ठानेऽपि अप्रतिपत्तिप्रसंगात् "	
७५	११	"प्रवर्तन्ते इति"	प्रवर्तन्ते,न पिटकोक्तानुष्ठाने इति
७६	९	तत्काले	तत्तत्काले
७६	१०	चेन्न	'न' नहीं है
७६	१३	प्रविशति	प्रविशंति
७८	४	न कार्यान्वित	स कार्यान्वित (X)

		मुद्रित	पाठान्तर
७८	७	वेदकर्तुः	वेदे कर्तुः
७८	९	प्रत्ययान्ता न माना...	प्रत्ययान्तानुमाना (X)
७८	१०	वाचकसिद्धेः	वाचकत्वसिद्धेः
८०	१	संस्कारमन्तरेण-	संस्कारमात्रमन्तरेण
८०	११	तुरुष्क...	तुरुष्क...
८१	१०	विश्रामयं	दिशामयं (X)
८२	२	तस्मादात्मनः	तस्मादेतस्मादात्मनः
८२	९	प्रपंच...	प्रपंचस्य
८२	९	भास्करीया	भास्करीयो (X)
८६	१	इत्यनुमानं	इत्येतदनुमानं
८६	१२	व्यापी	व्यापकः
८७	७	कर्तृत्व	कर्तृकत्व
८७	१०	प्रसंगे	प्रसंगेन
८८	३	घटादि	घटादिः
८९	२	काव्येषु	वाक्येषु
८९	६	क्षत्रियाणा	...क्षत्रियादीनां
८९	८	इति	इत्यादि

८९ ८ "मंत्रः" इस शब्द के बाद ताडपत्र में यह पाठ हैः—ओं भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमही, धियो यो न प्रजोदयात्"

९०	१२	नियतव्यक्ति	अनित्यव्यक्ति (X)
९१	५	शब्दवदिति	शब्दत्ववदिति
९१	१२	तत्र	तत्रत्य
९२	१	प्रत्यभिज्ञानाभ्रान्तत्वे	प्रत्यभिज्ञानस्याभ्रान्तत्वे
९२	७	स्पर्शवत्त्वात्	स्पर्शनत्वात् (X)
९३	४	नित्यत्वात्	विभुत्वात् नित्यत्वात्
९४	९	नित्यताभावात्	नित्यत्वाभावात्
९६	२	शरीरस्वरूपं	शरीरमादाय स्वस्वरूपं

		मुद्रित	पाठान्तर
९६	५	मुक्तत्वात्	मुक्तत्वात् अदृष्टरहितत्वात्
९७	३	य उ चैनमेव	य उच्चैरेन (×)
९७	३	वर्षशत	वर्षशतं
९७	६	फलोपभोगसभवात्	फलोपलंबसंभवात् (×)
९७	७	विजानाति	विज्ञानानि (×)
९७	८	विधूत	प्रविधूत (×)
९७	१०	निरुक्ते इति	निरूक्तेरिति
९८	१	अश्वथामा वेदार्थज्ञः त्रिलोचनत्वात् — मुद्रित के स्थानपर "अश्वत्थामाधर्मी वेदज्ञो भवतीति साध्यो धर्मः त्रिलोचनत्वात्" पाठान्तर ताडपत्र में है ।	
९८	२	तस्य	तत्र
९८	४-५	.. वादत्वेन बाधित-विषयत्वं	वादत्वे असत्यवचनत्वेन बाधित-विषयत्वं
९८	११	आलभेत	आलभत (×)
९९	७	निषिद्धत्वमिति	निषिद्धत्वमेवेति
९९	९-१०	निषिद्ध भवति तत्तत् पापहेतुर्भवति — मुद्रित निषिद्धं न भवति तन्तत् पापहेतुर्न भवति — पाठान्तर (×)	
१००	५	पक्षस्य	पक्षस्थ
१००	१०	समजातित्वात्	समाजातित्वात् (×)
१००	१५	तथा	तथा च
१०२	३	प्रामाण्यस्यैव	प्रामाण्यस्यैवं
१०४	१०-११	न ज्ञानकारणज	ज्ञानकारणादन्यकारणजं
१०६	८	संदिग्धतः	सदिग्धं
१०७	२	अंगुलज्ञाने	अंगुलादिज्ञाने
१०७	७	आकारत्वात्	आकारवत्वात्
१०७	८	स्फटादिमत्वाच्च	स्फटादित्वाच्च
१०७	९-१०	ज्ञानात्	ज्ञानाच्च
१०८	५	प्रत्यक्षेणैव	प्रत्ययेनैव

		मुद्रित	पाठान्तर
२०९	१	अनणुक.वे	अनणुद्वयणुकत्वे
२११	६	परसवेद्यत्वेन	परसंवेद्यत्वे
२११	६	" तत्परस्यापि " इस शब्द के बाद निम्नपाठ ताडपत्र में है:— " स्वसंवेद्यत्वं परसंवेद्यत्वं वा, स्वसंवेद्यत्वे तेनैव हेतोर्व्यभिचारः, परसंवेद्यत्वे तत्परस्यापि "	
२११	११	प्रकाशकं	प्रकाशं
२१२	६-७	...व्यवसायस्यान्येन	व्यवसायस्याप्यन्येन
२१३	३	...प्रकाशत्वात्	प्रकाशकत्वात्
२१४	४	लकुटशकटादि..	लकुटमकुटशकटादि
२१४	७	घटनिश्चयः	घटज्ञानत्वं
२१५	२	सिद्धौ	सिद्धया
२१५	११-१२	तस्मादघटज्ञानेन	तस्माद् घटज्ञानेन (×)
२१७	९	" निरालंबनत्वे " इस शब्द के बाद निम्नपाठ ताडपत्रमें है:— "धर्मिणो सत्वाद्धेतोराश्रयासिद्धत्वं हेतुग्राहकस्यापि सालंबनत्वे तेनैव हेतोर्व्यभिचारः। निरालंबनत्वे "—	
२१९	४	अस्माभिरंगी...	अस्माभिरप्यंगी-
२२०	१०	तिक्त	पित्ततिक्त
२२१	११	.. संयोग	.. संप्रयोग
२२३	२	अमूर्तत्वात्	ज्ञप्तित्वात् अमूर्तित्वात्
२२५	५	अधिकरण	अधिकरण्य (×)
२२५	६	देशेनिवेशि	देशनिवेशि
२२५	७	देशेनिवेशि	देशनिवेशि
२२६	१	अग्रहणादिदं	अग्रहणान्नेदं (×)
२२६	२	निरास्थत्	निरास्थेत् (×)
२२६	१२	धर्मिणो	धर्मी (×)
२२६	१३	धर्मिणः	धर्मिण (×)
२२८	११	उच्चारणं	उच्चारणमेव

		मुद्रित	पाठान्तर
१२९	६	देशे निवेशि	देशनिवेशि
१२९	७	देशे निवेशि	देशनिवेशि
१३०	३	देशे निवेशि	देशनिवेशि
१३१	७	विशेषणानुपपत्तेः	विशेषणत्वानुपपत्तेः
१३१	११	अंगीकर्तव्यं	अंगीकर्तव्यः (X)
१३२	८	अंगीकर्तव्यं	अगीकर्तव्यः (X)
१३२	१५	तत्र	तत्रैव
१३२	१९	देशे निवेशि	देशनिवेशि
१३३	१२	स्थितं	स्थितः (X)
१३४	८	प्रतीत्युत्तर...	प्रत्युत्तर...
१३६	९	प्रतिभासीति	प्रतिभातीति
१३७	२	सद्रूपं	तथा सद्रूपं
१३७	८	अनिर्वाच्य	अनिर्वाच्यं
१३८	३	सति चैवं	शोति चैवं (X)
	१३	अथास्याबाध्यत्वं	अथास्याप्यबाध्यत्वं
१३९	७	शुक्तिव्यतिरिक्तत्वात्	शुक्तिवित्तित्वात्
१३९	७	तथा	तथा हि
१३९	८	भूत...	'भूत' शब्द नहीं है (X)
१४०	३	निवर्तते	निवर्त्यते
१४०	१०	तथा हि	तथा
१४१	१	धर्मि	धर्मी
१४१	९	धर्मि	धर्मी
१४१	९	कारणमेव	कारणकमेव
१४१	११	धर्मि	धर्मी
१४२	६	अन्यप्रसिद्धि	अन्यत्वप्रसिद्धि
१४२	७	अनुभवत्वं	अनुभवत्वं उद्योतत्वं
१४२	१२	प्रकाशत्वस्यासामान्य-संभवात्	प्रकाशत्वसामान्यासंभवात्

		मुद्रित	पाठान्तर
१४२	१२	धर्मि	धर्मी
१४३	१०-११	ज्ञानान्धकारारित्वयोः	अज्ञानारित्वान्धकारारित्वयोः
१४४	११	प्रतिषेध इति	प्रतिषेधं इति (X)
१४५	५	परब्रह्म	परं ब्रह्म
१४५	९	वृत्तिरूप	वृत्तिरूपेण
१४५	१०	अर्थप्रकाश इति	अर्थः प्रकाशते इति
१४५	११-१२	परब्रह्म...	परं ब्रह्म...
१४६	४	भवतीति	भवति
१४६	७	ब्रह्मणो	परं ब्रह्मणो
१४६	७	...रूपस्य नित्य	रूपस्य नित्यं
१४७	७	कारणत्वात्	कारणकत्वात्
१४७	११	उर्णनाभ	ऊर्णनाभ
१४८	११	प्रमितिः	प्रमितिरिति
१४९	१-२	ब्रह्मरूपे व्यवस्थिते	ब्रह्मरूपेत्यवस्थिते (X)
१४९	६	...दूषणाच्च	दूषणत्वाच्च
१४९	८	...सिद्धिः	...सिद्धेः ।
१५०	२	अनिर्वचनीयत्वाभावः	अनिर्वाच्यत्वाभावः
१५१	११	यत् यत् यहां पर निम्नपाठ छूट गया है : "कार्यद्रव्यं तत्तत्स्वपरिमाणादल्पपरिमाणावयवारब्धं यथा पटः ।"	
१५२	६	अद्रव्यत्वात्	अद्रव्यत्वात् अभावत्वात्
१५२	१०	...गोचरत्वेन	...गोचरत्वे
१५३	१	उत्तरान्तवत्वात्	उत्तरान्तवत्वात् उभयान्तवत्वात्
१५३	३	चेत्	चेन्न
१५३	१०	भिन्नत्वात्	विभिन्नत्वात्
१५४	५	स	स च
१५४	९	प्रपंचबाध्य ...	प्रपंचस्य बाध्य...
१५४	१०	...अनन्तबाधितत्वात्	अनन्तबोधेन बाधितत्वात्

		मुद्रित	पाठान्तर
१५५	३	मिथ्यात्वप्रसंगात्	मिथ्यात्वप्रपंचात् (X)
१५५	७	श्रोतव्यो मन्तव्यो	श्रोतव्योनुमंतव्यो
१५५	१०	निश्चितार्थ	निश्चितमर्थ
१५५	११	वस्तुविवेकः शमदम...	वस्तुविवेकशमदम... (X)
१५६	९	तादृशा	तादृशात् (X)
१५७	१३	बाधः	बाधा
१६०	४	तथा जाग्रद्दशायामपि	तथा जाग्रत्प्रवर्तने तथा जाग्र-द्दशायामपि (X)
१६०	८-९	भेदप्रवर्तनयोः	भेदप्रत्ययप्रवर्तनयोः
१६०	१२	...दशाया	...दशायाः (X)
१६१	५	सिद्ध	स्थितं
१६१	७	घटाभाव...	घटाभावं
१६२	१	प्रतिनियमात्	व्यवहारप्रतिनियमात्
१६४	१	कर्मेन्द्रियजठरा...	कर्मेद्रियशिरोजठरा...
१६४	१२	भोगोपभोगाभावोऽपि	भोगाभावोऽपि
१६६	२	दुःखाना	दुःखादीना
१६६	१२	प्रतिबिंबावस्थिता	प्रतिबिंबाविशेषावस्थिता
१६७	३	स्थितेष्वितरत्र	स्थितेष्वेवेतरत्र
१६७	७	अविद्याकार्यत्वात् जडत्वात् इंद्रियत्वात् (मूल) अविद्याकार्यत्वात् करणत्वात् जडत्वात् जन्यत्वात् इंद्रियत्वात् (पाठान्तर)	
१६७	११	अभिप्राय	अभिप्राये (X)
१६७	१२	प्रसज्यते	प्रसज्येत
१६८	६	प्रदर्शनात्	फलदर्शनात् (X)
१६९	५	पयोवत्	पटवत्
१६९	११	साबलेयादि	शबलशावलेयादि
१७०	३	कारणत्वेन	कारणकत्वेन
१७०	६	कणिकखलेन गुड..	कणिकवलगुड
१७१	६	अथ	तथा (X)

		मुद्रित	पाठान्तर
१७१	१३	कर्मान्यत्वे सति	कर्माद्यन्यत्वे सति
१७२	१५	जडत्वात् कार्यत्वात्	जडत्वात् करणत्वात् कार्यत्वात्
१७३	४	जन्यगात् चक्षुरादि...	जन्यत्वात् करणत्वात् चक्षुरादि...
१७३	७	गुणवत्त्वसिद्धिरिति	गुणवत्त्वसिद्धेर्नानात्वसिद्धिरिति
१७३	९	इत्यात्मनो	इत्यप्यात्मनो
१७३	१२-१३	इति द्रव्यत्वसिद्धिः।	इति आत्मनो द्रव्यत्वसिद्धेः।
१७४	६	धर्मि	धर्मी
१७४	९	अन्यथोपपत्तिः	अन्यथैवोपपत्तिः
१७५	६	...संबधानि	संबंधीनि
१७५	६-७	अन्योन्याननुसंधातृत्वात्	अन्योन्यानुसंधातृरहितत्वात्
१७६	४	जीवशरीरत्वात्	जीवच्छरीरत्वात्
१७६	८-९	न विशेषणासिद्धत्वं, न विशेष्यासिद्धत्वं (मूल)। न व्यर्थविशेष्यासिद्धत्वं न व्यर्थविशेषणासिद्धत्वं (पाठान्तर)।	
१७७	३	साध्यसाधनाना	साध्यसाधनादीना
१७८	१५	व्यापारप्रसगात्	व्यापारप्रसंगः
१७९	१	तत्र प्रमाता	तत्राप्रमाता (×)
१७९	३	दुःखप्रत्यक्षाभ्या	दुःखप्रत्यक्षाप्रत्यक्षाभ्यां
१७९	६	संकायः	सकायः (×)
१८०	९	वेदेन	वेदे
१८०	९	विनाशकत्वेन	विनाशवत्त्वेन
१८१	२	साधनविकलत्वात्	साध्यसाधनविकलत्वात्
१८१	३	प्रतिपक्षमाधक ...	प्रतिपक्षप्रसाधक...
१८१	५	तवोक्तादेव	तवोक्तेरेव
१८१	१३	तथा श्रुत्या	तया श्रुत्या
१८१	१४	एकात्मसाधनं	एकात्म्यसाधनं
१८२	३	परब्रह्मणः	परं ब्रह्मणः

		मुद्रित	पाठान्तर
१८२	५	इत्वा	हित्वा
	१०	अविद्याभेदः	अविद्याविद्याभेदः (X)
	१३	प्रमातृभेदो	प्रमातृभेदोऽपि
१८३	१	तत्संस्कारभेदः	तत्संस्कारभेदोऽपि
१८४	२	अंगोपागादिभ्यः	अंगोपागोपाधिभ्यः
१८४	१४	मानवर्जनात्	मानवर्धनात् (X)
१८५	६	...सद्भावः	सद्भाव एव
१८७	६	न स्यात् ।	न स्यात् । तथा च
१८७	८	तदर्थविचारकः	तदर्थं विचारकः
१८७	१४	प्रमाता	प्रमातापि
१८८	५	तथास्तीति चेन्न	तथास्त्विति चेन्न
१८८	८	प्रदेशमात्रस्य	प्रदेशस्य
१९०	१४	भवान्तरप्राप्तिश्च	भवात् भवान्तरप्राप्तिश्च
१९१	१	न वीतमन्तःकरणं	न वीतं करणं
१९१	६	परदेहं	परं देह
१९२	१०	प्रत्यवातिष्ठिपन्	प्रत्यवतिष्ठपन्
१९२	११-१२	...रहितत्वेन हेतोः	...रहितत्वेन तैर्हेतोः
१९५	५	कृतमित्या [यहाँसे मुद्रित प्रतिकी पृष्ठ सं. २०३ पंक्ति ९	
२०३	९	प्रसंग तक के पाठ का विषयवाला ताडपत्र नं. ९४ वाला पत्र नहीं मिलता]	
२०५	११,१३	इष्टानिष्टप्राप्यादिकं	इष्टानिष्टप्राप्त्यप्राप्त्यादिकं
२०५	१५	पृथक्	पृथक्पृथक्
२०६	१२	जठराङ्गोपाङ्गान्युपेत्य	जठराद्यङ्गोपाङ्गानुपेत्य
२०६	१३	ज्ञात्वा निर्विशतीति	ज्ञात्वा स्वयमेय सुखदुःखादिकं स्वानुभवेन मानसप्रत्यक्षेण वा ... ज्ञात्वा निर्विशतीति

		मुद्रित	पाठान्तर
२०७	१३	स्ववर्तमानावासे युगपत् सर्वत्र स्वासाधारणगुणाधारतया उपलभ्यमानत्वात् घटाद्यंतर्गतप्रदीपभासुराकारवत्	इस पाठके बदले यह पाठ है :— अन्तःकरणान्यत्वे सति स्पर्शरहितत्वात् व्योमवत् ।
२०४	६	भावसामान्यं	सामान्यं
२११	१	स्वरूपपदार्थं	रूपपदार्थं
२११	२	नित्य...	सत्य ...(×)
२१५	९	क्रियाक्रियावतोः	क्रिया तद्वतोः
२१५	१३	तर्हि स्वतः, संबंधान्तरेण वा ।	तर्हि संबन्धान्तरेण संबद्धः सन् प्रवर्तते, स्वतः संबद्धो वा प्रवर्तते ।
२१६	३	समवायिषु	स्वसमवायिषु
२१६	८	निरपेक्षतया	निरपेक्षया (×)
२१८	११	...गुण	...गण (×)
२१८	११	अधोभागे	तंतूना अधोभागे
२१९	१	मातुलिङ्ग	मातुलुङ्ग
२१९	१०	प्रतिबंध	प्रतिबंधि
२२०	३	समवायस्य	समवायलक्षणस्य
२२१	९	तिलकादिवत्	तिलादिवत्
२२३	४	...सिद्धिः	...सिद्धेः
२२३	९-१०	दर्शनादिगोचरत्वं	दर्शनस्पर्शनादिगोचरत्वं
२२४	४	कारणत्वात्	करणत्वात्
२२४	११	निरवयवद्रव्यत्वात्	निरवयवत्वात्
२२४	१३	रसादीना	रसरूपादीनां
२२५	२	वायवीय स्पर्शन	वायवीयः स्पर्शनः (×)
२२५	५	पार्थिवं	तथा पार्थिवं
२२८	१	आभाति	भाभाति (×)
२२८	९	चक्षुः	चक्षुषः

		मुद्रित	पाठान्तर
२२९	१	संयोगाभावो	संयोगजाभावो
२२९	३	पूर्वोत्तर ... ग	पूर्वोत्तरचरलिङ्ग
२३१	१४	...नामकर्मोदयादिति	नामकर्मोदयावादित
२३२	११-१२	तथैवास्तीति	तथैवास्त्वीति (X)
२३२	१४	पर्वतादिभेदेन	पर्वताद्युपाधिभेदेन
२३३	१	अभिधानप्रवृत्तौ	अभिधानभेदप्रवृत्तौ
२३६	१०	कश्चिदेव	कश्चिदेको
२३६	१३	भजेत्	चरेत्
२३७	२	परिक्षय	परिक्षये
२३७	१०,१६	आगामि	आगामिक
२३८	१३	...वायुना	...वायूनां
२३८	१४	सुस्मूर्षा	सुस्मर्षा (X)
२४०	७	संयुक्तसमवायात्	संयुक्तसमवायात् ताभ्यां
२४०	८	संख्यादिष्वा श्रितानां	एतेषु संख्यादिष्वाश्रितानां
२४२	७	अत्र	तत्र
२४३	१	निर्विकल्पं	निर्विकल्पकं
२४३	२,३,६	व्यवच्छिद्यते	व्यवच्छेद्यते
२४३	९	तस्मान्नापरोक्षं प्रत्यक्षं	तस्मान्न परोक्तप्रत्यक्षं
२४४	३	कारीरीं	कारीतं (X)
२४५	७	...पदार्थो	पदार्थोऽपि
२४५	९	आकारदर्शनात् वादि...	आकारदर्शनात् विशेषादर्शनात् वादि...
२४५	१२	प्रतिबोधार्थमपि	प्रतिबोधनार्थमपि
२४६	१	तथा श्लिष्टेन	तथा स्वेन
२४६	६	कृतकः	यः कृतकः
२४८	१-२	साधनो जल्पः	साधनोपलंबो जल्पः
२४८	२	स्वरूपं	कथनं
२४८	५	दृष्टान्तानामपि	दृष्टान्तभासानामपि
२४८	११	...वचनापदभियोगादीनां	वचनादभियोगादीनां

		मुद्रित	पाठान्तर
२४९	६	पदसंबंध	षट्संबंध
२५१	६	केशोण्डुकवत्	केशोण्डुकज्ञानवत्
२५२	८	अभावत्वमपि	अभावोऽपि (×)
२५६	११	अतीन्द्रियग्राह्यं	अनिन्द्रियग्राह्यं
२५८	७	...कामतया	कामनया
२५९	९	उपारसिष्म	उपरसिष्म
२६०	९	मोक्षसंभवे	मोक्षसभवेन
२६१	१२	प्रकृतिर्भवेत्	प्रवृत्तिर्भवेत् (×)
२६२	१०	पंचविंशको जीवः इति निरीश्वरसाख्याः	पंचविशको जीवः, षड्विंशकः परमः, इति निरीश्वरसांख्याः (×)
२६३	६	इति	इति तत्र
२६५	१३	किंचित्	किंचिदेतत्
२६८	१२	अनुमानगम्यत्वेऽपि	अनुमानागमम्यत्वेऽपि
२७०	६	.. श्चेति	.. श्चेति हेतोः
२७३	११	असदकरणात्	असदकारणात् (×)

२७५ ६-७ "आविर्भूतत्वात् महदादिकार्याणा" इन दो पदोंके बीचमे निम्न पाठ छूट गया है:—

"सृष्टिसंहारयोरभाव एव स्यात्। ततश्च प्रकृतेर्महानित्यादिकं यत् किंचिदेव स्यात्। अथ आविर्भावः कादाचित्कश्चेत्तर्हि प्रागविद्य-मानस्याविर्भावस्योत्पत्तिरंगीकृता स्यात्। एवं चान्यकार्यस्या-विद्यमानस्योत्पत्तौ कः प्रद्वेषः। अतः आविर्भावस्याप्याविर्भाव एव क्रियते, नोत्पत्तिरिति चेत् तर्हि तस्याप्याविर्भावः क्रियते। तस्याप्येवं इत्यनवस्था स्यात्। तथा महदादीना तिरोभावोऽपि सार्वकालिकः, कादाचित्को वा ? सार्वकालिकश्चेत् महदादिकार्याणां कदाचनापि स्वरूपलाभो न स्यात् सर्वदा तेषां तिरोभावसद्भावात्। अथ कादाचित्कश्चेत् प्रागविद्यमानस्तिरोभाव उत्पद्यत इत्यगी-कर्तव्यम्। तथा च असत्कार्यस्योत्पत्तिः सांख्यस्य प्रसज्यते। ननु तिरोभावस्यापि प्राग् विद्यमानस्याविर्भावः क्रियते नोत्पत्तिरिति चेत्

		मुद्रित	पाठान्तर
		सोऽप्याविर्भावः प्राग् विद्यमानः अविद्यमानो वा ? प्राग् विद्यमानश्चेत् तिरोभावस्य सर्वदा आविर्भूतत्वात् "।	
२७६	२	.. उत्पत्तिः	उत्पत्तिः प्रसज्यते
२७८	१४	कुविन्दविचित्रदिति	कुविन्दवदिति (X)
२७९	२	वेमादिधर्मत्वात्	वेमादिधर्मत्वात् अद्रव्यत्वात्
२७९	७	.. मांस ..	.. मांसादि ..
२७९	८	सद्भावात् तवाभिप्रायेण	सद्भावभिप्रायेण (X)
२८०	१४	ह्यविशुद्धि	ह्यविशुद्ध (X)
२८१	७	योगादिः	यागादिः
२८१	७	स्वर्गप्राप्ति	स्वर्गावाप्ति
२८३	२	मुक्तावस्थायां	मुक्त्यवस्थायां
२८६	२	विनाशस्य तदवस्थत्वात्	विनाशस्य करणे स्वस्य तदवस्थत्वात् ।
२९०	५	दीपादयो	आत्मादयो
२९१	७	क्षणिकत्वं	क्षणिकत्वे (X)
२९१	८	स्मृत्वा पुनः	स्मृत्वा को वे पुनः
२९१	९	ग्रहणं	पुनर्ग्रहणं
२९२	६	प्रवर्तकत्वं	प्रवर्तको
२९२	१०	अनभिज्ञातत्वात्	अनभिज्ञत्वात्
२९४	३	दृश्यः	दृश्यं (X)
२९४	११	तत्र सजातीय	तत्र सजातीयविजातीय (X)
२९५	३	संबन्धयोग्य...	बंधयोग्य...
२९५	९	नापाक्रामतीति	नातिक्रमतीति
२९६	८	परमाणूनां परस्परं	परमाणूनामेकदेशेन
२९६	९	नोत्पद्यत	नोपपनीपद्यत
२९७	७	वा	च
२९७	८	दृश्यः	दृश्यं (X)

		मुद्रित	पाठान्तर
२९७	१२	स्यात् । खरविषाण इन दो शब्दों के बीचमें एक वाक्य छूट गया है :— " धर्मिणः प्रमाणप्रतिपन्नत्वाभावे आश्रयासिद्धो हेत्वाभासः स्यात् " ।	
२९४	५	विशेषण	विशेष
२९४	९	यदुक्तम्	यदप्यन्यदवादीत्
२९९	८	धिया	धिया
३०२	१	भूवादिकं	भूर्मयादिकं
३०२	३	संसारिणो	संसारिणा
३०४	७	विधिनोपलभ्यत	विधिनोच्यते
३०४	१०	प्रवृत्तिव्यवहार	प्रवृत्तिनिवृत्तिव्यवहार
३०५	१	कस्मात् तथार्थस्य	तन्मते अर्थस्य
	२	यदन्यदवादीत्	यदप्यन्यदवादीत्
३०७	८	श्रुत्वैवं स	इत्थ साम्य (X)
३०७	१४	निटलतटाघटितवर्णनवदुतटे	निटिलतटघटितवर्णानवदुतटे
३०७	१५	त्रैविद्यो भावसेनो	त्रैविद्यभावसेनो
३०७	२०	परं राद्धान्त...	वरराद्धान्त ..
३०७	२१	निसर्ग	...मार्ग...
३०७	२५	अनिलमति	अनिलनति
३०७	२६	नलमत्युद्दण्ड	नलनत्युद्दण्ड
३०७	२८	आठवाँ कन्नड पद्य इस प्रकार है :— बिरुदं माणेले यौग मार्मलेयदिर्चार्वाक मारातु म-। च्चरिसल्वेडेले होगु बौद्ध निजगर्वाटोपमं माणु सयु-॥ तिरु मीमासक मीरि मच्चरदिनुद्दं बारदिर्साख्य दु-। र्धरनी बंधने भावसेनमुनिपं त्रैविद्यचक्रेश्वरं ॥	
३०७	३२	सशाब्दं	स्पष्टतश्च (X)
३०८	२	स्पष्टतोन्यस्पतश्च	स्पष्टतो स्पष्टतश्च (X)

लिपिकृत्–प्रशस्ति

स्वस्ति श्रीमत् शक वर्ष १३६७ क्रोदन संवत्सरद अश्वीज शुद्ध पंचमी स्वस्ति यमनियमस्वाध्यायध्यानमौनानुष्ठानजपतपःसमाधिशीलगुणसंपन्नरुं। निखिलनरपतिहृदयाकर्षणनयतररसभावालंकृतिभूषाभूषितगद्यपद्यकाव्यव्याख्यादक्षग्र-शेमुषीनिषितसकलविद्वज्जाहंकाररुं। भगवदर्हत्परमेश्वरमुखकमलविनिर्गतसदसदाद्य-नेकान्तात्मकप्रसिद्धराद्धान्तजीवादितत्त्वार्थश्रद्धानविशदीकृतसुधासारसदृशधिषणावदी-रितपुरुहूतपुरोहितगर्वरुं। संगीतशास्त्रपयःपारावारपरिवर्धनहिमकररु। जनसंस्तू-यमानमाननीयतपोंगनालिंगितसर्वांगसौंदर्यरुं। महावाद-वादीश्वररायवादिपिता-महसकलविद्वज्जनचक्रवर्तिगळुमप्प श्रीसमंतभद्रदेवरु बिदिरेयश्रीचण्डोग्रपार्श्वतीर्थेश्वर-श्रीपादकमलंगळ त्रिकालदलु स्मरिसुव कालदल्लि, श्रीमन् महामंडलेश्वरअरिराय विभाढ भाषेगे तप्पुव रायरगड, समुद्रत्रयाधीश्वरनप्प श्रीप्रतापदेवरायमहारायनु विजयनगरियल्लि इह कालदोलु तुलुवदेशद पश्चिम समुद्रद समीपद बिदिरे एंब पट्टणदल्लि श्रीचण्डोग्रपार्श्वतीर्थेश्वरर सुवर्णकलशालंकृतमप्प चैत्यालयदल्लि आहार-भ-यभैषज्यशास्त्रदानदत्तावधानरुं, खण्डस्फुटितजीर्णजिनचैत्यचैत्यालयोद्धारदक्षरुं, श्रीजिनगंधोदकबिंदुपवित्रीकृतोत्तमागरु सम्यक्त्वाद्यनेकगुणगणालंकृतरुमप्प बिदिरेय समस्तहलरु बरसि कोट्ट "विश्वतत्त्वप्रकाशिका" महापुस्तकक्के महामंगलं अस्तु ॥

परिशिष्ट

१. ग्रन्थकार कृत पद्य तथा उद्धरण सूची

	पृष्ठ
अकर्ता निर्गुणः शुद्धः (उद्धृत-न्यायकुमुदचन्द्र पृ. ११२) ...	२८२
अकुर्वन् विहित कर्म (मनुस्मृति ११-४४) ...	२५७, २५९
अग्निहोत्र जुहुयात् स्वर्गकामः (मैत्रायण्युपनिषत् ६-३६) ...	५८
अङ्गिरसो वै सत्रमासत ( )	९०
अज्ञो जन्तुरनीशोऽयम् (महाभारत-वनपर्व ३०-२८) ...	१९७
अत एव हि विद्वत्सु (उद्धृत-स्याद्वादमंजरीपद्य २९) ...	१९२
अतीतानागतौ कालौ (तत्त्वसंग्रह पृ. ६४३)	४१, ७७
अदृष्टेन विशिष्टं यद् (ग्रं.)*	१९०
अनन्तरं तु वक्त्रेभ्यः (मत्स्यपुराण १४५-५८)	९५
अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति (मुण्डकोपनिषत् ३-१-१) ...	२८, ४०, १६४, १८८
अन्तःकरणमेवैतत् (ग्रं.)	१९०
अन्तःकरणं विमतम् (ग्रं.)	१९१
अन्धो मणिमविन्धत् (तैत्तिरीयारण्यक १-११-५) ...	८५
अन्यथेयमनालम्बा (ग्रं.)	२९९
अन्योत्पन्नप्रमातारम् (ग्रं.)	१९०
अपाणिपादो जवनो ग्रहीता (श्वेताश्वतरोपनिषत् ३-१९) ...	९५
अप्रामाण्य परतो दोषवशात् ( )	१०१
अयुतसिद्धानाम् (प्रशस्तपादभाष्य पृ. ५८)	२१६
अर्थेनैव विशेषो हि ( )	२९९
अलाबूनि मज्जन्ति ग्रावाणः प्लवन्ते ( ) ...	८५, ९५
असदकरणात् (साख्यकारिका का. ९)	२७१
असरीरा जीवघणा (तत्त्वसार, सिद्धभक्ति)	१५
आकाशं द्वौ निरोधौ च ( )	२८५

* ग्रं. = ग्रन्थकारकृत पद्य.

पृष्ठ

आत्मन आकाशः सम्भूतः (तैत्तिरीयोपनिषत् (२।१।१) ... ८५, ९५, १४७, १५१, १८०
आत्मनो वै शरीराणि (उद्धृत-न्यायसार पृ. ९०) ... २३६
आत्मशरीरेन्द्रियार्थ (न्यायसूत्र १।१।९) २४५
आहुर्विधातृ प्रत्यक्षम् (ब्रह्मसिद्धि २-१) १५९
उत्ताना वै देवगवा (आपस्तम्ब श्रौतसूत्र ११-७-६) ... ८५, ९५
उभे सत्ये समाश्रित्य (माध्यमिक कारिका २४-८) ... ३०३
उर्णनाम इवांशूनाम् (उद्धृत-प्रमेयकमलमार्तण्ड पृ. ६५) ... १४७
एक एव हि भूतात्मा (अमृतबिन्दूपनिषत् का. १२) ... १६६
एकदेशेन सम्बन्धे ( ) २९३
एवं परोक्तसिद्धान्ताः (ग्रं.) ३०६
एष वन्ध्यासुतो याति ( ) २३४
कथं धर्माद्यनुष्ठाने (ग्रं.) १९०
कर्ता यः कर्मणां भोक्ता (स्वरूपसम्बोधन का. १०) ... ९
कामशोकभयोन्माद (प्रमाणवार्तिक ३-२८३) २३३
कारीरीं निर्वपेद् वृष्टिकामः ( ) ५८, २४४
कार्योपाधिरयं जीवः (शुकरहस्योपनिषत् ३-१२)... ... १८२
कुर्वन्नात्मस्वरूपज्ञः ( ) २३६
गृहीत्वा वस्तुसद्भावम् (मीमासा श्लोकवार्तिक पृ. ४८२) ... २९
चन्द्रमा मनसो जातः (ऋग्वेद १०-९०-१२) ... ८३
चार्वाकवेदान्तिकयौग (ग्रं.) ३०६
चोदनाजनिता बुद्धिः (मीमासाश्लोकवार्तिक पृ. १०२) ... ८४
जलबुद्बुदवदनित्या जीवाः ( ) १
जातिक्रियागुणद्रव्य ( ) २९४, २९८
जीवस्तथा निर्वृतिमभ्युपैति (सौन्दरनन्द १६-२९) ... ३०३
ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामः ( ) ५८, २४४, २५७, २५९, ७१
ततो देहान्तरप्राप्तिः (ग्रं.) १८९

	पृष्ठ
ततो वेदान्तपक्षेण (ग्रं.)...	१९२
ततः स्वर्गापवर्गाप्तिः (ग्रं.)	१९१
तथा क्षेत्रज्ञभेदोऽपि (ग्रं.)	१९२
तद्गुणैरपकृष्टानाम् (मीमांसाश्लोकवार्तिक पृ. ६५) ...	२०१
तरति शोकं तरति पाप्मानम् ( )	१७, २५८
तस्माच्च विपर्यासात् (साख्यकारिका १९)	२८२
तस्मात् तपसेपानात् ( )...	७८, ७९
तस्मादात्मन आकाशः (तैत्तिरीयोपनिषत् २-१-१) ...	८२
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति (कठोपनिषद् ५-१५)	२८, ४०, १४५
त्रिगुणमविवेकि विषयः (सांख्यकारिका ११)	२८२
दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतः (सौन्दरनन्द १६-२८) ...	३०३
दुःखजन्मप्रवृत्ति (न्यायसूत्र १।१।२)	२३५
दुःखत्रयाभिघातात् (सांख्यकारिका २)	२८०
दृष्टवदानुश्रविकः (साख्यकारिका २)	२८०
देहकार्यो जीवः ( )	८, १७
देहगुणो जीवः ( )	८, १८
देहात्मको जीवः ( )	८, १५
देहात्मिका देहकार्या (उद्धृत-प्रमाणवार्तिकभाष्य पृ.५३) ...	७, १९
द्रव्यं गुणः क्रिया जातिः (उद्धृत-सत्यशासनपरीक्षा) ...	२५४
द्रष्टव्योऽरेऽयमात्मा (बृहदारण्यकोपनिषत् ४-५-६) ...	१५५
द्वा सुपर्णा सयुजा (मुण्डकोपनिषत् ३-१-१)	१८१
धर्मज्ञत्वनिषेधस्तु (तत्त्वसंग्रह का. ३१२८)	३८
धर्मेण गमनमूर्ध्वम् (साख्यकारिका ४४)	२८५
ध्रुवा द्यौर्ध्रुवा पृथिवी (ऋग्वेद १०-१७३-४, ५) ...	८१
न वीतमन्तःकरणम् (ग्रं.)	१९१
नाभुक्तं क्षीयते कर्म (उद्धृत-व्योमवती पृ. २०) ...	२३६
नारायणं प्रविशतीत्याह ( )	७६
नित्यद्रव्यवृत्तयोऽन्त्याः (प्रशस्तपाद भाष्य पृ. ५५) ...	२३४

पृष्ठ

नित्यं ज्ञानमानन्द ब्रह्म ( ) ७६, १४९, १८५, १८८
निरस्यन्ती परस्यार्थम् ( )... ... ... १६१
निर्वाणेऽपि परिप्राप्ते (उद्धृत-न्यायकुमुदचन्द्र पृ. ५) ... २०३
नेह नानास्ति किंचन (बृहदारण्यकोपनिषत् ४-४-१९) ... १५४
न्यायार्जितधनः (याज्ञवल्क्यस्मृति ३-४-२०५) ... २५८
पिटकाध्ययन सर्वम् (स्याद्वादसिद्धि १०-३०) ... ७५
पुत्रकाम्येष्ट्या पुत्रकामः ( ) ... ५८; २४४
पुराकल्पे देवासुराः ( ) ... ८९
पुराणन्यायमीमांसा (याज्ञवल्क्यस्मृति १-१-३)... ... १०१
पुरुष एवेदं सर्वम् (ऋग्वेद १०-९०-२) १४६, १४९
प्रकृतेर्महान् (साख्यकारिका २२) ८३, २६१
प्रजापतिर्वा इदमेकः ( ) ७७
प्रमातॄणा विनाशित्वात् (ग्रं.) १९१
प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः (न्यायसूत्र १।२।१) २४७
प्रमाणपञ्चकं यत्र (मीमांसाश्लोकवार्तिक पृ. ४७३) ... ३०
प्रमाणप्रमेयसंशय (न्यायसूत्र १।१।१) २३९
प्रमाणमनुभूतिः सा (प्रकरणपञ्चिका ६-२) ८०
प्रमाणं प्रमितिर्मेयं (ग्रं.) १८४
प्रयत्नादात्मनो वायुः (समाधितन्त्र १०३) २३८
प्रविशद्गलता व्यूहे (समाधितन्त्र ६९) ६५
बहिःप्रमेयापेक्षायाम् (आप्तमीमांसा ८३) ११४, ११९
ब्रह्मचारी गृहस्थश्च ( )... ... ... २६०
ब्रह्मणे ब्राह्मणमालभेत (तैत्तिरीय ब्राह्मण ३-४-१-१) ... ९८
ब्राह्मणायावगुरेत् तं शतेन ( ) ५९
ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत् (ऋग्वेद १०-९०-११) ... ८३
ब्राह्ममेव परं ज्योतिः ( ) १६६
भावप्रमेयापेक्षायाम् (आप्तमीमांसा ८३) ११३
भुञ्जीत विषयान् कैश्चित् (उद्धृत-न्यायसार पृ. ९०) ... २३६

पृष्ठ

भेदाना परिमाणात् (साख्यकारिका १५) २६७

मनसो युगपदवृत्तेः (प्रमाणवार्तिक २-१३३) ३००

मानान्तरप्रमेयत्वे ( ) ७८

मूलप्रकृतिरविकृतिः (साख्यकारिका ३) २६३

मोक्षार्थी न प्रवर्तेत ( ) २५८

यतो वाचो निवर्तन्ते (तैत्तिरीयोपनिषत् २-४-५) ... १८६

यत्रैव जनयेदेनाम् (दिङ्नाग अथवा धर्मोत्तर) ३०१

यथोक्तोपपन्नश्छल (न्यायसूत्र १।२।२) २४८

यदहरेव विरजेत् ( ) २६०

यदि षड्भिः प्रमाणैः स्यात् (मीमासाश्लोकवार्तिक पृ. ७९)... ३५

यदेवार्थक्रियाकारि (उद्धृत-न्यायकुमुदचन्द्र पृ. ३८२) ...२८६, २८८

यस्मिन् देशे नोष्णं न क्षुत् ( ) ८९, २५९

यावत्तु बाध्यते तावत् ( )... ... ... १३७

यो यत्रैव स तत्रैव (उद्धृत-स्याद्वादमजरी पृ. ३३) ... २८८

यः कर्ता पुण्यपापस्य ( )... ... ... १९०

यः सर्वाणि चराचराणि (उद्धृत-पञ्चास्तिकायतात्पर्यटीका गा. १२९) २४, ३०, ६८

रूपैः सप्तभिरेव तु (साख्यकारिका ६३) २८०

वत्सविवृद्धिनिमित्तं (साख्यकारिका ५७) २८०

विभुविशेषगुणानाम् ( ) १९८

विविक्ते दृक्परिणतौ (आसुरि) २८३

विशेषणं विशेष्यं च (प्रमाणवार्तिक ३-१४५)... ... २३१

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखः (श्वेताश्वतरोपनिषत् ३-३) ... ८३, ९९

वीतो देशो न यात्येव (ग्र.) १८९

वेदस्याध्ययनं सर्वम् (मीमासाश्लोकवार्तिक पृ. ९४९) ... ४१, ७४

व्यावर्तक हि यद् यस्य ( ) ८७

शब्दे दोषोद्भवस्तावत् (मीमासाश्लोकवार्तिक पृ. ६५) ... १०१

शान्तो दान्त उपरतः (सुबालोपनिषत् ९-१४)... ... १५६

पृष्ठ

श्येनेनाभिचरन् यजेत (   ) २५७
श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यः (उद्धृत-न्यायसार पृ. ८३) ... १५६
श्वेतमजमालभेत (   ) १८
षट्केन युगपद् योगात् (विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि १२) ... २९५
षण्णामाश्रितत्वम् (प्रशस्तपादभाष्य पृ. १६) ६४, १७७
स एव प्रतिपक्षस्थापनाहीनः (न्यायसूत्र १।२।३) ... २४८
सति चैव प्रपञ्चोपि (ग्रं.) १३८, १४५
सत्त्वं लघु प्रकाशकम् (सांख्यकारिका १३) २६१
सत्त्वेन बाध्यते तावत् (   ) १३७
समयबलेन (न्यायसार पृ. ६६) २४४
सम्यगनुभवसाधनम् (न्यायसार पृ. १) २३९
सम्यगपरोक्षानुभवसाधनम् (न्यायसार पृ. ७) ...२४०, २४१
सर्वप्रत्ययवेद्ये वा (ब्रह्मसिद्धि ४-३) १४९, १५०
सर्वप्रमातृसम्बन्धि (तत्त्वसंग्रह का. ३१४२) ३९
सर्वं वै खल्विद ब्रह्म (छान्दोग्योपनिषत् ३-१४-१) ८२, १४६, १४९
सवत्सा रोमतुल्यानि (याज्ञवल्क्यस्मृति १-९-२०६) ... ५८
सहस्रशीर्षा पुरुषः (ऋग्वेद् १०-९०-१) ९५
साक्षी चेता केवलः (श्वेताश्वतरोपनिषत् ६-११) १७१, १७३, १८८
सामानाधिकरण्यस्य (   ) १३१
सितासिते सरिते (   ) २५९
सिद्धे प्रत्यक्षादिबाधिते (परीक्षामुख ३-३५) ३
सुपर्णं विप्राः कवयः (ऋग्वेद १०-११४-५) १८३
सुप्तिङन्तचयो वाक्यम् (अमरकोश १-६-२) ८६
सुवर्णमेकं गामेकाम् (   ) ५८
संसर्गः सुखदुःखे च (   ) २३७
स्थाणुरयं भारहारः (निरुक्त १-१८) ९७
स्पर्शनादीन्द्रियं धर्मि (ग्रं.) १९१
स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः (तत्त्वार्थसूत्र ५-२३) ... २२२
हिदि होदि हु दव्वमणं (गोम्मटसार जीवकाण्ड ४४३) ... २०५
हेतुमदनित्यमव्यापि (सांख्यकारिका १०) ... २८१

२. मूलग्रन्थगत विशेषनामसूची

	पृष्ठ
अविद्धकर्ण	८
अश्वत्थामा	९७, ९८
अष्टक	७४
आचार्यवर्य (समन्तभद्र)	११९, १२०
आदिभरत	२५९
आपस्तम्ब	७५, ७६
आश्वलायन	७६
इष्टसिद्धि	१३८
उद्भट	८
कथाविचार	९३, २४३, २४८
काण्व	७५, ७६
कादम्बरी	७, ७२, ८६, ८९, ९०
गंगा	१५७
चाणक्य	९०
चित्रलेखा	९०
जनक	९०
जनमेजय	९०
जैमिनि	७१
तुङ्गभद्रा	१५७
तुरुष्कशास्त्र	८०, ९८
दशरथ	२९८
ध्रुवतारा	१२
निरुक्त	९७
पराशर	१५६, १५७
पिटकत्रय	७२, ७५, ८८
पुरन्दर	८
प्रभाकर	१३३, २५६
बुद्ध	६८
बौधायन	७५, ७६
ब्रह्मसिद्धि	१५१
भट्टि	९०
भारत	७६, ८९, ९१
मेरु	२२०
याज्ञवल्क्य	७६, १०१
राम	२२०
वामदेव	१५६, १५७
विन्ध्य	२२०
विश्वामित्र	९०
व्यास	७६, १५६, १५७
व्योमशिव	२३३
शंखचक्रवर्ति	२२०
शालिका	८०
शुक	१५६, १५७
समन्तभद्र	११३
सुरगुरु	७१
हिमवत्	१५७

३. मूलग्रन्थगत वादिनामसूची

अद्वैती ९५, १६०

आर्ष ३०६

चार्वाक १,२,९,१०, ११, २३, ३७, ३८,६८,६९,१०९,१३४,३०६

जैन ३, २३, ४७, ६३, ९२, १९६, २०१, २६०, ३०१

निरीश्वरसांख्य ८१, ८३, २६२

नैयायिक ८१, ८२, ८५, ९२, ९४, ९५, १०५, ११२, १९२, २०३, २३९, २४५, २४९, २५१, २५२

प्राभाकर ३४, ८१, ९३, १२४, १३३, २१४, २१५, २५४, २५५, २५८, २६०, ३०६

बौद्ध १०४, ३०६

भाट्ट ८१, ९३, ११३, २००, २५२, २५८, ३०६

भास्करीय ८१, ८२, १३६

माध्यमिक ११५, २९९

मायावादी ४७, ८२, १३८, १४५, १४९

मीमांसक २५, २९, ३८, ४८, ५८, ७०, ७१, ७२, ७४, ७५, ७९, ८४, ८५, ९४, ९९, १०९, २६१

योगाचार १२०, २९०

योग ४२, ४७, ५७, ३०६

लोकायत ९, २३, ७१

वेदान्ती ८५, १४३, १७९, १९२, ३०६

वैभाषिक २८६, २८७, २८८

वैशेषिक ६०, ८१, ८२, ८३, ९५, ११२, २३५, २३७, २३९, २४५, २५२, २९५

व्याकरीय ८१, ८२

शून्यवादी १४९

सांख्य ८१, १११, १३५, १३६, २६३, २६४, २७२, २८०, २८४, २८५

सेश्वरसांख्य ८१, ८३, २६२

सौगत ७३, २८७, २९८, ३०१, ३०३

सौत्रांतिक १२३, २८७, २७८

स्वयूथ्य २७६, २८०

प्रस्तावनासंदर्भसूची

अकबर ९७
अकबरशाहिशृंगारदर्पण ९८
अकलूज ६९, ९९
अकलंक २, ५, १७, २०, ३३, ३५, ३६, ३९, ४०, ४८, ५२-५९, ६६, ६८, ६९, ७३, ७४, ७६-७८, ८०, ८८, ८९, १०३, ११०
अक्षयतृतीयाकथा १०४
अजितकेशकंबली २५
अजितसिंह ८७
अजितसेन ६५, ८३, ८८
अजितयशस् ५०-५२
अणहिल्लपुर ८१
अण्णिगेरे ७३
अध्यात्मकमलमार्तंड ९८, ९९
अध्यात्ममतपरीक्षा १०२
अध्यात्मरहस्य ९०
अध्यात्मसार १०२
अध्यात्मोपदेश १०२
अध्यात्मोपनिषद् १०२
अनगारधर्मामृत ८९
अनर्घराघवटिप्पन ९१
अनिट्कारिका ९८
अनुयोगद्वार २८, ३०, ६३
अनुशासनांकुश ८४
अनेकार्थसंग्रह ८५
अनेकांतजयपताका ५१, ५५, ६०, ८३
अनेकांतवादप्रवेश ६१
अनेकांतव्यवस्था १०१
अनेकांतसिद्धि ६२
अनंतकीर्ति ७५, ८२, ३८
अनंतकीर्तिग्रंथमाला ३६, ८३
अनंतपुर १, ३१
अनंतवीर्य १८, ५८, ५९, ७४-७७, ८२, ८३, ८८
अनंतसेन १०३
अन्नंभट्ट १०४
अन्ययोगव्यवच्छेदिका ८५, ९१
अपराजित २८, ६३, ६४
अपौरुषेयवेदनिराकरण ८६
अभयचंद्र ५७, ८९
अभयतिलक ९१
अभयदेव ४२, ४३, ४४, ६३, ७७, ८०, ८२, १०५, १०६
अभयनंदि ४९
अभिधानचिंतामणि ८५
अमरकीर्ति ७०
अमरकोषटीका ९०
अमरापुर १, २
अमितगति १०६
अमृतचंद्र ९९
अमृतधर्म १०४
अमृतबिंदुउपनिषद् १९
अमोघवर्ष ६८
अमोघवृत्ति ६८
अयोगव्यवच्छेदिका ८५

अरिकेसरी ७६
अरिष्टनेमि २
अर्कगळअन्वय ७६,७८
अर्जुनवर्मा ८९
अर्थप्रकाशिका ८२,८८
अर्हन्नमस्कारस्तोत्र ९७
अर्हच्चूडामणि ६३
अलाउद्दीन ७
अलंकारचूडामणिटीका १०२
अविद्धकर्ण १९,२०
अश्वसेन २३
अश्वघोष २०
अष्टक १३
अष्टकप्रकरण ६३,८२,१०५
अष्टप्राभृत २२
अष्टशती २१,२६,५६,६९
अष्टसहस्री २४,२६,५७,६६,६९,
७०,७२,९०,१०१
अष्टांगहृदयटीका ९०
अस्तिनास्तिप्रवाद २७
अस्पृशद्गतिवाद १०२
अहिंसा ग्रंथमाला ८८
अहमदाबाद ४४,७८,८२,१०१,
१०२
आगमोदय समिति ९२
आगरा ९८
आचारांग ३०
आजीविक २७–३०
आत्मप्रवाद २७
आत्मसिद्धि ६२
आत्मानुशासन ७०
आत्मानंद सभा ६२,६३
आदिपुराण ४७,१०८
आध्यात्मिकमतदलन १०२,१०६
आनंदमेरु ९७
आनंदविमल ९८
आन्वीक्षिकी २४
आन्ध्र १,२,३१
आपस्तंबश्रौतसूत्र १८
आप्तपरीक्षा १८,३९,७०–७२,७४
आप्तमीमांसा १७,२४–२६,३८–४०,
५२,५६,६६,६८,६९,७१
आम्रेश्वर ६३
आरा ९७
आराधकविराधकचतुर्भंगी १०२
आराधना ९०
आराधनाकथाकोष ५४
आराधनासार ८१
आर्यसमाज १०७
आर्हतप्रभाकर कार्यालय ८५,९२
आलापपद्धति ८१
आल्सडोर्फ ५
आवश्यक ३०,६३
आवश्यकसप्तति ८४
आशाधर ८९,९०
आश्वलायन १८
इरुगप्प ९३
इल्तुतमश ७
इष्टसिद्धि ६,१९
इष्टोपदेश ४७,९०
इंदुदूत ९७
इंद्रदिन्न २८
इंद्रनंदि २८,९६
इंद्रलाल २७,७०,७१

ईडर १०
ईशानुग्रहविचार ८७
ईश्वरकृष्ण १९
उग्रादित्य ५३
उच्चैर्नागर ३२
उज्जयिनी ४१
उटकमंड १,७
उत्तराध्ययन ३०,१००,१०५
उत्पादादिसिद्धि ८६
उदयप्रभ ९१
उदयन ९१
उद्भट १९
उद्योतकर ९१
उद्योतदीपिका ६०
उद्योतन६०
उपदेशपद ६३,८४
उपदेशमाला ७४,८७
उपदेशरहस्य १०२
उपदेशामृत ८४
उपसर्गहरस्तोत्र ८४
उपमितिभवप्रपंचा ६०,७४
उपाध्ये ५,८, २९, ३१, ४४, ८८, ११२
उपासकाचार १०६
उपासकदशांग ३०
उपासकाध्ययन ६८
उमरावसिंह ७१
उमास्वाति ८, १७, ३१ –३४,४१, ४८,६२
उरगपुर ३४
ऋग्वेद १८
ऋषभदेव केसरीमल संस्था ६२,८६
ऋषिभाषित ३०
एकीभावस्तोत्र ७८
ओघनिर्युक्ति ६३,९४
ओडयदेव ६५
औपपातिकसूत्र २८
औष्ट्रिकमतोत्सूत्रदीपिका १०६
अंगपण्णत्ती ९७
अंगुलसप्तति ८४
अंचलगच्छ ९४
अंचलमतदलन १०६
अंतरिक्षपार्श्वनाथ ७०
कठोपनिषद् १८
कथाकोष ३४
कथाकोषप्रकरण ८२
कथारत्नसार ९१
कथावली ४१,५०,५९
कथाविचार २,४,९०
कनोडु १००
कनौज ७६
करकंडुचरित ९७
कर्णाटक ३
कर्मदहनविधान ९७
कर्मप्रकृति ८४,१०२
कऱ्हाड ३
कलकत्ता ४६, ४८, ५६, ६१, ७४, ८३, ८५, ९३, ९६
कलिंग ५४
कलोल १००
कल्पसूत्र ९७,१००
कल्पांतर्वाच्य ९४
कल्याण ७८
कल्याणकारक ५३

कल्याणमदिर ४१
कषायप्राभृत २८,३८
कंभदेव ६७
कंस २८
काण्व १३,१८
कातंत्ररूपमाला १,२,५,६,९०
कातंत्रव्याकरणवृत्ति ९४
कापडिया ६०,६१,१०९
कामताप्रसाद ७२
कारजा १,९,९४,९९
कारुण्यकलिका ९४
कार्तिकेयानुप्रेक्षाटीका ९७
कालशतक ८४
काव्यकल्पलतावृत्ति १००
काव्यप्रकाश ८,१०२
काव्यानुशासन ८५
काशी २२, ३६, ३७,४४,४८,५३,
५६,५७,५८,६१,६२,७१,७२,
७४,७७–७९,८१ – ८४, ९१,
९२,९४,१०१,१०३, ८७, ८८
काष्ठासंघ ९८
कांजीवरम् १०३
कीर्तिचंद्र १०४
कीर्तिविजय ९७
कुतर्कग्रहनिवृत्ति ८७
कुमारगुप्त ४९
कुमारनंदि ६६–६७
कुमारपाल ८४–८६
कुमारपालचरित ९३
कुमारपालप्रबंध ९२
कुमारविहारशतक ८७
कुमारसेन ४९,६६,६९
कुमारिल १९,७५
कुमुदचंद्र ९,४१,८४
कुलभूषण ६७,७९
कुवलयमाला ६०
कुसुमपुर ३२
कुंथुसागर ग्रंथमाला ६९
कुंदकुंद ३१–३३,४१,६७
कूपदृष्टान्त १०२
कृष्ण ८१
कृष्णर्षिगच्छ ९३
केकडी ९२
केवलिभुक्तिप्रकरण ६७
केशवमिश्र ७
केशवाचार्य ८८
केशीकुमारश्रमण २४,३०
कैलाशचद्र ३१, ३३, ५७, ७९, ८०
कोल्हापुर ४८,९४
कोंडकुंदेय अन्वय ६७
कौतुककथा ९२
कौभीषणि ३२
कौमारव्याकरण ५
कौमुदीमित्रानंद ८७
कौंदेय ६९
क्रियाकलापटीका ९०
क्रियारत्नसमुच्चय ९४
क्षत्रचूडामणि ६५
क्षत्रिय २८
क्षत्रियकुंडग्राम २४
क्षमाकल्याण १०४
क्षेत्रसमास ६३,९४
क्षेमकीर्ति ९८
क्षेमचंद्र ९६

क्षेमेंद्र ८
खरतरगच्छ ८१,१०४
खूबचंद ७९,९४
खंडनमंडनटिप्पण ८७
गणधरवलयपूजा ९७
गजाधरलाल ३६,५६,५७,७१, ७२, ७४,१०८
गच्छाचारपयन्ना ९८
गद्यकथाकोष ५४,७९
गद्यचिंतामणि ६५
गाथाकोष ८४
गायकवाड ओरिएंटल सीरीज५१,६१, ६२, ९५
गावरवाड ७३
गांधी ला. भ. ५१
गांधी हि. गौ. ५३,७०
गुजरातपुरातत्त्वमंदिर ४४,७८
गुणकीर्ति ३
गुणचंद्र ९३
गुणरत्न ६२,९४,१०४
गुणवर्मा ३८
गुणविनय १०६
गुरुतत्त्वविनिश्चय १०२
गृद्धपिच्छ ३२
गै ७
गोडीजैन उपाश्रय ६१
गोपनंदि ७९
गोपसेन ३
गोपाल ग्रंथमाला ९९
गोपालदास १०७
गोमटसार १८
गोवर्धन २८
गोस्वामी ६२,९१
गौतम २६,२८
गौडसंघ ७६
गंगराजा ४९,६७,७२,७३
गंगदेव २८
गंधहस्तिमहाभाष्य ३६,३८
गंभीरविजय ९७, १०८
ग्रहलाघववार्तिक १०३
ग्वालियर ३
घटकर्पर ८२
घोषनंदि ३२
घोषाल ७४,१०८
चतुरविजय ३१,५१,१०८
चतुर्मुखदेव ७९
चतुर्विंशतिजिनस्तवन ९१
चतुःशरण २८
चरस्थावर ९७
चामुंडराय ३८
चारित्रशुद्धिविधान ९७
चारुकीर्ति १०,७४,८८
चालुक्य ७६,७८
चिंतामणि पूजा ९७
चिंतामणिसर्वतोभद्र व्याकरण ९७
चुन्नीलाल ग्रंथमाला ५३
चूलिका २६
चैत्यवंदन ६३,८२,८४
चौधरी ८१
चौखंबासंस्कृतसीरीज ६२,९१
चंदनाकथा ९७
चंद्र २८
चंद्रकुल ७७,८१
चंद्रगुप्त ३०

चंद्रगुप्तविक्रमादित्य ४४
चंद्रकेवलीचरित्र ७४
चंद्रदूत ८२
चंद्रनंदि ६७
चंद्रनाथचरित ९७
चंद्रप्रभ ८२
चंद्रप्रभचरित १०५
चंद्रसेन ८२,८६
चंद्रोदय ६६,७९
चंपकमालाचरित १००
छत्रसेन १
छंदोनुशासन ८५
छंदःशास्त्र ४७
छंदश्चूडामणि १०२
छांदोग्योपनिषत् १८
जगदीशचंद्र ९२
जगदेकमल्ल ७८
जगद्गुरुकाव्यसंग्रह १००
जगन्नाथ १०६
जगद्रूपसहाय ४८
जय २८
जयचंद्र ३६,४८,८३,१०७
जयतुर ९
जयधवला ४९
जयपाल २८
जयपुर १,५
जयसिंह ७८,७९,९३
जयसेन ६७,३
जल्पकल्पलता ९५
जल्पनिर्णय ४७
जल्पमंजरी ९५
जल्पसंग्रह १००
जवाहरलाल ९१
जामनगर ९२,९९
जिनचंद्र ८१
जिनदत्त ९९
जिनदास ४३,५३
जिनपति १०६
जिनप्रभ ९१, १०६
जिनभट ५९
जिनभद्र ४३, ५९, १०५
जिनयज्ञकल्प ९०
जिनविजय ६०
जिनसहस्रनाम ९७
जिनसूर ९५
जिनसेन ३७, ४९, ५०, ६५, १०५
जिनस्तुतिशतक ३४, ३५
जिनहर्ष ९५
जिनानंद ५०
जिनेंद्रगुणसंस्तुति ५२
जिनेंद्रबुद्धि ४७
जिनेश्वर ८१, ८२, ९१, ४६
जिंतुर ९
जीतकल्पचूर्णि ८४
जीवसिद्धि ३५, ३७, ३८, ७५
जीवाभिगमसूत्र ६३
जीवंधरचरित ९७
जैकोबी १०८
जैन, हीरालाल ४, ४१, ४४, ११२
जैनग्रंथरत्नाकर ९४, ३६
जैनतर्कभाषा १००, १०३
जैनतर्कवार्तिक ८२
जैनधर्म प्रसारक-सभा ४५, ४६, ६१, ६२, ८३, ९५, १०१

जैनमंडन ९९
जैनसप्तपदार्थी १०३
जैनाभिषेकपाठ ४७
जैनेंद्रमहावृत्ति ४९
जैनेंद्रव्याकरण ३९, ४०, ४७, ७९
जोधपुर ९७
जंबू २८
जंबूचरित ९८
जंबूस्वामिचरित ९८
ज्ञानचंद्र ८७, ९३
ज्ञानपंचकव्याख्यान ६३
ज्ञानप्रवाद २७, ५०
ज्ञानबिंदु १०१
ज्ञानसार १०२
ज्ञानानंद ८८
ज्ञानार्णव १०२
ज्योतिःसार ९१
ज्वालाप्रसाद १०९
झालरापाटन १०
टोडर ९८
टोडरमल १०७
टोमस ९२,१०८
डभोई १००
ढुंढिकमतखंडन १०६
तत्त्वबोधविधायिनी ७७
तत्त्वविवेचकसभा ८२
तत्त्वसार १८, ८१
तत्त्वसंग्रह १९,२०,३९,५२,६४
तत्त्वार्थसूत्र ८,१७,३२,३४,३८,४७,
४८,५६,६२,६९,७०
तत्त्वार्थवार्तिक २३,२६,४८,५६
तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक ४७,५६,६६,६९,
७०,७२
तत्त्वालोकविवरण १०२
तपागच्छ ९३–१००,१०२,१०४
तपोटमतकुट्टन १०६
तर्कपंचानन ७७
तर्कफक्किका १०४
तर्कभाषा ७,१००,१०४
तर्करहस्यदीपिका ९४
तर्कसंग्रह १०४
तिलकमंजरी ८२,१००
तीसचौवीसीपूजा ९७
तुरुष्कशास्त्र ७,१३
तुंगिया २४
तुंबुलूर ४९
तैत्तिरीय आरण्यक १८
तैत्तिरीय उपनिषद् १८
तंजानगर १०३
तंदुलवेयालिय ९८
त्रिपिटक १३,१८
त्रिभुवनकीर्ति ९६
त्रिभुवनचद्र ७३
त्रिलक्षणकदर्थन ५२
त्रिषष्टिशलाकाचरित ८५
त्रिषष्टिस्मृतिशास्त्र ९०
त्रिसूत्र्यालोक १०२
त्रैराशिक २७
त्रैलोक्यदीपिका ७८
त्रैविद्य १,२,३
दक्षिणमथुरा ४८
दयापाल ७८

दरबारीलाल ३९, ४१,६४,६५,७१, ७२,७४,९४,१०३,१०८,१०९
दर्शनबुद्धि ८३
दर्शनरत्नाकर ९६
दर्शनविजय १०४
दर्शनसप्तति ६३
दर्शनसार ४८–५०,८०,८१
दशभक्ति ३२,४७
दशवैकालिक २८,३०,३१,६३
दशाश्रुतस्कंध ३०
दासगुप्त १०९
दिग्नाग ४१,६२,६५,८४
दिन्न २८
दिल्ली ३६,३७,७१,९४,१०७
दिवाकर ४२
दुर्गस्वामी ७४
दुर्लभदेवी ५०
दुर्लभराज ८१
दुर्विनीत ४९
दृष्टिप्रबोधद्वात्रिंशिका ४५
दृष्टिवाद २६,२८
देवकीनंदन ९९
देवचंद्र ८५
देवचंद लालभाई पु. फंड ६१,९५, १००
देवधर्मपरीक्षा १०२
देवनंदि ४७,४९
देवप्रभ ९०,९१
देवभद्र ४६,८२,८६,८७
देवराय १०,९३
देवर्धि २७,३४
देवसुंदर ९४
देवसूरि २०,७०,८२–८५,८७,९५, ११०
देवसेन १८,८०,८१
देवागमस्तोत्र ३५,६८
देवेंद्रकर्मग्रंथ ९४
देवेंद्रकीर्ति ४,१०,११२
देवेंद्रनरेंद्रप्रकरण ८४
देशीगण ७९,८८
देशीनाममाला ८५
देसाई ९७,१०९
दोशी स.ने. ३७
दोशी हि.ने. ३६
दंतिदुर्ग ५५
द्रव्यपर्याययुक्ति १०१
द्रव्यस्वभावप्रकाश ८१
द्रव्यानुयोगतर्कणा १०४
द्रव्यालोकविवरण १०२
द्रव्यालंकार ८६
द्राविड संघ ४८,४९,७६,७८
द्वात्रिंशिका ४०,४२–४६,८७,१०१
द्वादशवर्ग ८४
द्वादशानुप्रेक्षा ३२
द्विवेदी ६१
द्वेष्यश्वेतपट ४४
द्व्याश्रय ८५,९१,९२
धनेश्वर ७७
धर्मकीर्ति २०,३९,४६,५४,६०,६३, ६५,६७
धर्मपरीक्षा १००
धर्मबिंदु ६३,८४
धर्मभूषण ६,७,३८,९३,९४
धर्ममंजूषा १०६

धर्मरत्नाकर ३
धर्मलाभसिद्धि ६३
धर्मशर्माभ्युदय १०५
धर्मसागर ९९,१०६
धर्मसेन २८,१०३,३
धर्मसंग्रहटिप्पन १०२
धर्मसंग्रहणी ६३,१०५
धर्मानंद २३
धर्मामृतटीका ९७
धर्मोत्तर ६३
धवल ५०
धवला २६,४१,४८,६६
धातुपारायण ९४
धारा ७४,७९,८०,८९
धूर्जटि ३४,४१
धूर्ताख्यान ६३
धृतिषेण २८
ध्रुव ६२,९२,१०८
ध्रुवसेन २८
नक्षत्र २८
नमोत्थुणंस्तोत्रटीका ९४
नयकर्णिका ९७
नयकुंजर १०६
नयचक्र ५०,५१,५४,६३,८०,८१,
१०२
नयचक्रतुंब १०२
नयचंद्र ९३
नयतत्त्वप्रकाशिका १००
नयनंदि ७३,७९
नयप्रकाश ९९
नयप्रदीप १०१
नयरहस्य १०१
नयविजय १००
नयामृततरंगिणी १०१
नयोपदेश १०१,१०२
नरचंद्र ९०,९१
नरसिंहराजपुर ३
नरेंद्रकीर्ति २
नरेंद्रसेन १०३
नलकच्छपुर ८९
नलविलास ८६
नवतत्त्वअवचूरि ९४
नवस्तोत्र ५०
नागसेन २८
नागार्जुन २७,३४,४१,२०
नागेंद्रगच्छ ९१
नाट्यदर्पण ८६
नाथा रंगजी ६९,९९
निघंटुशेष ८५
निटवे ३६, ४८, ५७,७५,८८,९४,
१०८
नित्यमहोद्योत ९०
निमगाव ५३,७०
नियमसार ३२,८८
निरयावली ८४
निरुक्त १८
निर्णयसागर प्रेस ८०
निर्भयभीमव्यायोग ८६
निरुक्ति ३०,३१
निर्वाणलीलावती ८२
निशाभक्तप्रकरण १०२
निशीथचूर्णि ४३,५३-५५,८४
निश्चयद्वात्रिंशिका ४४
निष्कलंक ५४,५५

नीतिवाक्यामृत ७६
नीतिसार ४२
नेमिचन्द्र १८
नेमिदत्त ३४,५२,५४
नेमिदेव ७६
नेमिनाथचरित ८७
नैषधकाव्य ८४
नंदिमित्र २८
नंदिसंघ ७३,७६,७८
नंदीश्वरकथा ९७
नंदीसूत्र २८,३०,६०,६३,८४
न्यग्रोधिका ३२
न्यायकुमुदचन्द्र ५७,६६,७९,८०
न्यायकदली ९०,९२
न्यायखंडखाद्य १०१
न्यायतात्पर्यदीपिका ९३
न्यायदीपिका ६,७,९०,९३,९४
न्यायप्रवेश ६२,८४
न्यायबिंदु ६३
न्यायमणिदीपिका ८३,८८
न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका ७२,९१
न्यायविजय १०८
न्यायविनिश्चय ५२,५७,७८
न्यायसार ६,७,११,९३,१०४
न्यायसूर्यावली ५,९०
न्यायागमानुसारिणी ५४
न्यायालोक १०१
न्यायालंकार ९१
न्यायावतार ४२, ४४–४६, ६३, ५९, ७४, ८२, ८६
न्यायावतारवार्तिक ३०, ४६, ८२
पकुधकात्यायन २५
पत्रपरीक्षा ६७, ७१
पद्मचरित ५१
पद्मनाभ १११
पद्मनाभचरित ९७
पद्मनंदि ३१, ७९, ९८
पद्मपुराणसमीक्षा १०८
पद्मप्रभ ८८.
पद्ममेरु ९७
पद्मसागर ९९, १००
पद्मसुंदर ९७, ९८
पयन्ना अवचूरि ९४
परब्रह्मोत्थापन ९५
परमहंस ५९
परमात्मपंचविंशतिका १०२
परमात्मप्रकाश ८
परमाध्यात्मतरंगिणी ९७
परमानंद ८७
परमार ७७, ७९
परलोकसिद्धि ६२
परवादिमल्ल १११
पराशर १४
परिकर्म २६, ३१
परीक्षामुख १८, ७३, ७९, ८०, ८३, ८४, ८८, १०४
पर्युषणाष्टाह्निकाकल्प १०४
पल्योपमविधान ९७
पाटन ६, ४६, ६१
पाटनी ९२
पाटलिपुत्र २७, ३२
पाणिनि ४९
पात्रकेसरी १७, ३९, ४६, ५२, ५३
पार्श्वकीर्ति ९
पार्श्वचरित ६४, ७५, ७६, ७८, १०५

पार्श्वदेव ८४
पार्श्वनाथकाव्यपंजिका ९७
पाल्यकीर्ति ६७
पावापुर २४
पासावच्चिज्ज २४
पांडवपुराण ९६, ९७
पाडु २८
पिंगलछंद ९८
पिंडनिर्युक्ति ६३
पुरुषोत्तम ५४
पुरदर १९
पुष्पदंत ३१
पुष्पसेन ६५
पुंजाभाई ग्रंथमाला ४४
पूज्यपाद २, ८, १७, ३३, ३९, ४०, ४५, ४७-५०, ५६, ८०
पूरणकाश्यप २५
पूर्णतलगच्छ ८२, ८५
पूर्णिमागच्छ ९३, १०२
पूर्वगत २६, २७
पृथ्वीकोंगणि ६७
पोलासपुर ३०
पौर्णमिकगच्छ ८३
पंडितपत्र ८२
पंचप्रस्थन्यायतर्कव्याख्या ९१
पंचलिंगीप्रकरण ८२
पंचवस्तु ६३
पंचसुत्त ६३
पंचस्तवनावचूरि ९
पंचाध्यायी ९८, ९९, १०६
पंचाशक ६३
पंचास्तिकाय ६७, ३२
प्रकरणपञ्चिका १९
प्रज्ञाकर ७८
प्रज्ञापना ३०, ६३
प्रतिमाशतक १०२
प्रत्यक्षानुमानाधिक ८६
प्रथमानुयोग २६
प्रदेशी २४, ३०
प्रद्युम्न ७७, ८६, १०६
प्रद्युम्नचरित ९७
प्रबोध्यवादस्थल १०६
प्रबंधकोष ४१, ५०, ५९, ९२
प्रबधचिंतामणि ४१, ५०, ५९, ९४
प्रभव २८
प्रभाकर १९
प्रभाचंद्र १८, २०, ३४, ३७, ५०, ५१, ५२, ५४, ५७, ६६, ७४, ७६, ७९, ८०, ८३, ८५, ८९, १०३, १०६
प्रभावकचरित ४१, ५०, ५१, ५९, ६३, ७४, ११२
प्रमाणनयतत्त्वरहस्य ९४, ९५
प्रमाणनयतत्त्वालोक ८४, ८५, ८७
प्रमाणनिर्णय ७८, ८७
प्रमाणनौका १०४
प्रमाणपरीक्षा ६६, ७१, ७२
प्रमाणप्रकाश ८७, ९९
प्रमाणप्रमेयकलिका १०३
प्रमाणमीमांसा ८५
प्रमाणरहस्य १०२
प्रमाणवादार्थ १०३
प्रमाणवार्तिक २०, ३९
प्रमाणविलास ९४

प्रमाणसार १०४
प्रमाणसुंदर ९८
प्रमाणसंग्रह ५८, ५९
प्रमाणांतर्भाव ८६
प्रमाप्रमेय २, ४, ६, १०
प्रमालक्ष्म ८२
प्रमेयकमलमार्तंड ७४, ७९, ८५
प्रमेयकंठिका ७४, १०४
प्रमेयरत्नकोष ८३
प्रमेयरत्नमाला ७४, ८३, ७६, ८८, १०७
प्रमेयरत्नाकर ८९
प्रमेयरत्नालंकार ७४, ८८
प्रवचनसार ३२
प्रवचनसारोद्धार ८७
प्रशस्तपाद १९
प्रश्नव्याकरण २६, ३०
प्रश्नोत्तररत्नाकर १००
प्रश्नोत्तरसार्धशतक १०४
प्राकृतदीपिकाप्रबोध ९१
प्राभातिकस्तुति ८४
प्रासादद्वात्रिंशिका ८७
प्रेमी ९, ३३, ३९, ४५, ४७, ६८, ७५, ९०, १०९
प्रोष्ठिल २८
फडकुले ३७, ५३, ७०, ८३
फणिमंडल ३४
फामन ९८
फूलचंद्र ३३, ४८, ८३, ९९
बडोदा ५१, ६१, ६२, ९९
बडोदिया १०९
बलाकपिच्छ ४१
बलात्कारगण ९, ९३, ९६
बळगारगण ७३
बाबर ९७
बालचंद्र ८९
बावे संस्कृत सीरीज ९२
बिब्लाथिका इंडिका ६२,८३,९३
बिब्लाथिका बुद्धिका ६४
बिल्हण ८९
बीकानेर ९२
बुद्धानंद ५०,५१
बुद्धिल २८
बुद्धिसागर ८१
बृहत्ती १९
बृहत्कल्पसूत्र २८,३०
बृहत्गच्छ ८३,८४
बृहत्टिप्पनिका ५१,६३
बृहत्नयचक्र ८१
बृहत्मिथ्यात्वमथन ६३
बृहत्सर्वज्ञसिद्धि ७५
बृहदारण्यकवार्तिक ७२
बेचरदास ४४,७८
बोटिकप्रतिषेध ६३
बौधायन १८
बंबई ९,१०,३६,३७,४४,४६,५३, ५७–५९,६१,६४,६९–७१, ७५,८०–८३,८५,८८,९२,९४ ९५,९७,१०१,१०३,१०४
बंधहेतूदयत्रिभंगी ९८
बंधोदयसत्ता ९८
ब्रह्मसिद्धि १९
भक्तामरसमस्यापूर्ति १०२
भगवती आराधना ५३

भगवतीसूत्र २३,२४,२९,३०
भद्रबाहु २८,३०,४३
भद्रसूरि ८७
भद्रेश्वर ५०
भरतेश्वराभ्युदय ९०
भवविरह ६०
भविष्यदत्तचरित ९८
भारती जैनपरिषद ८९
भारतीय ज्ञानपीठ ८, ४८, ५६, ५८, ७२,७७,७८,१०३
भावकर्म प्रक्रिया ९४
भावनगर ४५,४६, ६१– ६३, ८३, ९५,१०१
भावनासिद्धि ६२
भावप्रकरण ९८
भावप्रभ १०२
भावविजय १००
भावसप्ततिका १०३
भावसेन १–८,१७, २०, २१, ९०, ११२
भावसंग्रह ८१
भावार्थमात्रावेदनी ६०
भासर्वज्ञ ६,१९,९३
भास्कर १९
भास्करनंदि ३३,३८,४९
भास्वामी ५४
भुक्तिमुक्तिविचार ९, ९०
भुजबलिशास्त्री ४,६,१०,९६,११२
भुवनसुदर ९५
भूतबलि ३१
भूपालस्तोत्रटीका ९०
भृगुकच्छ ५०
भोज ८,७९
भोजसागर १०४
भंवरलाल ५
मक्खनलाल ५६,९९
मणिभद्र ६२
मतिसागर ७८
मत्स्यपुराण १९
मथुरा २७,४९,९८
मदनकीर्ति ८९
मनोहरलाल ५३,६९
मम्मट ८
मरीचि २३
मलयगिरी ३३,४५,१०५
मल्लवादी ४३, ५०-५२, ५४, ६३, ६४,१०२
मल्लिकामकरन्द ८७
मल्लिषेण ११,९८,८५,१०२
मल्लिषेण प्रशस्ति ३५,५०,५५, ६४, ७८, १११
मस्करीगोशाल २५, २७, २९
महाकाल ४१
महादेवस्तोत्र ८५
महापुराण २३,६६,७९,१०५
महाभारत १९
महाराष्ट्र ३
महाविद्याविडंबन ९५
महाविद्या विवृत्ति ९५
महावीर १,२३-३०,३५,३६
महासेन १८,८७,८८,९७
महिमप्रभ १०२
महेश्वर १११
महेंद्र ४९

महेंद्रकुमार ८,५४,५६-५९,७२,७५,
७७,७८,८०,९०,१०८-११०
महेंद्रपाल ७६
महेंद्र मातलि संजल्प ७६
महेंद्रसूरि ९४
माइल्लधवल ८१
माघ ७४
माणिकचंद्रग्रंथमाला३७,५३,५७,६४,
७०,७५,७९,८०,८१,८८
माणिक्यनंदि १८,७३,७४,७९,८३,
८४,१०३
माणिक्यसूरि ९५
माथुरगच्छ ३,९८
माधवाचार्य ८
माध्यमिककारिका २०,४१
मान्यखेट ५४
मार्गपरिशुद्धि १०२
मालदेव ९७
मालवणिया २२,२५,३०, ४६, ८२,
१०८,१०९,११२
माडलगढ ८९
मुकर्जी ८५
मुकुन्दऋषि ४१
मुख्तार ३६-३८,४०,४३,४७, ५३,
९८,९९,१०९
मुनिचन्द्र ६१,८३,८४
मुनिविमल १००
मुनिसुव्रतचरित ८६
मुनिसुव्रतद्वात्रिंशिका ८७
मुंडकोपनिषद् १८
मुंज ७७
मूडबिद्री ५,६,१०
मूल ३२
मूलसंघ १,७२,७९,९०,९३,९६
मूलाचारवृत्ति ६८
मेघचन्द्र २
मेघदूतटीका ९४
मेघविजय १०६
मेघाभ्युदय ८२
मेरुतुग ९,५०,९४
मेरुत्रयोदशीकथा १०४
मैनगंज ४८
मोक्षमार्ग प्रकाशक १०७
मोक्षशास्त्र ४,५,६,७
मोक्षोपदेशपचाशिका ८४
मंडनमिश्र १९
मडलविचार ८४
यक्षदेव ५०
यतिलक्षण १०२
यदुविलास ८६
यशस्तिलक ७६
यशस्वत्सागर १०२,१०३
यशःकीर्ति ९८
यशःसागर १०२
यशोदेव ८६
यशोधरचरित ७८,१००,१०४
यशोभद्र २८,६२
यशोराजिराजपद्धति १०३
यशोविजय ३३,३६,६१,६९,१००-
१०२,१०६,११०
यशोविजय ग्रंथमाला ४४, ६१, ८५,
८७,९२,१०१
याकिनी महत्तरा ५९
याज्ञवल्क्य १३,१८,१९
यापनीय ६७

युक्तिचिंतामणि ७६
युक्तिप्रकाश ९९
युक्त्यनुशासन ३५-३८,७०,७३
युगादिदेवद्वात्रिंशिका ८७
युधिष्ठिर मीमांसक ४९
योगदर्शन विवरण १०२
योगदीपिका १०२
योगदृष्टिसमुच्चय ६३
योगबिंदु ६३
योगविंशिका १०२
योगशास्त्र ८५
योगींदु ८
रतलाम ६२,८६
रत्नकरंड २२,२५,४६,७९
रत्नत्रयकुलक ८४
रत्नप्रभ ८७,९२,९३
रत्नमंडन ९५
रत्नाकरावतारिका ८५,८७,९२,९३
रविभद्र ७६
राइस ६
राघवाभ्युदय ८६
राजकुमार ९९
राजगच्छ ७७
राजप्रश्नीयसूत्र २४,२९
राजमल्ल ९८,९९,१०६,७२,७९
राजवार्तिक ५६
राजशेखर ९,५०,८७,९१
राजीमतीविप्रलंभ ९०
राधाकृष्णन् १०९
रामचंद्र ८३,८६
रामानुज ६
रायचंद्र शास्त्रमाला ४६, ५२, १०३, १०४
रायमल्ल ९७
रायमल्लाभ्युदय ९८
रित्ती १,७,११२
रुद्रटालंकारटीका ९०
रुद्रपल्लीयगच्छ ९२
रूपसिद्धि ७८
रोहिणीमृगांक ८७
रंभामंजरी ९३
लक्ष्मीसेन ग्रथमाला ८३
लखनऊ ७४
लग्नशुद्धि ६३
लघीयस्त्रय ५७,८०,८९
लघुसर्वज्ञसिद्धि ७५
लघुस्तवटीका ९२
ललितविस्तरा ८४
लाटीसंहिता ९८,९९,१०६
लाडबागडगच्छ ३
लालाराम ३६,५०,९६,१०८
लुंपाकमतखंडन १०६
लोकतत्त्वनिर्णय ६३,१०५
लोकप्रकाश ८,९७
लोह २८
वज्र २८
वज्रनंदि ४८-५०
वज्रशाखा ८१
वज्रसूरि ५०
वज्रसेन २८
वनमाला ८७
वनस्पतिसप्तति ८४
वराहमिहिर ६१
वर्गकेवली ६२
वर्णीग्रंथमाला ९९
वर्धमान ७६,८१,८२,९०,९३

वलभी २७,५०
वसुनंदि ३५,३६,६८
वसुबंधु २०
वाचकसंयम १०४
वाचस्पति ७२,९१
वात्सी ३२
वात्स्यायन ९१
वादद्वात्रिंशिका ८७
वादन्याय ६६ ६७
वादमहार्णव ७७
वादमाला १०२
वादविजयप्रकरण ९५
वादस्थल १०६
वादिराज ५८, ६४, ६५, ७५, ७६, ७८,७९,१०५
वादिसिंह ६५, १०४
वादीभसिंह १८,६४-६६
वादींद्र ९५
वानरर्षि ९२,९८
विक्रमराज ४९
विचारकलिका ८२
विचारशतबीजक १०४
विचारषट्त्रिंशिका १०३
विजय २८
विजयकीर्ति ९६
विजयनगर १०,९३
विजयनेमि १०१
विजयप्रभ १००
विजयमूर्ति ४६
विजयलब्धि ५१
विजयविमल ९२,९८
विजयसमुद्र १०४
विजयहंस १०४
विजयोदय १०२
विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि २०
विद्याचंद्रशाह १०,११२
विद्यानंद ८,१८,२०,३२,३३,३६–३८,४७,५३,५७, ६६, ६८, ७३, ७५, १०१,१०३
विद्यानंदमहोदय ७०
विद्याभूषण ४६,८३,९३,१०८,१०९
विद्याविलासप्रेस ८३
विधिवाद १०२
विनयविजय ९७
विनयसेन ४९
विनीतसागर १०४
विमलचंद्र १११
विमलदास ८८,१०३
विमलसेन ८०
विमुक्तात्मन् ६,१९
विरहांक ६०
विविधतीर्थकल्प ४१
विशाख २८
विशेषणवती ४३,१०५
विशेषावश्यकभाष्य ४३, १०५
विषोग्रग्रहशमन ४२
विष्णुनंदि २८
विंशतिविंशिका ६३
वीतरागस्तोत्र ८५
वीरकल्प ९२
वीरग्राम १०३
वीरदास ९
वीरनंदि १०५
वीरपुस्तकभंडार १, ५
वीरभद्र ५९
वीरसूरि ११२

वीरसेन ६६,२,३२,१०४
वीरसेवामंदिर ३६,३७,७१,९४
वृद्धवादी ४१
वृषभनंदि ७९
वृंदावन ८२
वेदवादद्वात्रिंशिका ४४,४५
वेदादिमतखंडन १०४
वेदांतनिर्णय १०२
वेमुलवाड ७६
वेलणकर ५
वैजेय ८२
वैद्य ४६,१०८
वैद्यकशास्त्र ४७
वैराट ९८
वैराग्यकल्पलता १०२
वंशीधर ६९,८०,८१,९२,९४
व्यवहारसूत्र ३०
व्याख्यानरत्नमाला ७८
व्याख्याप्रज्ञप्ति २६,२९
व्याघ्रभूति ५
व्यास १४
व्योमशिव १९
शठप्रकरण १०२
शतकभाष्य ९४
शब्दालपुत्र ३०
शब्दावतार ४७,४९
शब्दांभोजभास्कर ७१
शय्यंभव २८
शर्मा, ठाकुरप्रसाद १०२
शर्ववर्मा ५
शल्यतंत्र ५३
शाकटायन ५३,६७,६८,१०६
शाकटायनव्याकरणटीका ४, ९०
शालिकनाथ १९
शास्त्रमुक्तावली १०३
शास्त्रवार्तासमुच्चय ६१,१०२
शांतरक्षित २०,५२,५३,६४
शांतिचंद्र १०४
शांतिराज ४९,३८
शांतिवर्णी ७४, १०४
शांतिवर्मा ३४
शांतिषेण ८३
शांतिसुधारस ९७
शान्तिसूरि ८२, ४६
शांतिसोपान ८८
शिवभद्र ८२
शिवस्वामी ५३, ५४, ५५
शिवादित्य ६
शिवार्य ५३, ५४, ५५
शिशुपालवध ७४
शीतलप्रसाद ३७
शीलप्रकाश १००
शीलोपदेशमाला ९२
शीलांक १०५
शुकरहस्योपनिषद् १९
शुभचंद्र ८८, ९६, ९७, १०६
शुभतुंग ९४, ९५
शुभविजय १००
शुभकर ८१
शृंगारप्रकाश ८
शेर्बात्स्की ६४
शोकहरउपदेश ८४
शोलापुर ३६, ३७, ६९
शंकरस्वामी ४१

शंकराचार्य ११, १५
श्यामकुंड ४१
श्रवणबेलगोल २, ३५, ६५, ७१, ८८, ९६
श्रावकप्रज्ञप्ति ६३
श्रावकप्रतिक्रमण ८४
श्रीकंठ ९१
श्रीचंद्र ६२, ८४, ८६
श्रीतिलक ९२
श्रीदत्त ४७
श्रीधर ८१, ९०, ९२
श्रीपति ८१
श्रीपाल ७८, ९६
श्रीपालचरित १०४
श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र ७०
श्रीलाल २७, ५३, ७०
श्रुतज्ञानअमीधारा ९५
श्रुतसागर ३३
श्रुतावतार ३१, ३८
श्रेयांसचरित ८७
श्वेताश्वतरोपनिषद् १८
षट्खंडागम २८, ३१, ३५, ३८, ४०, ४१, ५६, ६६
षट्त्रिंशज्जल्पविचार १००
षट्त्रिंशज्जल्पसारोद्धार ९७
षट्स्थानकप्रकरण ८२
षड्दर्शननिर्णय ९, ९४
षड्दर्शनप्रमाणप्रमेयानुप्रवेश ९६
षड्दर्शनसमुच्चय ८, ९, ४६, ६१, ९४, ९५, ९२
षड्वाद १६
षष्ठ्यामिप्रकरण ७६
षोडशप्रकरण ६३
सकलीकरहाटक ३
सत्यवाक्य ७२
सत्यशासनपरीक्षा ८, ७२
सत्यहरिश्चंद्र ८६
सनातन ग्रंथमाला २६, ३७, ५३, ५६, ५७, ७१, ७२, ७४, ९४
सन्मतिसूत्र २२, ४१, ४३, ४५, ५१, ५३, ६४, ७७, ८०, १०१, १०५
सप्ततिकावचूरि ९४
सप्ततिभाष्यटीका ९४
सप्तपदार्थीटीका ६
सप्तभंगीतरंगिणी १०३
समयप्राभृत ३२, ८१
समरादित्यकथा ६३
समरादित्यचरित १०४
समवायांग २६, २९
समाधितंत्र १७, ४७, ४९, ७१
समंतभद्र १०, १७, २२, ३१, ३३-४१, ४४, ४६, ५२, ५३, ५६, ६६, ६८-७१, ७५, ९०, ९१, १०३, ११०
सम्यक्त्वसप्तति ६३
सम्यक्त्वोत्पाद ८४
सरस्वतीपूजा ९७
सर्वज्ञवादटीका ८२
सर्वज्ञसिद्धि ६२
सर्वज्ञसिद्धिद्वात्रिंशिका १०४
सर्वदर्शनसंग्रह ८
सर्वसिद्धांत ९४

सर्वार्थसिद्धि ८, ३९, ४५, ४७, ४८, ५६, ७९
सल्लक्षण ८९
सहस्रकीर्ति ३
सहस्रनाम ९०
सागारधर्मामृत ९०
साधारणजिनस्तवन ९८
साधुविजय ९५
सामाचारीप्रकरण १०२
सामान्यगुणोपदेश ८४
सारसंग्रह ४७,४८
सारंग ९३
साहसतुंग ५५
सांख्यकारिका १९
सिताबरपराजय १०६
सिद्धपूजा ९७
सिद्धराज ८४,८५
सिद्धर्षि ६०,७४,८६,४६
सिद्धसेन २७,५१,५४,६३,७४,७७, ८७,९१,१०१,१०५, ११०, ३४,४०,४१–४६
सिद्धहेमन्यास ८६
सिद्धहेमशब्दानुशासन ८५
सिद्धार्थ २४,२८
सिद्धांततर्कपरिष्कार १०२
सिद्धांतसार ४–६,९०
सिद्धिविनिश्चय १८, ५३, ५५, ५८, ७५, ७६, ७७
सिर्मलगेगूरगण ६७
सिंघी ग्रंथमाला ४६,५७, ५८, ५९, ८२, ८९, १०१
सिंहक्षमाश्रमण ५०,५४
सिंहगिरि २८
सिंहनंदि ४०
सिंहपुर ७८
सुआली ६२, ८३
सुखबोधासामाचारी ८४
सुखलाल २२, ३३, ३९, ४२, ४४-४६, ७८, ८५, १०१, १०८, १०९
सुदर्शनचरित ७३
सुधर्म २६, २८
सुधाकलशकोष ८७
सुधानंदन ९५
सुप्रतिबुद्ध २८
सुभद्र २८
सुमतिकीर्ति ९६
सुमतिगणी ६२
सुमतिदेव ६४, ४३
सुमतिसप्तक ६४
सुरेश्वर ७२
सुरेंद्रकुमार ७४
सुस्थित २८
सुहस्ति २८
सुंदरप्रकाशशब्दार्णव ९८
सूक्तमुक्तावली १०४
सूक्ष्मार्थविचारसार ८४
सूक्ष्मार्थसार्धशतक ८४
सूत्र २६
सूत्रकृत २६, २८, ३०, १०५
सूरजभानु १०८
सूरत ३७, ६१, ६३, ६४, ९२, ९५, १००
सूराचार्य ११२

सूर्यप्रज्ञप्ति ३०
सेक्रेड बुक्स ऑफ जैनज ७४
सेनगण १, २, ३, ९०
सेनसंघ ६३, ६४
सेटपीटर्सबर्ग ६४
सोमतिलक ६२, ९२
सोमदेव ७६
सोमसुंदर ९५
सौराष्ट्र २७
सौंदरनंद २०
संग्रहणी ६३
संग्रहणीरत्न ८६
संघतिलक ९२
संजयवेलट्ठिपुत्र २५
संबोधप्रकरण ६३
संभूतिविजय २८
संमेदशिखर २३
संशयिवदनविदारण ९६
ससक्त ३०
संसारदावानलस्तुति ६३
स्कंदिल २७
स्ट्रासबर्ग ५
स्तवनरत्न १०३
स्तंभतीर्थ ६३
स्त्रीमुक्तिप्रकरण ६७, ५३
स्थानांग २९
स्थूलभद्र २७, २८
स्याद्वादकलिका ९२
स्याद्वादकल्पलता ६१, १०२
स्याद्वादकुचोद्यपरिहार ६२
स्याद्वादकेशरी ६७
स्याद्वादपुष्पकलिका १०४
स्याद्वादबिंदु १०४
स्याद्वादभाषा १००
स्याद्वादभूषण ५७, ८९
स्याद्वादमुक्तावली १०३
स्याद्वादमंजरी ९१, ९२, ९८, १०२, ८५
स्याद्वादमंजूषा १०२
स्याद्वादरत्नाकर ७०, २०, ८४–८६
स्याद्वादरहस्य १०२
स्याद्वादसिद्धि १८, ६४, ६५
स्याद्वादोपनिषद् ७६
स्वतःप्रामाण्यभंग ७५
स्वयंभूस्तोत्र ३४, ३५, ३७, ४०, ४४
स्वरूपसंबोधन १८, ८७, ९७
स्वाति ३२
हम्मीरमहाकाव्य ९३
हरिचंद्र १०५
हरिभद्र ८, ३३, ४५, ४६, ५१, ५५, ५६, ५९–६३, ८३, ८४, ९२, ९४, ९९, १००, १०२, १०५, ११०
हरिभाईदेवकरण ग्रंथमाला ९६, ९६
हरिवंशपुराण २६, ३७, ४९, ९०, ६६
हरिहर ९३
हर्षपुरीयगच्छ ९२
हर्षभूषण १०६

हर्षमुनि १०४
हस्तिनापुर ९७
हायनसुंदर ९८
हितोपदेश ८४
हिमशीतल ५४, ५५
हिरियण्णा १०९
हीरप ८३
हीरालालशास्त्री ६८
हीरालाल हंसराज ९२, ९९
हीरविजय १००
हीरासा ९
हुमायूं ९७
हुम्मच ४, १०, ५२
हेतुखंडनप्रकरण ९६
हेतुबिंदुटीका ६७
हेमचंद्र ८३, ८५, ८६, ९१, ९८; ११०
हेमचंद्राचार्यसभा ४६, ६१
हैमलघुप्रक्रिया ९७
हैमीनाममाला १००
होलिकापर्वकथा १०४
होसूर ३
हंस ५९

—x—

शुद्धिपत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४	८	प्रातिप्रद्य	प्रतिपद्य
७	२२	चार्वांक	चार्वाक
१०	४	प्रत्यक्षत्यात्	प्रत्यक्षत्वात्
११	५	स्वरूपसिद्धो	स्वरूपासिद्धो
१०	१२	भूभूधरादिर्हेतो	भूभधरादिभिर्हेतो
१८	१०	देहसमवेतत्व	देहसमवेतत्वं
१९	१३	गुडा	गुड
२०	१५	भोगायतत्वेन	भोगायतनत्वेन
२३	७	इत्याभिधानात्	इत्यभिधानात्
२३	९	अनाद्यन्त	अनाद्यनन्त
२६	९	निरच्चैष्म:	निरच्चैष्म
२७	३	अनुमादज्ञासिष्म	अनुमानादज्ञासिष्म
२९	१	नाप्युपमान	नाप्युपमानं
२९	९	नास्तितज्ज्ञानं	नास्तिताज्ञानम्
३७	१	प्रमेत्वस्यापि	प्रमेयत्वस्यापि
४४	६	हेतोराद्यद्र	हेतोराद्य
४५	७	स्वरूप्रासिद्धो	स्वरूपासिद्धो
४५	१०	पूर्वानवत्त्वात्	पूर्वान्तवत्त्वात्
४७	१–२	स्वरूपामिद्धत्यं	स्वरूपासिद्धत्वं
५५	११	प्रसंगाच्च	प्रसंगश्च
५९	९	उपादानापकरण	उपादानोपकरण
६७	८	ससारिवत्	संसारिवत्
६८	८–९	प्रत्यतिष्ठिषाम	प्रत्यतिष्ठिपाम
७४	१२	अधुनाध्ययन	अधुनाध्ययनं
८१	३	बहुवचन	बहुजन
८६	८	वावयत्व	वाक्यत्व
८७	१	कत्वभावात्	कत्वाभावात्

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
८८	१४	वेदीऽपि	वेदोऽपि
९३	७	बाह्येन्द्रिग्राह्य	बाह्येन्द्रियग्राह्य
९६	९	ग्रहणासभवा	ग्रहणासंभवा
१०३	३	सुखासमावस्थादि	सुखासनावस्थानादि
१२३	११	जडत्वावत्	जडत्ववत्
१२७	८	प्रमाया	प्रमया
१३२	१४	बोधोत्तर	बाधोत्तर
१३९	२	प्रतिपक्षसिद्धेः	प्रतिपक्षसिद्धिः
१५१	५	दृष्टत्वात्	दुष्टत्वात्
१५७	११	प्रमातणा	प्रभातृणा
१६१	१	प्रत्यक्षानुमानागत्म	प्रत्यक्षानुमानागमत्त्व
१७६	११	थासंभवं	यथासंभवं
१८१	१	द्रव्यारम्भक	द्रव्यानारम्भक
१८६	१०	अनर्थकभेव	अनर्थकमेव
१८९	११,१३	प्रमातणा	प्रमातृणा
१९१	१३,१५	प्रमातणा	प्रमातृणा
१९२	४	प्रमातणा	प्रमातृणा
२०३	९	प्रसंवा	प्रसंग
२०७	२	सर्वाङ्गषु	सर्वाङ्गेषु
२३६	१	द्वषरूप	द्वेषरूप
२४०	१०	ग्रह	ग्रहणं
२४५	३	कारकत्वा	कारणकत्वा
२७३ २७५	१० ९	तत्त्वादि	तन्त्वादि
२७६	११	तत्त्वादीनि	तन्त्वादीनि
२८७	१	ण्यमाणिकौ	ण्यप्रामाणिकौ
२९७	१	नाथान्तरम्	नार्थान्तरम्
२९७	११-१२	हेत्वाभ्यासः	हेत्वाभासः

Jīvarāja Jaina Granthamālā

General Editors :

Dr. A. N. UPADHYE & Dr. H. L. JAIN

1. *Tiloyapaṇṇatti* of Yativṛsabha (Part I, chapters 1–4) : An Ancient Prākrit Text dealing with Jaina Cosmography, Dogmatics etc. Prākrit Text authentically edited for the first time with the Various Readings, Preface & Hindi Paraphrase of Pt. BALACHANDRA by Drs. A. N. UPADHYE, & H. L. JAIN. Published by Jaina Saṁskṛti Saṁrakṣaka Saṁgha, Sholapur (India). Double Crown pp. 6–38–532. Sholapur 1943. Price Rs. 12·00 Second Edition, Sholapur 1956. Price Rs. 16·00.

1., *Tiloyapaṇṇatti* of Yativṛsabha (Part II, Chapters 5-9) As above, with Introductions in English and Hindi, with an alphabetical Index of Gāthās, with other Indices (of Names of works mentioned, of Geographical Terms, of Proper Names, of Technical Terms, of Differences in Tradition of Karaṇasūtras and of Technical Terms, compared) and Tables (of Nāraka-jīva, Bhavana-vāsī Deva,, Kulakaras, Bhāvana Indras, Six Kulaparvatas, Seven Kṣetras, Twentyfour Tīrthakaras; Age of the Śalākāpuruṣas, Twelve Cakravartins, Nine Nārāyanas, Nine Pratiśatrus, Nine Baladevas, Eleven Rudras, Twentyeight Nakṣatras, Eleven Kalpātīta, Twelve Indras, Twelve Kalpas and Twenty Prarūpanās). Double Crown pp. 6-14-108-529 to 1032, Sholapur 1951. Price Rs. 16·00.

2. *Yaśastilaka and Indian Culture*, or Somadeva's Yaśastilaka and Aspects of Jainism and Indian Thought and Culture in the Tenth Century, by Professor K. K. HANDIQUI, Vice-Chancellor, Gauhati University, Assam, with Four Appendices, Index of Geographical Names and General Index. Published by J. S. S. Sangha, Sholapur. Double Crown pp. 8-540. Sholapur 1949. Price Rs. 16·00

3. *Pāṇḍavapurāṇam* of Śubhacandra : A Sanskrit Text dealing with the Pāṇḍava Tale. Authentically edited with Various Readings, Hindī Paraphrase, Introduction in Hindī

etc. by Pt. JINADAS. Published by J. S. S. Sangha, Sholapur. Double Crown pp. 4-40-8-520. Sholapur 1954. Price Rs. 12·00.

4. *Prākṛta-śabdānuśāsanam* of Trivikrama with his own commentary : Critically Edited with Various Readings, an Introduction and Seven Appendices (1. Trivikrama's Sūtras; 2. Alphabetical Index of the Sūtras; 3. Metrical Version of the Sūtrapāṭha; 4. Index of Apabhraṁśa Stanzas; 5. Index of Deśya words: 6. Index of Dhātvādeśas, Sanskrit to Prākrit and vice versa; 7. Bharata's Verses on Prākrit) by Dr. P. L. VAIDYA, Director, Mithilā Institute, Darbhanga. Published by the J. S. S. Sangha, Sholapur. Demy pp. 44-478. Sholapur 1954. Price Rs. 10·00.

5. *Siddhānta-sārasaṁgraha* of Narendrasena : A Sanskrit Text dealing with Seven Tattvas of Jainism. Authentically Edited for the first time with Various Readings and Hindi Translation by Pt. JINADAS P. PHADKULE. Published by the J. S. S. Sangha, Sholapur. Double Crown pp. about 300. Sholapur 1957. Price Rs. 10-00.

6. *Jainism in South India and Hyderabad Epigraphs* : A learned and well-documented Dissertation on the career of Jainism in the South, especially in the areas in which Kannada, Tamil and Telugu Languages are spoken, by P. B. DESAI, M. A., Assistant Superintendent for Epigraphy, Ootacamund. Some Kannaḍa Inscriptions from the areas of the former Hyderabad State and round about are edited here for the first time both in Roman and Devanāgarī characters, along with their critical study in English and Sāränuvāda in Hindī. Equipped with a List of Inscriptions edited, a General Index and a number of illustrations. Published by the J. S. S. Sangha, Sholapur. Sholapur 1957. Double Crown pp. 16-456. Price Rs. 16·00.

7. *Jambūdīvapaṇṇatti-Saṁgaha* of Padmanandi : A Prākrit Text dealing with Jaina Geography. Authentically edited for the first time by Drs. A. N. UPADHYE and H. L. JAINA, with the Hindī Anuvāda of Pt. BALACHANDRA. The Introduction institutes a careful study of the Text and its allied works. There is an Essay in Hindī on the Mathematics of the

Tiloyapannatti by Prof. LAKSHMICHANDA JAIN, Jabalpur. Equipped with an Index of Gāthās, of Geographical Terms and of Technical Terms, and with additional Variants of Amera Ms. Published by the J. S. S. Sangha, Sholapur. Double Crown pp. about 500. Sholapur 1957. Price Rs. 16.

8. *Bhaṭṭāraka-sampradāya* : A History of the Bhaṭṭāraka Pīthas especially of Western India, Gujarat, Rajasthan and Madhya Pradesh, based on Epigraphical, Literary and Traditional sources, extensively reproduced and suitably interpreted, by Prof. V. JORHAPURKAR, M. A. Nagpur. Published by the J. S. S. Sangha, Sholapur, Demy pp.14-29-326, Sholapur 1960. Price Rs. 8/—

9. *Prābhṛtādisaṃgraha :* This is a presentation of topic-wise discussions compiled from the works of Kundakunda, the *Samayasāra* being fully given. Edited with Introduction and Translation in Hindi by Pt. KAILASHCHANDRA SHASTRI, Varanasi. Published by the J. S. S. Sangha, Sholapur. Demy pp. 10-106-10-288. Sholapur 1960. Price Rs. 6-0.

10. *Pañcaviṃśati* of Padmanandi : (c. 1136 A. D.). This is a collection of 26 Prakaranas (24 in Sanskrit and 2 in Prākrit) small and big, dealing with various religious topics: religious, spiritual, ethical, didactic, hymnal and ritualistic. The text along with an anonymous commentary critically edited by Dr. A. N. UPADHYE and Dr. H. L. JAIN with the Hindi Anuvāda of Pt. BALACHAND SHASTRI. The edition is equipped with a detailed Introduction shedding light on the various aspects of the work and personality of the author both in English and Hindi. There are useful Indices. Printed in the N. S. Press, Bombay. Double Crown pp. 8-64-284. Sholapur 1962. Price Rs. 10/—

11. *Ātmānuśāsana* of Guṇabhadra (middle of the 9th century A. D.). This is a religio-didactic anthology in elegant Sanskrit verses composed by Gunabhadra, the pupil of Jinasena, the teacher of Rāṣṭrakūṭa Amoghavarṣa. The Text is critically edited along with the Sanskrit commentary of Prabhācandra and a new Hindi Anuvāda by Dr. A. N. UPADHYE, Dr. H. L. JAIN and Pt. BALACHANDRA SHASTRI. The edition is

equipped with Introductions in English and Hindi and some useful Indices. Demy pp. 8-112-260, Sholapur 1961. Price Rs. 5/-

12. *Gaṇitasārasaṁgraha* of Mahāvīrācārya (c. 9th century A. D.) : This is an important treatise in Sanskrit on early Indian mathematics composed in an elegant style with a practical approach. Edited with Hindi Translation by Prof. L. C. Jain, M. Sc. Jabalpur. Double Crown pp. 16 + 34 + 282 + 86, Sholapur 1963, Price Rs. 12/—

13. *Lokavibhāga* of Siṁhasūri : A Sanskrit digest of a missing ancient Prākrit text dealing with Jaina cosmography. Edited for the first time with Hindi Translation by Pt. BALCHANDRA SHASTRI. Double Crown pp. 8-52-256, Sholapur 1962. Price Rs. 10/—

14. *Puṇyāsrava-kathākośa* of Rāmacandra : It is a collection of religious stories in simple and popular Sanskrit. The text authentically edited by Dr. A. N. UPADHYE and Dr. H. L. JAIN with the Hindī Anuvāda of Pt. BALACHANDRA SHASTRI (To be out soon).

15. *Jainism in Rajasthan* : This is a dissertation on Jainas and Jainism in Rajasthan and round about area from early times to the present day, based on epigraphical, literary and traditional sources by Dr. KAILASHCHANDRA JAIN, Ajmer. Double Crown pp. 8 + 284, Sholapur 1963, Price Rs. 11/-

16. *Viśavatattva-Prakāśa* of Bhāvasena (14th century A. D.) : It is a treatise on Nyāya. Edited with Hindi Summary and Introdcution in which is given an authentic Review of Jaina Nyāya literature by Dr. V. P. Johrapurkar, Nagpur. Demy pp. 16 + 112 + 372, Sholapur 1964. Price Rs. 12/—

WORKS IN PREPARATION

Subhāṣita-saṁdoha, Dharma-parīksā, Jñānārṇava, Kathākośa of Śrīcandra, Dharmaratnākara, Tīrthavandanamālā etc.

For copies write to :

Jaina Saṁskṛti Saṁrakshaka Sangha
SANTOSH BHAVAN, Phaltan Galli
Sholapur (C. Rly.) : India